
राजकीयनियमानुसार प्रसिद्धकर्त्ताओंने सर्व हक साधीन रक्खे ह ।

श्रीशुभचन्द्राचार्यका समयनिर्णय ।

इस परमरसतिमद पवित्र ग्रन्थके कर्त्ता पूज्यपाद श्रीशुभचन्द्राचार्यके विषयमें यह छद्म लिखने के प्रारम्भमें हमको भेद होता है कि, उन्होंने हम लोगोंके साथ कड़ी भारी प्रतारणा की, जो अपना परिचय देनेके लिये एक सौक भी नहीं लिखा । हमारे उपकारके लिये जिन्होंने अश्रात परिक्षम करके इतना बड़ा प्रसन्न रचना कठिन न समझा, उन्होंने दो चार सौकोंके बनानेमें संजूरी क्यों की ? यह समझमें नहीं आता । माना कि, हम लोगोंके समान उन्हें कीर्तिवी चाह न थी, और वे मानवशाय उनके समीप आने पाती थी, परन्तु अपना परिचय न देनेसे भी तो उनकी कीर्ति बड़ी घुसी न रही । आज प्रत्येक जैनीको उनकी नाम भगवत्पुत्र्य आदरके साथ लेनेमें मरबोच नहीं होता । फिर परिचय न देनेसे सिवाय हम लोगोंको दुःखित व विह्वलित करनेके और क्या लाभ हुआ ? मुनामपेय महारामाजीका जीवनवृत्तान्त जाननेकी भला, किसको इच्छा नहीं होती ? और फिर वर्तमान काळमें, जब कि, इतिहासके प्रेमकी माथा दिनोदिन बढ़ रही है कौन ऐसा होगा, जो भगवान् शुभचन्द्र जैसे भगवत्कर्त्ताकी जीवनवार्ता जाननेको उत्कण्ठित न हो ? अथात् हाँ नहीं । इसीलिये आचार्य भगवान्को उल्लेख करके हम खेदके साथ विविध ग्रन्थोंके सहारे पुष्टि और अनुमानोंको सिद्ध करके अपने विचारोंका उपक्रम करते हैं ।

श्रीविश्वभूषण आचार्यका बनाया हुआ एक भक्तमरचरित्रनामका संस्कृतग्रन्थ है । उसकी उत्पत्तिनाममें शुभचन्द्र और भगवद्हरिजी एक कहा है, उसे हम प्रथम् प्रकाशित करते हैं । उससे जाना जाता है कि, भगवद्हरि, भोज, शुभचन्द्र और मुज समकालीन पुरुष थे । इसके सिवाय भक्तमरचरित्रके बननेकी संज्ञासे जिसका कि इससे घनिष्ठ सम्बन्ध है, यह भी प्रगट होता है कि, मानसुग, काडिदास, बरहवि और धनजय भी शुभचन्द्रके समसामयिक हैं । इस लिये उपर्युक्त प्यत्तिनोंमें किसी एकका भी समय ज्ञात हो जानेसे शुभचन्द्रका समय ज्ञात हो सकता है ।

मुज ।

परमारवशासनसु महाराज मुजराजका समय घोषनेमें हमको कुछ भी कठिनाई नहीं हुई । क्योंकि धर्मपरीक्षा, आवकाचार, सुभाषितरत्नसदोह आदि ग्रन्थोंके सुप्रसिद्ध रचयिता श्रीभक्तिगतिआचार्य उन्हींके समयमें हुए हैं । सुभाषितरत्नसदोहकी प्रशंसामें लिखा है —

समारूढे पूतप्रिदशवसति विजमनृपे । सहस्रे वर्षाणा प्रभवति हि पञ्चाशदधिके ।

समाप्त पञ्चम्यामवति धरणि मुत्तनृपती । सिते पक्षे पौषे शुषद्विहसिद शास्त्रमनपम् ॥

अर्थात् विक्रमराजके स्वर्गगमनके १०५० वर्षके पश्चात् अर्थात् विजयमवत् १०५० (ईस्वी सन् ९९४) में पौषपुत्रा पञ्चमीको मुज राजाकी वृष्णीपर विद्वानोंके लिये यह पवित्रग्रन्थ बनाया गया । श्रीभक्तिगतिस्त्रिने श्रीमुजराजाराजकी राजधानी उज्जयनीमें ही सुभाषितरत्नसदोह ग्रन्थ

१ जैनग्रन्थरत्नाकरकायालय-बम्बईमें प्रकाशित आदिनाथसोत्रकी भूमिकामें यह कथा प्रकाशित हुई है । पाठक उसे भेगाकर पत्र भेजते हैं ।

२ राजा भोजने राजधानी उज्जयनीसे उदाहर घाटा भगरीमें स्थापित की थी ।

सामान किया था, इसमें मुजफ्फा राज्यका विक्रमसाल १०१० माननेमें किसी-एक ही तरह नहीं रह सकता। इसका विषय भीमचतुर्गुणमणि भी अपने प्रबन्धवितामणि ग्रन्थमें जो कि विक्रमसाल १३६१ (ई० स० १३०१) में रखा गया है, इस समयको संकेतित कर दिया है। प्रबन्धवितामणिमें लिखा है—

विजसाहासराष्ट्रमुनिज्योमे-दुर्गमि ।

वर्ष मुत्तपदे भोजयूय षष्टे निर्गति ।

अर्थात् विक्रम साल १०७८ (ई० स० १०१८) में राजासुन्दर महाराज महाराज मारे बैठे। अर्थात् धीरेभित्तगतिमूर्तिके जिने हुए साल १००० में १०७८ तक मुजफ्फागजरा राज्य रहा, पश्चात् भोजको राजनिष्ठ हुआ। और धीरेभूतगतिमूर्तिके कथानक अनुसार यही समय धीरेभूतचन्द्राचार्यका था।

भोज ।

मुजफ्फा समय निर्गत हो चुकनेपर भोजक समयके विषय कुछ शका नहीं रहनी। क्यों कि मुजफ्फे सिंहासनके उत्तराधिकारी महाराज भोज ही हुए थे। अतएव प्रबन्धवितामणिके आधारम सन् १०७२ के पश्चात् भोजका राज्यकाळ समझना चाहिये। अनेक पाश्चात्य विद्वानोंका भी यही मत है कि, इसाकी ग्यारहवीं शताब्दि पूरापमें राजा भोज जीवित थे। धीरेभूत राजका दिया हुआ एक दानपत्र एपिग्राफिकाइन्डिका वॉल्यूम 111, p 48—50 में छापा है, जो विक्रम स० १०७८ (ई० स० १०२२) में लिखा गया था। उन्में धीरेभूतराजका समय इसाकी ग्यारहवीं शताब्दि पूराप निश्चित होता है। वैद्व्यसमहकी संस्कृतगीताकी प्रस्तारनामें धीरेभूतदेवने एक लेख लिखा है। जिसमें विदित होता है कि, धीरेभूतदेवक समयमें ही धीरेभूतचन्द्रसिद्धातिचक्रवर्ती हुए हैं। वह लेख यह है—

मालवदेशे धारानामनगराधिपविराजभोजदेवाभिधानकलिकालचक्रवर्तिसम्प्रधिन श्रीपाल मण्डलेश्वरस्य सम्बन्धिन्याऽऽश्रमनामनगरे श्रीमुनिमुत्तवतीर्थकरचैत्यालये शुद्धात्मद्रव्यसत्ति समुत्पन्नमुत्पन्नसुखरासास्वादविपरीतनाराकादिदुःखसमयभीतस्य परमात्मभावनोत्पन्नसुखमुद्यार सविपासितस्य भेदाभेदरजस्रयभावनाप्रियस्य मन्व्यवरपुण्डरीकस्य आण्डागाराद्यनेकनियोगाधिकारिसोमाभिधानराजश्रेष्ठिनो निमित्त धीरेभूतचन्द्रसिद्धातिदेवै पूर्व पङ्क्तिशतिगाथाभिध शुद्धव्यसमग्र कृत्वा पञ्चाद्विशेषतत्त्वपरिहानार्थं विरचितस्य नूहद्रव्यसमग्रस्याधिकारगुद्धिपूर्वकत्वेन गृत्ति प्रारभ्यते ।

इसका सारांश यह है कि, मालवदेश-धारानगरीके कलिकालचक्रवर्तिराजा भोजदेवके सम्बन्धी, मण्डलेश्वर राजा श्रीपालके राज्यातमन आश्रम नामक नगरके मुनिमुत्त भगवानके चैत्यालयमें सोम राजश्रेष्ठिके निमित्त धीरेभूतचन्द्रसिद्धातिदेवने द्रव्यसमग्र ग्रन्थ बनाया था। इससे धीरेभूतचन्द्रकी और भोजकी समकालीनता प्रगट होती है। परन्तु धीरेभूतचन्द्रके समयका विचार

१ धीरेभूतगत्यावधने धर्मपरीक्षानामक ग्रन्थ सन् १०७० में पूरा किया है। परन्तु खेद है कि, उनकी प्रगतिमें मुजफ्फे विषयमें उन्होंने कुछ नहीं लिखा।

२ रायचन्द्रजनशायमालाक द्वारा यह ग्रन्थ छप चुका है।

कागमे इस विषयमें शन्देह उत्पन्न होता है। क्योंकि श्रीचामुण्डायका समय इतिहास लेखकोंने प्रायः शत्रुघ्नी राजाज्योमें रखा है। और श्रीनेमिचन्द्र शि० प० श्रीचामुण्डायके परमगुरु थे, यह सब जगत्में प्रसिद्ध है। यथा—

भाग्यदेहीगंगाधरमरुचिरसिद्धान्तविज्ञेमिषद्
श्रीपादाधे सदा यज्जवतिदसासतद्रूप्यभूमामवयान् ।
दक्ष्वा भीमोमठशोत्सववरतरनित्यार्पणानेभवाय
श्रीमद्यामुण्डराजो निरुपुरमधुरां सजगाम शिवीश ॥ १ ॥

(बाहुबलिचरित्रे)

इसके विषय बम्बईके दिगम्बरजैनपरिचरमें जो एक अष्ट (अष्टात्र) की तिसी हुई पुस्तक है, जिसमें कि अनेक पट्टावलिओंके तथा प्रश्नोंके आधारसे आधार्योंकी जामावट्टी तथा किसी २ आधारका समय पिया है। उसमें पिया है कि, “श्रीनेमिचन्द्रसैद्धान्तिकचक्रवर्ती (श्रीमयनन्दीके शिष्य) विक्रमसंवत् ७०४ (ई० स० ७१८) में हुए हैं। ” और इससे श्रीचामुण्डायका समय प्रायः निम्ना है। बखनेरउत्तुण्के इतिहासमें पिया है, “चामुण्डायने विधे स्थापित किया था, वह राज्य संवत् ७७७ (ईस्वी स० ८५५) में हृदयसाज देगरे राजाके अधीन हो गयो। चामुण्डायक चम्पोंमें वह १०९ वर्षक रहा। ” और “कनाटकमें जैनियोंका निवास” नामक लेखमें एक साहब कहते हैं। “बलातवाक स्वयं राजा चामुण्डाय थे, जिनका राज्य सन् ७१४ में था। ” और श्री गोमटेशकी प्रतिष्ठाका समय जो कि श्रीचामुण्डायने कराई थी, बाहुबलिचरित्रमें इस प्रकार पिया है—

पत्न्यपदे पदशान्ताये विजुतविभवसवत्सरे मासि वैश्वे ।

पञ्चम्या शुद्धपक्षे दिनमणिदिवसे शुम्भलमे सुयोगे ॥

सौभाग्ये मस्तिनाभि प्रवटितभगणे सुप्रसन्ना चकार ।

श्रीमद्यामुण्डराजो धेस्तुलनगरे गोमटेशप्रतिष्ठात् ॥ १ ॥

अर्थात् बम्बई संवत् ६०० (ईसासन् ६७८) में श्रीचामुण्डायने श्रीबाहुबलिकी प्रतिष्ठा कराई। बम्बई संवत् में यहार संवत् संवत्सना चाँदिये। क्योंकि संवत् राजाकी जैन प्रश्नोंमें कल्की माना है।

इन प्रमाणोंसे श्रीचामुण्डायका समय इसकी ७ वीं सतीके लगभग ही जान पड़ता है।

अनेक लोगोंका कथन है कि, भाजदय कमरु दो राजा हुए हैं, और वे दोनों ही पारामें हुए हैं। यदि यह बात सत्य है और श्रीनेमिचन्द्रका समय ७ वीं शताब्दि निमित्त हो जाये, तो हो सकता है कि, श्रीत्रकदेवतिमित्त पारामीय प्रधान भोज हों, और प्रवर्धितानामजिल्लिन दूसरे भोज हों। कुछ भी हा, परन्तु यह निश्चय है कि, श्रीगुमचन्द्राचार्य ग्यारहवीं सदीके भोजके समयमें हुए हैं।

भर्तृहरि ।

भर्तृहरिका नाम सुनते ही शतकथयके कटा राजर्षी भर्तृहरिका स्मरण हो आता है। और आचार्य

विश्वभूषणकी कथाका आशय प्रायः इन्हींकी ओर झुकता हुआ है। परन्तु गुप्तचन्द्रके समयमें भनूहरिका समय मियानमें बड़ी २ झगड़ है। सबसे पहली बात तो यही है कि, प्रसिद्धिके अनुसार भनूहरि त्रिन्मादित्यके बड़े भाई हैं, और विश्वभूषणजी उन्हें भोजका भाइ बतलाते हैं। जमीन आसमा जैसा अंतर है। क्योंकि मोज इसाकी ग्यारहवीं शताब्दिमें हुआ है, और त्रिन्मादित्य सत्रके प्रारम्भमें अर्थात् ईसासे ५७ वर्ष पहले हुए हैं। लोकमें जो रिपदन्तिषा प्रसिद्ध है, और भर्तृहरिमन्त्रकी दो एक कथायें हैं, उनसे जाना जाता है कि, भनूहरि त्रिन्मके ज्येष्ठप्राता थे। उन्होंने बहुत समयतक राज्य किया है। एक बार अपनी प्रियतमा स्त्रीका दुश्चरित्र देखकर वे मसारसे निरक्त होकर योगी हो गये थे। स्त्रीके निषयमें उस समय उन्होंने यह शोक कहा था —

या चित्तयामि सतत मयि सा विरक्ता

साध्यन्यमिच्छति जन स जनोऽन्यसक्त ।

अमृतकृते च परितुष्यति काचिदन्या

धिस्तु ता च त च मदन च इमा च मा च ॥

अर्थात् जिसका मैं निरंतर चिंतन किया करता हूँ, वह मेरी स्त्री मुझमें निरक्त है। इतना ही नहीं, किंतु दूसरे पुरुषपर आसक्त है। और वह पुरुष किसी दूसरी स्त्रीपर आसक्त है। तथा वह दूसरी स्त्री मुझपर प्रसन्न है। अतएव उस स्त्रीको, उस पुरुष को, उस कामदेवको, इन (मेरी स्त्रीको) को, और मुझको भी भिन्न है। भनूहरिके निषयमें छाटी भोगी बहुतसी कथायें प्रसिद्ध हैं, जिनका यहां उल्लेख करनेकी आवश्यकता नहीं दिखती। भनूहरिके पिताका नाम धीरसेन था। उनके छह पुत्र थे, जिनमें एक त्रिन्मादित्य भी थे। भनूहरिकी स्त्रीका नाम पद्माक्षी अपना निर्गुण था।

जैसे त्रिन्म नामके कई गाना हो गये हैं, उसी प्रकार भनूहरि भी कई हो गये हैं। एक भनूहरि वाक्पदीय तथा राहतकाव्यका कता गिना जाता है। किसीके नाममें शनरुचय और वाक्पद पदाय दोनोंका कता एक है। इन्द्रसिग नामका एक चीनीयाजी भागतमें इसाकी सातवीं सदीमें आया था। उसने भनूहरिकी मृत्यु सन् ६५० ईस्वीमें लिखी है।

इन सब बातोंमें यह कुछ भी विश्व नहीं हो सकता कि, गुप्तचन्द्राचार्यके भाइ भनूहरि उपरान्त दोनों तीनोंमें से काइ एक है, अथवा काइ प्रभू ही है। विद्वान् प्रवक्तार विद्याचम्पतिन तन्त्रविदु मन्त्रमें भनूहरिका धर्मवास लिखा है। और उपरिलिखित भनूहरि वैदिकधर्मके अनुयायी न थे अर्थात् हैं। इसमें आशय नहीं कि, इन धर्मवासमें पैसा ही तात्पर्य हो, और गुप्तचन्द्र के भाई भनूहरिका हा यह धर्मवास सदा ही गई हो। क्योंकि उन्होंने जैनधर्मकी स्वीक्षा ले ली थी। स्तुत्ययक अनेक शक पमे हैं, जिसमें जैनधर्मके अभिप्राय स्पष्ट व्यक्त होते हैं। यथा,—

एकाक्षी तिर्यग् गत पाणिपात्रो दिग्मन्धर ।

कदाह सम्भविष्यामि कर्मणिमूलाग्रम् ॥ ६० ॥ (वेगवशतक)

अर्थात्—मैं एकाक्षी तिर्यग् गत और कर्मोंका नश करनेमें समर्थ पाणिपात्र (हाथही निरक्त शक) दिग्मन्धरि कब होऊँगा। वेगवशतक ५७ में शकम जैनगानुकी प्रशंसा इस प्रकार है। इति—

१००

१००

१००

१००

१००

१००

१००

१००

१००

१००

१००

१००



Moholla "Marc" an Y. ard
 Bikanur

अथ ज्ञानार्णवस्य विषयानुक्रमणिका



| प्रकरणसंख्या | विषय | पृष्ठ | प्र० संख्या | विषय | पृष्ठ |
|--------------|-------------------------------|-------|-------------|-------------------------------------|-------|
| १ | महाप्रारम्भ सञ्चयना | | १६ | परिमृष्टी निन्दा | १७६ |
| | दुःखनिन्दा आदि | १ | १७ | आत्मो निन्दा | १८४ |
| २ | हितोद्देश | १५ | १८ | पञ्चविनि आदिषा बान | १८८ |
| | अनिन्द्यता १ | १७ | १९ | कौषिकपादकी निन्दा | १९६ |
| | अनिन्द्यता २ | २६ | | मनसुपादकी निन्दा | २०६ |
| | सुखानन्दता ३ | ३१ | | महाप्रारम्भकी निन्दा | २०८ |
| | एकत्वभावता ४ | ३४ | | लोमसुपादकी निन्दा | २१० |
| | अनन्दभावता ५ | ३७ | २० | इन्द्रियोको वा करवेकी प्रस्ता | २१२ |
| | अपुञ्जितभावता ६ | ४० | २१ | अनन्दी शक्ति का वन | २२० |
| | असह्यभावता ७ | ४२ | | विश्वरूप का वन | २२७ |
| | सर्वभावता ८ | ४४ | | महामहेश्वरी वर्त्मन | २२९ |
| | निजभावता ९ | ४७ | | वाचस्पति वर्त्मन | २३६ |
| | धर्मभावता १० | ४९ | | उत्तरे | २३९ |
| | लोकाभावता ११ | ५४ | २२ | मनसुपादकी शक्ति का वन | २४७ |
| | बोधितुल्य भावता १२ | ५६ | २३ | महाप्रारम्भ आदिषा शक्ति का वन | २४८ |
| | ब्रह्मभावतामोक्षा महाप्रारम्भ | ५९ | २४ | सम्पन्नता का वन | २४९ |
| ३ | संप्रतिष्ठे ध्यानका छान | ६१ | २५ | ध्यानकी प्रस्ता व मेद | २५१ |
| ४ | ध्यान (ध्यान करनको) का वन | ६८ | २६ | संप्रतिष्ठे का वन | २६७ |
| ५ | ध्यान सुनिधी प्रस्ता | ८४ | २७ | ध्यान प्रारम्भ का वन अरु सम्पन्नता | |
| ६ | सम्पन्नता का वन | ९१ | | इन ४ ध्यानको वन | २७७ |
| ७ | सम्पन्नता का वन | १०३ | | ध्यानका वन अरु सम्पन्नता का वन | २७९ |
| ८ | अहिंसामहेश्वरी वर्त्मन | १०९ | २८ | ध्यानको वन - सम्पन्नता का वन | २७७ |
| ९ | महामहेश्वरी वर्त्मन | १२१ | | ध्यानका वन | २७८ |
| १० | अहिंसामहेश्वरी वर्त्मन | १२९ | २९ | सम्पन्नता का वन | २८४ |
| ११ | महामहेश्वरी वर्त्मन और | | | ध्यानको वन, ध्यान और अहिंसामहेश्वरी | |
| | वर्त्मनी निन्दा | १३३ | | ध्यानको वन और अहिंसामहेश्वरी | |
| १२ | महामहेश्वरी निन्दा | १६१ | | अहिंसामहेश्वरी | २८७ |
| १३ | मैत्रेयकी निन्दा | १५१ | ३० | सम्पन्नता का वन वर्त्मन | २९४ |
| १४ | सीतेश्वरी निन्दा | १५७ | ३१ | ध्यानकी प्रस्ता | २९७ |
| १५ | वृद्धेश्वरी प्रस्ता | १६७ | | ध्यानका वन | २९७ |

| प्र० | संख्या | विषय | पृष्ठ | प्र० | संख्या | विषय | पृष्ठ |
|------|--------|--|-------|------|--------|---|-------|
| ३२ | | बहिरात्म आन्तरात्म और परमात्मके स्वरूपका ध्यान | ३१६ | | | नोडस्यगीतिगानमणि नामक मंत्रोंके ध्यानका गान | ३१६ |
| ३३ | | आचारित्रिय धर्मध्यानका ध्यान | ३३६ | ३० | | स्वप्नध्यानका ध्यान | ३३० |
| ३४ | | असायत्रिय धर्मध्यानका ध्यान | ३४१ | ४० | | बुध ध्यानका ध्यान | ४१० |
| ३५ | | विषादत्रियधर्मध्यानका ध्यान | ३४५ | | | रुग्णीध्यानका ध्यान | ४१० |
| ३६ | | सस्पानत्रिय धर्मध्यानका ध्यान | ३४७ | ४१ | | उपद्रव आदि धर्मध्यानके कल्याण ध्यान | ४११ |
| | | अधोलोकका ध्यान | ३५४ | ४२ | | गुरुध्यानका ध्यान | ४११ |
| | | मध्यलोकका ध्यान | ३६४ | | | गुरुध्यानका ध्यान | ४११ |
| | | उपरिलोकका ध्यान | ३६६ | | | ध्यानका ध्यान | ४११ |
| ३७ | | विद्वत्ध्यानका ध्यान | ३८० | | | गुरुध्यानका ध्यान | ४११ |
| | | पाथिनीधारणाका ध्यान | ३८१ | | | ध्यानका ध्यान | ४११ |
| | | अभिषेधधारणाका ध्यान | ३८२ | | | केवलध्यानकी महिमाका ध्यान | ४११ |
| | | मातृधारणाका ध्यान | ३८४ | | | मृगध्यानका ध्यान | ४११ |
| | | धारणीधारणाका ध्यान | " | | | समुद्रध्यानका ध्यान | ४११ |
| | | सरस्वतीधारणाका ध्यान | ३८५ | | | ध्यानका ध्यान | ४११ |
| ३८ | | पदध्यानका ध्यान | ३८७ | | | मातृका ध्यान | ४११ |
| | | धनमातृकाध्यानका ध्यान | " | | | मिथुनध्यानका ध्यान | ४११ |
| | | मन्त्रध्यानका ध्यान | ३८९ | | | ध्यानका ध्यान | ४११ |
| | | प्रणव (ओंकार) के ध्यानका ध्यान | ३९३ | | | शास्त्रका उपसंहार | ४११ |
| | | पंचमस्कारमन्त्रके ध्यानका ध्यान | ३९४ | | | शास्त्रकी गमना | ४११ |

इति विषयानुक्रमिका समाप्ता ।

सूचना—ज्ञानार्थ पृष्ठ ३८९ में जो हमने अनाहतका स्वरूप लिखनेकी प्रतीति दी है। तदनुसार अनाहतका लक्षण व आकार यहाँ लिखते हैं।

अनाहतका लक्षण

उपि द्वाकारहरोर्ध्वरेफनिष्ठानाक्षरम् ।

मालाधस्यदिपीयूषनिधुविदुरनाहतम् ॥ १ ॥

अनाहतका आकार



इसमें निम्न लिखित ना ९ अक्षर मिले हुए हैं

१ उकार २ अनुस्वार ३ इकार ४ ऊकार ५ हकार
६ एकार ७ निगार ८ अनुस्वार ९ इकार

यह अनाहतका लक्षण व आकार हमको श्रीजगन्नाथलालजी शास्त्रीने बड़े परिश्रमसे प्रतिष्ठाविधिसन्धी पुस्तकमें लिखकर बतलाया है, इस लिये हम उनके कृतज्ञ हैं।

अनाहतका

स्वाध्याय करनेवाले महाशयो !

सबसे पहिले नीचे लिखे शुद्धिपत्रको देखकर इस ग्रंथको शुद्ध कर लीनिये
तत्पश्चात् स्वाध्याय करना प्रारम्भ कीनिये ।

शुद्धिपत्रम् ।

| पृष्ठम् | पङ्क्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|---------|----------|-----------------------------------|-------------------------------------|
| १ | १ | -विरचितम् | विरचित |
| १ | ३ | हानाचम् | हानाच |
| १ | ४ | -सहितम् | -सहित |
| २ | २७ | विरोधनोक्ति | विरोधनोक्ति |
| ४ | १५ | इष्टीकरण | (इष्टीकरण) |
| ५ | ४ | आचार्य | आचार्य महाराज |
| ७ | १५ | छन्दो | छन्द |
| ८ | ६ | -मि रोच- | -मि रोच- |
| ९ | ११ | जन्म जा- | जन्मजा- |
| १० | १५ | -विगुद्धि वे | विगुद्धि |
| १० | २४ | कुशाग्रप्रपन्ना | कुशाग्रप्रपन्ना |
| ११ | ५-६ | यद्यपि मुननेमें सत्पुरुषोंके बचने | यद्यपि कार्यद्वय और सत्पुरुषोंको भी |
| ११ | ६ | रहित | " |
| १२ | ६ | कुशाग्रप्रपन्ना- | कुशाग्रप्रपन्ना- |
| १२ | १५ | कान्तस्मर- | कान्त स्मर- |
| १३ | २ | गत | यता |
| १३ | १८ | रहु- | रहु- |
| १५ | १ | कामाचा | कामाचा |
| १७ | ७ | रक्षितुं | रक्षितुं अत्यन्त मुक्त |
| १९ | १९ | यन्त्र-ध- | यन्त्र-ध- |
| २१ | ९ | मित्र | मित्र |
| २२ | ६ | यह | वे |
| २२ | ८ | करते हैं | करते हैं |
| २३ | २ | लाभ | लाभ |
| २३ | ४ | पनने | पनने |
| २३ | १२ | करते | करते |
| २४ | ८ | -उपकरणम्- | -उपकरणम्- |
| २४ | १८ | मुद्रास्त्रि- | मुद्रास्त्रि- |
| २६ | १६ | शोचते | शोचते |
| २६ | २७ | शुद्धिपत्रम् | शुद्धिपत्रम् |

| पृष्ठम् | पङ्क्ति | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|---------|---------|-------------------|---|
| २६ | २७ | दश | दश |
| २७ | २ | आपदाआओ | आपदाओंके गमान आनी आपदाओंको |
| २९ | १४ | आरम्भामृग- | आरम्भ मृग |
| २९ | १५ | जीवन्त्यति रति | जीवन्त्या निरेति |
| ३ | ११ | दश | दश |
| ३१ | २९ | स्वपचो- | स्वपचो- |
| ३२ | २८ | तद्देशो | मद्देशो |
| ३८ | २६ | तिर्विशालय- | निवशराय- |
| ४ | ३ | गतिः | गति |
| ४२ | ८ | कुण्ड- | कुण्ड |
| ४२ | ९ | निदिन | निदिन |
| ४३ | ७ | कायवाचनो कर्मयोग | कायवाचन कर्मयोग |
| ४७ | १७ | उत्ते | उत्ते मुनिजन |
| ५० | १९ | पयन्य | पयन्य |
| ५१ | ६ | वारण | वारण |
| ५१ | १० | रा त्राता | सत्राता |
| ५१ | १९ | पतिता | पतता |
| ५७ | २६ | -व्यामू- | -व्यामू- |
| ७४ | १२ | प्रतिवा | अप्रिया |
| ८१ | १३ | गातु | शात |
| ८६ | १२ | सघट | सघट |
| ८९ | २० | विपयोम | विपयोमें नहीं |
| ८९ | २९ | पाप | पाद |
| ९० | २२ | पुन | पुन |
| ९० | २३ | ये | ये |
| ९२ | १८ | तत्त्वार्थ भद्धान | तत्त्वा ई भद्धान |
| ९२ | २७ | तीन | तीन |
| ९३ | २६ | स्निह | सिद्ध |
| ९६ | १४ | समाध | समाध |
| ९७ | १३ | कर्म | कर्म |
| १३ | २१ | दशन | दशनम् |
| १०२ | २४ | महाभाग्य द्वि | महाभाग्य मुक्त द्वि द्वेष्टा में मानता द्वि |
| १०५ | १६ | इन्द्रियजनित | इन्द्रियजनित |
| १०५ | १६ | आमात्रो | आ मात्रे |
| १०५ | ११ | रुद्र- | रुद्र- |
| १०७ | ७ | बह कालमें | बह विहीनकालमें |
| १११ | ३ | (१०५) | (१०८) |
| १२१ | २१ | बद | बद जीवोके दिनरूप |

ज्ञानार्णव ।

| पृष्ठम् | पङ्क्ति- | अक्षरानुसू | शुद्धम् |
|---------|----------|-----------------|---|
| ११२ | ८ | विजयत | जगत् |
| ११३ | १९ | करणा | कटना |
| ११६ | २७ | पापे अनन्योत्प | पापमस्योत्प |
| १३ | २३ | पुत्रवी | निजनी |
| १३३ | ९ | रत्नमेमी | न्यत्रमे मी |
| १३६ | ३ | कर्म | कर्मम् |
| १३७ | १५ | यह | प्रयोगचो प्राप्तहुआ यह |
| १३८ | २५ | क्षणभरसे | आपे क्षणसे |
| १४० | १ | धु | कुद्ध |
| १४० | २२ | (परजातिही थी) | (पणुजातिही थी) |
| १४३ | ३ | छात्रा | छात्रा |
| १४३ | १५ | वेगसे | वेगसे मंपी हुई |
| १४४ | ८ | मर | मरके |
| १४४ | १४ | क्याहि | क्योंकि तीनमात्रसे |
| १४५ | ८ | नियद्धारम् | नियस्विरम् |
| १४५ | २१ | करती | रहती |
| १४६ | २९ | पाकर भी | पाकर भी स्वभावसे |
| १५ | २३ | आर | और ज्ञानही ह निमित्त मैत्र जितने तथा निमित्त व |
| १५६ | २९ | संग | संग |
| १५७ | ४ | सारीरबी | वेम्भी |
| १५८ | १३ | सासे | मासे |
| १६५ | १ | मानी | ओभी |
| १६७ | २६ | मनुष्योद्य | बृहस्पत्यासे मनुष्योद्य |
| १७० | ४ | पुरियाहपी | पुनियामय रागवपी |
| १७४ | १५ | चों ही | सो ही |
| १७९ | ९ | विषयव्या- | विषयव्या- |
| १८४ | ५ | बाधाभवात्तर | बाधाभवात्तर |
| १८४ | १७ | तथा | तथा |
| १८६ | १७ | इष्ट्या | इष्ट्या |
| १९२ | २७ | पात्वा | हेतु |
| १९३ | ६ | कहाहुआ | कहाहुआ- |
| १९४ | २ | तथा | अथात् |
| १९५ | ३० | अष्टादश | अष्टादश |
| १९ | ३ | कदा | करता |
| २३ | १ | पुगा | पुष्ट |
| २०६ | १८ | छत्र | |
| २७ | २६ | सत्कार करे | सत्कार म करे |

| पृष्ठम् | पंक्ति | अनुसूचम् | सूचम् |
|---------|--------|----------------------|--|
| २८५ | १० | रहन | रहना |
| २८६ | १ | अत्राभ्याम | अत्राभ्यासे |
| २८६ | १४ | पवनरो | पवनरो |
| २८७ | ९ | समान | • • |
| २८८ | ४ | पृथ्वी बीजाक्षर सहित | पृथ्वीका बीजा तत् उक्त गद्गिन |
| २९२ | १६ | नेष्टघटने समया | नेष्टघटनसमया |
| २९३ | २७ | निद्रपल- | निद्रपल- |
| २९५ | १३ | लोक | लोक |
| २९७ | १६ | दृष्ट | दृष्ट |
| २९८ | २५ | बाधु प्रपव- | बाधुप्रपव- |
| ३२ | ८ | -यतो | -यता |
| ३०० | १५ | दारीरम | दारीरम आर पुण्य तथा चन्द्रमस्य पदार्थमे |
| ३०७ | ५ | ए नृविनम्बत | एवं विनम्बत |
| ३०७ | २३ | बाधु | बाधु अप नृ |
| ३१३ | १४ | परमात्मना | परमात्मा |
| ३१३ | १८ | निरर्थक | निरर्थक इ |
| ३२ | २४ | ज्ञानवान् रूप | ज्ञानवान् जो मराम |
| ३३१ | १० | नन्दमवप्रसन्न | नन्दमव प्रसन्न |
| ३३२ | १४ | मयाप | मयाप |
| ३३३ | १९ | उपवा पत्रवाप | उपवा काववा पत्र |
| ३३४ | ३ | स्थान | गमूह |
| ३३४ | १७ | पति | पति |
| ३३५ | १६ | यत्रागमा- | यत्रागमा |
| ३३६ | २ | यो मुनि | मुनि |
| ३३६ | २८ | दृष्टता | दृष्टता अर्थात् दृष्टिमात्र आद्यमात्र निरर्थक ते नरा इ वदन्तीति तथा उन्मत्तदृष्टा अर्थात् वदन्तीति दृष्टता अर्थात् इ |
| ३४१ | ११ | गन्धर्वान् | गन्धर्वान् |
| ३५० | १७ | दृष्टा इ | दृष्टा इ |
| ३५५ | १ | अर्थात् | अर्थात् |
| ३५५ | १ | इ नन्दकी भावने | इत्येव अर्थात् वा इति वदन्तीति |
| ३५५ | १८ | अर्थात् नन्द काणा | गन्धर्वान् दृष्टा अर्थात् इत्येव इति |
| ३५६ | १ | -तदर्थे- | -तदर्थे- |
| ३५६ | ११ | एवमेव | एवमेव |
| ३६६ | १८ | दृष्टव्यम् | दृष्टव्यम् अर्थात् दृष्टव्यम् |
| ३६८ | ११ | अ नन्दप्रमाणं वाच्यं | वाच्यम् |
| ३७३ | १६ | ये मुनि इति | ये वदन्तीति इति |
| ३७७ | ८ | यत्- | यत् |

| पृष्ठम् | पङ्क्ति | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|---------|---------|----------------------|--------------------|
| ३७७ | ३१ | गते | गर्त |
| ३७९ | २ | वहिये | रूप |
| ३८० | २७ | पञ्चत्रिंश | पञ्चत्रिंश |
| ३८० | २८ | पञ्चत्रिंश | सप्तत्रिंश |
| ३८१ | ६ | विण्डव्य | विण्डव्ये |
| ३८१ | २२ | जितारी | जिगता |
| ३८४ | ११ | मेरुपथतको | म्वगरो |
| ३८५ | १८ | आत्माके | आमाशो |
| ३८६ | ६ | भोरे | गोरा |
| ३८७ | ७ | आत्मा | आत्माको |
| ३९७ | २४ | प्रोच्छिन्नमस्यापु | प्रोच्छिन्नमस्यापु |
| ३९८ | २० | देखनेमें | देनेम |
| ३९९ | १८ | स्पन्द | स्पन्द |
| ४०३ | १७ | होत हुआ | होता हुआ |
| ४०९ | २३ | ऐसा | ऐसे |
| ४१६ | ७ | ध्यानमें | ध्यानमें सदा |
| ४१४ | १४ | -स्पन्द- | -स्पन्द- |
| ४१४ | १६ | विगसे | प्रवाहसे |
| ४१९ | २७ | य आत् | पश्चात् रूपमें |
| ४१९ | २८ | रूपस्थ | रूपातीत |
| ४२३ | १६ | वितर्क | वितर्क |
| ४४० | १२ | बह | " |
| ४४० | २६ | जाती ह | हो जाती हैं |
| ४६२ | १४ | निश्चित | निश्चिद् |
| ४४५ | १३ | प्रमाण ^{१२} | प्रमाण ह |
| ४६६ | ११ | भीमाश्रितोक्त | भीमाश्रितोक्त- |
| ४४७ | २ | कद्र | -कद्रो |

इति ।

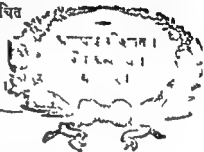


रायचन्द्रजैनशास्त्रमाला.

श्रीगुमचन्द्राचार्यविरचित

ज्ञानार्णवः

भाषागुणादस्तदित



होय ।

हरमघातिषा भात हरि केवललक्ष्मी पाय ।
भाति अघाति लक्ष मुक्ति, यन्हीं तिनके पाय ॥ १ ॥
परमागम केचिद्विधित गणधरगूयित सार ।
ताका यन्हीं भाषणुन पाऊ ज्ञान उदार ॥ २ ॥
गुरु गौतमको भादि दे, अय पचम कराल ।
तिनिके पदकू यदि बदि, तसु खबल जगल ॥ ३ ॥
देवदत्ताखगुरु यदि हरि ज्ञानाणयधुन देखि ।
करु पचनिषा दशमय, भव्यजीय हित परि ॥ ४ ॥

भगलाचरणम्

ज्ञानलक्ष्मीधनाक्षेपमभवानन्दनन्दितम् ।

निष्ठितार्थमर्ज नौमि परमात्मानमव्ययम् ॥ १ ॥

अर्थ—आचार्यवर्य करते है वि—मै परमात्माको नमस्कार करता हूँ, परा=उल्टा—
मा=लक्ष्मी—जिस आत्माको होय सो परमात्मा है, इस विशिष्ट गुणके धारक अरहन्त
तथा सिद्ध भगवान् ही हैं । सो परमात्मा कैसा है ? ज्ञानकी जो लक्ष्मी अर्थात् समस्त
पदार्थोंका जानना तथा पीतरागत्कारूप लक्ष्मीके दृढ आर्त्तिगनसे (एकरूपतासे) उत्पन्न
हुए आनन्दसे (परम अतीन्द्रिय अनन्त सुखसे) आनन्द स्वरूप है । इस विशेषणसे
अन्यमती परमात्माके स्वरूपका भिन्न प्रकारसे वर्णन करते हैं, अतः उनसे विभि
न्नता दिखाई दे । अर्थात् कई वैष्णव तो “परमात्मा परब्रह्म है, और सब व्यापक

हैं। अतएव जितने भीके स्वरूप हैं, वे तो परमात्माकी शक्तिके रूप हैं और जितने पुरुषके स्वरूप हैं, वे सब परमात्माके रूप हैं। इसप्रकार लक्ष्मी और परमात्माके सयोगबद्ध दृढ आलिंगनसे परमात्माको सुख होता है।" ऐसी कपोलश्रवणा श्रुति उसका व्यञ्जित करते हैं। और जोई २ तो श्रीराम जेमी सत्ता रसकर स्त्री पुरुषता आकार (मृत) स्थापनकर पूजते तथा ध्यान करते हैं। जोई २ लक्ष्मीनारायण कहते हैं, कोई राधा कृष्ण कहते हैं, और जोई गोपीनाथ कहते हैं। तथा कई एक गिरमती पार्वतीका स्थापन करते हैं। जोई २ केवल गिरजीके लिंग तथा पार्वतीकी जननेन्द्रियको ही स्थापन कर पूजते हैं। मो इनके माने हुए स्वरूपको तो ज्ञानलक्ष्मी शब्दसे निराकरण किया। नैयायिक कहते हैं कि—“ज्ञान और आत्मा भिन्न २ पदार्थ हैं और इनकी एकता जो समवायनामक एक भिन्न पदार्थ है, सो करता है”। परन्तु भिन्न पदार्थकी की हुई एकता कदापि नहीं हो सकती, क्योंकि एकता तो तात्त्विकरूप होती है, सो ही होती है। इस कारण घनाश्लेषके कहनेसे उन नैयायिकोंकी कल्पनामें भी भिन्नता दिखाई है। साख्यमती प्रकृति और पुरुषता सयोग होनेसे आत्माको ज्ञानमुख्य होना कहते हैं, सो इनसे भी ज्ञानलक्ष्मीके दृढ आलिंगन अर्थात् तात्त्विक भावसे ही सुख होता है, इस प्रकार भिन्नता दिखाई है। एवम् अन्यान्य मतवाले जो परमात्माको अन्यप्रकार कहते हैं, उन सबका भी निराकरण इसी विशेषणसे जानना चाहिये, क्योंकि परमात्माके ज्ञानानन्द रूपतासे परमानन्द हे अन्य प्रकारसे नहीं है। फिर कैसा है परमात्मा? निश्चित परिपूर्ण हो गये हैं, अध प्रयोजन जिसके, ऐसा कृतकृत्य है। इस विशेषणसे जो नैयायिक कहते हैं कि, परमात्मा वा ईश्वर है सो समस्त कार्यका कर्ता है अर्थात् सृष्टिको बनाता वा विगाड़ता रहता है, सो इस मान्यता खडन किया है। क्योंकि जो कुछ भी कार्य करता रहता है, वह कृतकृत्य कदापि नहीं हो सकता। फिर कैसा है वह परमात्मा? कि—अज है, अजन्मा है, अर्थात् उसका कभी जन्म नहीं होता। इस विशेषणमें जो राम कृष्ण आदि परमात्माके अवतारोंको मानते हैं, उनकी कल्पनाका निषेध किया है। क्योंकि परमात्माका फिर कभी ससारमें जन्म नहीं होता। फिर कैसा है परमात्मा? अव्यय कहिये नाशरहित अर्थात् अविनाशी है। इस विशेषणमें जो कोट ॥ मा-माघा नाश मानते हैं, तथा सर्वथा अभावा ही मानते हैं, उनकी कल्पनाको मिथ्या ठहराया है। इस प्रकार इन चार विशेषणों करके समस्तमतोंसे भिन्न जैसा यथावत् स्वरूप परमात्माका है, उसे प्रष्ट करके आचार्य महाराजने नमस्काररूप मंगलाचरण किया है। अन्यमती जो कल्पना करने कहते हैं, सो यथाथ नहीं है। और जो अवयवाथ हैं सो वस्तु नहीं है, तथा अवस्तुको नमस्कार करना योग्य नहीं है ॥

यदा कोई अन्यमती प्रश्न करे कि—“हम भी तो परमात्मा ही हैं ही विशेषणोंसे सहित

कहते हैं, तो यथार्थ क्यों नहीं है ? हम परमात्माको समस्त चतुर्वि मायासे पृथक् मानते हैं—उसका यह उत्तर है नि,—

तुम जो ऐसा कहते हो, तो एकान्तपक्षमे कहते हो । बलुका स्वरूप सर्वथा एकान्तरूप प्रमाणसिद्ध नहीं है, क्योंकि बलुका स्वरूप जो अनेकान्तात्मक है, वही सत्यार्थ है । इसकी चर्चा बाधा निर्वाणस्वरूप जैनके प्रमाण नयके कथन करनेवाले स्नाद्धादिरूप जो अनेक शास्त्र है, उनसे जाननी चाहिये । यह इतना ही अभिप्राय जानना कि, मामान्यतासे तो परमात्माको समस्त मतवाले मानते हैं, परन्तु उसके स्वरूपमें विवाद है । और समस्त मतवालयी परम्पर विधिविधेय करते हैं, उनके विरोधको जैशियोंका स्नाद्धादिरूप दृग्भेदके यथार्थ स्वरूपको स्थापन करता है । वही स्वरूप मज्जिमावेकिये अद्वान तथा नमस्कार करने योग्य है ।

यहां कोई प्रश्न करे कि, परमात्मानें नमस्कार करनेकी योग्यता कैसे है ? इसका उत्तर यह है,—

यह ज्ञाननामा पदार्थ निश्चयनपक्षसे सब ही परमात्मा है, किन्तु अनादिकाली कर्माच्छादित होनेके कारण अतक अपने स्वरूपकी प्राप्ति नहीं होती है तबतक इसको जीवात्मा कहते हैं । जीव अपने हैं, इस कारण जो जब कब काटकर परमाना अर्थात् सिद्ध हो गये हैं, यदि उनका स्वरूप जान उन्हींके ऐसा ज्ञान भी स्वरूप उन्हें तो उनके कारण ध्यानसे कर्मोंको काटकर जायाना समय उस पक्षको प्राप्त होता है । जब जबतक कर्म काटकर उनके ऐसा न होय, तबतक उस परमात्माके स्वरूपको नमस्कार करना आवश्यक है, तथा उसका कारण ध्यान करना भी उचित है ॥ १ ॥

आगे आचार्य इष्ट देवका नाम प्रकाश करके नमस्कार करते हैं । प्रथम ही हम कम भूमिरी आदिमें आदि तीर्थंकर भी कथमदेवजी हुए हैं, इसलिये उनको नमस्कार करते हैं,—

सुवनाम्भोजमार्शण्ड धर्माभूतपयोधरम् ।

योगिकल्पतरु नौमि देवदेव वृषपक्षजम् ॥ २ ॥

अर्थ—**न** (गुमच-ज्ञाचार्य) वृषध्वज कहिये वृषका है ध्वज अर्थात् सिंह गिरफे, अथवा वृष कहिये धर्मकी ध्वजस्तव भी कथमदेव आदि तीर्थंकरको नमस्कार करता है । कैसा है कथमदेव ? देवदेव कहिये चार प्रकारके देवोंका देव है । इन विशेषतः समस्त देवोंका द्वारा वृषध्वज शिराई । शिर कैसा है ? उक्त कहिये लोहपासी ध्वजको प्रसूति करनेकेलिये सर्वसमस्त है । इन विशेषतः नमस्कार उक्तध्वजके अपने अतिशय प्रकाश हुए, उनसे लोहके प्रचुर आनंद प्रदर्श देना जाना है । शिर कैसा है प्रभु ? धर्मरूपी अमृत वरानिको नैवेद्य सदान है । इन विशेषतः वरदान-प्रद

पश्चात् दिव्यध्वनिसे अभ्युदय निश्चयेयम्सा मार्ग धर्म प्रवर्तना प्रगट किया है। किं कैना है प्रमु। योगीधरोको मनोराजित फल देनेकेलिये कल्पवृक्षके समान है। इस विशेष जने योगीधरोको मोक्षमार्गके साधनेवाले ध्यानकी बाछ होती है, सो उनको यथाय ध्यानका मार्ग बनानेवाला है, अर्थात् जो ध्यान हम करते हैं, वही ध्यान तुम करो, इन प्रकार परंपराय ध्यानका मार्ग जानकर योगीधरगण अपनी बाछको पूरा करते हैं, ऐना आगम जनाया है ॥ २ ॥

आगे आचार्य अपने नामके निमित्तसे लग्नमें आये हुए अष्टम तीर्थकर श्रीचन्द्रम देवको प्रायनारूप ध्वन कहते हैं,—

भयञ्जलनसम्रान्तसत्त्वशान्तिसुधारणव ।

दैवञ्चन्द्रमम पुण्यात् जानरत्नाकरश्रियम् ॥ ३ ॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि, चन्द्रमदेव हैं, सो चानरूप समुद्री समीको पु करो। कैने हैं चन्द्रमदेव? समारूप अमिमें भ्रमते हुए जीवोंको अमृतके समु द्रके गन्त हैं। भाषार्थ—यहां रूपकालकारकी अपेक्षासे कहा है कि, चन्द्रमदेव चन्द्रमरूप हैं। जैसे चन्द्रमा समुद्रको बनानेका कारण होना है, मगरान् भी चानरूप समुद्रको बनोकेलिये एक कारण हैं। अतः (हमीकारण) यह प्रार्थना की है। तथा हम देवका गन 'जानार्णव' रक्का है, सो इसकी पुष्टानेकेलिये भी प्रायना की है। और चन्द्रके प्रणी समारानामे सपायमा हो रहे है, उनकेलिये चन्द्रमममगरान् चन्द्रमके समान है। तथा चानरूपी अमृतकी वर्णकरने तापको मिटानेवाले है ॥ ३ ॥

अगे शिरो नष्टकर्म शान्ति कर्ममें मोहने तीर्थकर श्रीशान्तिनाथ भगवान् कारण है, इस कारण उनको नमस्कार करते हैं,—

समममममम पुरुषप्रियत्रिजगत्प्रथम् ।

शान्तिनाथ नमम्यामि विश्वविघ्नोपशान्तये ॥ ४ ॥

अर्थ—कहते हैं कि, मैं समम शिरो मममकी शान्तिनेकेलिये श्रीशान्तिनाथ नमस्कार करता हूँ। कैने है प्रमु? मममकारित्ररूप जगत् प्रथम शिरो है। चन्द्रम देव शिरो-नाथ हैं। भाषार्थ—शान्ति कार्यमें शान्तिनाथ नमस्कार करता हूँ, इस कारण सममकी शान्तिमें शिरोनाथ उनको नमस्कार करता हूँ। यह चन्द्रमको शान्ति समम प्रथम किया, इस कारण समम शान्तिनाथ शिरोनाथ कहते हैं। शिरोनाथ शिरोनाथ, इस हेतुमें भी नमस्कार करता हूँ ॥ ४ ॥

आगे अन्तिम तीर्थकर श्रीवर्द्धमान महारूको प्राधान्यरूप वचन कहते हैं,—

श्रिय सकलकल्याणकुमुदाकरचन्द्रमा ।

देव श्रीवर्द्धमानारय क्रियाङ्गव्याभिनन्दिताम् ॥ ५ ॥

अर्थ—आचार्यमहाराज कहते हैं कि, श्रीवर्द्धमान नामा अन्तिम तीर्थकर देव हैं, सो भव्य पुरपोर प्रशंसित और इच्छित लक्ष्मीको करो । कैसे है प्रभु ? समस्त प्रकारके कल्याणरूपी चन्द्रवशी कमलोंके समूहको प्रफुल्लित करनेकेलिये चन्द्रमाके समान है । भावार्थ भगवान् समस्त कल्याणोंसे परिपूर्ण है, समस्त विघ्नोंको विनाश करनेवाले हैं । और इस कालमें निनके वचन मोक्षमार्गके उपदेशरूप प्रवते हैं, ऐसे भगवान्से बांछित लक्ष्मीकी प्राप्ति करना युक्त है ॥ ५ ॥

आगे ध्यानकी सिद्धिके अथ श्रीगोतमगणधरको नमस्कार करते हैं,—

श्रुतस्कन्धनभञ्जन्द्र सयमश्रीविशेषकम् ।

इन्द्रभूति नमस्यामि योगीन्द्र ध्यानसिद्धये ॥ ६ ॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि, योगियोंमें इन्द्रके समान इन्द्रभूति कहिये श्रीगोतम नामक गणधर भगवान्को ध्यानकी सिद्धिके अथ नमस्कार करता हू । कैसे है इन्द्रभूति ? श्रुतस्कन्ध कहिये द्वादशागरूप शास्त्र, सो ही हुआ आकाश, उसमें प्रकाश करनेके अथ चन्द्रमाके समान है । फिर कैसे हैं ? सयमरूपी लक्ष्मीको विशेष करनेवाले हैं । भावार्थ—श्रीगोतमगणधरने श्रीवर्द्धमानस्वामीकी दिव्यध्वनि सुनकर द्वादशागरूप शास्त्रकी रचना की, और आप सयम पाठ और ध्यान करके मोक्षको पथारे । पश्चात् उनसे ध्यानका मार्ग प्रवर्त्ता । इस कारण उनको हम ध्यानके (योगके) प्रथकी आदिमें नमस्कार करना युक्त समझते नमस्कार किया है ॥ ६ ॥

आगे सर्वज्ञके स्याद्वादरूप शासनकी आशीर्वादरूप वचन कहते हैं,—

प्रशान्तमतिगम्भीर विश्वविद्याकुलम्(१)रम् ।

भठ्यैव शरण जीयाच्छ्रीमत्सर्वज्ञशासनम् ॥ ७ ॥

अर्थ—श्रीमत् कहिये विद्या लक्ष्मीसहित जो सर्वज्ञका शासन (आज्ञामत) है, सो जयवन्त प्रवत्ता । ऐसा है सत्यका शासन ? व्याकरण, न्याय, छन्द, जलकार, साहित्य यन्त्र, मन्त्र, तन्त्र, ज्योतिष, वैद्यक, निमित्त, और मोक्षमार्गकी प्रवृत्ति आदि विद्याओंके समनेका कुलम्ह है, तथा भव्य जीवोंको एक मात्र अद्वितीय शरण है । प्रशान्त है, तथा समस्त आबुलता और शोभका मिटानेवाला है, अतएव अति गम्भीर है । मन्दबुद्धि प्राणी इसका शाह नहीं पा मरते । भावार्थ—सत्यका मत समस्त जीवोंका हित करनेवाला है सो जयवन्त प्रवत्ता, ऐसा आचार्य महाराजने अनुगमनहित आशीर्वाद दिया है ॥ ७ ॥

पश्चात् दिव्यध्वनिसे अम्युदय निश्चयेस्सा मार्ग धम प्रवर्त्तना प्रगट किया है। किन्तु मैं
हैं प्रभु? योगीश्वरोंको मनोराहित फल देनेकेलिये कष्टपूर्वक समान है। इस विरोध
णसे योगीश्वरोंको मोक्षमार्गके माधनेशाने ध्यानकी बाधा होनी है, सो उनको यथा
ध्यानका मार्ग मनानेवाला है, अर्थात् जो ध्यान हम करते हैं, वही ध्यान तुम करो, इस
प्रकार परपराय ध्यानका मार्ग जानकर योगीश्वरगण अपनी बाधाको पूरा करते हैं, ऐसा
आग्रह जनाया है ॥ २ ॥

आगे आचार्य अपने नामके निमित्तसे स्मरणमें आये हुए अष्टम तीर्थकर श्रीचन्द्रप्रभ
देवको प्राथनारूप वचन कहते हैं,—

भवज्जलनसन्त्रान्तसत्त्वशान्तिसुगर्णम् ।

देवश्चन्द्रप्रभं पुण्यात् जानरत्नाकरत्रिपम् ॥ ३ ॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि, चन्द्रप्रभदेव हैं, सो ज्ञानरूप समुद्रकी लम्बीको
पुष्ट करो। कैसे हैं चन्द्रप्रभदेव? समारूप अग्निमें अमृत हुए जीवोंको अमृतके सम
द्रके समान हैं। भावार्थ—यहां रूपरालसारकी अपेक्षासे कहा है कि, चन्द्रप्रभदेव
चन्द्रमास्वरूप हैं। जैसे चन्द्रमा समुद्रको बढानेका कारण होता है, भगवान् भी ज्ञानरूप
समुद्रको बढानेकेलिये एक कारण हैं। अतः (इमीकारण) यह प्राथना की है। तथा इस
प्रथना नाम 'ज्ञानार्णव' रक्ता है, सो इसकी पुष्टाकेलिये भी प्राथना की है।
ओर जगत्के प्राणी ससारतापसे तपायमान हो रहे हैं, उनकेलिये चन्द्रप्रभभगवान्
चन्द्रमाके समान हैं। तथा ज्ञानरूपी अमृतकी वर्षाकरके तापको मिटानेवाले हैं ॥ ३ ॥

आगे विष्णुको नष्टकरके शान्ति करनेमें सोलहवें तीर्थकर श्रीशान्तिनाथ भगवान् कारा
हैं, इस कारण उनको नमस्कार करते हैं,—

सत्सयमपय पूरपवित्रितजगत्त्रयम् ।

शान्तिनाथ नमस्यामि विश्वविघ्नौघशान्तये ॥ ४ ॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि, मैं समस्त विघ्नोंके समूहकी शान्तिकेलिये श्रीशान्तिनाथ
तीर्थकर भगवान्को नमस्कार करता हूँ। कैसे हैं प्रभु? सम्यक्चारित्र्यरूप जलके प्रवाहसे
पवित्र किया है जगत्का त्रय तिनने-पेसे है। भावार्थ—शान्ति कार्यमें शान्तिनाथ
तीर्थकरको प्रधान मानते हैं, इस कारण शान्तिनाथ आदिमें विघ्ननिवारणार्थ उनको नम
स्कार करना युक्त है। तथा चन्द्रवर्णिपत्नको त्यागकर सयम ग्रहण किया, इस कारण
अथ जनोंके भयमकी रुचि उत्पन्न करने उन्हें पवित्र किया, इस हेतुसे भी यह
विनोद पुष्ट है ॥ ४ ॥

आगे अन्तिम तीर्थकर श्रीवद्मान भट्टारकको प्राधान्यरूप बचन कहते हैं,—

श्रिय सकलकल्याणकुमुदाकरचन्द्रमा ।

देव श्रीवर्द्धमानाय क्रियाङ्गन्याभिनन्दिताम् ॥ ५ ॥

अर्थ—आचार्यमहाराज कहते हैं कि, श्रीवर्द्धमान नामा अन्तिम तीर्थकर देव हैं, सो भव्य पुरयोंकर प्रशमित और इच्छित लक्ष्मीको करो । कैसे है प्रभु ? समस्त प्रकारके कल्याणरूपी चन्द्रपक्षी कमलोंके समूहको प्रफुल्लित करनेकेलिये चन्द्रमाके समान है। भावार्थ भगवान् समस्त कल्याणोंसे परिपूर्ण है, गमन विघ्नोंको विनाश करनेवाले है । और इस कालमें तिनके बचन मोक्षमार्गके उपदेशरूप प्रवत हैं, ऐसे भगवान्से वाछित लक्ष्मीकी प्राथना करना युक्त है ॥ ५ ॥

आगे ध्यानकी सिद्धिके अथ श्रीगोतमगणधरको नमस्कार करते हैं,—

श्रुतस्कन्धनभञ्जन् सयमश्रीविशेषकम् ।

इन्द्रभूतिं नमस्यामि योगीन्द्रं ध्यानसिद्धये ॥ ६ ॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि, योगियोंमें इन्द्रके समान इन्द्रभूति कहिये श्रीगोतम नामक गणधर भगवान्को ध्यानकी सिद्धिके अथ नमस्कार करता ह । कैसे हैं इन्द्रभूति ? श्रुतस्कन्ध कहिये द्वादशांगरूप शास्त्र, सो ही हुआ आकाश, उसमें प्रकाश करनेके अथ चन्द्रमाके समान हैं । फिर कैसे है ? सयमरूपी लक्ष्मीको विशेष करनेवाले हैं । भावार्थ—श्रीगोतमगणधरने श्रीवद्मानव्यामीकी दिव्यध्वनि सुनकर द्वादशांगरूप शास्त्री रचना की, और आप सयम पाल और ध्यान करके मोक्षको पवार । पश्चात् उनसे ध्यानका माग प्रवर्त्ता । इस कारण उनको हम ध्यानके (योगके) प्रथकी आदिमें नमस्कार करना युक्त समझके नमस्कार किया है ॥ ६ ॥

आगे सरज्ञके न्याद्वारूप शासनकी आशीर्वादरूप बचन कहते हैं,—

प्रशान्तमतिगम्भीर विश्वविद्याकुलम् (?) तम् ।

भक्त्यैरुत्तारण जीपाच्छ्रीमत्सर्वज्ञशासनम् ॥ ७ ॥

अर्थ—धीमत् कहिये निवास लम्बीमहित जो सर्वज्ञता नामन (आचामत) है, सो जयवन्त प्रवर्त्ता । कैसा है सर्वज्ञका शासन ? ध्यायगण, न्याय, छन्द, अलंकार, साहित्य यन्त्र, मन्त्र, तन्त्र, ज्योतिष, वैद्यक, निमित्त, और मोक्षमार्गकी प्रवृत्ति आदि विद्याओंके बसनेका कुलप्रद है, तथा भव्य जीवोंको एक मात्र अद्वितीय कारण है । प्रशान्त है, तथा समस्त आवृत्ता और शोभका मिलानेवाला है, अनन्व अति गम्भीर है । मन्दबुद्धि प्राणी इसका धाह नहीं पा सकते । भावार्थ—मनुष्यका मत समस्त जगत्का हित करनेवाला है सो जयवन्त प्रवर्त्ता, ऐसा आचार्य महाराजने अनुगम्यरहित आशीर्वाद दिया है ॥ ७ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि, मरुगन्ध कहिये समुद्र अपार है, तो मा अनेक समथ पुरुष उसे मुनाआसे तैर सकते हैं, परन्तु यह पानाण्य योगियाका स्नायमान करनेवाला अथाह है, सो हम मेमामे नहि तैग जा मरता । भाषार्थ—यह पानाण्य अपार है, अत हम मेमे डमरा पार कैसे पाय ? ॥ १२ ॥

आगे इसी अध्यासो सूचित करनेको फिर भी कहते हैं,—

महामतिभिर्निःशेषमिद्वान्तपथपारगै ।

क्रियते यत्र दिग्मोहस्तत्र कोऽन्य प्रमर्पति ॥ १३ ॥

अर्थ—जहा बड़ी बुद्धिवाले समस्त सिद्धान्त मार्गों पार करनेवाले भी दिग्मा मूल जाते हैं, वहा अन्य जन किस प्रकार पार पा सकते हैं ? भाषार्थ—यह पानाण्य अथाह है इसमें बड़े बड़े बुद्धिमान् भी चररा जाते हैं, फिर अन्यका तो करना ही क्या ॥ १३ ॥

आगे पूर्वके महाकवियोंकी महिमा और अपनी लघुता दिखाते हैं,—

वंगस्यम् ।

समन्तभद्रादिकवीन्द्रभास्वता स्फुरन्ति यत्रामलसूक्तिरश्मय ।

व्रजन्ति खद्योतवदेव हास्यता न तत्र किं ज्ञानलबोद्धता जना ॥ १४ ॥

अर्थ—जहा समन्तभद्रादिक कवीन्द्ररूपी सूर्योंकी निर्मल उत्तम वचनरूप किर्ण फैलती हैं, वहा पानलवसे उद्भूत पटनीनके (जुगनूके) समान मनुष्य क्या हास्यताको प्राप्त नहीं होंगे ? अवश्य ही होंगे ! भाषार्थ—सूर्यके सामने खद्योत कीटका प्रकाश क्या प्रकाश कर सकता है ? ॥ १४ ॥

अनुष्टुप् ।

अपाकुर्वन्ति यदाच कायवाक्चित्तसम्भ्रमम् ।

कलङ्कमद्भिना सोऽय देवनन्दी नमस्यते ॥ १५ ॥

अर्थ—जिनके वचन जावोंके काय वचन मनसे उत्पन्न होनेवाले मलोंको नष्ट करते हैं, ऐसे देवनन्दीनामक मुनीश्वरको (पूज्यपादस्वामीको) हम नमस्कार करते हैं ॥ १५ ॥

जयन्ति जिनमेनस्य वाचस्त्रैविद्यवन्दिता ।

योगिभिर्यत्समासाय स्पलित नात्मनिश्चये ॥ १६ ॥

अर्थ—जिनसेन आचार्यमहाराजके वचन हैं, सो जयवत हैं । क्योंकि योगीश्वर उनके वचनोंको प्राप्त होकर आत्माने निश्चयम स्पलित नहीं होते, अर्थात् यथाथ निश्चय करते हैं । तथा उनके वचन न्याय व्याकरण और सिद्धांत इन तीन विद्याओंके ज्ञातापुरषोंके द्वारा वन्दनीय हैं ॥ १६ ॥

श्रीमद्भद्रकलङ्कस्य पातु पुण्या सरस्वती ।

अनेकान्तमरुन्मार्गं चन्द्रलेखायितं यथा ॥ १७ ॥

अर्थ—धीमत् कहिये शोभायमान विद्या भट्टाकलक नामा आचार्यकी पवित्र वाणी है, सो हमको पवित्र करो और हमारी रक्षा करो । केशी है वाणी अनेकान्त स्याद्वादरूपी आकाशमें चन्द्रमाकी रेखासमान आचरण करती है । भावार्थ—भट्टाकलक नामक आचार्य स्याद्वाद विद्याके अभिचारी हुए, उनकी वाणीरूपी चन्द्रमाकी किरण स्याद्वादरूपी आकाशमें प्रकाश करती है ॥ १७ ॥

आगे आचार्य महाराज अपनी कृति का प्रयोजन प्रगट करते हैं—

भयप्रभवदुर्वारहे शसन्तापपीडितम् ।

योजयाम्यहमात्मानं पथि योगीन्द्रसेविते ॥ १८ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि, इस ग्रन्थके रचनेमें ससारमें जन्म ग्रहण करनेसे उत्पन्न हुए दुर्निरार क्लेशोंके सन्नापने पाडित मैं अपने आत्माको योगीश्वरोंसे सेवित पान ध्यानरूपी मार्गमें जोड़ता हूँ । भावार्थ—यहाँ अपना प्रयोजन ससारके दुःख दूर करनेहीका जनाया है ॥ १८ ॥

न कवित्वाभिमानेन न कीर्तिप्रसरेच्छया ।

कृतिं किन्तु मदीयेय व्ययोपायैव केवलम् ॥ १९ ॥

अर्थ—यह ग्रन्थरूपी मेरी कृति (कार्य) है, सो केवल मात्र अपने पानकी वृद्धिक लिये है । कविताके अभिमानमें तथा जगत्में कीर्ति होनेके अभिप्रायसे नहीं की जाती है । भावार्थ—यहाँ आचार्य महाराजने ग्रन्थ रचनेमें शीघ्र प्रयोजन साधनेका निषेध किया है ॥ १९ ॥

आगे सत्पुरुषोंके शास्त्र रचनेका विचार त्रिप्रकार होता है सो दिखाते हैं—

अथ जागर्ति मोक्षाय चेत्ति विद्या भ्रम त्यजेत् ।

आदत्ते ममसाम्राज्य स्वतत्त्वाभिमुखीकृतम् ॥ २० ॥

न हि केनाप्युपायेन जन्मजातद्वयसंभया ।

विषयेषु महातृष्णा पश्य पुंसां प्रशाम्पति ॥ २१ ॥

तस्या प्रशान्तये पूज्यै प्रतीकार प्रदर्शित ।

जगज्जन्तृपकाराय तस्मिन्मस्यावधीरणा ॥ २२ ॥

अनुद्दिग्गस्तथाप्यस्य स्वरूपं पन्धमोक्षयोगः ।

कीर्त्यते येन निवदपदवीमधिरोहति ॥ २३ ॥

निरूप्य सद्य कोऽप्युद्योगपदेशोऽस्य दीयते ।

येनादत्ते परा शुद्धिं तथा त्यजति दुर्मतिम् ॥ २४ ॥

अर्थ—सत्पुरुष ऐसा विचारते हैं कि, यह प्राप्ति अपना निजस्वरूप तत्त्वके सन्तुलन

करनेसे मोक्षने अथ जागता है। मोह निद्राको छोड़कर सम्यग्ज्ञानको जानता है। तथा
 भ्रम कहिये—अनादि अविद्याको छोड़कर उपनामभावरूपी (मन्दरूपायरूपी) मात्रा
 ज्यको ग्रहण करता है ॥ २० ॥ ओर देखो कि, पुण्याके निषयाम महातृष्णा है। वह
 तृष्णा कैसी है? कि, जन्मसे (ममाम्मे) उत्पन्न हुए जानर (गतरोग) से वह
 उपजी है, सो किसी भी उपायसे नष्ट नहि होती ॥ २१ ॥ उस तृष्णाकी प्रशान्तिके अथ
 पूज्यपुरुषोंने प्रतीकार (उपाय) दिग्गया है, और वह जगतके जीवोंके उपसाराध ही
 सिद्धाया है। किन्तु यह जीव उस प्रतीकारकी अज्ञा (अनादर) करता है ॥ २२ ॥
 तथापि उद्वेगहित पूज्यपुरुषोंने द्वारा इस प्राणीक हिताय नथमोक्षना स्वल्प बर्तन
 किया जाना है, जिससे यह प्राणी वैराग्यपदीको प्राप्त हो ॥ २३ ॥ इस कारण कोई
 अनिगम्य ममीनीन उपदेश विचार करके इस प्राणीको देना चाहिये, जिससे यह प्राणी
 उन्मृष्ट गुदताको ग्रहण करे और दुर्बुद्धिसे छोट दे। **आचार्य—**मरुपुत्र इस प्रकार वि
 चरकर जीवोंके मंगलमन्त्राधी दुःख दूर करनेकेलिये ऐसा उपदेश देते हैं, या शास्त्रोंसे
 रक्षण करते हैं ॥ २४ ॥

आगे मयकृष्ण आचार्य महाराज कहते हैं कि, हमको भी यही विचार हुआ है,—

भग्नो मनि जगत्पूज्ये लोकदयविशुद्धिदे ।

ज्ञानज्ञाने सुधी क मयसच्छास्त्रैर्धिदम्भयेत् ॥ २५ ॥

अर्थ—भग्नो! जगत्पूज्य और लोकपरलोकमें विशुद्धि देनेवाले समीचीन ज्ञान
 सम्पन्नि होने हुए भी ऐसा बर्तन गुनुद्धि दे, जो मिथ्याज्ञानोंकेद्वारा अपने आत्माको
 शिथिल करने का ॥ २५ ॥

आगे मिथ्यापुत्रों के स्वनेवाग्विषय ज्ञानेन तथा डाँट बताये शास्त्रोंसे विधेय करते हैं,—

भमपुत्राग्रप्रणेता प्रज्ञालयमदोद्धता ।

मनि केचिन्मृष्टे कथय सान्ध्यवञ्चका ॥ २६ ॥

मनस्वविमुग्धैः कालिमाणापुरजितैः ।

कृशाग्रपुत्रा लोको यराको ग्यावृदीहृमः ॥ २७ ॥

अर्थ—यह पुत्रोंके बर्तन जगत्पूज्यमें महामा होकर जगत्पूज्य शास्त्रों से
 होने केबेध कहेंगे। १ वदन् प्रार्थन, समा तथा जगत्पूज्य शास्त्रोंके प्रणेता हैं
 हैं २ वदन् पुत्रा मयसच्छास्त्रैर्धिदम्भयेत्, अपनी शान्तिमय प्रज्ञासे भ्रम
 दूष्टेन मय कथय सान्ध्यवञ्चका जगत्पूज्य शास्त्रोंके प्रणेता हैं। और
 कृशाग्रपुत्रा लोको यराको ग्यावृदीहृमः ॥ २७ ॥

अर्थ—यह पुत्रोंके बर्तन जगत्पूज्यमें महामा होकर जगत्पूज्य शास्त्रों से

द्विजैः विप्लव विप्लव दूष्टेन मोक्षमात्रं ॥ २८ ॥

अर्थ—जब शास्त्रीय षडो, गुणों व जाननेमें क्या प्रयोजन (लाभ) है, जिनसे जी-
वोंका भित्त (मन) दुःख तथा दुःखिण भाव समुद्रमें पड़ जाता है ॥ २८ ॥

क्षणं वर्णाश्रमं श्रमं कार्यदैन्यं समाप्तम् ॥

शृण्वान्न गच्छते पश्चादविद्यागरविप्रियाम् ॥ २९ ॥

अर्थ—वर्णाश्रम मनुष्य गुणों में क्षणभंग्य विषयों के अमृतसमान आनन्दका प्रत्यक्ष
ब्रह्म है, पश्चात् वर्णाश्रमों का श्रम श्रमपूर्ण कायम अविद्यारूपी विषय विचारको बढ़ाता
है, अतः श्रमपूर्ण शृण्वान्न ब्रह्म है ॥ २९ ॥

अज्ञानजनितभिन्नं न विद्यते कोऽप्ययं ब्रह्म ॥

उपदेष्टाज्ञानेनापि यः पुंसामपसर्पति ॥ ३० ॥

अर्थ—अज्ञान जन्मिष्ठभिन्न न विद्यते कोऽप्ययं ब्रह्म है कि, यह ब्रह्म आध्यत, जो जीवोंका अज्ञानसे उत्पन्न
हुआ यह आद्य (हृत्) भवदा उपलब्ध दोष भी दूर नहीं होता 'हम नहीं जानते
कि, इसमें क्या भेद है । भाषार्थ—एक बार विद्याभ्यासकी सुक्ति भोले जीवोंके मनमें
पड़ी प्रकाश हो जाती है कि, फिर भवदा उपलब्ध सुखिय सुख, तो भी व चित्तमें प्रवेश
नहीं करता है । अतः प्रकाश ही वा संसारका निमित्त है कि, वह विद्या आद्य कभी दूर
नहीं होता ॥ ३० ॥

आगे कहते हैं कि, सत्सुखोंको आनन्द भरे बुरे गुणोंका विचार करना चाहिये,—

सम्पत्तिरूप्यसङ्घर्षोर्विद्विर्धीतमस्तरे ॥

अत्र शृण्वान् गुणा दोषा समाधाय मनः क्षणम् ॥ ३१ ॥

अर्थ—ऐसे सदाचारी पुरुष जिन्हें मत्सर कहिये द्वेष नहीं है, उन्हें उचित है कि,
इस शास्त्र तथा मनुष्योंमें भाषो समाधान करके गुणदोषको भले प्रकार विचारें ॥ ३१ ॥

व्यमित्तरथ प्रवृत्तानां समाप्तम् च दुर्धियः ॥

द्वेषमुद्वेगं प्रयत्नं ते वेधिजगति जन्तवः ॥ ३२ ॥

अर्थ—इस जगत्में जो वृद्धि ऐसी है, जो अपनी मिद्विषय अथ मनुष्ये हुए सत्सु-
खोंपर हृष्युद्वेग प्रवृत्त करते हैं । भाषार्थ—दुष्ट जीव सत्सुखोंसे द्वेष रखते हैं ॥ ३२ ॥

माक्षादन्तुविचारेषु निषेधमावसक्तिमा ॥

विभजन्ति गुणान्दोषान्धन्या स्वच्छेन चेतसा ॥ ३३ ॥

अर्थ—य धन्य पुरुष है जो अपने विषय विचारे वस्तु विचारम कसोटीके समा-
प्त और गुणदोषोंको भिन्न भिन्न जानलत है ॥ ३३ ॥

आगे कहते हैं, कि जीवोंके गुणदोष स्वावहीसे होते हैं,—

प्रसादयति शीतान्शु पीडयत्यंशुमाश्रयत् ॥

विमर्गजनिता मन्ये गुणदोषा शरीरिणाम् ॥ ३४ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज उत्प्रेक्षा करते हैं कि, देवो चन्द्रमा जगतसो प्रमत्त करता है और तापसो नष्ट करता है । एवम् सूर्य पीप्तिन करता है, अर्थात् तारको गन्त करता है । इसी प्रकार जीवके गुणदोष स्वभावमे ही हुआ करते हैं । ऐसा मैं मानता हूँ ॥ ३४ ॥

फिर भी कहते हैं,—

दूषयन्ति दुराचारा निर्दयामपि भारतीम् ।

विधुनिम्बश्रियं कोका सुधारममयीभिः ॥ ३५ ॥

। अर्थ—जो दुष्ट पुरुष हैं वे निराप वाणीसो भी दूषण लगाते हैं । जैसे, सुधारममयी चन्द्रमाके निम्बकी गोमासो चन्द्रमा दूषण देते हैं कि, चन्द्रमा ही चक्रीसे हमारा बिछोड़ करा देता है ॥ ३५ ॥

। आगे आत्मा की शुद्धि का उपाय बतलाते हैं,—

अपमात्मा महामोहकलङ्की येन शुद्ध्यति ।

तदेव स्वस्ति धाम तच्च ज्योति परमतम् ॥ ३६ ॥

अर्थ—यह आत्मा महामोहसे (मिथ्यात्व कषायसे) कलङ्की और मलीन है, अतः जिससे यह शुद्ध हो, वही अपना हित है, वही अपना घर है और वही परम ज्योति का प्रकाश है । भावार्थ—मलिनता नष्ट होनेसे उज्ज्वलता होती है । यह आत्मा निश्चयसे तो अनतशानादि प्रकाशस्वरूप है, परन्तु मिथ्यात्वकषायादिसे मलिन हो रहा है । इस कारणसे जब मिथ्यात्वकषायरूपी मैल नष्ट हो, तब निज स्वरूपका प्रकाश हो सकता है । मिथ्यात्वकषायादिनके नष्ट करनेका उपाय निनागममें कहा है वही जानना ॥ ३६ ॥

विलोक्य भुवन भीमघमभोगीन्द्रशङ्कितम् ।

अविद्याजमुत्सृज्य धन्या ध्याने लय गता ॥ ३७ ॥

अर्थ—इस जगतसो भयानक कालरूपी सर्पसे शङ्कित देखकर अविद्याज अर्थात् मिथ्याज्ञान और मिथ्या आचरणके समूहसो छोड़ निःस्वरूपके ध्यानमें लयलीन हो जाते हैं, वे धन्य कहिये महाभाग्यवान् पुरुष हैं ॥ ३७ ॥

हृषीकराक्षमात्रान्त सरशार्दूलचर्चितम् ।

दुःस्वार्णचगत विश्व त्रिवेच्य चिरत बुधैः ॥ ३८ ॥

अर्थ—जो बुद्धिमान् हैं, उन्होंने इस जगतसो इन्द्रियरूपी राक्षसोंमे व्याप्त तथा कातरूपी सिंहसे चर्चित और दुःस्वरूपी समुद्रमें डूबा हुआ समझकर छोड़ दिया । भावार्थ—जिम जगद् राक्षस त्रिचरें, गिह व्याघ्र ममण कर जाते और जहां दुःस्व ही दुःस्व दिखाई पड़े, उस जगद् विषकी जा निम म्रिये कम ॥ ३८ ॥

जन्मजातद्बुद्ध्या रमण्यसनपीडितम् ।

जन्तुजातमिदं धीक्ष्य योगिन प्रशम गता ॥ ३९ ॥

अर्थ—ससारमें उत्पन्न दुर्निवार आतम (दाह्रोग) रूपी महाकष्टसे पीडित इस जीवसमूहको देखकर ही योगीजन शान्तभावको प्राप्त हो गये । भावार्थ—ससारमें जीवोंको प्रत्यक्ष दुःखी देखकर ज्ञानी जन क्यों मोहित हों ? ॥ ३९ ॥

अवध्रमणविभ्रान्ते मोहनिद्रास्तचेतने ।

एक एव जगत्प्रभिन्य योगी जागर्त्यहर्निशम् ॥ ४० ॥

अर्थ—मसार भ्रमणसे विभ्रान्त आर मोहरूपी निद्रासे तिसकी चेतना नष्ट हो गई है, ऐसे इस जगत्में मुनिगण ही निरन्तर जागते हैं । भावार्थ—जैसे निरन्तर भ्रमण करनेसे शरीर खेदसिक्त हो जाता है, तो उससे निमित्तमे प्रगाढ़ निद्रा आती है और तब यह जीव अपनेको भूत जाता है । ऐसा समझकर नानीजन निरन्तर सावधान ही रहते हैं ॥ ४० ॥

रजस्तमोभिरुद्ध कपायधिपमूर्च्छितम् ।

विलोपय सत्त्वसन्तान सन्त शान्तिमुपाश्रिता ॥ ४१ ॥

अर्थ—जो सत्पुरुष हैं, वे रज कहिये ज्ञानावरण, दर्शनावरण, क्रम और तम कहिये मिथ्याज्ञानसे अथवा रजोगुण तमोगुणसे कम्पायमान तथा कपायरूपी विषसे मूर्च्छित इस सत्त्वसन्तान कहिये जगत्को देखकर शान्तभावको ग्रहण करते हैं ॥ ४१ ॥

मुक्तिस्त्रीवक्रशीताशु द्रष्टुमुत्कण्ठिताशये ।

मुनिभिर्मध्यते साक्षाद्विज्ञानमकरालय ॥ ४२ ॥

अर्थ—मुक्तिरूपी स्त्रीके मुग्धरूपी चन्द्रमाके देखनेको उत्सुक हुए मुनिजन साक्षात् विज्ञानरूपी समुद्रको मथन करते हैं । भावार्थ—लोकमें ऐसी प्रसिद्धि है कि, नारायणने समुद्रको मथकर चन्द्रमाको निकाला है । सो यहां आचारिक रीतिसे कहा है कि, मुनि जन मुक्तिरूपी स्त्रीके मुखरूपी चन्द्रमाको देखनेकी अभिप्रायसे ज्ञानरूपी समुद्रको मथन करते हैं । क्योंकि ज्ञानके ध्यानसे मोक्षकी प्राप्ति होती है ॥ ४२ ॥

उपपुंरि सभूतदुःखहिंक्षत जगत् ।

धीक्ष्य सन्त परिप्राप्ता ज्ञानधारिनिधेस्तटम् ॥ ४३ ॥

अर्थ—बारबार उत्पन्न हुई दुःखोंसे क्षय होने जगत्को देखकर मन्त्रपुत्र ज्ञानरूपी समुद्रके तटपर प्राप्त हुए हैं । भावार्थ—ससारकी दुःखरूपी अग्निसे बुझनेको ज्ञान ही कारण है ॥ ४३ ॥

अनादिकालसंलग्ना दुस्त्यजा कर्मकालिका ।

सद्यः प्रक्षीयते येन विधेय तद्धि धीमताम् ॥ ४४ ॥

अर्थ—अनादिकालसे लगी हुई कमरूपी कालिका बड़े कष्टमें खनने योग्य है ।
कारण यह कालिका जिससे ग्रीष्म ही नष्ट हो जाय, वही उपाय बुद्धिमानोंको करना चाहिये
अन्य उपाय करना व्यर्थ है ॥ ४४ ॥

निष्कलङ्क निराबाध सानन्द स्वस्वभावजम् ।

षदन्ति योगिनो मोक्ष त्रिपक्ष जन्ममन्तते ॥ ४५ ॥

अर्थ—प्राणीका हित मोक्ष (कर्मोंसे छूटना) है । सो ऐसा है समस्त प्रसारकी कालि
मासे रहित निरालम्ब है, बाधा (पीड़ा) रहित है, आनन्द सहित है, जिसमें किसी भी
प्रसारका दुःख नहीं है । तथा अपने स्वभावसे उत्पन्न है, क्योंकि जो परका उपनाय
हो, उसको वह नष्ट भी कर सकता है, परन्तु जो स्वभावसे उत्पन्न हो, उसका कभी नाश
नहीं होता । और ससारका त्रिपक्षी कहिये शत्रु है । योगीगण मोक्षका स्वरूप इस प्रकार
कहते हैं ॥ ४५ ॥

आगे मोक्षको हित जान उसके साधन करनेकी शिक्षा देते हैं,—

जीवितव्ये सुनिःसारे नृजन्मन्यतिदुर्लभे ।

प्रमादपरिहारेण विज्ञेय स्वस्ति नृणाम् ॥ ४६ ॥

अर्थ—मनुष्यजन्म अति दुर्लभ है । जीवितव्य है सो निःसार है । ऐसी अवस्थामें मनु
ष्यको आलस्य त्यागके अपने हितको जानना चाहिये । वह हित मोक्ष ही है ॥ ४६ ॥

विचारचतुरैर्धीरैरत्यक्षसुगलालसैः ।

अत्र प्रमादमुत्सृज्य विधेय परमादरः ॥ ४७ ॥

अर्थ—जो धीर और विचारशील पुरुष है, तथा अतीन्द्रिय सुख (मोक्षसुख) के
लात्सा रखते हैं, उनको प्रमाद छोड़कर इस मोक्षमें ही परम आदर करना चाहिये ॥ ४७ ॥

न हि कालकलैकापि वियेकविरुलाशयै ।

अहो प्रज्ञाधनैरनया नृजन्मन्यतिदुर्लभे ॥ ४८ ॥

अर्थ—अहो मध्य जीरो ! यह मनुष्य जन्म बड़ा दुर्लभ है और इसका धारणा
मिलना कठिन है, इस कारण बुद्धिमानोंको चाहिये कि, विचारसम्यक् हृदय होकर का
ल्पी एक कलाको भी व्यवहार नहिं जाते ॥ ४८ ॥

आगे उपदेशपूर्वक इस अधिकारको पूरा करते हैं,—

शिवरिणी ।

भृश दुःखज्यालाविषयनिषिक्तं जन्म गहनम्

षडक्षार्थीन स्यात्सुगमिह तदन्तेति विरमम् ।

अनित्या कामार्था क्षणमपिचल जीविमिदं

विमृश्योषं स्वार्थं क इह सुदृती मुनयि जनः ॥ ४० ॥

अर्थ—यह संसार बड़ा गहन बन ही है, क्योंकि दुःखरूपी अग्नि की ज्वाला में जल है । इस संसार में इन्द्रियाधीन सुख है तो अनर्थ विम है, दुःख का कारण है, मरणा दुःख में मिला हुआ है । और जो काम और अर्थ है तो अनित्य हैं, मरने के पने । तथा जीवित है, तो विपुलीकी समान चलता है । इस प्रकार मर्मादानतया दिव्य कर नेवाले जो अपने स्वार्थ में सुदृती-पुनरावा-मनुष्य है, वे हमें मोक्ष का प्रम है । ब्रह्मवि नहीं । भावार्थ—इस संसार में समस्त वस्तु दुःखरूप में गार गार कर दुःखित करने के अनित्यरूप मोगका साधन सम्बन्धन, ज्ञान और ध्यानि धारणपूर्वक ध्याना अभ्यास द्वारा चाहिये । यह धीगुरुका उपदेश है ॥ ४० ॥

इति श्रीजानाण्य बोगमदीपाधिवारे श्रीगुणचन्द्राचारिरचित मध्यम सा ॥ १ ॥

श्लोक ।

धीयुत पीरजितगुह्यो, यद्वा मनवधवाय ।

मयपद्मनिष्ठम मटिर्ब कंर मोक्षगुणदाय ॥ १ ॥

आगे—इस प्राणीको ध्यानक सम्मुख करवाकर संसारदेहभारि ध्यानाद टुटकर बराना है, तो धैर्याद्योपतिरहिते सब गुण कारण बरत भावना है । इस कारण इसका व्याख्या इस अध्याय में किया जायगा । तो मध्यम ही इनका भावार्थ (सारांश किन्तु कह करेकी) प्रेरणा करते हैं—

कान्तमिदं विदुः ।

मद्वै किं न विपाद्यते वपुरिदं किं तिष्ठते नाराय

गृह्यु किं न विजृम्भते प्रतिदिने दुर्गति किं सापदः ।

श्वभा किं न भगवान्वा स्वपनदङ्गोवा न किं बलवा

येन स्वार्थमपास्य विहरपुरप्रणये भवे न शृङ्गा ॥ १ ॥

अर्थ—हे आत्मा ! इस संसार में सब कष्ट धन भय आदि सुख सब निमित्तक जो परिमद है, ये क्या तुझे विदुः रूप में कहते हैं ? कष्ट का कारण है जो कष्ट ॥ १ ॥ द्वारा तित रूप का दृष्टि में दिखता है । तथा कष्ट का कारण है । कष्ट तुझे विदुः रूप में कहते हैं । और अपद के कष्ट तुझे विदुः रूप में कहते हैं । कष्ट तुझे विदुः रूप में कहते हैं । और भगवान्वा स्वपनदङ्गोवा न किं बलवा (येसादे १५) ॥ १६ ॥ किं विदुः रूप में कहते हैं । कष्ट तुझे विदुः रूप में कहते हैं ।

असार मसारम इच्छा उनी हुई है । भाषार्थ—मसादेह भोगोंको उक्त प्रकारके जानकर भी जो जीव अपने प्रयोजनमें सावधान नहि होते, उनका अनानपना स्पष्ट है ॥ १ ॥

श्लोक ।

नामादयसि कल्याण न त्व तत्त्व समीक्षमे ।

न वेत्ति जन्मवैचित्र्य आतर्भूतविडम्बितः ॥ २ ॥

अर्थ—हे भाई ! तू मृत अर्थान् इन्द्रियाके प्रियवासे विडम्बनारूप होकर अपने कल्याणमें नहि लगता है और तत्त्वोंका (समुच्चरूपका) विचार नहि करता है, तथा समासकी विचित्रताको नहि जानता है, सो यह तेरी उड़ी मूल है ॥ २ ॥

असंख्यविनोदेन मात्मान मूढ वञ्चय ।

कुरु कृत्य न किं वेत्ति चिन्ववृत्त विनश्वरम् ॥ ३ ॥

अर्थ—हे मूढ प्राणी ! अनेक असत् कला चतुराई शृंगार शालादि अमद्विषाओं कीतुहलमें अपनी आत्माको मत ठगा, और तैरे करने योग्य जो कुछ हितकार्य उमे कर । क्योंकि जगत्के ये समस्त स्थान विनाशीक हैं । क्या तू ये बात न जानता है ? ॥ ३ ॥

समत्त्व भज मूलेषु निर्ममत्त्व विचिन्तय ।

अपाकृत्य मनःशल्य भावशुद्धिं समाश्रय ॥ ४ ॥

अर्थ—हे आमन् ! तू समस्त जीवोंको एकरा जान । समत्वको छोड़कर निर्ममत्व चिन्तन कर । मनकी शल्यको दूरकर अर्थान् सिमी प्रकारकी शल्य (द्वेष) अपने चित्त न रमकर अपने भावोंकी शुद्धताको अगीसार कर ॥ ४ ॥

आगे बाह्य भावनाओंके अगीकार करनेका उपदेश करते हैं,—

चिनु चित्तं भृशं भयं भावना भावशुद्धये ।

या मिद्वान्तमन्त्रान्त्रे देवदेव्यं प्रतिष्ठिता ॥ ५ ॥

अर्थ—ह भय ! तू अपने भावोंकी शुद्धिके अथ अपने चित्तमें बाह्य भावनाओं के चिन्तन कर, जिन्हें देवादिदेव श्री तीर्थंकर भगवान्ने मिद्वान्तमें प्रस्थापित की है ॥ ५ ॥

वे भावनाएं कर्मा हैं, मो कहने हैं,—

माध्व मन्त्रैराग्यमप्रशममिच्छये ।

आन्यानिवा धनमन्त्रमे धुनिभिर्मोक्षमिच्छुभिः ॥ ६ ॥

अर्थ—अन्य भावनाओंको मैं न भिन्नी मुनियों ! अपने । मन्त्र (धर्माग्राहक) (संन्यास) (अन्य) धन, (मन्त्र) (धर्माग्राहक) और प्रशमनी (कथाओं)

धभावरूप शांत भावोंकी) सिद्धिकेलीने अपने चितरूपी स्वप्नमें आलसित कहिये
ठहराई या बांधी है । भावार्थ—मुनिगण निरन्तर ही इनका चिन्तन किया
करते हैं ॥ ६ ॥

अनित्याद्या* प्रशस्यन्ते द्वादशता मुमुक्षुभिः ।

या मुक्तिसौधसोपानराजयोऽत्यन्तमधुरा ॥ ७ ॥

अर्थ—वे भावना अतित आदि द्वादश हैं । इनको मोक्षामिलायी मुनिगणोंने प्रशस्त
रूप करी हैं । क्योंकि ये सब भावनायें, मोक्षरूपी महलके चढ़नेकी मर्यादारूप रची हुई
अत्यन्त सुंदर पैड़ियोंकी (सीढ़ियोंकी) पक्ति समान है ॥ ७ ॥

अथ अनित्यभावना ।

आगे इन भावनाओंका भिन्न २ व्याख्यान करेंगे, जिनमेंसे प्रथम ही अनित्यभावनाका
वर्णन करते हैं,—

दृष्टीकार्थसमुत्पत्ते प्रतिक्षणविनश्वरे ।

सुखे कृत्वा रतिं मूढ विनष्ट भुवनत्रय ॥ ८ ॥

अर्थ—हे मूढ! क्षण क्षणमें नाश होनेवाले इन्द्रियजनित सुखमें प्रीतिकरके ये
तीनोंभुवन नाशको प्राप्त हो रहे हैं, सो तू क्यों नहीं देखता* ॥ ८ ॥

भयाप्यप्रमया* सर्वे सम्यग्धा विपदात्पदम् ।

सम्भवन्ति मनुष्याणां तथान्ते सुमुनीरसा* ॥ ९ ॥

अर्थ—इस संसाररूपी समुद्रमें भ्रमण करनेसे मनुष्योंके जिनसे सम्पन्न होने हैं, वे
सब ही आपदाओंके पर हैं । क्योंकि अन्तमें प्रायः सब ही सम्यग्ध निरस्त (दुःखदायक)
हो जाते हैं । यह प्राणी उनमें सुख मानता है, सो भ्रम मात्र है ॥ ९ ॥

धपुर्विद्धि वृजाभ्रान्त जरामान्त च यौवनम् ॥

ऐश्वर्यं च विनाशान्त मरणान्तं च जीविमम् ॥ १० ॥

अर्थ—हे आत्मन्! गरारको तू रोगाने छिदा हुआ समस्त और यौवनको
वृद्धापेसे घिरा हुआ जान तथा ऐश्वर्य सम्पदाओंको विनाशीक और जीवनको मरणान्त जान ।
भावार्थ—ये सब पदार्थ प्रतिपक्ष सहित जानने ॥ १० ॥

ये दृष्टिपथमायाता पदार्था पुण्यमूर्त्तय ।

पूर्वाह्नि न च मध्याह्ने ते प्रयान्तीह देहिनाम् ॥ ११ ॥

अर्थ—इस संसारमें जिनके यहाँ पुण्यके मूर्त्तिरूप उत्तमोत्तम पदार्थ प्रभावके

१-जनिष्य १ अगारय २ सार ३ एवम् ४ मन्त्र ५ अस्त्र ६ वध ७ वर ८ निवृत्त
९ साक १० बोधित्व ११ अर १२ व बारह है ।

समय दृष्टिगोचर होते थे, वे मध्याह्नकालमें देखनेमें नहीं आते, अर्थात् नष्ट हो जाते हैं आत्मन् । तू विचारपूर्वक देख ॥ ११ ॥

यज्जन्मनि सुखं मूढ ! यच्च दुःखं पुरःस्थितम् ।

तयोर्दुःखमनन्तं स्यात्तुलाया कल्प्यमानयोः ॥ १२ ॥

अर्थ—हे मूढ़ प्राणी ! इस ससारमें तेरे सम्मुख जो कुछ सुख वा दुःख हैं, उन दोनोंको ज्ञानरूपी तुलामें (तराजूमें) चढ़ाकर तोलैगा, तो सुखसे दुःख ही अनन्तगुण वीख पड़ेगा । क्योंकि यह प्रत्यक्ष अनुभवगोचर है ॥ १२ ॥

आगे भोगोंका निषेध करते हैं,—

भोगा भुजङ्गभोगाभाः सद्यः प्राणापहारिणः ।

सेव्यमाना मजायन्ते ससारे चिदशैरपि ॥ १३ ॥

अर्थ—इस ससारमें भोग सर्पके फण समान हैं, क्योंकि इनको सेवन करते हैं देव भी शीघ्र प्राणान्त हो जाते हैं । भावार्थ—देव भी भोगोंके भोगनेसे मरकर एकेन्द्रि हो जाते हैं, अतः मनुष्य तो नरकादिकमें अवश्य ही जावेंगे ॥ १३ ॥

आगे इस जीवकी अनामता दिखाते हैं,—

वस्तुजातमिदं मूढ प्रतिक्षणविनश्वरम् ।

जानन्नपि न जानासि ग्रहः कोऽयमनौपधः ॥ १४ ॥

अर्थ—हे मूढ़ प्राणी ! यह प्रत्यक्ष अनुभव होता है कि, इस ससारमें जो वस्तुओं समूह सो पर्यायोंसे क्षण क्षणमें नाश होनेवाला है । इस बातको तू जानकर भी अनाह हो रहा है, यह तेरा क्या आग्रह (हठ) है ? क्या तुझपर कोई पिशाच चढ़ गया ? जिसकी जीपधि ही नहीं है ? ॥ १४ ॥

आगे अयमनारसे कहते हैं,—

क्षणिकत्वं वदन्त्यर्था घटीघातेन भूभृताम् ।

क्रियतामात्मन श्रेयो गतेयं नागमिष्यति ॥ १५ ॥

अर्थ—इस लोभमें राजाअकि यहा जो घड़ीका घटा बजता है और शब्द करता । सो सबके क्षणिकपनको प्रगट करता है, अर्थात् जगत्को मानो पुकार पुकारपर कह है कि, हे जगत्में जीवो ! जो कुछ अपना कल्याण करना चाहते हो, सो शीघ्र ही करडा नहिं तो पड़ताओगे । क्योंकि यह जो घटी बीत गई, वह किसी प्रकार भी पुनर्प्राप्त होना नहीं आवेगी । इसी प्रकार अगली घड़ी भी जो व्यर्थ ही खो दोगे । तो घट भी गई नही लौटैगी । ॥ १५ ॥

यद्यप्येव दारिद्र्यं म्याप्यदि बाल्यन्तश्चाश्वनम् ।

पुण्येन हि तदा कर्तुमस्यार्थं कर्मनिन्दितम् ॥ १६ ॥

अर्थ—हे प्राणी! यदि यह शरीर अपूरा हो, अर्थात् पूरमें कभी तुने नहीं पाया हो, अथवा अत्यन्त अविनम्र हो, तब तो हमने अथ निचकार्य करना योग्य भी है, वस्तु ऐसा नहीं है। क्योंकि यह शरीर तुने अनन्तवार धारण किया है और छोड़ा भी है, न कि फिर ऐसे शरीरके अथ निचकार्य करना कदापि उचित नहीं है। इस कारण ऐसा कार्य कर जिससे कि, तेरा बान्धवमें कल्याण हो ॥ १६ ॥

आगे फिर भी इसी अर्थको सूचित करते हुए कहते हैं,—

अथङ्गं यान्ति घाम्यन्ति पुत्रस्त्रीधनयान्धया ।

शरीराणि तदैमेपा कृते किं शिञ्जते वृथा ॥ १७ ॥

अर्थ—पुत्र स्त्री बांधव धन शरीरादि चले जाते हैं और जो है, वह भी अवश्य ही चले जायेंगे। फिर इनके कार्यमाधनपरिधि यह जीव वृथा ही क्या ग्रह करता है ॥ १७ ॥

नायाता नैव घाम्यन्ति येनापि सह योदित ।

तथाप्यज्ञां कृते तान्नां प्रविशन्ति रगतानाम् ॥ १८ ॥

अर्थ—इस संसारमें मियां न तो शिजीव साथ आई और न किं व लक्ष्य लक्ष्य, तथापि मूलजन हावेलिये निचकार्य करण तरादिकमें प्रवेश करते हैं। यह वृथा अज्ञान है ॥ १८ ॥

आगे वस्तुजा कैरो है, सो कहते हैं,—

ये जाता रिपयः पूर्वं जन्मन्मिच्छिधेर्वृत्तान् ।

त गद्य तप्य यज्ञान्ते घान्धया यज्जगोदृष्ट ॥ १९ ॥

अर्थ—हे आत्मा! जो पूर्व जन्ममें तेरे शत्रु थे, ये ही इस जन्ममें तेरे शत्रु ही रहने लगे हैं—अर्थात् तु इनको हितु या मित्र समझता है अथवा यह सब हितु कि नहीं है, किन्तु पूर्वजन्मके शत्रु है ॥ १९ ॥

रिपुत्वेन समापन्नाः प्राणनास्तेऽथ जन्मनि ।

वाधया बोधयद्वाक्षा दृष्टान्ते वस्तुमुद्यता ॥ २० ॥

अर्थ—और जो पूर्व जन्ममें तेरे बांधव थे, ये ही इस जन्ममें वस्तुमुद्यते हुए तथा बोधयुक्त शत्रुत्व करके तुझे शत्रुत्वमें उद्यत हुए हैं। यह वस्तु देखा जाता है ॥ २० ॥

आगे इस प्राणीको अभवत् बताते हैं,—

अद्भुतादिमहापापीरनिगाह निरन्तरिता ।

एतत्त्वधमहावृत्ते भवाम्ये भविष्योऽप्यहम् ॥ २१ ॥

अर्थ—इस संसारमें फिर से फिर से अद्भुत ही रहने के अर्थ है कि

रस्सोंमे अतिगय कसे हुण मंगार नामक मन्त्राणमें गिन्ते हैं । भाग्यार्थ—वेने क
पुण्य मार्गमें चलते २ अष्टाङ्गम गिर पड़ने हैं, उनी प्रसार ये जीव मृत्ते हुण
अथ पुरुषकेसमान संसाररूपी कृपम गिन्ते हैं ॥ २१ ॥

आगे फिर उपदेश करते हैं,—

पातयन्ति मयायत्ता ये त्वा ते नैव धान्वाय ।

यन्धुता ते करिष्यन्ति त्विमुद्दिश्य योगिन ॥ २२ ॥

अर्थ—हे आत्मन् ! जो तुझे समाने चक्रम डालने हैं, वे तेरे धान (हिंसा)
नहीं हैं, किन्तु जो मुनिगण (गुरुमहाराज) तेरे हितकी बाटाकरने यधुता करने हैं
अर्थात् हितका उपदेश करते हैं, स्वयं तथा मोक्षका मार्ग बनाते हैं, ये ही धान्वायें त
सबे और परममित्र हैं ॥ २२ ॥

आगे आश्चर्यपूर्णक कहते हैं,—

शरीर शीर्यने नाशान् गलत्यायुर्न पापयी ।

मोह स्फुरति नात्मार्थं पश्य वृत्त शरीरिणाम् ॥ २३ ॥

अर्थ—देखो ! इन जावोंका प्रवर्तन कैसा आश्चर्यकारक है कि, शरीर तो प्रतिदिन
छीजता जाता है और आशा नहिं छीजती है, किन्तु बढ़ती जाती है । तथा आयुर्वत् त
घटता जाता है और पापकार्योंमें बुद्धि बढ़ती जाती है । मोह तो नित्य स्फुरायन
होता है और यह प्राणी अपने हित वा कल्याण मार्गमें नहीं लगता है । सो यह कैसा
अज्ञानका माहात्म्य है ? ॥ २३ ॥

आगे उपदेश करते हैं,—

यास्यन्ति निर्दया नून यद्वत्वा दाहमृजितम् ।

हृदि पुमा कथं ते स्पुस्तव प्रीत्यै परिग्रहा ॥ २४ ॥

अर्थ—हे आत्मन् ! ये परिग्रह पुरुषोंके हृदयमें अतिशय दाह अर्थात् सन्ताप देकर
अवश्य ही चले जाते हैं । ऐसे ये परिग्रह तेरी प्रीतिकरने योग्य कैसे हो सके हैं ? भा
ग्यार्थ—तू वृथा ही इन धनधान्यादि परिग्रहोंसे प्रीति मत कर, क्योंकि ये किसी प्रकार भी
नहीं रहेंगे ॥ २४ ॥

आगे अनानके कारण नरकादिक दुःख सहैगा ऐसा कहते हैं,—

अविचारामदुर्वारप्रसरान्धीमृतात्मनाम् ।

श्वभ्रादौ देहिना नून सोढव्या सुचिर व्यथा ॥ २५ ॥

अर्थ—मिथ्यानाशनित रागोंके दुर्निवार निमारसे अचे क्रिये हुण जावोंको अ
वश्य ही नरकादिकमें बहुकालपर्यन्त दुःख सहने पड़ेंगे, निमका जीवोंको चेत ही
नहीं है ॥ २५ ॥

आगे जो लोग विषयोंमें सुख ढूँढते हैं, वे क्या करते हैं सो कहते हैं,—

यहिं विधाति जीतार्थं जीवितार्थं पिबेद्विषम् ।

विषयेष्वपि य सौख्यमन्येपयति मुग्धधी ॥ २६ ॥

अर्थ—जो मूढ़धी पयेन्द्रियोंके विषय सेवामें सुख ढूँढते हैं, वे मानों शीतलज्वर लिये अग्निमें प्रवेश करते हैं और दीप जीबनके लिये विष पान करते हैं। उन्हें इस विष शीतलज्वरसे सुखके स्थान हुआ ही होगा ॥ २६ ॥

कृते येषां त्वया कर्म कृतं श्वभ्रादिसाधकम् ।

त्वामेष पान्ति ते पापा यश्चयित्वा यथायथम् ॥ २७ ॥

अर्थ—हे आत्मन् ! जिन गुटुबादिके लिये तूने नरकादिके दुःख देनेवाले पापकर्म किये, वे पापी तुझे अवश्य ही योग्य देकर अपनी २ गति को चले जाते हैं। उनका विष जो तूने पापकर्म किये थे, उनसे फल तुझे अनेक ही योग्य पड़ते हैं, या मोक्ष पड़ेंगे ॥ २७ ॥

आगे इस जीवको करनेयोग्य बायबा उपदेश देते हैं,—

अनेन मृषारीरेण घात्रोक्कथयन्नुद्विदम् ।

विषेक्ष्य तदनुष्ठेयं तेय कर्म ततोऽन्यथा ॥ २८ ॥

अर्थ—इस प्राणीको चाहिये कि, इस मनुष्य देहमें उभय लोकों काटका को बुरा कार्यवा विचारकरके अनुष्ठान करे और उससे भिन्न अन्य सब कार्य छोड़ दे। इस सामान्यतया उपदेश है ॥ २८ ॥

आगे कहते हैं कि, जो जीव उक्त प्रचारमें नहीं करते, वे क्या करते हैं,—

यर्कपन्ति स्वघाताय ते नूनं विषपादपम् ।

नरत्वेऽपि न कुर्यन्ति ये विषेक्ष्यात्मनो हिमम् ॥ २९ ॥

अर्थ—जिसमें समस्त प्रकारके विचार करनेकी सामर्थ्य है, तथा जिसका फल दुर्लभ है ऐसे मनुष्य जन्मको बाहर भी जो अपना हित नहीं करने, वे अपने स्वयं करनेके लिये विषप्राप्तको बनाते हैं। आचार्य—पापकार्य विषय इष्टरूप है, इस कारण इसका फल भी मारोपाया है ॥ २९ ॥

आगे प्राणी निम्नी बुद्धि आकर अपने जन्म लते हैं, सो इष्टरूपक बाण करके दिखाते हैं,—

यद्वेदान्तरादेव यमन्ति विहगा नगे ।

मया जन्मा मरामृतं प्राणिनां बुद्धिपादपे ॥ ३० ॥

अर्थ—जैसे पक्षी जन्मरूपमें आ आकर साधक के लिये इष्टरूपक बाण करके दिखाते हैं,—

ये प्राणीजन अन्यान्य जन्मोंसे आ आकर कुलरूपी वृक्षोंपर बसते हैं, अर्थात् जन्म लेते हैं ॥ ३० ॥ और—

प्रातस्तकं परित्यज्य यथैते यान्ति पत्रिणम् ।

स्वकर्मवशात्ता शश्वत्तथैते कापि देहिनिः ॥ ३१ ॥

अर्थ—जिस प्रकार वे पक्षी प्रभातके समय उस वृक्षको छोड़कर अपना २ रत्ता लेते हैं, उस ही प्रकार ये प्राणी भी आशु पूर्ण होनेपर अपने २ कर्मानुसार अपनी २ गतिमें चले जाते हैं ॥ ३१ ॥

फिर अन्य प्रकारसे कहते हैं,—

गीयते यत्र सानन्द पूर्वाह्णे ललित गृहे ।

तस्मिन्नेव हि मध्याह्णे सद्वृत्तिरुच्यते ॥ ३२ ॥

अर्थ—जिस घरमें प्रभातके समय आनन्दोत्साहके साथ सुन्दर २ मंगलीक गीत गाये जाते हैं, मध्याह्नके समय उसी ही घरमें दुःखके साथ रोना सुना जाता है । तथा—

यस्य राज्याभिषेकश्रीं प्रत्यूषेऽत्र विलोक्यते ।

तस्मिन्नहनि तस्यैव चिताधूमश्च दृश्यते ॥ ३३ ॥

अर्थ—प्रभातके समय जिसके राज्याभिषेककी शोभा देखी जाती है, उसी दिन उस राजाकी चिताका धुआं देखनेमें आता है । यह ससारकी निचिन्त्रता है ॥ ३३ ॥

अब जीवोंके शरीरकी अवस्था कहते हैं,—

अत्र जन्मनि निर्घृत्सं धौ शरीरं तवाणुभिः ।

प्राक्तनान्यत्र तैरेव गण्डितानि सत्त्वशः ॥ ३४ ॥

अर्थ—हे आत्मन् ! इस संसारमें तिन परमाणुअंति तेरा यह शरीर रचा गया है, उन्हीं परमाणुओंने इस शरीरमें पहिले तेरे हजारों शरीर राख सड़ दिये हैं । भावार्थ—पुराने परमाणु तो इस शरीरमेंमें धिरेते हैं और नये परमाणु स्वात्तपन्न होते जाते हैं । इस कारण वे ही परमाणु तो शरीरको रचते हैं और वे ही बिगाड़नेवाले हैं । शरीरकी यह दशा है ॥ ३४ ॥

शरीरस्य न ये प्राप्ता आहारस्य न येऽणवः ।

अमृतस्य चिर आतर्पणं ते गन्ति तद्गृहे ॥ ३५ ॥

अर्थ—हे भाई ! तेरे इस संसारकी बहुत कष्टमें अमृत करने हुए जो परमाणु शरीर छोड़ कर अमृतको प्राप्त नहीं हुए, वेमे बचे हुए परमाणु कोइ भी नहीं हैं । भावार्थ—इस संसारमें जो अमृत को पहिले अनन्त परारसे प्राप्त शरीरका वा अमृत करने अमृत करने

सुरोरगनरैश्वर्यं शम्भुकार्मुकसन्निभम् ।

सद्यः प्रध्वसमायाति दृश्यमानमपि स्वयम् ॥ ३६ ॥

अर्थ—इस जगतमें जो सुर (वसुधावासी देव), उरग (मवनवासी देव), और मनुष्योंके इन्द्र अर्थात् चक्रवर्तीपनेके ऐश्वर्य (विभव) हैं, वे सब इन्द्रधनुषके समान हैं, अर्थात् देखनेमें तो अति सुंदर दीख पड़ते हैं, परन्तु देखते २ बिठय जाते हैं ॥ ३६ ॥

फिर अन्यप्रकार दृष्टान्तसे कहते हैं,—

यान्त्येय न निवर्त्तन्ते सरिता यद्दूर्भय ।

तथा शरीरिणा पूर्वा गता नायान्ति भूतय ॥ ३७ ॥

अर्थ—जिस प्रकार नदीकी जो लहरें जाती हैं, वे फिर लौटकर कभी नहीं आती हैं, इसीप्रकार जीवोंकी जो विमृति पहिले होती है, वह नष्ट होनेके पश्चात् फिर लौटकर नहीं आती । यह प्राणी कृपा ही दृष्टविषाद करता है ॥ ३७ ॥

आगे फिर इसी अधको सूचित करते हैं,—

प्रचित्मरित्तरगाली गतापि चिनिवर्त्तते ।

न रूपमल्लावण्य सौन्दर्यं तु गतं नृणाम् ॥ ३८ ॥

अर्थ—नदीकी लहरें कदाचित् कहीं लौट भी आती हैं, परन्तु मनुष्योंका गया हुआ रूप, बल, लावण्य और सौन्दर्य फिर नहीं आता । यह प्राणी कृपा ही उनकी भागा लगाये रहता है ॥ ३८ ॥

आगे फिर भी आयु और यौवनकी व्यवस्थाका दृष्टान्त देते हैं,—

गल्लेयायुरव्यग्रं हस्तन्यस्ताम्युवत्क्षणे ।

नलिनीदलसन्धान्तं प्रालेपमिथ यौवनम् ॥ ३९ ॥

अर्थ—जीवोंका आयुर्बल तो क्षणिके जलसमान क्षण क्षणमें निरन्तर क्षरता है और यौवन कमलिनीके पत्रपर पड़े हुए जलबिंदुके समान तत्काल दलक जाता है । यह प्राणी कृपा ही क्षिरताकी इच्छा रखता है ॥ ३९ ॥

आगे मनोज्ञविषयोंकी व्यवस्थाका दृष्टान्त कहते हैं,—

मनोज्ञविषयै सार्द्धं सयोगा स्वप्नसन्निभा ।

क्षणादेव क्षयं यान्ति यच्चनोद्धतबुद्धयः ॥ ४० ॥

अर्थ—जीवोंके मनोज्ञ विषयोंके साथ सयोग स्वप्न समान है, क्षणमात्रमें नष्ट हो जाते हैं । जिनकी बुद्धि ठगनेमें उद्बल है, ऐसे ठगोंकी भांति ये किञ्चित्काल चमत्कार दिखाकर फिर सखल हरनेवाले हैं ॥ ४० ॥

अन अन्य सामग्रीनी व्यग्र्या वैमी है, यह दिगाने हैं,—

घनमालानुकारीणि कुलानि च यलानि च ।

राज्यालङ्कारचित्तानि कीर्त्तितानि मन्त्रिभिः ॥ ४१ ॥

अर्थ—महर्षियोंने जीवोंके उन्न-उदुन, उर, राज्य अन्तर्गत, घनानि को मंगल होने समूह समान देगते २ विलुप्त होनेवाले करते हैं । यह मन्त्राणी वृथा ही निरर्थक बुद्धि करता है ॥ ४१ ॥

अन शरीरको नि सार बताते हैं,—

केनपुञ्जेष्वया रम्भास्तम्भे मारः प्रतीयते ।

शरीरे न मनुष्याणा दुर्बुद्धे विद्धि यस्तुन ॥ ४२ ॥

अर्थ—हे दुर्बुद्धि, मन्त्राणी ! बामनमें देगा जाय, तो शार्गेके समूह तथा रम्भे वामन तो कुछ सार प्रतीत होता भी है, परन्तु मनुष्योंके शरीरमें तो कुछ भी सार नहीं है । भावार्थ—यह दुर्बुद्धि प्राणी मनुष्यके शरीरमें कुछ मात्र समझता है, इससे कहा गया है कि, इसमें कुछ भी सार नहीं है । मरनेके पीछे यह शरीर भस्म कर दिया जाता है तथा अवशेष कुछ भी नहीं रहता । यह प्राणी वृथा ही शरीरको सार जानता है ॥ ४२ ॥

फिर भी कहते हैं,—

यातायातानि कुर्वन्ति ग्रहचन्द्रार्कतारकाः ।

ऋतवश्च शरीराणि न हि स्वमेऽपि देहिनाम् ॥ ४३ ॥

अर्थ—इस लोकमें ग्रह चन्द्र सूर्य तारे यथा छहस्तु आदि सब ही जाते और आते हैं, अर्थात् निरन्तर गमनागमन करते रहते हैं । परन्तु जीवोंने गये हुए शरीर स्वप्नमें भी कभी लौटकर नहीं आते यह प्राणी वृथा ही इनसे प्रीति करता है ॥ ४३ ॥

ये जाता. सातरूपेण पुद्गलाः प्राद्वान.प्रियाः ।

पश्य पुता समापत्ता इत्तरूपेण तेऽधुना ॥ ४४ ॥

अर्थ—हे आत्मन् ! इस जगत्में जो पुद्गलस्वप्न पहिले चित्त पुरस्कोने मनको प्रिय और सुखदे देनेवाले अपने थे, वे ही अब दु सके देनेवाले हो गये हैं । उन्हें देख अर्थात् जगत्में ऐसा कोई भी नहीं है जो शाश्वत स्वरूप ही रहता हो ॥ ४४ ॥

अन सामान्यतासे कहते हैं,—

मोहाजनमिषाक्षाणामिन्द्रजालोपम जगत् ।

मुह्यत्यभिन्नय लोको न विद्म केन हेतुना ॥ ४५ ॥

अर्थ—यह जगत् इन्द्रजालवत् है । प्राणियोंके नेत्रोंको मोहनीयजनने समान भ्रमता है, और लोग इसमें मोहको प्राप्त होकर अपनेको मूल जाते हैं, अर्थात् लोग

योग करने हैं । अत आचार्य महागुरु कहते हैं कि हम नहीं जानते ये लोग किस कारणसे मरते हैं । यह प्रश्न मोक्षका साहाय्य ही है ॥ ४५ ॥

ये आचार्य जगन्नीमण्ये पदार्थाभेदनेतरा ।

ने ते मुनिभिर्गृहिष्ठा प्रतिक्षणविनश्चरा ॥ ४६ ॥

अर्थ—एक जगत्में जो जो चेतन और चेतन पदार्थ हैं, उन्हें सब महर्षियोंने क्षणक्षणमें गट्ट होनेवाले भाँग विभागीक कर हैं । यह माणी इन्हें नित्यरूप मानना है, यह भ्रम ग्राह्य है ॥ ४६ ॥

अब संक्षेपतः कहकर अतित्व भावनाके फलको संक्षेपित करते हैं,—

मान्धी ।

मगननगरस्य सद्गुरुं सद्गुणानाम्

जलदपटलस्य सौम्यं पापन पा धन वा ।

सुजनसुनदारीरादीनि विद्युत्पलानि

क्षणविमिति समस्तं विद्धि समारम्भसाम् ॥ ४७ ॥

अर्थ—आचार्य महागुरु कहते हैं कि, हे माणी ! बलभा अर्थात् प्यारी लियोंका संगम आचार्य दक्षिणें रच हुए नगरके समान है । अत तुरन्त विजुल हो जाता है और तेरा सौम्य वा धन जलदपटलके समान है । सो भी क्षणमें नष्ट हो जानेवाला है तथा स्वजनसुनदारीके लोग पुत्र दारीगदिक विजुलीक समान चलते हैं । इस प्रकार इस जगत्की अवस्था अतित्व जानके नित्यताकी बुद्धि मत मय ॥ ४७ ॥

इस भावनाका संक्षेप यह है कि, यह लोक बहुद्रव्यमयी है । इसे द्रव्यदृष्टिसे देखा जाय, तो एही द्रव्य अपने २ स्वरूपमें साधते अर्थात् नित्य विराजते हैं । परन्तु इनकी पर्याये (अवस्थाये) स्वभाव विभाकरूप उत्पन्न होती और विनगती रहती हैं अत ये अनित्य हैं । मंगरी जीवोंको द्रव्यक सामान्यिक स्वरूपका तो ज्ञान होता नहीं, अत वे पर्यायहीको वस्तुस्वरूप मानकर उसमें नित्यताकी बुद्धिसे समत्व वा रागद्वेषादि करते हैं । इस कारण यह उपलब्ध है कि “पर्याय बुद्धिका एकान्त छोड़कर द्रव्यदृष्टिसे अपने स्वरूपको बभक्षित नित्य ज्ञान और उसका ध्यान करके लयको प्राप्त होकर वीतराग विज्ञानदशाको प्राप्त होइये” ।

सोहा ।

द्रव्यरूपपरि सपथिर, परजे थिर है सोन ।

द्रव्यदृष्टि आपा लक्ष्यो पर्ययनपरि गीन ॥ १ ॥

इति अभिज्ञावना ॥ १ ॥

अथ अशरणभावना विग्रहः ।

आगे अशरणभावनाका व्याख्यान करते हैं—मो प्रथम ही कहते हैं कि, जब जीवका काल (मृत्यु) आता है, तो कोई भी शरण नहीं है,—

न स कोऽप्यस्ति दुर्बुद्धे शरीरी भुवनत्रये ।

यस्य कण्ठे कृतान्तस्य न पाशं प्रमर्शयति ॥ १ ॥

अर्थ—हे मूढ़ दुर्बुद्धि प्राणी ! तू जो किमीसी शरण चाहता है, मो इस त्रिभुवनमें ऐसा कोई भी शरीरी (जीव) नहीं है कि, निमके गलेमें कालकी पाश नहीं पड़ती हो।
भावार्थ—समस्त प्राणी कालके वश हैं ॥ १ ॥

समापतति दुर्यारे यमकण्ठीरयक्रमे ।

प्रापते तु नहि प्राणी सोद्योगैन्निदगैरपि ॥ २ ॥

अर्थ—जब यह प्राणी दुर्निवार कालरूपी मिहरे पावनले आता है, तब उद्यम शील देवगण भी इसकी रक्षा नहीं कर सकते हैं, अन्य मनुष्यादिजनों की तो क्या मामर्थ्य है कि, रक्षान्न सक ॥ २ ॥

सुरासुरनराहीन्द्रनायकैरपि दुर्द्धरा ।

जीवलोक क्षणार्द्धेन यध्नाति यमरायुरा ॥ ३ ॥

अर्थ—यह कालका जाल अथवा पदा ऐसा है कि, क्षणमात्रम जीवोंको काम होता है और सुरेन्द्र असुरेन्द्र नरेन्द्र तथा नागेन्द्र भी इसका निवारण नहीं कर सकते हैं ॥ ३ ॥

अब कहते हैं कि, यह काल अद्वितीय सुभट है,—

जगत्प्रयजयीधीर एक एवान्तक क्षणे ।

इच्छामात्रेण यस्यैते पतन्ति त्रिदशेश्वरा ॥ ४ ॥

अर्थ—यह काल तीन जगतकी जीतनेवाला अद्वितीय सुभट है, क्योंकि इसकी इच्छामात्रसे देवों-इन्द्र भी क्षणमात्रमें गिर पड़ते हैं, अर्थात् स्वर्गमें च्युत हो जाते हैं। फिर अन्यकी क्या ही क्या है ? ॥ ४ ॥

आगे कहते हैं कि, जो मृत्यु-प्राप्त-पुरुषका शोक करते हैं वे मूर्ख हैं,—

शोचन्ति स्वजन भूयसा स्वकर्मफलभोगिनम् ।

नात्मान बुद्धिविध्वस्ता यमदष्टान्तरस्थितम् ॥ ५ ॥

अर्थ—यदि अपना कोई कुटुम्बीन अपने कर्मवशात् मरणको प्राप्त हो जाता है, तो नष्टबुद्धि मूखनन उसका शोक करते हैं, परन्तु आप स्वयम् यमराजकी दाढ़ीमें आया हुआ है, इसकी चिन्ता कुछ भी नहीं करता है। यह बड़ी मूर्खता है ॥ ५ ॥

फिर फटते हैं कि, पूर्वकालमें बड़े २ पुरुष प्रत्यक् प्राप्त होगये,—

यस्मिन्संसारकान्तारे यमभोगीन्द्रसेविते ।

पुराणपुरुषा पूर्वमनन्ता प्रलय गता ॥ ६ ॥

अर्थ—कालरूप सर्पसेवित संसाररूपी बनेमें पुरुषात्ममें अनेक पुराणपुरुष (सालाकापुरुष) प्रत्यक्को प्राप्त हो गये, उनका विचारकर शोक करना क्या है ॥ ६ ॥

फिर भी कालकी प्रवृत्ता दिखाने है,—

प्रतीकारशक्तेनापि त्रिदशैर्न निवार्यते ।

यथायमन्तक पापी नृकीटैस्तत्र वा कथा ॥ ७ ॥

अर्थ—जब यह पापस्वरूप यम देवताओंके सैकड़ों उपायाने भी नहीं निवार किया जाता है, तब मनुष्यरूपी कीड़ेकी तो बात ही क्या? भावार्थ—काल दुर्निवार है ॥ ७ ॥

गर्भादारभ्य नीयन्ते प्रनिक्षणमव्यङ्गितै ।

प्रयाणै प्राणिनो मूढ कर्मणा यममन्दिरम् ॥ ८ ॥

अर्थ—हे मूढ प्राणी! आपुनामा कम जीवाको गर्भावस्थाहीसे निरन्तर प्रणिभान अपने प्रयाणोंमें (भजनोंमें) यममन्दिरकी तरफ ले जाना है सो उसे देख ॥ ८ ॥

यदि दृष्ट श्रुतो यास्ति यमाज्ञायञ्चको यत्नी ।

तमाराध्य भज स्वास्थ्य नैव चैत्तिक शृष्याश्रम ॥ ९ ॥

अर्थ—हे प्राणी! यदि तूने किसीको यमराजकी आज्ञाका लोप करनेवाला बन्वान् पुरुष देखा वा सुना हो तो तू उसीकी सेवा कर! अर्थात् उसकी आज्ञा लेकर निश्चित हो रह और यदि ऐसा कोई बन्वान् देखा वा सुना नहीं है, तो तेरा रोद करना व्यर्थ है ॥ ९ ॥

परस्येव न जानाति विपत्तिं स्वस्य मूढधी ।

धने सख्यसमाकीर्ण दृष्टमाने तरस्यवत् ॥ १० ॥

अर्थ—ये मूढजन दूसरोंकी आर्द्र हुई के समान अपनी आपदाओंको इस प्रकार नहीं जानते, जैसे अमर्य्य जीवोंमें भरा हुआ बल जलना हो और वह तब तक नहीं बहता कि, देखो ये सब जीव जल रहे हैं। परन्तु यह नहीं जाने कि, जब यह जल बह जाय, तब मैं भी इनके समान ही जल जाऊँगा। यह बड़ी मूर्खता है ॥ १० ॥

यथा बाल तथा शृद्ध यथादय दुविध तथा ।

यथा शर तथा भीम माम्येन प्रसतेऽन्नक ॥ ११ ॥

अर्थ—यह काल जैसे बालको प्रसता है, तैने हा शृद्धको भी प्रसता है और जैसे धनाढ्यपुरुषको प्रसता है, उसी प्रकार दगिद्रको भी प्रसता है। तब जैसे दुर्गरीरको प्रसता है, उसी प्रकार कायरको भी प्रसता है। एवम् प्रकार जगत् सब ही जीवोंको समान ना

वसे प्रसता है । किसी भी इसका हीनाधिक निचार नहीं है, इसी कारणसे इसका नाम समवर्त्ती भी है ॥ ११ ॥

अब कहते हैं कि, इस शालको कोई भी नहीं निवार सकता,—

गजाश्वरथमैन्यानि मन्त्रौपधवलानि च ।

व्यर्था भवन्ति सर्वाणि विपक्षे देहिना यमे ॥ १२ ॥

अर्थ—जब यह काल जीवोंके विरुद्ध होता है अर्थात् जगतके जीवोंसे प्रसता तथा नष्ट करता है, तब हाथी घोड़ा रथ सेना मन्त्र तन्त्र औपधादि सब ही व्यर्थ जाते हैं । भावार्थ—जब मृत्यु (काल) आती है, तब इस जीवको कोई भी नहीं बचा सकता है ॥ १२ ॥

यिप्रमैरुमस्तायज्जन, सचाऽपि चरगति ।

न दृणोत्यदय पायल्कृतान्तहरिगर्जितम् ॥ १३ ॥

अर्थ—पराक्रम ही है अद्वितीय रस जिसके, ऐसा यह मनुष्य तबतक ही उठोड़ा दौड़ता दूढ़ता है, अतक कि कालरूपी मिहरी गर्जनाका शब्द नहीं सुन सकता—तेरी मौन आ गइ जेमा शब्द सुनते ही सब रेल बूढ़ मूल जाता है ॥ १३ ॥

अकृताभीष्टकरयाणमभिचारव्यवच्छितम् ।

प्रागेयागत्य निम्नसो हन्ति लोकं घम क्षणे ॥ १४ ॥

अर्थ—यह बात जेमा सिद्धी है कि, जिनोंने अपना मनोवाञ्छित फलानुरूप नहीं किया और न अपने प्राग्भ जिये हुए कार्याको पूर्ण कर पाये, जेमे लोगोंको सबसे पहले आकाशकाल मार जाता है । जेमा कार्य जैसेके जैसे अपूरे ही रह जाते हैं ॥ १४ ॥

कि भी जारे क अज्ञानजनका दिमाक है —

अथवा ।

धूमद्वारम्भमीन स्मरन्ति जगदिदं प्रत्यक्षोक्तावसानम्

समस्तपुण्यनि शीघ्राधारणमुक्तभरात्रान्तघात्री यशेन ।

येषा मेऽपि प्रतीका कतिपयदियमै कात्यागोन सत्यं

मीना वास्तव्यदोषं नदपि क्वचिदा जीविनेऽप्युद्धताया ॥ १५ ॥

अर्थ—जिनका धूमद्वारम्भमीन स्मरन्ति जगदिदं प्रत्यक्षोक्तावसानम् समस्तपुण्यनि शीघ्राधारणमुक्तभरात्रान्तघात्री यशेन । येषा मेऽपि प्रतीका कतिपयदियमै कात्यागोन सत्यं मीना वास्तव्यदोषं नदपि क्वचिदा जीविनेऽप्युद्धताया ॥ १५ ॥

शार्दूलविश्रीकृतम् ।

रुद्राशागजदेवदैत्यस्वधरग्राहग्रहव्यन्तरा

दियपाला प्रतिशत्रवो हरिपला व्यालेन्द्रचक्रेश्वरा ।

ये चान्ये मरुदर्यमादियतिनः समूय सर्वे स्वयम्

नारब्ध यमकिङ्करै क्षणमपि घ्रातु क्षमा देहि न ॥ १६ ॥

अर्थ—रुद्र, दिग्गज, देव, दैत्य, विषाधर, जलदेवता, ग्रह, व्यन्तर, दिक्पाल, नारायण, प्रतिनारायण, वज्रभद्र, धरणीन्द्र, चक्रचर्चि, तथा पवन देव सूर्यादि बलिष्ठ देहधारी, सब एकत्र होकर भी कालके किङ्कर स्वरूप कालकी कलासे आरंभ किये अर्थात् पकड़े हुए प्राणीको क्षणमात्र भी रक्षा करनेमें सनथ नहीं है । कोई ऐसा समझता होगा कि, मृत्युमें बचानेवाला कोई तो इस जातमें अवश्य होगा, परन्तु ऐसा समझना सर्वथा मिथ्या है, क्योंकि कालसे मृत्युमें रक्षा करनेवाला न तो कोई हुआ और न कभी कोई होगा ॥ १६ ॥

किर भी उपदेश करते हैं,—

आरब्धा मृगयालिकेष विपिने सतारदन्तिद्विपा

पुसा जीवकला निरेति पवनव्याजेन भीता सती ।

घ्रातु न क्षमसे यदि क्रमपदप्राप्ता घराकीमिमा

न त्व निर्घृण लज्जसेऽथ जनने भोगेषु रन्तु मदा ॥ १७ ॥

अर्थ—हे मृगप्राणी ! जिस प्रकार वनमें मृगकी बालिकाको सिंह पकड़नेका आरंभ करता है और वह भयभीत होकर भागती है उसी प्रकार जीवराज जीवनकी कला कालरूपी सिंहसे भयभीत होकर उद्वासनसे बहानेसे बाहर निकलना है अर्थात् भागनी है । और जिस प्रकार वह मृगकी बालिका सिंहके पाशोंमें आ जाती है, उसी प्रकार जीवोंके जीवनकी कला कालके अनुक्रमसे अन्तको प्राप्त हो जाती है अतएव तू इस निमित्तकी रक्षा करनेमें सनथ नहीं है । और हे निर्दया ! तू इस जातमें रहनेको उदमी होकर प्रवृत्ति करता है और लज्जित नहीं होता है यह तेरा निर्दयपन है क्योंकि सन्तुष्टिहीन ऐसी प्रवृत्ति होती है कि, जो कोई किसी असमयप्रसङ्गको सनथ देखे, तो अपने समस्त कार्य छोड़कर उसकी रक्षा करनेका विचार करते हैं और तू स्वयं रहने हुए प्राणिमोको देखकर भी भोगोंमें रमत है और सुहृत् करण करनेको नहीं बचता है, यह तेरा बड़ी निर्दयता है ॥ १७ ॥

सम्भवा ।

पामाले ग्रहलोके सुरपतिभयने मागरान्ते घनान्ते

दिक्षुचके शैलशृङ्गे दहनवनहिमध्वान्नवज्जामिदुग ।

भृगुर्मे सन्निविष्टं समदकरिघटा सङ्कटे वा उलीयान्

कालोऽथ क्रूरकर्मा कललयति बलाज्जीवित देहभार्जा ॥ १८ ॥

अर्थ—यह काल बड़ा बलवान् और क्रूरकर्मा अर्थात् दुष्ट है। जीवोंको पातालमें, ब्रह्मलोकमें, इन्द्रके भवनमें, समुद्रके तट, उनमें पार, दिशाओंमें अन्तमें, पतके शिवराम, अग्निमें, जलमें, हिमालयमें, अघसारमें, वज्रमयी स्थानमें, तल्लगनेके पहरेमें, गन्धको भूमि घरमें, तथा मदोन्मत्त हृत्तियोंके समूह इत्यादि किसी भी स्थानमें यत्रपूर्वक निद्राओं, तौ भी यह काल बलात्कारपूर्वक जीवोंके जीवनको ग्रामीभूत कर लेता है। इस कालके आगे किसीका भी वश नहीं चलता ॥ १८ ॥

अथ अशरणभावनाका वर्णन पूरा करनेकेलिये कथनको सकोचते हैं,—

शादूखिमीडितम् ।

अस्मिन्नन्तकभोगियक्रविवरे महारदृष्टाङ्किते

ससुप्त भुवनत्रय स्मरगरव्यापारमुग्धीकृतम् ।

प्रत्येक गिलितोऽस्य निर्दयधिय केनाप्युपायेन वै

नास्मान्निःसरण तवार्य कथमप्यत्यक्षबोध विना ॥ १९ ॥

अर्थ—हे आर्य सत्पुरुष ! अन्तसमयरूपी दादसे चिह्नित कालरूप सर्पके मुखमें विवरमें कामरूपी विषकी गहल्लासे मूर्छित भुवनत्रयके प्राणी गाढ़निद्रामें सो रहे हैं उनमें प्रत्येकको यह निर्दयबुद्धि काल गिलता जाता है। परन्तु प्रत्यक्षज्ञानकी प्राप्ति विना इस कालके पजेसे निकलनेका और कोई भी उपाय नहीं है अर्थात् अपने ज्ञान स्वरूपका शरण लेनेसे ही इस कालसे रक्षा हो सकती है। इस प्रकार अशरणभावनाका वर्णन किया है ॥ १९ ॥

इस भावनाका संक्षेप यह है कि, विश्वसे तो समस्तद्रव्य अपनी २ शक्तिके भाग नेवाले हैं तथा कोई किसीका क्या हर्षा नहीं है। किन्तु व्यवहार दृष्टिसे निमित्त नैमित्तिक भाग देयकर यह जीव निमीने शरणकी कल्पना करता है, यह नौकमके उदयका माहात्म्य है। इस कारण यदि विश्व दृष्टिमें निचारा जाय, तो अपनी आत्माहीका शरण है और व्यवहार दृष्टिमें निचार किया जाय, तो परंपराय सुखके कारण वीतरागताको प्राप्त हुए पंचपरमेष्ठिका ही प्राप्ति है, क्योंकि ये वीतरागताके एकमात्र कारण हैं, अतएव अथवा शरण छोड़कर उक्त दो ही शरणको निचारा चाहिये ।

शारदा ।

जगमें शरणा दोय, दुःखानम भर पषयुम् ।

आन कल्पना हाय मोह उदय जियके कृथा ॥ २ ॥

नि अशरणमान ॥ १ ॥

अथ भगवद्भाषणा लिख्यते ।

आगे भगवद्भाषणा व्याख्या करत है,—

चतुर्गुणनिमग्नतायां तु मया दयदीपिते !

भ्रमन्ति भविनोऽजस्र घराणां जन्मसागरे ॥ १ ॥

अर्थ—चार गतिरूप महा आषष्ठ (भीरे) बाने तथा दुःखरूप बडवानतसे प्रज्वलित हुए भगवत्कृपा समुद्रों में चतुर्गुण दीन अनाथ प्राणी निरन्तर भ्रमण करते रहते हैं ॥ १ ॥

उत्पद्यन्ते विपद्यन्ते स्वकर्मनिगर्हयन्ता ।

निरंतरक्षरीरेषु मय रन्तु क्षरीरेण ॥ २ ॥

अर्थ—ये जीव अपने-२ कर्मरूपी बेड़ियोंसे बंधे सागर और तम क्षरीरोंमें संचार करते हुए मरते और उत्पन्न होते,—

कदाचिदेव गत्यायुर्नामकमोदपादिह ।

प्रमथन्त्यङ्घ्रिना स्वर्गं पुण्यमाभारसमृता ॥ ३ ॥

अर्थ—कभी तो यह जीव देवगति—नामक और दयायुक्तकर्मके उदयसे पुण्यकर्मके समूहोंमें भरे स्वर्गमें देव उत्पन्न होता है ॥ ३ ॥

कल्पेषु च विमानेषु निवापेष्विनरेषु च ।

निर्विशान्तिं शुण्यं दिव्यमानास त्रिदिवश्रियम् ॥ ४ ॥

अर्थ—और वहाँ देवगतिमें कल्पवासियोंके विमानोंमें तथा भवनवासी ज्योतिषी तथा अन्यत्र—देवोंमें उनकी लक्ष्मी पाकर देवोपनीत सुखोंको भोगता है ॥ ४ ॥

प्रच्यवन्ते तत्र सद्यः प्रविशन्ति रसातलम् ।

भ्रमन्त्यनिलवद्विश्वं पतन्ति नरकोदरे ॥ ५ ॥

अर्थ—जिन उम देवगतिमें च्युत होकर पृथिवीतलपर आता है और वहाँ पवनके समान चक्रमें भ्रमण करता है, तथा नरकोंमें गिरता है ॥ ५ ॥

विदम्बयत्यसौ हन्त भगवद्भक्तं समपान्तरे ।

अधमोत्तमपर्यायेर्निर्णय्य प्राणिना गणम् ॥ ६ ॥

अर्थ—“याचाय महाशय आशय करते हैं कि, दम्बो यह संसार जीवोंके समूहको समयांतरों ऊंची नीची पर्यायोंसे जोड़कर विदम्बनारूप करता है और जीवक स्वरूपका अनर्थ प्रकारसे बिगाडता है ॥ ६ ॥

स्वर्गां पतति सात्रन्दं स्यात् स्वर्गमधिरोहति ।

ओघिणं सारमेय स्यात् कृमिर्वा श्वपचोऽपि वा ॥ ७ ॥

अर्थ—अहो! देगो = स्वर्गका तब तो गेता पुसागना तथा मर्गमे नीचे गिरता है और कुत्ता स्वर्गमें जाकर तब होता है। एतम् श्रोत्रिय अर्थान् क्रियाफाडका अधिकार अम्पर्श रहनेवाला ब्राह्मण मरकर तृप्ति अथवा चण्णदि हो जाता है। इमप्रकार इस ससारकी पिडनता है ॥ ७ ॥

रूपाण्येकानि गुह्याति लज्जल्यन्यानि सन्ततम् ।

यथा रङ्गेऽथ शैलपस्तगाथ यन्त्रजातम् ॥ ८ ॥

अर्थ—यह यत्रवाहर (प्राणी) ममारम अनेक रूपोंको ग्रहण करता है और अनेक रूपोंको छोड़ता है। जिस प्रकार नृत्यके रंगमञ्चपर नृत्य करनेवाला भिन्न २ स्वर्गोंको धरता है, उसी प्रकार यह जीव निरन्तर भिन्न २ स्था (गरी) धारण करता रहता है ॥ ८ ॥

सुतीव्रासातासंतसा मिथ्यात्वातद्धतर्किता ।

पञ्चधा परिवर्त्तन्ते प्राणिनो जन्मदुर्गमे ॥ ९ ॥

अर्थ—इस ससाररूपी दुर्गम वनम समारीजीव मिथ्यात्वरूपी रोगमे शक्ति अतिशयतीन असातावेदनीमे दुःखित होते हुए पाच प्रकारके परिवर्तनोंमें प्रमग करते रहते हैं ॥ ९ ॥

उन पाच प्रकारके परिवर्त्तनोंका नाम रहते हैं,—

द्रव्यक्षेत्रे तथा कालभयभावविरूपणम् ।

संसारो दुःखसकीर्ण पञ्चधेति प्रपञ्चित ॥ १० ॥

अर्थ—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भय, तथा भावके भेदसे ससार पाच प्रकारके विस्ताररूप दुःखोंसे व्याप्त फटा गया है। इन पाच प्रकारके परिवर्त्तनोंका स्वरूप विस्तारपूर्ण अन्यग्रन्थोंसे जानना ॥ १० ॥

सर्वे सर्वेऽपि सम्यग्धा सप्राप्ता देहधारिभिः ।

अनादिकालसम्प्रान्तैश्च सस्थावरयोनिषु ॥ ११ ॥

अर्थ—इस ससारमें अनादिकालसे फिरते हुए जीवोंने समस्तजीवोंके साथ पिता पुत्र माता माता पुत्री भी आदिक सम्बन्ध अनेकवार पाये हैं। ऐसा कोई भी जीव वा सम्बन्ध बाकी नहीं रहा, जो इस जीवने न पाया हो ॥ ११ ॥

देवलोके नृलोके च तिरश्चि नरकेऽपि च ॥

न सा योनिर्न तद्रूपं न स देशो न तत्कुलम् ॥ १२ ॥

न तद्गुणं सुखं किञ्चिन् पर्याप्तं स विद्यते ।

यत्रैते प्राणिनः शश्वद्यातायातैर्न गण्डिता ॥ १३ ॥

अर्थ—इस ससारमें चतुर्गतिमें फिरते हुए जीवने बट योनि वा रूप, देश, कुल,

तथा वह सुख, दुःख, वा पर्याय नहीं है, जो निरन्तर गमनागमन करनेसे प्राप्त न हुई हो । भावार्थ—मर्य ही चवसाजोमें अनेकवार भोगी पड़ती हैं तथा बिनाभोगा कुछ भी नहीं है ॥ १३ ॥

न के पन्धुत्यमायाता न के जातास्तव द्विप ।

दुरन्तागाधसंसारपङ्कममस्य निर्दयम् ॥ १४ ॥

अर्थ—हे प्राणी ! इस दुरन्त भगाध समारम्भी कर्म (बीज) में बँधे हुए तेरे ऐसे कोनसे जीव है, जो मित्र वा शत्रु नहीं हुए । अर्थात् सब जीव तेरे शत्रु वा मित्र हो गये हैं ॥ १४ ॥

भूप कृमिर्भवत्यत्र कृमिश्चामरनापक ।

शरीरी परिवर्त्तत कर्मणा यच्चित्तो बलात् ॥ १५ ॥

अर्थ—इन संसारमें यह प्राणी कर्मोंमें बलात् बधिन हो गानामे तो मरकर श्मि (लट) हो जाता है और श्मिसे मरकर कमसे देवोंका इन्द्र हो जाता है । इस प्रकार परस्पर ऊपी गतिमें नीची गति और नाचोमें ऊँची गति पण्डती ही गती है ॥ १५ ॥

माता पुत्री ममा भार्या सय सपत्न्येऽद्भजा ।

पिता पुत्र पुन सोऽपि लभते पौत्रिक पदम् ॥ १६ ॥

अर्थ—इस संसारमें प्राणीकी माता तो मरकर पुत्री हो जाती है और बहन मरकर स्त्री हो जाती है, और फिर बही स्त्री मरकर आपसी पुत्री भी हो जाती है । इसी प्रकार पिता मरकर पुत्र हो जाता है तथा फिर बही मरकर पुत्रका पुत्र हो जाता है । इस प्रकार परिवर्त्तन होता ही रहता है ॥ १६ ॥

अब संसारभावनाका वर्णन पूरा करते हैं और उमे सामान्यतामें करते हैं,—

सार्द्धविहीरिडम् ।

श्वभ्रे शलकुठारयन्धदहनक्षारक्षुरव्धारत

स्तिर्यक्षु अमदुग्धपावकशिखासभारभस्तीकृतै ।

मानुष्येऽप्यनुलम्बासयशैर्देवेषु रागोद्धत

संसारेऽत्र दुरन्तदुर्गनिमये यन्मन्मये प्राणिभि ॥ १७ ॥

अर्थ—इस दुर्निवार दुर्गतिमय संसारमें जीव निरन्तर श्वभ्रे (श्व) तो ये शूली, कुल्हाड़ी प्राणी अग्नि, क्षार, अम, दुरा, कटागी पादेमें पीड़ाको मग्न हुए नाना प्रकारके दुःखोंको भोगते हैं और विर्यवर्गिने अग्निही शिखासभारमें भस्मरूप खेद और दुःख पाते हैं । तथा मनुष्यादिनी अनुलम्बके वर्णमग्न होकर मनुष्य प्रकारके दुःख भोगते हैं । इसी प्रकार देवगतिमें रागवशमें उद्धत होकर दुःख करते हैं ।

अर्थात् चारों ही गतिमं दुःख पाते हैं, इन्हें मुक्त नहीं भी नहीं है। इस प्रकार मंगल भावनाका वर्णन किया ॥ १७ ॥

इसका संक्षेप यह है कि, समागता काण्ड अज्ञानभाव है। अज्ञानभावमें परमार्थोंका तथा रागद्वेषकी प्रवृत्ति होती है। रागद्वेषकी प्रवृत्तिमें समग्र होना है और समग्र फल चारों गतिमं भ्रमण करना है, सो कार्य है। यही कार्य और काण्ड तेनोपि ससार कहते हैं। यही कार्यका वर्णन विशेषनामे किया गया है, क्योंकि व्यवृत्ति तीव्र कार्यरूप ससारका अनुभव विशेषनामे है। परमाधमे अज्ञानभाव ही समागता है।

श्लोकः ।

परमार्थानं प्रीतिं जो, है ससार अवोद्य ।

ताको फल गति धारमें, भ्रमण करो ध्रुवशोध ॥ ३ ॥

स्ति मंगलभाषना ॥ ३ ॥

अथ एकत्वभावना लिख्यते ।

अब एकत्वभावनाका व्याख्यान करते हैं, सो प्रथम ही यह करते हैं, कि यह आत्म समान अवस्थाओंमें एक ही होता है,—

महाव्यसनसकीर्णं दुःखज्वलनदीपिते ।

एकाक्येव भ्रमत्यात्मा दुर्गं भवमरस्थले ॥ १ ॥

अर्थ—महा आपदाओंसे भरे हुए दुःखरूपी-अग्निसे प्रज्वलित और गहन ऐसे ससाररूपी मरस्थलमें (जल-वृक्षादि हीन रेतीली भूमिमें) यह आत्मा अकेला ही भ्रमण करता है। कोई भी इसका साथी नहीं है ॥ १ ॥

स्वयं स्वकर्मनिर्वृत्तं फल भोक्तुं शुभाशुभम् ।

शरीरान्तरमादत्ते एक सर्वत्र सर्वथा ॥ २ ॥

अर्थ—इस ससारमें यह आत्मा अकेला ही तो अपने पूर्वकर्मोंके सुखदुःख फलको भोगता है और अकेला ही समान गतियोंमें एक शरीरसे दूसरे शरीरको प्राप्त करता है ॥ २ ॥

मकरपानान्तरोत्पन्नं दिव्यं स्वर्गसुखामृतम् ।

निर्विशल्ययमेकाकी स्वर्गश्रीरञ्जिताशय ॥ ३ ॥

अर्थ—तथा यह आत्मा अकेला ही स्वर्गकी शोभामें रजायमान होकर देवोपना संस्कार मात्र करते ही उत्पन्न होवाले स्वर्गसुखरूपी अमृतका पान करता है अर्थात् स्वर्गमें सम भी अलग ही भोगता है। कोई भी इसका साथी नहीं है ॥ ३ ॥

सत्याग विप्रयाग च स नये मरणऽथ वा ।

सृष्ट्वहू त्वयिर्था धास्य न सन्वान्योऽस्ति देतिनः ॥ ४ ॥

अर्थ—इस प्राणी के संयोगविशेषमें जबकि जन्ममरण तथा दुःख सुख भोगनेमें कोई भी विशेष साधी नहीं है । मरणा ही भोगता है ॥ ४ ॥

मित्रपुत्रकलत्रादिभूत कर्मकरोग्रयम् ।

यस्यैव पालमेवासी भुङ्क्ते स्वभ्रादिषु व्ययम् ॥ ५ ॥

अर्थ—जब यह जीव पुत्र मित्र स्त्री आदिपर विभिन्न जा पुत्र पुरे भले कार्य करता है उनका वह भी नस्लारिक गतिधोमें स्वयम् अपना ही भोगता है । वहां भी कोई पुत्रमित्रादि वगैरह भोगनेको साधा नहि होने ॥ ५ ॥

सहाया अस्य जायन्ते मोक्षं विस्तानि केवलम् ।

न तु सोऽहं स्वकमास्थ निर्दया न्यसनायलीम् ॥ ६ ॥

अर्थ—यह प्राणी पुर भले कार्यकरव जो धनोपाजन करता है, उस धनको भोगनेको तो पुत्रमित्रादि ओर साधी हो जाते हैं, परन्तु अपने कर्मोंसे उपाजन किये हुए निदयरूप हुआ सोव समूहको सहनक अध कोई भी साधी नहीं होता है । यह जीव अपने ही सब दुःखोंको भोगता है ॥ ६ ॥

एवमथ किं न पश्यन्ति जङ्घा जन्ममहार्दिता ।

पञ्चजन्मसृष्ट्युमस्याते प्रत्यक्षमनुभूयते ॥ ७ ॥

अर्थ—आचार्य महाशय कहते हैं कि, ये मूर्ख प्राणी संसाररूपी पिशाचसे पिड़ित हुए भी अपनी प्यताका क्या नहीं दमते, जिसे नममरण प्राप्त होनेपर सब ही जीव प्रत्यक्षमें अनुभव करते हैं । भावार्थ—आप अपनी आँखोंसे देखता है कि, यह जन्मा और यह मरा । जो जन्म जाता है वह मरता है । दूसरा कोई भी उसका साधी नहीं है । इस प्रकार प्यकारीपन दगकर भी अपने प्यकारीपाको नहि देखता है, यह बड़ी भूल है ॥ ७ ॥

अज्ञानमव्यक्तोऽयं लुप्तबोधादिलोचन ।

भ्रमयचिरत जीव एकाकी विधियधिनः ॥ ८ ॥

यह जीव अपने अपावनको नहीं देखता है । इसका कारण यह है कि, ज्ञानादि विशेष लुप्त होनेसे यह अपने स्वरूपको भले प्रकार नहि जानता है और इसी कारणसे परमि ठगाया हुआ यह जीव प्यारी ही इस संसारमें भ्रमण करता रहता है । भावार्थ—इसका अज्ञान ही कारण है ॥ ८ ॥

यदप्य मनुते मोहादयमर्थ स्थिरेतरैः ।

तदा म्य म्येन यथाति तद्विषयं शिखी नयेत् ॥ ९ ॥

अर्थ—यह भूद प्राणी जिस समय मोहके उन्मत्तसे चेतन तथा अचेतन पर्यन्त अपनी एकता मानता है, तब यह जीव आपसो अपने ही भावोंसे बाधता है अर्थात् कर्मबन्ध करता है। और जब यह उन्मत्तप्राणीसे अपनी एकता नहीं मानता है तब कर्मबन्ध नहीं करता है और कर्माकी निर्जरापूर्वक परंपरा मोक्षगामी होता है। एकत्व भावनाका यही फल है ॥ ९ ॥

एकाकित्य प्रपन्नोऽसि यदाह चीतविभ्रमः ।

तदैव जन्मसम्बन्धः स्वयमेव चिन्तीर्यते ॥ १० ॥

अर्थ—जिस समय यह जीव भ्रमरहित हो ऐसा चिंतन करे कि, मैं एकताको प्राप्त होगया हूँ, उसी समय इस जीवना ससारना सम्बन्ध स्वयं ही नष्ट हो जाता है। क्योंकि संसारना सम्बन्ध तो मोहसे है और यदि मोह जाता रहै, तो आप एक है सि मोक्ष क्यों न पाये? ॥ १० ॥

अब एकत्वभावनाका व्याख्यान पूरा करते हैं सो सामान्यतासे कहते हैं,—

महाकाता ।

एकं स्वर्गं भवति त्रिषुध. स्त्रीमुग्धाम्भोजभृद्

एकं श्वाघ्न पियनि कलिल उद्यमानं कृपाणैः ।

एकं त्रोघातनलकलितं कर्म घ्नति विद्वान्

एकं सर्वपापविगमे ज्ञानराज्यं सुनक्ति ॥ ११ ॥

अर्थ—यदि आमा आप एक ही देनागनाके सुमरूपी कमरूपी सुगंध लेनेवाले भ्रमरके समान स्वर्गका नेत्र होता है और अरेण आप ही कृपाण दुर्ग तन्त्रागमे उद्यमान त्रिया हुआ नरक सम्बन्धी स्त्रीको पीता है तथा अरेण आप मोघादि कृपाण रूपी अभिमहित होकर कर्माको बाधता है और अरेण ही आप विद्वान् पानी पीते होकर समस्त कमरूप पापगणके अभाव होनेपर ज्ञानरूप राज्यको भोगता है। भावार्थ—आमा आप अरेण ही स्वर्गमें जाता है, आप ही अरेण तन्त्रागमे जाता है, आप ही कम बाधता है और आप ही कर्मकलानाशक मोक्षको जाता है ॥ ११ ॥

इस भावनाका मन्त्र आगम इतना ही है कि, परमात्मने (त्रिषुधमे) तो जन्म अन्तर्गत स्वयं आप एक ही है, परन्तु संसारमें जो अनेक अवस्थायें होती हैं व इनके निमित्तम होती हैं। उनमें भी आप अरेण ही हैं। इसका दूसरा कोर भी लक्ष्य नहीं है। इस प्रकार एकत्वभावनाका व्याख्यान किया है ॥

हेतु ।

तन्त्रागमे आगम, एक रूप ही आप ।

कर्मनिमित्त विद्वान् यत्ने निजि नागे निज होय ॥ ४ ॥

इति एकत्वभावना ॥ ६ ॥

अथ अन्यत्वभावना लिख्यते ।

अथ अन्यत्वभावनाका व्याख्यान करते हैं । प्रथम ही परमाधत आत्माको शरीरादिकसे भिन्न दिखाते हैं —

अयमात्मा स्वभावेन शरीरादेर्विलक्षण ।

चिदानन्दमय शुद्धो यन्ध प्रत्येकवानपि ॥ १ ॥

अर्थ—यह आत्मा यदि कमबलकी दृष्टिमें देखा जाय, तो बधरूप वा एकरूप है और स्वभावकी दृष्टिसे देखा जाय, तो शरीरादिकमें विलक्षण चिदानन्दमय शुद्ध है ॥ १ ॥

अचिच्चिद्रूपयोरैक्य यन्ध प्रति न यस्मुत्त ।

अनादिश्चानयोः स्लेप स्वर्णकालिकयोरपि ॥ २ ॥

अर्थ—चेतन और अचेतनके बधदृष्टिकी वधेमा एकरूपता है और यस्मुत्त दम् नेसे दोनों भिन्न २ वस्तु हैं, एकरूप नहीं हैं । इस दोनोंका अनादिकात्मे एकरूपेकाङ्गाद रूप सलेप है मिलाप है । जैसे पुष्प और वाष्मिकाके म्वाभिं एकरूपता है, उमी प्रकार जीव पुद्गलोंके एकता है परन्तु कालवर्गे भिन्न २ वस्तु हैं ॥ २ ॥

इह मूर्तममूर्तन चलेनात्यन्तनिश्चलम् ।

शरीरमुत्पत्ते मोहाद्येतनेनास्तयेतनम् ॥ ३ ॥

अर्थ—इस जगतमें मोहके कारण अमूर्तक और चलनेवाले जीवके यह मूर्तक अतिस्थिर चेतनारहित शरीर अपने साथ २ लगाये रहना पड़ता है । भाषार्थ—मूर्तक अमूर्तक चेतन है और मोहके कारण चलनेके स्वभावसरित है । और शरीर मूर्तक है, अचेतन है, चलनेकी इच्छारहित है और चल नहीं है । यह जब उसको ज्ञाना पुष्प जैसे मुरदेको लिये फिर, उसी प्रकार लिये लिये पिरता है ॥ ३ ॥

अणुप्रचयनिष्पन्न शरीरमिदमहिनाम् ।

उपयोगात्मकोऽत्यक्ष शरीरी ज्ञानविग्रह ॥ ४ ॥

अर्थ—जीवोंका यह शरीर पुद्गल परमाणुओंका बना है और शरीर अर्थात् आत्मा उपयोगमयी है और अनाद्य है । यह इन्द्रियोपर नहीं है तथा इसका ज्ञान ही शरीर है । शरीर और आत्मामें इस प्रकार अत्यन्त भेद है ॥ ४ ॥

अन्यस्य किं न पश्यन्ति जज्ञा जन्मप्रहार्दिता ।

यज्जन्मसृष्ट्युत्पत्ते मर्षेणापि प्रतीयते ॥ ५ ॥

अर्थ—यद्यपि उस प्रकारके शरीर और आत्मके अन्तर है, तथापि जन्ममर्ष

पिशाचमे पीडित मृत प्राणी क्या नहीं करता कि, यह अन्धाना व मरना मृत
सम्पातमं मरे लोकी प्रतीतिमं आना है। यथा जन्मा नर गर्भको माय नाशनी,
और मरता है तब यह गर्भ माय जाना नहीं है। इस प्रकार गर्भमे जीवती दृष्ट
प्रतीत होती है ॥ ५ ॥

मृतमिचेननैश्चिन्ने मृतञ्च परमाणुभिः ।

यद्यपुश्चित्तेन क मम्यन्धस्तदान्मनः ॥ ६ ॥

अर्थ—मूर्ति चेतनागति नाना प्रकार मृत परमाणुओं में जो गर्भ स्वा गत है
उससे और आत्मामे क्या संशय है? विचारो! इसका विचार करनेमे कुछ भी सत्य
नहीं है, ऐसा प्रतिभास होगा ॥ ६ ॥

इस प्रकार शरीरसे भिन्नता बताइ, अब अन्याय पदार्थोंमें भिन्नता दिखाने हैं,—

अन्यत्वमेव देहेन स्याद्भूश यत्र देहिनि ।

तत्रैक्यं यन्नुभि सार्धं यत्तिरद्वै कुनो भवेत् ॥ ७ ॥

अर्थ—जब उपर्युक्त प्रकारमे देखे ही प्राणीके अन्यत्वं भिन्नता है, वह
यत्तिरग जो बुद्धादिक हैं उनमे एकता केमे हो सकती है? क्योंकि ये तो मूल्यम मित्र
दीप्त पड़ते हैं ॥ ७ ॥

ये ये सम्यन्धमायाना पदार्थाश्चेतनेनग ।

ते ते सर्वेऽपि सर्वत्र स्वस्वरूपाद्विलक्षणा ॥ ८ ॥

अर्थ—इस जगतमें जो जो जड़ और चेतन पदार्थ इस प्राणीके सम्यन्ध हुए हैं
वे सब ही सर्वत्र अपने २ स्वरूपमें विलक्षण (भिन्न भिन्न) हैं, आत्मा सबसे अन्य हैं ॥ ८ ॥

पुत्रमित्ररुलन्नाणि वस्तुनि च धनानि च ।

सर्वथाऽन्यस्वभायानि भावय त्व प्रतिक्षणम् ॥ ९ ॥

अर्थ—हे आत्मन्! इस जगतमें पुत्र मित्र स्त्री आदि अन्य वस्तुआकी तू निरन्तर
सर्व प्रकारसे अन्य—स्वभाव भावना कर, इनमें एकपनेकी भावना कदापि न कर, ऐ
उपदेश है ॥ ९ ॥

अन्य कश्चिद्भूतेषुत्र पितान्य कोऽपि जायते ।

अन्येन केनचित्सार्द्धं कलत्रेणानुयुज्यते ॥ १० ॥

अर्थ—इस जगतमें कोई अन्य जीव ही तो पुत्र होता है और अन्य ही पितृ
होता है और किसी अन्य जीवके ही साथ सीसम्बन्ध होता है। इस प्रकार सब ई
मध्य भिन्न २ जावोंमें होते हैं ॥ १० ॥

त्यत्स्वरूपमनित्रम्य पृथक्पृथगन्यवस्थिता ।

मयेऽपि सर्वथा भूद भाषास्त्रैलोक्यवर्तिन ॥ ११ ॥

अर्थ—हे भून् प्राणी! तीनलोकवर्ती समस्त ही पदार्थ तेरे स्वरूपसे भिन्न सर्वथा पृथक् पृथक् तिष्ठते हैं, तू उन्में अपना एकत्र न मान ॥ ११ ॥

अब अन्य-वभावनाके बंधनको पूरा करते हैं, -

सादृश्यविहीनितम् ।

मिथ्यात्वप्रतिपद्यदुर्णयपथभ्रान्तेन धात्मानत्

भायान् स्यान् प्रतिपद्य जन्मगतने गित त्वया प्राक्त चिर ।

सप्रत्यस्तमस्तविभ्रमभयश्चिद्रूपमेक परम्

त्यस्य स्य प्रविशाल मिद्धिघनिनाचक्ष समालोक्य ॥ १२ ॥

अर्थ—हे आत्मन्! तू इस संसाररूपी गहनवनन मिथ्यात्वके संग्रहसे उत्पन्न हुए सर्वथा एकात्मक तुल्यके मार्गमें भ्रमरूप होता हुआ, घासपदार्थोंसे अतिशय फरके अपने मान करके तथा अजीसार करके, चिरकालसे सदैव रोज़खिन हुआ और अब अस्त हुआ है समस्त विभ्रमोंका भार निमरा ऐसा होकर, तू अपने आपहीमें रहनेवाले उत्कृष्ट चैतन्यस्वरूपको अवगाहन करके उसमें मुक्तिरूपी स्त्रीक मुक्तको अवलोकन कर (देख) ।

भावार्थ—यह आत्मा अनादिकालसे पर पदार्थको अपने मानकर उनमें रमता है इसी कारणसे समारमें भ्रमण किया करता है । आचार्य महाराजने ऐसे ही जीवको उपदेश किया है कि, तू पर भावोंमें भिन्न अपने चैतन्यभावमें लीन होकर मुक्तिको प्राप्त हो । इस प्रकार यह अन्य-वभावनाका उपदेश है ।

इसका संग्रहित अभिप्राय यह है कि, इस लोकमें समस्त द्रव्य अपनी अपनी सत्ताको लिये भिन्न भिन्न हैं । कोढ़ भी किसीमें मिलता नहीं है और परस्पर निमित्तनैमित्तिक भावसे कुछ कार्य होता है, उन्में भ्रमसे यह प्राणी परमें अहंकार समकार करता है, सो जब यह अपना स्वरूप जाने तब अहंकार समकार अपने आपहीमें हो और तब परका उपद्रव आपके नहीं आवे यह अन्य-वभावना है ॥ ५ ॥

सोदा ।

अपने अपने स्वत्वक सय धस्तु धिलसाय ।

उन्में चिंतये जीव सय, परत समत न धाय ॥ ५ ॥

इति अन्य-वभावना ॥ ५ ॥

अथ अशुचित्प्रभायना लिङ्ग्यने ।

अथ अशुचित् प्रभायना व्याख्यान करने हैं । प्रथम शरीर की अशुद्धता दिखाने हैं—

निसर्गगलिन निन्द्यमोकाशुचिमम्भृतम् ।

शुक्रादिवीजमम्भृत घृणास्पदमिदं ययुः ॥ १ ॥

अर्थ—इस मंसारम जीवाका जो शरीर है, वह प्रथम तो समानमे ही गन्तव्य (मैलाकरनेवाला) है, निच है, तथा अनेक धातु उपधातुआमे भग हुआ है । एवं पुं रुधिरके बीजसे उत्पन्न हुआ है, इस कारण ग्लानि का स्थान है ॥ १ ॥

असुगमामयसाकीर्णं शीर्णं कीरुमपञ्चरम् ।

शिरानह च दुर्गन्ध क शरीर प्रशम्यते ॥ २ ॥

अर्थ—यह शरीर रुधिर मास चर्मासे घिगा हुआ सड़ रहा है, हाडोंका पतल और शिराआसे (नसासे) बंधा हुआ दुर्गन्धमय है । आचार्य महाशय कहते हैं, कि इस शरीरके कौनसे स्थानकी प्रशमा कर : सर्वत्र निच ही दीव्य पड़ता है ॥ २ ॥

प्रलघ्नवभिर्द्वारैः पूतिगन्धाग्निरन्तरम् ।

क्षणक्षयं पराधीन शश्वन्नरकलेयरम् ॥ ३ ॥

अर्थ—यह मनुष्यका शरीर नव द्वारोंसे निरन्तर दुर्गन्धरूप पदार्थोंसे झरता रहा है, तथा क्षणध्वशी पराधीन है और नित्य अज्ञानीकी सहायता चाहता है ॥ ३ ॥

कृमिजालशताकीर्णं रोगप्रचयपीडिते ।

जराजर्जरिते काये कीदृशी महता रति ॥ ४ ॥

अर्थ—यह शरीर हठ कीडोंके समूहोंसे भरा हुआ रोगोंके समूहसे पीड़ित वृद्धावस्थासे जर्जरित है । ऐसे शरीरमें महन्त पुरुषोंकी रति (प्रीति) कैसे है कदापि नहीं हो ॥ ४ ॥

यद्यदस्तु शरीरेऽत्र साधुबुद्ध्या विचार्यते ।

तत्तत्सर्वं घृणा दत्ते दुर्गन्धामेध्यमदिरे ॥ ५ ॥

अर्थ—इस शरीरमें जो जो पदार्थ हैं, सुबुद्धिसे विचार करनेपर वे सब घृणा स्थान तथा दुर्गन्धमय विषाके पर ही प्रतीत होते हैं । इस शरीरमें कोई भी पद पवित्र नहीं है ॥ ५ ॥

यदीदं शोध्यते दैवाच्छरीरं सागराभ्युभिः ।

दूषयत्यपि तान्येव शोध्यमानमपि क्षणे ॥ ६ ॥

अर्थ—यदि इस शरीरको देवात् समुद्रके जनसे भी पुत्र किया जाय, तो उसी क्षण समुद्रके जलकी भी यह अगुद (पैला) कर देता है । अन्य वस्तुको अपवित्र कर दे, तो आश्रय ही क्या है ? ॥ ६ ॥

कलेपरमिदं न स्याद्यदि चर्मावगुण्ठितम् ।

मक्षिकारूमिकाकेभ्य स्याधातु कस्तदा प्रभु ॥ ७ ॥

अर्थ—यदि यह शरीर बाहिरके चमड़ेसे ढका हुआ नहीं होता, तो मक्खसी कृमि तथा कौओंसे हमकी रक्षा करनेमें कोई भी समर्थ नहीं होता । ऐसे पृणास्पद शरीरको देखकर सत्पुरुष जब दूरहीने छोड़ देते हैं, तब इसकी रक्षा कौन करे ? ॥ ७ ॥

सर्वदैव रजाक्रान्त सर्वदैवाशुचेर्गुहम् ।

सर्वदा पन्नप्राप्य देहिना देहपञ्जरम् ॥ ८ ॥

अर्थ—इन जीवोंका देहरूपी पीचरा सदा ही रोगोंसे व्याप्त, सयदा अशुद्धताओंका घर और सदा ही पन्न होनेके स्वभाववान् है । ऐसा कभी मत समझो कि, किसी कालमें यह उत्तम और पवित्र होता होगा ॥ ८ ॥

तदेव कलमेतस्य शरीरं पुण्यकर्मभि ।

विरज्य जन्मन स्याथं ये शरीर कदर्थितम् ॥ ९ ॥

अर्थ—इस शरीरके मांस होनेका कल उन्होंने लिया, निन्होंने सत्कारसे विरक्त होकर इसे अपने कल्याणमार्गमें पुण्यकर्मोंसे क्षीण किया ॥ ९ ॥

शरीरमेतदादाय त्वया दु ख विमल्यते ।

जन्मन्यस्मिस्ततस्तद्धि नि शोषानर्थमन्दिरम् ॥ १० ॥

अर्थ—हे आत्मन् ! इस संसारमें तूने इस शरीरको ग्रहण करके दु ख पाये का सह है, इसीमें तू निश्चयकर जान कि, यह शरीर ही समस्त जनधोंका घर है, इसके संसर्गसे सुखका लेश भी नहीं मान ॥ १० ॥

अयोऽयानि दु खानि यानि यानीह देहिभि ।

सद्यन्ते तानि तान्युचैर्वपुरादाय केवलम् ॥ ११ ॥

अर्थ—इस जगतमें सत्सर्गसे (जन्ममरणसे) उत्पन्न जो जो दु ख जीवोंको सहने पड़ते हैं, वे सब इस शरीरके ग्रहणमें ही सहने पड़ते हैं । इस शरीरसे निवृत्त (मुक्त) होने पर फिर कोई भी दु ख नहीं है ॥ ११ ॥

आना ।

कर्पूरकुङ्कुमाशुभृगमदहरिचन्दनादिवस्तूनि ।

भव्यान्यपि ससर्गान्मलिनयति कलेवर नृणाम् ॥ १२ ॥

अर्थ—कर्पूर, वेशर, अगर, रस्तूरी, हरिचन्दनादि सुन्दर सुन्दर पदार्थोंको मी यह मनुष्योंका शरीर ससर्गमात्रसे अर्थात् लगाते ही अगुद्ध (मैले) कर देता है । भावार्थ—आप तो मैला हैं ही और ससर्गसे उच्चमोचम पदार्थोंको भी मलीन कर देता है, यह अधिकता है ॥ १२ ॥

अन अशुचिभावनाके कथनको पूरा करते हैं,—

माग्निनी ।

अजिनपटलगुह पञ्जर कीरुसानाम्

कुथितकुणपगन्धैः घुरित मूढ गाढम् ।

यमवदननिषण्ण रोगभोगीन्द्रगेह

कथमित् मनुजाना प्रीतये स्याच्छरीरम् ॥ १३ ॥

अर्थ—हे मूढप्राणी ! इस ससारमें मनुष्योंका यह शरीर चमके पटल्लोंसे (परदेसे) ढका हुआ हाइकोंका पिजरा है, तथा विगड़ी हुई राखड़ी (पीयूरी) दुर्गन्धमे परिपूर्ण है, एवम् कालके मुखमें बैठे हुए रोगरूपी सर्पाका घर है । ऐसा शरीर प्रीतिकरनेके योग्य कैसा हो ? यह बड़ा आश्चर्य है ॥ १३ ॥

इस अशुचिभावनाके व्याख्यानका सक्षिप्त अभिप्राय यह है कि, आत्मा तो निमग्न है, अमूर्तीक है और उसके मल लगना ही नहीं है, परन्तु स्मृति निमित्तसे जो इसके शरीरका सयप है, उसे यह अज्ञानमे (मोहसे) अपना मानकर भला जानता है, और मनुष्योंका यह शरीर सर्वतया अपवित्रताका घर है । इस कारण इसमें जन अशुचि भावना माने, तब इसमें निरक्तता होकर अपने निमग्न आत्मस्वरूपमें रमनेकी रचि हो । इस प्रकार अशुचिभावनाका आगम है ॥ ६ ॥

सोहा ।

निमग्न अपना आत्मा, यह अपायनगेह ।

जानि अन्य निजभावको, वास्तों तनो सोह ॥ ६ ॥

इति अशुचिभावना ॥ ६ ॥

अथ आत्मप्रभावना लिख्यते ।

अने आत्मप्रभावनाका व्याख्यान करते हैं । प्रथम ही आत्मप्रकाश स्वरूप कहते हैं—

मनस्मनुष्यवर्म योग इत्यभिधीयते ।

म पञ्चाश्व इत्युक्तान्नवयजानविशारद ॥ १ ॥

अर्थ—मन-वचन-कायकी क्रियाको योग कहते हैं और इस योगको ही तत्त्वविज्ञान

दोने (ऋषियोने) आसव कहा है । यह स्वरूप तत्त्वाधमूत्रमें कहा है, यथा—
“कायवाह्यन धर्मयोगः स आसवः” ॥ १ ॥

धाद्वैरन्त समादत्ते धानपात्र यथा जलम् ।

छिद्रैर्जीवस्तथा धर्मयोगरन्ध्रै शुभाशुभं ॥ २ ॥

अर्थ—जैसे समुद्रमें प्राप्त हुआ जहाज छिद्रोंसे जलको ग्रहण करता है, उस ही प्रकार जीव शुभाशुभयोगरूप छिद्रोंसे (मनवचनकायसे) शुभाशुभकर्मोंको ग्रहण करता है ॥ २ ॥

यमप्रशमनिर्धेदतत्त्वचिन्ताचलम्पितम् ।

मैत्र्यादिभावनारूढ मन सूते शुभाश्रयम् ॥ ३ ॥

अर्थ—यम (अनुनन महामत), प्रशम (कषार्यारी मदता), निर्धेद (संसारमें रिरा गता अथवा धर्मानुराग), तथा तत्त्वोंका चिन्तन इत्यादिका अवलम्बन ही, ण्यम् मैत्री, प्रमोद कारण और माध्यम्य इन चार भावोंकी निग मनमें भावना हो, बड़ी मन शुभासवको उत्पन्न करता है ॥ ३ ॥ और,—

कषायदहनोदीप्त त्रिषयैर्याकुलीकृतम् ।

सन्निनोति मन कर्म जन्मसम्बन्धसूचकम् ॥ ४ ॥

अर्थ—कषायरूप अग्निसे प्रज्वलित और इन्द्रियादि विषयोंमें व्याकुल मन संग्राह्ये संबंधके सूचक अशुभकर्मात्मा सूचक करता है ॥ ४ ॥

विश्वव्यापारनिर्मुक्तं श्रुतज्ञानाचलम्पितम् ।

शुभाश्रयाय विज्ञेय धृष्ट सत्य प्रतिष्ठितम् ॥ ५ ॥

अर्थ—समस्त विद्वयके व्यापारोंसे रहित, तथा, श्रुतज्ञानके अवलम्बनपुष्ट और सत्यरूप प्रामाणिक बचन शुभासवकेलिये होते हैं ॥ ५ ॥

अपवादारूपदीप्ततमसन्मार्गोपदेशकम् ।

पापाश्रयाय विज्ञेयमसत्य परुष धृष्ट ॥ ६ ॥

अर्थ—अपवाद (निन्दा)का स्थान, असन्मार्गका उपदेशक, अमन्य, कटोर, कानोने सुनते हो जो दूसरोंके कषाय उत्पन्नकर दे, और जिसमें दग्धा बुरा हो जाय, ऐश बचन अशुभासवके कारण होते हैं ॥ ६ ॥

सुगुप्तेन सुखायेन कापोत्सगण यानिशम् ।

सन्निनोति शुभ कर्म काययोगेन संघमी ॥ ७ ॥

अर्थ—भले प्रकार गुप्तरूप बिज हुए अथवा अपने कभीभूत बिजे हुए कायने तथा निरन्तर कापोत्सर्गमें संघमी शुनि गुभकमका संघय (आम रूप) करने हैं ॥ ७ ॥

सततारम्भयोगैश्च व्यापारैर्जन्तुघातकैः ।

शरीरं पापकर्माणि संयोजयति देहिनाम् ॥ ८ ॥

अर्थ—निरन्तर आरम्भ करनेवाले और जीवघातके कार्योंसे तथा व्यापारोंसे जीवोन्नाश (काययो) पापकर्मोंको समझ करता है, अर्थात् काययोगसे अशुभासन्न करता है ॥८॥
नर क्षाम्यभावनाका व्याख्यान पूरा करते हैं,—

नर साम्बभावनाका व्याख्यान पूज करते हैं,—

शिवरिणी ।

कपायाः क्रोधाद्याः स्मरसाक्षराः पञ्चविपयाः

प्रमादा मिथ्यात्य यचनमनमी काय इति न ।

दुरन्तं दुर्ष्याने विरतिगिरायेति नियतम्

मवलेने पुमा कुरितपटल जन्मभयदम् ॥ ९ ॥

अर्थ—पथम ते निष्कामस्वरूप परिणाम, दूसरे क्रोधादि कषाय, तीसरे कामके लक्ष्य (निष्ठ) पानेपर्यंत विचार, चौथे प्रमाद शिक्षा, पांचवें मनवाननकायके दोषों का निराकरण करिणीति परिणाम और सातवा आर्त-रौद्र दोनों अशुभभावान के मूल कारण निश्चये पराक्रम आत्मबल को करते हैं। इन परिणामोंका विशेष कथन तत्त्वार्थ सूत्र में ही भोज जनना आदि । इस प्रकार आत्मवगाधनाका ध्यास्यान पूरा किया ॥

[illegible]

सुश्रुतः ।

अन्तर्गत एवम् आनन्दमय निधायकति निहाय ।

मन्त्र विनायकशिवामय, भास्वरभास्वर विहार ॥ ७ ॥

३६० श्री गणेशाय नमः ॥ ७ ॥

अथ मन्त्रभाष्यना दिश्यते ।

अतः ३५-४० अंश न बरते हैं। प्रति ४ घण्टा मास्य बरते हैं, —

सर्वस्य सर्वस्योऽयं सर्वस्य सर्वस्योऽयं सर्वस्य सर्वस्योऽयं

उत्तम गान्धर्वः सत्यं च विना निषण्णं तु ॥ १ ॥

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ १ ॥

2000 2001 2002 2003 2004 2005 2006 2007 2008 2009 2010 2011 2012 2013 2014 2015 2016 2017 2018 2019 2020 2021 2022 2023 2024 2025 2026 2027 2028 2029 2030 2031 2032 2033 2034 2035 2036 2037 2038 2039 2040 2041 2042 2043 2044 2045 2046 2047 2048 2049 2050 2051 2052 2053 2054 2055 2056 2057 2058 2059 2060 2061 2062 2063 2064 2065 2066 2067 2068 2069 2070 2071 2072 2073 2074 2075 2076 2077 2078 2079 2080 2081 2082 2083 2084 2085 2086 2087 2088 2089 2090 2091 2092 2093 2094 2095 2096 2097 2098 2099 2100 2101 2102 2103 2104 2105 2106 2107 2108 2109 2110 2111 2112 2113 2114 2115 2116 2117 2118 2119 2120 2121 2122 2123 2124 2125 2126 2127 2128 2129 2130 2131 2132 2133 2134 2135 2136 2137 2138 2139 2140 2141 2142 2143 2144 2145 2146 2147 2148 2149 2150 2151 2152 2153 2154 2155 2156 2157 2158 2159 2160 2161 2162 2163 2164 2165 2166 2167 2168 2169 2170 2171 2172 2173 2174 2175 2176 2177 2178 2179 2180 2181 2182 2183 2184 2185 2186 2187 2188 2189 2190 2191 2192 2193 2194 2195 2196 2197 2198 2199 2200 2201 2202 2203 2204 2205 2206 2207 2208 2209 2210 2211 2212 2213 2214 2215 2216 2217 2218 2219 2220 2221 2222 2223 2224 2225 2226 2227 2228 2229 2230 2231 2232 2233 2234 2235 2236 2237 2238 2239 2240 2241 2242 2243 2244 2245 2246 2247 2248 2249 2250 2251 2252 2253 2254 2255 2256 2257 2258 2259 2260 2261 2262 2263 2264 2265 2266 2267 2268 2269 2270 2271 2272 2273 2274 2275 2276 2277 2278 2279 2280 2281 2282 2283 2284 2285 2286 2287 2288 2289 2290 2291 2292 2293 2294 2295 2296 2297 2298 2299 2300 2301 2302 2303 2304 2305 2306 2307 2308 2309 2310 2311 2312 2313 2314 2315 2316 2317 2318 2319 2320 2321 2322 2323 2324 2325 2326 2327 2328 2329 2330 2331 2332 2333 2334 2335 2336 2337 2338 2339 2340 2341 2342 2343 2344 2345 2346 2347 2348 2349 2350 2351 2352 2353 2354 2355 2356 2357 2358 2359 2360 2361 2362 2363 2364 2365 2366 2367 2368 2369 2370 2371 2372 2373 2374 2375 2376 2377 2378 2379 2380 2381 2382 2383 2384 2385 2386 2387 2388 2389 2390 2391 2392 2393 2394 2395 2396 2397 2398 2399 2400 2401 2402 2403 2404 2405 2406 2407 2408 2409 2410 2411 2412 2413 2414 2415 2416 2417 2418 2419 2420 2421 2422 2423 2424 2425 2426 2427 2428 2429 2430 2431 2432 2433 2434 2435 2436 2437 2438 2439 2440 2441 2442 2443 2444 2445 2446 2447 2448 2449 2450 2451 2452 2453 2454 2455 2456 2457 2458 2459 2460 2461 2462 2463 2464 2465 2466 2467 2468 2469 2470 2471 2472 2473 2474 2475 2476 2477 2478 2479 2480 2481 2482 2483 2484 2485 2486 2487 2488 2489 2490 2491 2492 2493 2494 2495 2496 2497 2498 2499 2500 2501 2502 2503 2504 2505 2506 2507 2508 2509 2510 2511 2512 2513 2514 2515 2516 2517 2518 2519 2520 2521 2522 2523 2524 2525 2526 2527 2528 2529 2530 2531 2532 2533 2534 2535 2536 2537 2538 2539 2540 2541 2542 2543 2544 2545 2546 2547 2548 2549 2550 2551 2552 2553 2554 2555 2556 2557 2558 2559 2560 2561 2562 2563 2564 2565 2566 2567 2568 2569 2570 2571 2572 2573 2574 2575 2576 2577 2578 2579 2580 2581 2582 2583 2584 2585 2586 2587 2588 2589 2590 2591 2592 2593 2594 2595 2596 2597 2598 2599 2600 2601 2602 2603 2604 2605 2606 2607 2608 2609 2610 2611 2612 2613 2614 2615 2616 2617 2618 2619 2620 2621 2622 2623 2624 2625 2626 2627 2628 2629 2630 2631 2632 2633 2634 2635 2636 2637 2638 2639 2640 2641 2642 2643 2644 2645 2646 2647 2648 2649 2650 2651 2652 2653 2654 2655 2656 2657 2658 2659 2660 2661 2662 2663 2664 2665 2666 2667 2668 2669 2670 2671 2672 2673 2674 2675 2676 2677 2678 2679 2680 2681 2682 2683 2684 2685 2686 2687 2688 2689 2690 2691 2692 2693 2694 2695 2696 2697 2698 2699 2700 2701 2702 2703 2704 2705 2706 2707 2708 2709 2710 2711 2712 2713 2714 2715 2716 2717 2718 2719 2720 2721 2722 2723 2724 2725 2726 2727 2728 2729 2730 2731 2732 2733 2734 2735 2736 2737 2738 2739 2740 2741 2742 2743 2744 2745 2746 2747 2748 2749 2750 2751 2752 2753 2754 2755 2756 2757 2758 2759 2760 2761 2762 2763 2764 2765 2766 2767 2768 2769 2770 2771 2772 2773 2774 2775 2776 2777 2778 2779 2780 2781 2782 2783 2784 2785 2786 2787 2788 2789 2790 2791 2792 2793 2794 2795 2796 2797 2798 2799 2800 2801 2802 2803 2804 2805 2806 2807 2808 2809 2810 2811 2812 2813 2814 2815 2816 2817 2818

आगे दोनों भेदोंका स्वरूप कहते हैं,—

य. कर्मपुद्गलादानविच्छेद स्यात्तपस्विनः ।

स द्रव्यसंवरं प्रोक्तो ध्याननिर्धूतकल्मषैः ॥ २ ॥

अर्थ—ध्यानसे पापोंको उड़ानेवाले ऋषियोंने कहा है, कि जो तपस्वी धुनियोंके कर्मरूप पुद्गलोंके ग्रहण करनेका विच्छेद (निरोध) हो, वह द्रव्यसंवर है ॥ २ ॥

या संसारनिमित्तस्य त्रिपाया विरति स्फुटम् ।

स भावसंवरस्तज्ज्ञैर्विजिज्ञेय परमागमात् ॥ ३ ॥

अर्थ—संसारके कारणस्वरूप कमलपत्तकी त्रिपायी विरति अर्थात् अभावको भाव-संवर कहते हैं, यह निश्चित है । ऐसा उक्त भावमवरक ज्ञाताओंको परमागमसे जानना चाहिये ॥ ३ ॥

असंयममपैर्बाणैः सवृत्तात्मा न भिद्यते ।

यमी यथा सुसन्नद्धो यीरु समरसकटे ॥ ४ ॥

अर्थ—जिस प्रकार सुदृढ़ संकटमें भले प्रकारसे सज्ज हुआ यीरुपुरुष बाणोंसे नहीं भिद्यता है, उसी प्रकार संसारकी कारणरूप त्रिपायोंसे विरतिरूप संवरवाला संयमी मुनि भी असंयमरूप बाणोंसे नहीं भिद्यता है ॥ ४ ॥

आगे आसवोंके रोकनेका विधान कहते हैं,—

जापने यस्य य साध्य स तेनैव निरुध्यते ।

अग्रमसैः समुचुक्तैः सवरार्थं महर्षिभिः ॥ ५ ॥

अर्थ—प्रमादरहित संवरकलिये उद्यमा महर्षियोंद्वारा जो पिसको साध्य हो, वह उसीसे रोकना चाहिये । भावार्थ—जिस कारणसे आसव हो, उसके प्रतिपक्षी भावोंसे उसे रोकना चाहिये ॥ ५ ॥ उन भावोंको आगे कहते हैं,—

क्षमा त्रोधस्य मानस्य मार्दव त्वार्जय पुनः ॥

मायायाः सद्गुणस्यासौ लोभस्यैते द्विपञ्चमात् ॥ ६ ॥

अर्थ—लोभकषायका तो क्षमा शत्रु है, तथा मानकषायका मृदुभाव (कोमलभाव), मायाकषायका अजुभाव (सरलभाव) और लोभकषायका परिग्रह-त्यागभाव, इस प्रकार अनुग्रहसे शत्रु जानने चाहिये ॥ ६ ॥ और—

रागद्वेषौ समत्वेन निर्ममत्वेन धानिशम् ।

मिथ्यात्वं दृष्टियोगेन निराकुर्वन्ति योगिनः ॥ ७ ॥

अर्थ—जो योगी ध्यानी मुनि हैं, वे निरंतर समभावसे अथवा निर्ममत्वसे रागद्वेषका, निराकरण (पराज) करते रहते हैं, तथा सम्यग्दर्शनक योगसे मिथ्यात्वरूप भावोंको नष्ट कर देते हैं ॥ ७ ॥

अविद्याप्रसरोद्भूत तमस्तत्त्वाजरोधकम् ।

ज्ञानसूर्याशुभिर्वाढ स्फोटयन्त्यात्मदर्शिन ॥ ८ ॥

अर्थ—आत्माको अवलोकन करनेवाले मुनिगण अविद्याके विभारसे उत्पन्न और तत्त्वज्ञानको रोकनेवाले अज्ञानरूपी अधकारको ज्ञानरूपी सूर्यकी प्रिरणोसे अतिशय दूर कर देते हैं ॥ ८ ॥

असयमगरोद्धार सत्संयमसुधाम्बुभिः ।

निराकरोति निःशङ्क सयमी सवरोचत. ॥ ९ ॥

अर्थ—सवर करनेमें तत्पर सयमी और निःशङ्क मुनि असयमरूपी विष (जहरके) उद्धारको सयमरूपी अमृतमयी जलोंसे दूर कर देते हैं ॥ ९ ॥

द्वारपालीच यस्योच्चैर्विचारचतुरा मतिः

हृदि स्फुरति तस्याघमृतिः श्वमेऽपि दुर्घटा ॥ १० ॥

अर्थ—जिस पुरुषके हृदयमें द्वारपालीके समान अतिशय विचार करनेवाली चतुरा मति फलोलें करती है, उसके हृदयमें रागमें भी पापकी उत्पत्ति होनी कठिन है ।

भावार्थ—जैसे चतुर द्वारपाल मैले तथा असभ्यजनोंको घरमें प्रवेग नहीं करने देता । उसी प्रकार समीचीन बुद्धि पाप बुद्धिको हृदयमें फटकने नहीं देती ॥ १० ॥

अथ संक्षेपतासे कहते हैं,—

यिहाय कल्पनाजाल स्वरूपे निश्चल मनः ।

यदाधत्ते तदैव स्यान्मुने परमसवर ॥ ११ ॥

अर्थ—जिस समय समस्त कल्पनाओंके जालको छोड़कर अपने स्वरूपमें मन निश्चलतासे धामते हैं, उस ही काल मुनिको परमसवर होता है ॥ ११ ॥

आगे सबरका कथन पूरण करते हुए सबरकी महिमा कहते हैं,—

मालिनी ।

सकलसमितिमूलः सयमोद्दामकाण्डः

प्रशमविपुलशाग्नौ धर्मपुष्पायकीर्णः ।

अयिकलफलमन्धैर्यन्धुरो भावनाभि-

जंघनि जितचिपक्षः सवरोद्दाममृक्ष ॥ १२ ॥

अर्थ—ईर्ष्यामिति आदि पांचममिनिया ही हैं । मूल अर्थात् अङ्ग तिमरी, साम विष्ट आदि मयम ही हैं मन्धैर्य तिमरे और प्रशमरूप (विपुलभावरूप) मनी २ शाग्नौ शाग्न, उत्तमशमनादि दण धम हैं पुष्प तिमके, तथा मज्जत अविषय हैं फल तिममें, ऐ शाग्न नवना जेन ह्यन यद् मयमरूपी महादृष्ट सर्वपरि है, इस प्रकार सबरका महिमा वर्णन किया ॥ १२ ॥

इसका सक्षिप्त आशय यह है कि, आत्मा अनादिकालमें अपने स्वरूपको भूत रहा है, इस कारण आत्मस्वरूप भावोंसे कर्मोंको बाधता है और जब यह अपने स्वरूपको जानकर उसमें लीन होता है, तब यह स्वरूप होकर आगामी कर्मबाधको रोकता है, और पूर्वकर्मोंकी निर्जरा होनेपर मुक्त हो जाता है । उस संवरक बाधकारण समिति, गुप्ति, धर्मानुपेक्षा परीपहोका जीतना तथा चारित्र्य आदि कष्ट गये हैं । उसका विशेष कथन तत्त्वाथमुद्रकी टीकाओंसे जानना चाहिये ॥ ८ ॥

होहा ।

निजस्वरूपमें लीनता, निश्चयसत्तर जानि ।

समिति-गुप्ति सयम धरम, धर पापकी हानि ॥ ८ ॥

इति संवरभावना ॥ ८ ॥

अथ निर्जराभावना लिख्यते ।

आगे निर्जराभावनाका व्याख्यान करते हैं । प्रथम ही विवरण तथा यह दिनको होती है, उनका स्वरूप कहते हैं—

यथा कर्माणि क्षीर्यन्ते बीजभूतानि जन्मन ।

प्रणीता यमिभि र्वेय निर्जरा जीर्णघन्धम् ॥ १ ॥

अर्थ—निर्जरासे जीर्ण हो गये हैं वगैरह दिनमें, एसे गुणित्व क्षिप्त बीजस्वरूप कम गन्जाते हैं या झड़ जाते हैं, उसे गुणित्व निर्जरा कहते हैं ॥ १ ॥

सकामाकामभेदेन द्विधा सा न्याच्छरीरिणाम् ।

निर्जरा यमिना पुर्या ततोऽन्या सर्वदेहिनाम् ॥ २ ॥

अर्थ—यह निर्जरा जीवोंको सकाम और अकाम दो प्रकारकी होती है । इनमें पहिली सकामनिर्जरा तो गुणियोंकी होती है और अकामनिर्जरा मग्न जहोंकी होती है । इससे अर्थात् अकामनिर्जराके बिना तपधरणादिसे स्वयमेव निर्जरा ही कम उद्धारक देकर करते रहते हैं ॥ २ ॥

पाकं स्वयमुपायाद्य न्यात्पश्याता तरोर्यथा ।

तथात्र कर्मणा ज्ञेयं स्वयं सोपायलक्षण ॥ ३ ॥

अर्थ—जिस प्रकार वृक्षादि पत्तोंका पड़ना एक तो स्वयं ही होता है, दूसरे पक्ष सेनेसे भी होता है । इसी प्रकार कर्मोंका पड़ना भी है अर्थात् एक तो कर्मोंकी स्थिति पूरी होनेपर पक्ष देकर फिर जाती है, दूसरे सम्बन्धनादिमार्गसे तपधरणादि करनेसे पक्ष हो जाते हैं अर्थात् पक्ष होते हैं ॥ ३ ॥

विशुद्ध्यति ह्युताशेन मदोद्यमपि काञ्चनम् ।

यत्तत्तर्थात् जीवोऽयं तत्प्यमानमगोप्तिना ॥ ४ ॥

अर्थ—जैसे सगेय भी मूर्ख (मोना) अग्निम तपनेमें विपुल होता है, —
प्रकार यह कमरूपी दोषाग्रहित जीव तारुणी अग्निम तपनेमें विपुल और निद्रा
(कमग्रहित) हो जाता है ॥ ४ ॥

अमत्काररुर् धीरैर्यागमाग्यान्मिरु तप ।

तप्यते जन्ममन्तानशङ्खिनैरार्यसुरिभि ॥ ५ ॥

अर्थ—मंसाग्नी पश्याग्निने भयर्गीत धीर और श्रेष्ठ मुनीश्वरणा उक्त निर्वाणका तप
मात्र कारण तप ही है, वेमा जानकर राघ और अम्यनर दोनों प्रकारका तप करते हैं। ॥३॥

तत्र यात्र तप प्रोक्तमुपनामादियङ्गिधम् ।

प्रायश्चित्तादिभिर्भदैरन्तरद् न पद्विषम् ॥ ४ ॥

अर्थ—उनमेंसे अनगन, अमौदर्य, वृत्तिपरिसम्यान, रसपरित्याग, विनिर्मुक्त्यामन, और कायक्लेश ये छह तो बाह्य (बहिर्ग) तप हैं और प्रायश्चित्त, निमग्न, वैराग्य, तपः, ध्याय, व्युत्सर्ग, और ध्यान ये छह अभ्यन्तर तप हैं इनका निदोषस्वरूप जानना ही, वा तत्त्वाथसूत्रनी टीकाओंको देखना चाहिये ॥ ६ ॥

निर्वेदपदवीं प्राप्य तपस्यति यथा यथा ।

यमी क्षपति कर्माणि दुर्जयानि तथा तथा ॥ ७ ॥

अर्थ—सयमी मुनि वैराग्यपदवीको प्राप्त होकर जैसे जैसे (ज्यों ज्यों) तप करते हैं, तैसे तैसे (त्यों त्यों) दुर्जयकर्मोंको क्षय करते हैं ॥ ७ ॥

ध्यानानलसमालीढमप्यनादिसमुद्भवम् ।

सद्यः प्रक्षीयते कर्म शुद्धयत्यङ्गी सुवर्णवत् ॥ ८ ॥

अर्थ—यद्यपि कर्म अनादिकालसे जीवके साथ लगे हुए हैं, तथापि वे ध्यानरूपी ब्रह्मसे स्पर्श होने पर तत्काल ही क्षय हो जाते हैं। उनके क्षय होनेसे जैसे अग्निके तापसे सुवर्ण शुद्ध होता है, उसी प्रकार यह प्राणी भी तपसे कर्मनष्ट होकर शुद्ध (मुक्त) हो जाता है ॥ ८ ॥

अब निर्जराका कथन पूर्ण करते हुए कहते हैं,—

निस्सरिणी :

तपस्तावद्वाच्यं चरति भुक्ती पुण्यचरित-

स्ततश्चात्माधीन नियतविषय ध्यानपरमम् ।

क्षपत्यन्तह्रीम चित्तरचित कर्मपटलम्

ततो ज्ञानाम्भोधिं विशति परमानन्दनिलयम् ॥ ९ ॥

अर्थ—पवित्र आचरणवाला मुहूर्त्तापुरुष प्रथम अनशनादि बाह्यतर्पण आचरण करता है, तत्पश्चात् आन्तर्धीन आभ्यन्तर तर्पण आचरता है । और उनमें भी नियतविषयवाले ध्याननामा उत्कृष्टतर्पण आचरता है । इस तर्पणसे चिरकालसे संचित किये हुए कर्मरूपी पटलको (पातियाकर्मोंको) क्षय करता है, और पश्चात् परमानन्द (अतीन्द्रिय सुखके) घर ज्ञानरूपी समुद्रमें प्रवेश करता है । **भावार्थ**—सम्पददृष्टिर्जाव दोनो प्रकारके तर्पणमें, विशेषतया ध्याननामक उत्कृष्टतर्पणसे पातिया कर्मोंको नष्ट करके कवलज्जनादि अनन्तचतुष्टयको प्राप्त होते हैं । इस प्रकार निर्गमभावनाका व्याख्यान किया है ॥ ९ ॥

इसका समीप आगम यह है कि, आत्मा और कर्मका सम्बन्ध अनादिकालमें है । काललब्धिके निमित्तसे यह आत्मा अपने स्वरूपको जब स्मारे और तपश्चरण करके ध्याम लीन हो, तब स्वरूप ही । और जब यह भागामी नये कर्म नहिं बाधे और पुराने कर्मोंकी निर्मला करे, तब मोक्षको प्राप्त हो ॥ ९ ॥

दोहा ।

सर्वरम्य है आलमा पूषकम शर आय ।

निजस्वरूपको पायकर, लोकदिगतर जप धाय ॥ ९ ॥

इति निजराभावना ॥ १ ॥

अथ धर्मभावना लिख्यते ।

अब धर्मभावनाका व्याख्यान करते हैं,—

पवित्रीक्रियते येन येनैषोद्धियते जगत् ।

नमस्तर्भ्य दयार्द्राय धर्मरूपाद्गुणिषाय वै ॥ १ ॥

अर्थ—जित धर्ममें जात पवित्र किया जाता है, तथा उद्धार किया जाता है, और जो दयारूपी हममें आद्रित (मील) और रहा है, उस धर्मरूपी कर्तृवृत्तियोंमें मेरा सम्कार है । इस प्रकार आचार्यनारायणने धर्मका माहात्म्य कथनार्थक नमस्कार किया है ॥ १ ॥

दशलक्ष्मयुतं सोऽयं जिमैर्धर्मं प्रकीर्तितं ।

यस्याशमपि मसेष्य बिन्दन्ति यमिन शिष्यम् ॥ २ ॥

अर्थ—एक धर्म जिसके अनादिकालों भी सेवनकरके संपत्तीशुक्ति मुक्तिको प्राप्त होते हैं, उसे विनेन्द्रभावनाने दशलक्षायुक्त कहा है ॥ २ ॥

न सम्यग्गदितुं शक्य यत्स्वरूप कुदृष्टिभिः ।

हिसाक्षपोषकैः शास्त्रैरतस्तैस्तन्निगद्यते ॥ ३ ॥

अर्थ—धमना स्वरूप मिथ्यादृष्टियो, तथा हिसा और इन्द्रियत्रिषोपेण कृतवा शास्त्रविद्वारा भले प्रकार नहि कहा जा सकता । इस कारण इस धमना वास्तविक स्वरूप हम कहते हैं ॥ ३ ॥

चिन्तामणिर्निधिर्दिव्यः स्वधेनुः कल्पपादपाः ।

धर्मस्यैते श्रिया सार्द्धं मन्ये भृत्याश्चिरन्तनाः ॥ ४ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि “रक्षमीमहित चिन्तामणि, दिव्यमवनिध कामधेनु और कल्पवृक्ष, ये सब धमके चिरन्तनमे निरन्तर (सेवक) हैं, जमा मानता ह ॥ ४ ॥

धर्मा नरोरगाधीशनाकनायकवाञ्छिताम् ।

अपि लोकत्रयीपूज्या श्रिय दत्ते शरीरिणाम् ॥ ५ ॥

अर्थ—धम, जीवाको चक्रवर्ती धरणीद्र तथा देवेन्द्रोद्वारा वाञ्छित और त्रैलोक्यपू तीर्थंकरकी रक्षमीको देता है ॥ ५ ॥

धर्मो व्यसनसपाते पाति विश्व चराचरम् ।

सुखाभृतपयःपूरैः प्रीणयत्यखिल जगत् ॥ ६ ॥

अर्थ—धम, कष्टके जानेपर समस्त जगतके उस स्यावर जीवोंकी रक्षा करता है । सुखस्वी श्रमवृत्ते प्रगाहोसे समस्त जगतकी वृत्त करता है ॥ ६ ॥

पर्जन्यपयनार्कन्दुधराम्बुधिपुरन्दरा ।

अमी विश्वोपकारेषु वर्तन्ते धर्मरक्षिताः ॥ ७ ॥

अर्थ—मेघ, पवन, सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी, समुद्र और इन्द्र ये सम्पूर्ण पदार्थ जग उपकाररूप प्रवर्तते हैं और न सब ही धर्मद्वारा रक्षा किये हुए प्रवर्तते हैं । धमने ये को भी उपकारा नहीं होते हैं ॥ ७ ॥

मन्येऽसौ लोकपालानां व्याजेनाव्याहतक्रमः ।

जीयल्लोकोपकारार्थं धर्म एव विजृम्भितः ॥ ८ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज ऐसा मानते हैं कि, इन्द्रादिक लोकपाल अथवा राजादि व्याजमे (वर्गमे) लोकोंके उपकारार्थ सब धम ही अव्याहत क्रम रहते हैं ॥ ८ ॥

न तत्रिजगतीमप्ये भुक्तिमुक्तयोर्निबन्धनम् ।

प्राप्यते धर्ममामर्ष्यान् यद्यमितमानसैः ॥ ९ ॥

अर्थ—इस तीन जगतमें भोग और मोक्षका ऐसा कोई भी कारण नहीं है जिसका धर्मापराध धर्मकी माध्यसे न पाते हों अर्थात् धर्ममाध्यसे समझ मनावान्छित पदको प्राप्त होते हैं ॥ ९ ॥

नमन्ति पादराजीवराजिका नतमौलय ।

धर्मैकशरणीभूतचेनसा त्रिदशेश्वरा ॥ १० ॥

अर्थ—जिनके चित्तमें धर्म ही एक शरणभूत है, उनका चरणकमलाकी पत्तिको इन्द्राग भी नम्रीभूत मन्त्ररूपसे नमस्कार करते हैं । भावार्थ—धर्मक माहात्म्यमें जब तीर्थकरपदवी प्राप्त होती है, तब इन्द्र भी आकर नमस्कार करते हैं ॥ १० ॥

धर्मो गुरुश्च मित्रं च धर्मं स्वामी च यान्धव ।

अनाथपत्सल सोऽय सन्नाता कारण विना ॥ ११ ॥

अर्थ—धर्म गुरु है, मित्र है, स्वामी है, बापव है, हितू है, और, धर्म ही बिना कारण अनाथोंका भीतिपूवक रक्षाकरनेवाला है । इस प्राणीका धर्मक अनिर्गुण और कोई शरण नहीं है ॥ ११ ॥

धत्ते नरकपाताले निमज्जजगता त्रयम् ।

योजयत्यपि धर्मोऽय सौरयमत्यक्षमद्विना ॥ १२ ॥

अर्थ—यह धर्म नरका के नीचे जो तिगोदसान है, उसमें पड़ते हुए जगत्त्रयको धारण करता है—अवलम्बन देकर बचाता है तथा जीवोंको भूतान्द्रियगुण भी प्रदान करता है ॥ १२ ॥

नरकान्धमहाकूपे पतता प्राणिना सयम् ।

धर्म एव स्वसामर्थ्यादसौ हस्तावलम्बनम् ॥ १३ ॥

अर्थ—नरकरूपी महाअध्वपम सब गिरते हुए जीवोंको धर्म ही अपने सामर्थ्यमें हस्तावलम्बन (हाथका सहारा) देकर बचाता है ॥ १३ ॥

महानिश्चायसम्पूर्णं कल्याणोद्दाममन्दिरम् ।

धर्मो ददाति निर्धिगं श्रीमत्सर्वज्ञवैभवम् ॥ १४ ॥

अर्थ—धर्म, महा अनिश्चयमें पूर्ण, कल्याणोंमें उत्कटनिवासस्थान और निर्धिग ऐसे सब मातहत सन्तुष्टमगवान्त्र वैभवको देता है अर्थात् तीर्थकरपदवीको प्राप्त करता है ॥ १४ ॥

यानि सार्धं तथा पानि करोति निपत तितम् ।

जन्मपङ्कात्ममुद्धृत्य स्थापयत्यमले पथि ॥ १५ ॥

अर्थ—धम, परलोभ्य प्राणीक माय जाता है, उमरी ग्या करता है, निम्न उसका हित करता है तथा मंगारूपी वद्धमे उसे निकारकर निम्न माग्न गर्म स्थापन करता है ॥ १५ ॥

न धर्मसदृशः रुश्चित्सर्वाभ्युदयमाधकः ।

आनन्दकुजरुन्दश्च त्वि पृथग् द्विप्रदः ॥ १६ ॥

अर्थ—इस जगतम धमक ममान अन्य कोई सममप्रकारे अभ्युदयक मा धन नहीं है । यह मनोपाठित सम्पत्ता देनेवाला है । आनन्दरूपी वृद्ध रुन्द है अर्थात् आनन्दके अरु हममे ही उपज होते हैं तथा हितरूप पूतनाय और मा क्षता देनेवाला भी यही है ॥ १६ ॥

व्यालानलोरग्न्याघ्रच्छिपशार्दूलराक्षसाः ।

नृपादयोऽपि दृष्टान्ति न धर्माधिष्ठितात्मने ॥ १७ ॥

अर्थ—जो धमसे अधिष्ठित (महित) आमा हैं, उमके साथ सर्प, अग्नि, विष, व्याघ्र, हस्ती, सिंह, गक्षस, तथा गताष्टि मी द्रोह नहीं करते हैं अर्थात् यह धम इन सबसे रक्षा करता है अथवा धर्मात्माओंके ये मत्र रक्षक होते हैं ॥ १७ ॥

निःशेष धर्मसामर्थ्यं न सम्यग्वस्तुमीश्वरः ।

स्फुरद्वक्त्रसहस्रेण भुजगेशोऽपि भूतले ॥ १८ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि, धमना समस्त सामर्थ्य भले प्रकार कर्तव्य स्फुरायमान सहस्रमुखवाला नागेन्द्र भी इस भूतलम समथ नहीं है । फिर हम कैस समर्थ हो सकते हैं ? ॥ १८ ॥

धर्मधर्मति जल्पन्ति तत्तदग्न्याः कुट्टयः ।

यस्तुतत्तत् न बुध्यन्ते तत्परीक्षाऽक्षमा यतः ॥ १९ ॥

अर्थ—तत्त्वके यथार्थज्ञानसे शून्य मिव्याहृष्टि 'धम धम' ऐसा तो कह है, परन्तु वस्तुके यथाधस्वरूपको नहीं जानते । क्योंकि वे उसकी परीक्षा करने असमर्थ हैं । भाचार्य—गामगात्रको 'धम धम' ऐसा तो कहते हैं, परन्तु वस्तु यथाधस्वरूप जाने बिना सत्यपरीक्षा कैसे हो ? यह परीक्षा जिनागमसे ही सक्ती है । अतः निगागममे जो धर्म कहा है, उसे कहते हैं ॥ १९ ॥

निनिश्चा मार्दव शौचमार्जय सत्यमयमौ ।

तत्प्रचर्पणपस्त्यागाकिञ्चन्य धर्म उच्यते ॥ २० ॥

अर्थ—क्षमा १, मार्दव २, शौच ३, आर्जव ४, सत्य ५, सयम ६, त्रयचर्य ७, तप ८, त्याग ९, और आर्जव १०, ये दस प्रकारके धम हैं । इनका निगागम तत्त्वाथ सुमरी टीकाओंमे जानना चाहिये ॥ २० ॥

भाषा १

गणन्यस्यानिष्ट तत्तदाकारितार्थमभि कार्यम् ।

गमेऽपि नो परेषामिति धर्मस्याग्रिम लिङ्गम् ॥ २१ ॥

अर्थ—धर्मका मुख्य (प्रधान) बिंदु यह है कि, जो जो किया अपनेका अणिष्ट (बुरा) नहीं है, सो सो अन्यरूपिण मनश्चनकायसे सग्रेमें भी नहीं करनी ॥ २१ ॥

अब धर्मभावनाका व्याख्यान पूरा करते हुए सागान्यतासे कहते हैं—

साधुत्विकीर्तिम् ।

धर्म धर्मभुजद्रुपुद्रुवपुरीसार विधातु क्षमो

धर्म प्रापितमर्त्यलोऽविपुलप्रीतिस्तदाशमिना ।

धर्म स्तनगरीनिरन्तरसुभाषादोदयस्यास्पदम्

धर्म किं न करोति मुक्तिल्लनासभोगयोग्य जनम् ॥ २२ ॥

अर्थ—यह धर्म धर्माभापुरको धर्मीन्द्रणी पुराके सारमुखको करनेमें समर्थ है, तथा यह धर्म उम धर्मक समनेवाले पुरषोंको मनुष्यलोकमें विपुल प्रीति (सुख) प्राप्त करता है और यह धर्म स्वर्गपुराके निरन्तर सुभाषादक उदयका स्थान है तथा धर्म ही मनुष्यको मुक्तिर्लामे समोग करनेके योग्य करता है । धर्म भोग क्या न कर सकता है ॥ २२ ॥

मान्तिनी ।

यदि नरकनिपातस्त्यस्तुमव्यन्मिष्ट

त्रिदशपतिमहर्षि प्रामुमेकाततो या ।

यदि चरमपुमर्थ प्रार्थनीयस्तदानो

किमपरमभिर्धेय नाम धर्म विधत्ता ॥ २३ ॥

अर्थ—हे आत्मन् ! जो तुझे नरकनिपातका छोड़ना परम रह है यथवा इन्द्रकी महान विभव पाना पकान्त ही रह है । यदि चारों पुरषार्थेनन अन्तका पुरषाभ (मोक्ष) प्राप्तीय ही है, तो और विशेष क्या कहा जाये, तू एकमात्र धर्मका सेवन कर । क्योंकि धर्ममे ही समस्त प्रकारके अणिष्ट नष्ट होकर सनसप्रकारक रहनी प्राप्ति होती है । इस प्रकार धर्मभावनाका व्याख्यान पूरा किया ॥ २३ ॥

इसका मंगित आशय यह है कि, त्रिनागधन धर्म चार प्रकारका वर्णन किया है अर्थात्—बन्धुवभावरूप १, उत्तमहमादि दानरूप २, स्तनय (सम्पदार्जन सम्पदाजन और सम्पदचारित्र्य) रूप ३, और दयानय ४ । विश्वय व्यवहाररूपनयमे साधन किया हुआ यह धर्म एकरूप तथा अनेकरूप सधता है । यहाँ व्यवहारनयकी प्रधानतामे वर्णन किया गया है अर्थात् धर्मका स्वरूप, महिमा तथा पन् अनेकप्रकारमे वर्णन किया जाता है सो उमको विचारक धर्मकी भावना निरन्तर चितने समनी चाहिये ॥ १० ॥

दोहा ।

नृश ध्यानमय चेतना, आत्मधम वृत्तानि ।

यथा क्षमादिक् स्तन त्रय, यामे गमित जानि ॥ १० ॥

इति धमभावना ॥ १० ॥

अथ लोकभाषना लिख्यते ।

अत्र लोकाभाषनाका व्याख्यान करते हैं । प्रथम लोकका स्वरूप कहते हैं,—

यत्र भाषा विलोभ्यन्ते ज्ञानिभिश्चेतनेतरा ।

जीवादय स लोकः स्यात्सतोऽलोको नभः स्मृतः ॥ १ ॥

अर्थ—चित्तने आकाशमें जीवादिक चेतन अचेतन पदार्थ ज्ञानीपुरुषों के दृष्ट हैं, सा तो लोक है । उसके बाहर जो केवल मात्र आकाश है, उसे अलोक वा अनकाश कहते हैं ॥ १ ॥

येष्टिनः पवनैः प्रान्ते महायेगेर्महायलैः ।

त्रिभिन्निभुजनाकीर्णा लोकास्तालतस्थिति ॥ २ ॥

अर्थ—तीन भुवनमहित यह लोक अत्यन्त सब तरफसे अतिगह्वर वेगवाले और अतिगह्वर बलिष्ठ तीन वातवर्गोंसे घेरे हुए हैं और ताड़वृक्षक आकार सरीखा हैं अर्थात् नीचेमें चौड़ा, बीचमें गरज तथा अन्तमें त्रिभाररूप है ॥ २ ॥

निष्पादिनः स केनापि नैव नैवोद्धृतस्तथा ।

न मग्न किन्त्वनाधारो गगनो न व्यग स्थित ॥ ३ ॥

अर्थ—यह लोक किसी द्वारा बनाया नहीं गया है अर्थात् जनादि निधन है । किन्तु मीमांसा इसे ब्रह्मादिकका बनाया हुआ कहते हैं सो भ्रम है । तथा किसी भाग दिया हुआ वा बना हुआ हो, सो भी नहीं है । अथवा तो पच्छिपरी पीठपर अथवा शयन कर पड़ा हुआ हो कहते हैं, यह ग्राह्य सम है । यदि कोई आकाश करे कि, दिव्य अथवा अकाशगर्भ के मध्यमें मग्न हो जायगा तो उत्तर देना चाहिये कि, निष्पादिनः न मग्न नैव किन्त्वनाधारो गगनो न व्यग स्थित ॥ ३ ॥

जनादिनिधन सोऽयं व्यग मिदोऽप्यनन्तरः ।

गर्वाभरापि जीवादिपदार्थं संभृता मृदा ॥ ४ ॥

अर्थ—यह लोक जनादिनिधन है, अथवा मिदोऽप्यनन्तरः, अर्थात् जीवादि पदार्थों के समान मृदा के समान है ।

कोई ईश्वर स्वामी वा कर्षा नहीं है, तथापि जीवादिक पदार्थोंसे भरा हुआ है । अन्यमती होकरचनाकी अनेकप्रकारकी कल्पनाय करते हैं, ये सब ही मयथा भिन्ना है ॥ ४ ॥

अथो चेन्नासनाकारो मध्ये स्याज्जल्लरीनिभ ।

मृदद्गसदृशश्चाग्रे स्यादित्थं स त्रयात्मक ॥ ५ ॥

अर्थ—यह लोक नीचे तो चेन्नगन अर्थात् मोड़के आकारका है अर्थात् नीचेसे चौड़ा है, पीछे ऊपर ऊपर घन्ता आया है और बीचमें घान्तरव ऐसा है तथा ऊपर मृदगके समान अर्थात् दोनों तरफ सन्नग और बीचमें चौड़ा है । इसप्रकार तीन स्वरूपामक यह लोक सित है ॥ ५ ॥

यद्यन्ते जन्तवः सव नानागतिषु सस्यिता ।

उत्पद्यन्ते विपद्यन्ते कर्मपाशघटागता ॥ ६ ॥

अर्थ—इस लोकमें ये सब प्राणी नाना गतिविधों से ससित अपने अपने कर्मरूपी पाशोंके बन्धिगत होकर मरते तथा उत्पन्ने रहते हैं ॥ ६ ॥

अथ लोकभाषनाया व्याख्यानं पूर्णं परतः दुष्टं सामान्यतरो बहते है,—

भाषिणी ।

पथनपल्पममध्ये सभृतोऽत्यन्तगार्ह

स्थितिजननविनाशालिङ्गितैर्वस्तुजातै ।

इयमिह परिपूर्णाऽनादिसिद्ध पुराण

कृतिविलयविहीन स्मर्यतामेव लोक ॥ ७ ॥

अर्थ—इस लोकको ऐसा चितवन करना चाहिये कि, तीन बन्धनाय मयमे स्थित है । पदनोंसे अतिगह गान्धर्व भिरा हुआ है । इधर उधर चलावमान गति होना और उत्ताद अथ धौम्यगहित वस्तुसमूहोंसे अनादिब्रह्ममे लयमेव भरा हुआ है अर्थात् अनादिसिद्ध है । किसीका रचा हुआ नहीं है, इसी कारण पुराण है तथा उत्पत्ति और प्रलयमे रहित है । इस प्रकार लोकको स्मरण करते हैं यह लोकमापनका उपदेश है । इसका विशेषस्वरूप त्रैलोक्यमादि प्रथामे जानना चाहिये । किसीको लक्षण अनादिनिधा होनेमें (अकर्षणने) मदेह हो, तो उसे परीक्षामुखी प्रनेदरहाना, प्रनेयकमलमार्तण्डरीना तथा अष्टमहसी, श्लोकवर्णिकादि श्रवणों देसना चाहिये । इनमें कर्तृवादका विद्वानोंक देखनेयोग्य विशेष प्रकारमे (शुक्ति प्रमाणों) निश्चय किया गया है ॥ ७ ॥

इस भावनाका संक्षिप्त अभिप्राय यह है कि, यह लोक जीवादिकद्वन्द्वोंकी रचना है ।

जो (समगद्रव्य) अपने अपने समानको गिने हए भिन्न भिन्न गिष्ठे है । उनमें गाना आत्मद्रव्य है । उसका स्वरूप यथाथ जानकर, अन्य पदार्थोंमें समता छोड़कर, अन्यत्र करना ही परमाथ है । व्यक्तार्थमें समगद्रव्योंका यथावगन्त जानना चाहिये, गिनिय्याथद्वान्तर हो जाता है । इस प्रकार लोभभावनाका भिन्नत्व करना चाहिये ॥१॥

दाहा ।

गोमयस्य चित्राग्नौ, आत्मस्य चित्ताग्नि ।

परमाथ व्यग्रहात् मुनि, मिथ्याभाव निरागि ॥ ११ ॥

इति लोभभाषा ॥ ११ ॥

अथ बोधिदुर्लभभावना लिख्यते ।

आगे बोधिदुर्लभभावनाका व्याख्यान करते हैं, निम्नमें निम्नोत्से लेकर सम्यग्दर्शन प्राप्तिपर्यन्तकी उच्चोत्तर दुर्लभता दिग्गते हैं,—

दुरन्तदुरितारातिपीडितस्य प्रतिक्षणम् ।

रूढछान्नरकपातालतलाज्जीवस्य निर्गम ॥ १ ॥

अर्थ—बुरा है अन्त जिसका ऐसे पापकूपी बैरीमें निरन्तर पीडित इस बात प्रथम तो नरकोंके नीचे निम्नोदखान है, सो बहल की नित्यनिम्नोत्से निरलना अन्त फटिन है ॥ १ ॥ तथा—

तस्माद्यदि विनिष्क्रान्तः स्थावरेषु प्रजायते ।

त्रसत्वमश्वाप्नोति प्राणी केनापि कर्मणा ॥ २ ॥

अर्थ—उस नित्यनिम्नोदसे निरला तो फिर पृथिवीकायादि स्थावरजावाम् उपज है । और किसी पुण्यकर्मक उदयसे स्थावरजावसे त्रसगति पाता है ॥ २ ॥ और—

यत्पर्याप्तस्तथा मज्जी पञ्चाक्षेऽवयवान्वित ।

निर्धक्ष्यपि भवत्यङ्गी तत्र स्वरपाशुभक्षयान् ॥ ३ ॥

अर्थ—यदाचित् त्रसगति भी पावे, तो तिर्यक्षयोनिम पर्याप्तता (पूर्णवयवमयुक्त) पाना कुछ न्यूनपापक क्षयसे नहि होना है अर्थात् बहुत पापके क्षय होने पर प है । उसमें भी मांसहित पक्षेन्द्रियपशुका शरीर पाना बहुत ही दुर्लभ है, तिसपर सम्पूर्ण अवयव पाना अतिशयदुर्लभ है ॥ ३ ॥

नरत्त्व गृह्णोपेन देशजात्यादित्क्षितम् ।

प्राणिनः प्राप्नुयन्त्यथ तन्मन्ये कर्मलाघवात् ॥ ४ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं नि, ये प्राणीगण संसारमें मनुष्यपन और उनमें गुणमहितता तथा उत्तम देव, जाति, पुत्रादि साहित्य उत्तरोत्तर कर्मके शयमे पाता है । यह बहुत दुर्लभ है, ऐसा मैं मानता हूँ ॥ ४ ॥

आयुः सर्पाक्षसामग्री बुद्धि साध्वी प्रशान्तता ।

यत्प्राप्तस्तत्कारुणातीय मनुष्यत्वेऽपि देहिनाम् ॥ ५ ॥

अर्थ—जीवोंके देव जाति, पुत्रादि सहित मनुष्यपन होते भी दीर्घायु, पाच इंद्रियोंकी पूजासामग्री विविध तथा उत्तमबुद्धि, दीर्घकाल मद्रूपारूप परिणामोंका होना कारुणातीयप्राप्तके समान दुर्लभ जानना चाहिये । जैसे किसी समय तालका फल पककर गिरे और उस ही समय पाकका जाना हो एवम् वह उस फलको आकाशमें ही पाकर खाने लगे । ऐसा योग मिलना अत्यन्त कठिन है ॥ ५ ॥

ततो निर्धिष्य भूतो यमप्रशमयामितम् ।

यदि स्यात्पुण्ययोगेन न पुनस्तत्त्वनिश्चयः ॥ ६ ॥

अर्थ—कदाचित् पुण्यके योगमे उस सामग्री प्राप्त हो जाये तो विषयोंसे विरक्त वा प्रत्यक्ष परिणाम, तथा यम प्रामाण्य गृहभावोंसहित चित्का होना बड़ा कठिन है । कदाचित् पुण्य योगसे हमारी भी प्राप्ति हो जाय, तो नत्त्वनिर्णय होना अत्यन्त दुर्लभ है ॥ ६ ॥

अत्यन्तदुर्लभेष्वपि दैवाह्वयेष्वपि कथित ।

प्रमादात्प्रच्यवन्तेऽथ केचित्कामार्थलालसा ॥ ७ ॥

अर्थ—यद्यपि पूर्वाक्त सामग्री अत्यन्त दुर्लभ है, तथापि यदि देवयोगसे प्राप्त हो जाय, तो अनेक संसारी जीव प्रमादर वशीभूत हो, काम और अधर्मे लुब्ध होकर सम्यग्मार्गसे च्युत हो जाते हैं ॥ ७ ॥

मार्गमामास केचिद्य सम्यग्मार्गयात्मकम् ।

त्यजन्ति गुरुमिध्यात्वविषयव्यामूढचेतसः ॥ ८ ॥

अर्थ—कोई २ सम्यग् रत्नत्रयमार्गको पाकर भी तीव्र मिथ्यात्वरूप विषयोंसे व्यामूढ चित्त होते हुए सम्यग्मार्ग को छोड़ देते हैं । गृहीतमिध्यात्व बड़ा बलवान् है, जो उत्तम मार्ग मिल, तो उसका भी छुड़ा देता है ॥ ८ ॥

स्वयं नष्टो जनः कश्चित्कश्चिद्यैश्च नाशित ।

कश्चित्प्रच्यवते मार्गाद्यण्डपायण्डशासनैः ॥ ९ ॥

अर्थ—कोई २ तो सम्यग्मार्गसे आप ही नष्ट हो जाते हैं, कोई अन्यमार्गसे

अनापि भवति । अनापि भवति । तव अपने स्वरूपको जाने तब अपने ही निकट
है । अनापि भवति । अनापि भवति । तव अपने स्वरूपको पहि जाने तब
तब अपने अर्थमें है । इस अर्थ में अपना वैधर्म्यभाव जाना दुर्लभ है और कमजूर
मन ही अनापि भवति । जो आचार्य महाराजने व्यवहारनयनी प्रधानतामें बोधिली
अनापि भवति । अनापि भवति । तव अपने स्वरूपको पहि जाने तब
तब अपने अर्थमें है । इस अर्थ में अपना वैधर्म्यभाव जाना दुर्लभ है । इस बोधिली प्राप्त
है तब अनापि भवति । अनापि भवति । तव अपने स्वरूपको पहि जाने तब

अनापि ।

अनापि भवति भवति निश्चय दुर्लभ नादि ।

अनापि भवति भवति निश्चय दुर्लभ नादि ॥ १२ ॥

अनापि भवति भवति निश्चय दुर्लभ नादि ॥ १२ ॥

अधोपसहार ।

अव धार्य भावनाओंका प्रकाश पूरा करते हैं और भावनाओंका वर तथा महिमा
करते हैं —

दीप्यमानाभिरय ज्ञानी भावनाभिर्निरन्तरम् ।

इति यामोत्यनामह सुखमत्यक्षमक्षयम् ॥ १ ॥

अर्थ—इन वर्य भावनाओंमें निरन्तर रमते हुए शरीरका इसी लोकमें रोगा
दिक्की बाधा रहित अनादित्य अविनाशी सुखको पाते हैं अर्थात् वैवल्लभानन्द
को पाते हैं ॥ १ ॥

अनापि ।

विष्पानिकपायामिर्विगलितरागो विलीयते ध्वान्तम् ।

उन्मिपनि बोधदीपो हृदि पुस्त भावनाभ्यासात् ॥ २ ॥

अर्थ—इन द्वारा भावनाओंका निरन्तर अभ्यास करनेमें सुखोंके लक्ष्यमें कषायरूप
अभि पुष्ट जाती है तथा परद्रव्या प्रति राग भाव तब जाता है और पञ्चनरूप अवधारका
निरव होकर शून्यरूप दीप्तिका प्रकाश होता है ॥ २ ॥

अनापि भवति ।

एता आदशभावना ननु मये सख्योऽपवर्गश्रिय-

स्तन्या महामन्त्रालसैर्घटयितु मैत्री प्रयुक्ता युधै ।

एतासु प्रगुणीकृतासु निषर्तं सुखयद्गता जायते

मानन्दा प्रणयप्रसन्नहृदया योगीश्वराणा मुने ॥ ३ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि, मित्र। ये वाग् भावनायें निश्चयमे मुक्तिरूप लक्ष्मीकी मयी है। इहे मुक्तिरूपी लक्ष्मीके मगमगी लक्ष्मी करीनाडे पवित्रात्मे मित्रता करनेके अथ प्रयोगरूप कहें हैं। इन भावनाओंके अभ्यास करनेमे मुक्तिरूप की आनन्दसहित गेहरूप प्रसन्नहृदय होकर योगीश्वरोंको मानन्त्यायिनी हाती है। भावार्थ—पंडितोंने भावनाओंको मोक्षकी मगीके तुल्य करी है। योगीश्वर इनको भावत हैं, तो ये उह मुक्तिरूपी स्त्रीमे मिला देती हैं। इस प्रकार भावनाओंका वणन किया ॥३॥

इसका अभिप्राय यह है कि, इस प्रथम ध्यानका अविचार है और ध्यान मोक्ष कारण है। जब तक जीवांकी समारम प्रीति रहती है, तब तक उसका ध्यान सन्मुख होना कठिन है। और धार भावनाय समारदेहभोगामे वैराग्य उपवानेकेलिये निमित्त हैं, इस कारण इनका वर्णन पहिले ही किया गया है। प्रथम—तो यह प्राणी अनादि कालसे पर्यायबुद्धि है, इसे द्रव्यबुद्धि अभी भी रहि हुई। इस कारण द्रव्यबुद्धि करनेके लिये पर्यायको अनित्य दिगलाई है क्योंकि इसमे वैराग्य होकर ध्यानकी रुचि होनी है। दूसरे—यह प्राणी जन्मलग अनानमे परका शरण चाहता रहता है, तब तक इसमें ध्यान नहीं होता, इस कारण परका शरण छुटार अपना ही शरण बताया है। तीसरे—समाजमें दुख ही दिवाये हैं। चौथे—अपना अकेलापना दिखाया है। जगतमें कोई मा मी साथी नहीं है। पाचवें—अन्यके सगसे मोह उत्पन्न होता है, अत अपनेको सबसे निज बताया है। छठे—आप्तवसे कर्मनय होना बताया है। सातवें—सबसे कर्मका रक्षण और ध्यानकी सिद्धि बताई है। आठवें—निर्जेराका कारण ध्या तथा निर्जरासे ध्यानकी वृद्धि होना बताया है। नववें—लोकका स्वरूप जाननेसे मिथ्याश्रद्धान नष्ट होता है, इस कारण लोकका स्वरूप बताया है। दशवें—धर्म, ध्यानका स्वरूप है अत धर्मका स्वरूप बताया है। धारद्वें—बोधिदुर्लभता बताई है और इससे सयोग मिलनेसे प्रमादी नहीं होना चाहिये ऐसा उपदेश किया है। इस प्रकार बारह भावनाओंका स्वरूप जानकर इनकी निरन्तर भावना भावनेसे ध्यानकी रुचि होती है तथा ध्यानमें स्थिर होनेसे केवल ज्ञान उत्पन्न होकर मोक्ष प्राप्त होता है।

इति श्रीशानाणवे योगप्रदीपाधिकारे श्रीगुमचन्द्राचार्यविरचिते द्वादशभावनाप्रकरणम् ॥१२॥

अथ संक्षेपत ध्यानस्वरूप ।



आगे संक्षेपत ध्यानका प्रकरण प्रारंभ किया जाता है, जिसमें प्रथम ध्यानके उद्यम करनेकी प्रेरणा करते हैं,—

अस्मिन्ननादिससारे दुरन्ते सारवर्जिते ।

नरत्त्वमेव दुःप्राप्य शुणोपेत शरीरिभि ॥ १ ॥

अर्थ—दुरन्त तथा सारवर्जित इस अनादिमसारम गुणसहित मनुष्यपन ही जीवोंको दुःप्राप्य है अर्थात् दुर्लभ है ॥ १ ॥

कारुणालीयकन्यायेनोपलब्ध यदि त्वया ।

तत्तर्हि सफल कार्यं कृत्वात्मन्यात्मनिश्चयम् ॥ २ ॥

अर्थ—हे आत्मन्! तूने यह मनुष्यपना कारुणालीय न्यायसे पाया है, तो तुझे अपनेहीमें अपनेको निश्चय करके अपना कर्त्तव्य सफल करना चाहिये । इस मनुष्य जन्मके सिवाय अन्य किसी जन्ममें अपने स्वरूपका निश्चय नहीं होता, इस कारण यह उपदेश है ॥ २ ॥

नृजन्मनः कल कैश्चित्पुरुषार्थः प्रसीरितः ॥

धर्मादिकप्रभेदेन स पुनः स्यात्तुर्विधः ॥ ३ ॥

अर्थ—अनेक विद्वानोंने इस मनुष्यजन्मका कल पुरपाथ करना ही कहा है । और यह पुरपाथ धर्मादिक प्रभेदसे चार प्रकारका है ॥ ३ ॥

धर्मध्वार्थश्च कामश्च मोक्षश्चेति महर्षिभिः ।

पुरुषार्थोऽयमुद्दिष्टश्चतुर्भेदः पुरातनैः ॥ ४ ॥

अर्थ—प्राचीन महर्षियोंने धर्म १, अर्थ २, काम ३ और मोक्ष ४ यह चार प्रकारका पुरपाथ कहा है ॥ ४ ॥

अब इनमें विशेषता करते हैं,—

त्रियर्गं तत्र साधाय जन्मजातद्वेषिणम् ।

ज्ञात्वा तत्त्वविदः साक्षाद्यतन्ते मोक्षसाधने ॥ ५ ॥

अर्थ—इन चारों पुरपाथोंमेंसे पहिले तीन पुरपाथ जन्मजात द्वेषिण और संन्यसे रोगोंसे दूषित है, ऐसा जानकर तत्त्वोंके जाननेवाले ज्ञानी पुरुष जन्मके परन्तुरपाथ अर्थात् मोक्षसे साधन करनेमें ही यत्न करते हैं, क्योंकि मोक्ष जन्मजात अविनाशी है ॥ ५ ॥

अब मोक्षका स्वरूप कहते हैं,—

नि शेषकर्मसम्बन्धपरिविध्वंसलक्षणं ।

जन्मनः प्रतिपक्षो य स मोक्षः परिकीर्तितः ॥ ३ ॥

अर्थ—प्रकृति, प्रदेग, म्यिति तथा अनुमागरूप समस्त कर्मणि सम्बन्धका सत्ता नाशरूप लक्षणवाला तथा जो ससारका प्रतिपक्षी है, वही मोक्ष है । यह व्यतिरेकप्रधानतासे मोक्षका स्वरूप है ॥ ३ ॥

दृग्धीर्यादिगुणोपेत जन्महेतौ परित्युतम् ।

चिदानन्दमय साक्षान्मोक्षमात्यन्तिक त्रिदुः ॥ ७ ॥

अर्थ—दर्शन आर वार्यादि गुणसहित और ससारके हेतुओंमें रहित, चिदानन्दमयी आत्यन्तरी अवस्थानो साक्षात् मोक्ष कहते हैं । यह अन्वयप्रधानतासे मोक्षका स्वरूप है ॥ ७ ॥

अब सुखकी प्रधानतासे मोक्षका स्वरूप कहते हैं,—

अत्यक्ष विषयातीत निरौषम्यं स्वभावजम् ।

अविच्छिन्न सुख यत्र स मोक्षः परिपश्यते ॥ ८ ॥

अर्थ—विमर्श अतीन्द्रिय (इन्द्रियोंसे अतिक्रान्त), विषयोंमें अतीत, उपमारहित, और सामानिक (अपने स्वभावमें ही उत्पन्न हो गेमा) विच्छेदरहित पारमार्थिक सुख हो, वही मोक्ष कहा जाता है ॥ ८ ॥

निर्मलो निष्कलः शान्तो निष्पक्षोऽत्यन्तनिर्धृतः ।

कृतार्थ साधुयोधात्मा यत्रात्मा तत्पदं शिष्यम् ॥ ९ ॥

अर्थ—विमर्श यह आत्मा निर्मल (द्रव्यकर्म नो कर्मरहित), शरीररहित, क्षोभ रहित, शान्तस्वरूप, निष्पक्ष (मिद्वरूप), अत्यन्त अविनाशी, सुखरूप, कृतार्थ (विमर्शो कुछ करना बाकी न हो गेमा) तथा समीचीन मन्थनान् स्वरूप हो जाता है । उस पदको (अवस्थाको) मोक्ष कहते हैं ॥ ९ ॥

तस्यानन्तप्रभासस्य कृते त्यक्त्वाग्निलभ्यमा ।

नपश्यन्नन्यमी धीरा यन्धविध्वंसकारणम् ॥ १० ॥

अर्थ—धर्मीय पुण्य इस अनन्त प्रभासवाले मोक्षरूपी कायके विमिश्र मनस्य प्रदर्शक प्रदीपको छोड़कर कमरूपक नष्ट करनेके कारणरूप तपको अंगीकार करता है । साधारण-सामान्य समस्त काय छोड़कर मुक्तिपद प्राप्ति करते हैं ॥ १० ॥

सम्पन्नानादिक प्राप्तिना मुक्तोर्निषयनम् ।

तेनैव साध्यते मिद्विग्नमात्मदर्शिनः स्मृतम् ॥ ११ ॥

अर्थ—'निवेदमन्त्रात्' सम्पन्नान् पान और चरित्रको सुकृति का कारण कहते हैं, पान जो सुकृति की इच्छा करते हैं, वे इन सम्पन्नान् पान चरित्रसे ही मोक्षका प्राप्ति करते हैं। भाषार्थ—विना कामना जो कारण होता है, उसको अंगीकार करनेमें ही बह काय सिद्ध होता है ॥ ११ ॥

अब कहते हैं कि, मोक्ष साधन तो सम्पन्नानादिक हैं, उनहीमें ध्यान गमन है इस कारण प्रातःकाल ध्यानका उपदेश करते हैं, —

अचक्षेत्रादिनाज्ञापयिष्ये ज्ञानसुधारसम् ।

कुरु जन्मान्धिमत्येतु ध्यानपोतावलम्बनम् ॥ १२ ॥

अर्थ—हे आत्मन्! तू संसारके दुस्विनागाथ ज्ञानरूपी सुधारसको पी और सत्काररूप समुद्रके पार होनेकेलिये ध्यानरूपी जहाजका अवलम्बन करो। भाषार्थ—एक साक्षात् होता ध्यान है अतः जब प्रथम ही जानको अंगीकार करेगा तब उसने एकाम्रता होनेपर कर्मोंको काटफ सत्कारको परित्यागकरक मोक्षको पावेगा ॥ १२ ॥

मोक्षं कर्मक्षयादेयं स सम्पन्नज्ञानत स्मृतम् ।

ध्यानसाध्यं मन तद्धि तस्मात्सद्धितमात्मनः ॥ १३ ॥

अर्थ—मोक्ष कर्मोंके क्षयसे ही होता है। कर्मोंका क्षय सम्पन्नज्ञानसे होता है और बह सम्पन्नान् ध्यानमें सिद्ध होता है अर्थात् ध्यानसे जानकी एकाम्रता होती है, इस कारण ध्यान ही आत्माका हेतु है ॥ १३ ॥

अपात्य कल्पनाजालं मुनिभिर्मातुभिश्चतुभिः ।

प्रशमैकपरैर्नित्यं ध्यानमेवावलम्बितम् ॥ १४ ॥

अर्थ—आत्माका दिन ध्यान ही है। इस कारण जो कर्मोंसे मुक्त होनेके इच्छुक मुनि हैं, उन्होंने प्रथम—कषायोंकी मदताकेलिये तत्पर होकर कल्पनामयोंका नाशकरके, नित्य ध्यानहीका अवलम्बन किया है। भाषार्थ—जब तक मुक्तिकी चिन्ता रहती, तब तक ध्यान करना ही प्रधान है। जब चिन्ताकी चिन्ता नहीं रहती, तब वे शास्त्रविचारोंमें लगते हैं ॥ १४ ॥

आगे ध्यानप्रधानका योग्यताका उपदेश करते हैं,—

मोहं त्यज भज स्वास्थ्यं मुञ्च सद्गान् स्थिरीभव ।

यतस्ते ध्यानसामग्रीं सविकल्पा निगद्यते ॥ १५ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि, हे आत्मन्! तू संसारक मोहको छोड़,

स्वास्थ्यको मन और परिग्रहोंको छोड़कर स्थिरीभूत हो । निमसे कि हम तरे लिये पानकी सामग्री भेदोंसहित नहै ॥ १५ ॥

फिर भी कहते हैं,—

उत्तितीर्षुर्महापङ्काज्जन्मसंज्ञादुत्तरात् ।

यदि किं न तदा धत्मे धैर्यं ध्याने निरन्तरम् ॥ १६ ॥

अर्थ—हे आत्मन्! यदि तू कष्टसे पारपानेयोग्य ससार नामक महापङ्क (कीचड़) में निकलनेकी इच्छा रखता है, तो ध्यानम निरन्तर धैर्य क्यों नहीं धारण करता! भावार्थ—ध्यानम धैर्याखण्डन कर, क्योंकि ससाररूपी कर्ममने पार होनेका कारण एकमात्र यही है । इसके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है ॥ १६ ॥

चित्ते तव विवेकश्रीर्यद्यश्चाङ्गा स्थिरीभवेत् ।

कीर्त्यते ते तदा ध्यानलक्षणं स्वान्तशुद्धिदम् ॥ १७ ॥

अर्थ—हे भव्य! जो तेरे चित्तमें निश्चय (सन्देह रहित) विवेकरूप लक्ष्मी स्थिरी हो, तो तेरे मनको शुद्धता देनेवाले ध्यानका लक्षण हम कहते हैं । भावार्थ—जो चित्तको सन्देह रहित स्थिर करके सुने, तब कहे हुए वचनका ग्रहण होता है अथवा उमरी प्रतीति होती है, इस कारण ऐसा कहा गया है ॥ १७ ॥

इयं मोक्षमहाविद्या जगन्नाथविसर्पिणी ।

यदि क्षीणा तदा क्षिप्रं पिय ध्यानसुधारसः ॥ १८ ॥

अर्थ—हे भव्य! तीन जगन्मर्षिनेवाली यह अज्ञानरूपी महाविद्या जो तर क्षीण हो गई हो—नष्ट हो गई हो, तो तू ध्यानरूपी अमृतसरसा पान कर । क्योंकि सुख अवस्थामें पीना नहीं हो सता ॥ १८ ॥

पाद्यान्नभूतनिःशेषसद्गमूर्च्छा क्षय गता ।

यदि तत्तत्प्रदेशेन ध्याने चेतस्तदार्पय ॥ १९ ॥

अर्थ—हे भव्य! यदि तेरे तत्त्विक उपदेशसे बाध और अभ्यन्तरही समस्त मूर्च्छा (समस्त परिणाम) नष्ट हो गई हो, तो तू अपने चित्तको ध्यानमें ही लगा । भावार्थ—परिग्रहका समस्तहर्दनेमें ध्यानम चित्त नहीं लग सकता, इस कारण ऐसा उपदेश दिया गया है ॥ १९ ॥

प्रमादविषयमाहन्त्यप्राप्यदि च्युतः ।

तदा तदा क्रेशसद्गमध्यानक ध्यानमाश्रय ॥ २० ॥

अर्थ—हे भव्य! यदि तू प्रमाद और इन्द्रियों विषयरूपी विनाश अथवा उत्पत्ति के कारण ध्यानमें हलचल कर रहा है, तो क्रेशोंके समुद्रको घात तथा नष्ट करनेवाले ध्यान

आश्रय कर । भाषार्थ—उत्तक प्रमाद और इन्द्रियोंके विषयोंमें चित्तकी प्रवृत्ति रहती है, तबतक कोई ध्यानमें नहीं लग सकता, इस कारण ऐसा उपदेश है ॥ २० ॥

इमेऽनन्तभ्रमासारमसरैकपरायणा ।

यदि रागादय क्षीणास्तदा ध्यातु विचेष्ट्यताम् ॥ २१ ॥

अर्थ—हे भव्य ! अनन्त भ्रमरूपवृष्टिके विन्यार करनेमें तबपर्यन्त वे रागद्वेष मोहादिक भाव तैरे क्षीण हो गये हों, तो तुझे ध्यानकी चेष्टा करनी चाहिये, क्योंकि रागादिकका विन्यार रहते ध्यानमें प्रवर्णना नहीं हो सकती ॥ २१ ॥

यदि सवेगनिर्वेदविवेकैर्वासितं मनः ।

तदा धीर स्थिरीभूय स्वप्निन् स्थान्त निरूपय ॥ २२ ॥

अर्थ—हे धीर पुरुष ! जो संवेग अर्थात् मोक्ष का मोषभर्माने अनुराग, तथा निर्वेद अर्थात् संसारदेहभोगोंसे वैराग्य और विवेक अर्थात् स्वरक्षा भेदविज्ञान इसमें तैरा मन वासित है, तो तू स्थिर होकर आपहीमें अपनेमनको देख, कि—कैसा है ? भाषार्थ—सवेग, निर्वेद और भेदविज्ञानके बिना चित्तकी वृत्ति परमें ही रहती है, अपने स्वरूपपरि ओर नहीं जाती है ॥ २२ ॥

विरज्य कामभोगेषु विमुच्य ययुषि स्थहाम् ।

निर्ममत्य यदि प्रासस्तदा ध्यातासि नाभ्यधा ॥ २३ ॥

अर्थ—हे भव्य ! यदि तू कामभोगोंमें विरक्त होकर तथा शरीरों रहताको छोड़कर निमग्नताको प्राप्त हुआ है, तो ध्यान करनेवाला ध्याया हो सकता है, अभ्यधा नहीं हो सकता । क्योंकि भोगोंकी इच्छा का भोग मिलास करनेमें जब चित्त रहता है, तब ध्यानमें चित्त कैसे लगे ? तथा शरीरमें अनुराग होता है, तो उसको संवरने तथा पुष्ट करनेमें ही मन लगा रहता है, मधका रोगादिक होने का नष्ट होनेका भय विन्यार बना रहता है, तब ध्यानकरनेमें चित्त कैसे लगे ? इस कारण ध्यानको ध्यान करोका सब करनेमें ध्यान हो सकता है ॥ २३ ॥

निविण्णोऽसि यदा धातुर्नृन्ताज्जन्मसप्तमात् ।

तदा धीर परा ध्यानधुरा धैर्येण धारय ॥ २४ ॥

अर्थ—हे धीर पुरुष ! जो तू दूरतर संतारके जन्मसे विरक्त है, तो उक्त ध्यानकी धुराको धारण कर । क्योंकि संसारसे विरक्त हुए दिना ध्यानमें चित्त लगाना ॥ २४ ॥

पुनात्याकाणितं चेत्तो दत्ते शिष्यमनुष्ठितम् ।

ध्यानतत्त्वमिदं धीर धन्ययोगीन्द्रगोष्वरम् ॥ २५ ॥

अर्थ—हे धीम पुरुष! यह ध्यानका तत्र (शास्त्र) सुननेमें चित्तको पवित्र करना है। तीव्रगमात्मिका अभाव करते चित्तको विशुद्ध करता है। तथा आचरण किम दुःख मोक्ष देता है। योगीश्वरोंका जानाहुआ है, इस कारण इसको तू आस्ताद, धार वा सुन और ध्यानका आचरण कर ॥ २५ ॥

विस्तरेणैव तुप्यन्ति केऽप्यहो विस्तरप्रिया ।

सक्षेपरुचयश्चान्ये विचित्राश्चित्तवृत्तयः ॥ २६ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि, अनेक पुण्य तो निम्नतरसे ही प्राप्त होने हैं और अनेक सक्षेपसे रचि रगनेवाले होते हैं। आश्चर्य है कि, चित्तकी वृत्तियाँ भी विविध होती हैं। भाषार्थ—जैसे बक्ता ओर श्रोता होते हैं, वैसा ही कहना और सुनना होता है, अतएव प्रथम ही इस प्रकरणमें सक्षिप्तरचिगले श्रोताओंके लिये ध्यानका सक्षिप्तरूप कहते हैं ॥ २६ ॥

सक्षेपरुचिभिः सूत्रात्तन्निरूप्यात्मनिश्चयात् ।

त्रिधैवाभिमत कैश्चिद्यतो जीवाशयस्त्रिधा ॥ २७ ॥

अर्थ—आत्माका है निश्चय निमग्न, ऐसे सूत्रसे निरूपण करके जितने ही सक्षेपरुचिगलेने तीन प्रकारका ही ध्यान माना है। क्योंकि जीवका आशय तीन प्रकारका है अर्थात्—अध्यात्मनाम्नी अपेक्षा आत्माके उपयोगकी प्रवृत्ति सक्षेपसे तीन प्रकारकी ही मानी गई है ॥ २७ ॥

उन तीन प्रकारके आशयोंका ध्यान करने हैं,—

तत्र पुण्याशयः पूर्वस्तद्विपक्षोऽशुभाशयः ।

शुद्धोपयोगसंज्ञो यः स तृतीयः प्रकीर्तितः ॥ २८ ॥

अर्थ—उन तीनोंमें प्रथम पुण्यरूप गुण आशय है और उमका विपक्षी दुःख पापरूप अगुण आशय है और तीसरा शुद्धोपयोगनामा आशय है ॥ २८ ॥

पुण्याशयवशाज्जात शुद्धलेइयावलम्बनात् ।

चिन्तनादस्तुतत्त्वस्य प्रशस्त ध्यानमुच्यते ॥ २९ ॥

अर्थ—पुण्यरूप आशयके वशसे तथा शुद्धलेइयाके अग्रगण्यमें और वस्तुसे वयाप रूप चिन्तनमें उत्पन्न हुआ ध्यान कहा जाता है ॥ २९ ॥ और—

पापाशयवशान्मोक्षान्मिथ्याम्यादस्तुविभ्रमात् ।

कथापात्रापनेऽजघममद्वान् शरीरिणाम् ॥ ३० ॥

अर्थ—जैसे कि पापरूप अशयके वशसे तथा मोक्ष मिथ्यात्व-कथाय और तत्त्वों अद्वयत्व विभ्रनमें अद्वयत्व वस्तु अममी-तीन ध्यान होता है ॥ ३० ॥

क्षीणे रागादिमन्ताने प्रमत्ते चान्तरात्मनि ।

य स्वरूपोपलम्भ स्यात्स शुद्धाग्न्य प्रकीर्तितः ॥ ३१ ॥

अर्थ—रागादिकरी सन्तानके क्षीण होनेपर अन्तरंग आत्माके प्रसन्न होनेसे जो अपने स्वरूपका उपलम्भ (आलम्बन) होता है, वह शुद्ध ध्यान है ॥ ३१ ॥

शुभध्यानफलोद्भूता त्रिय त्रिदशमभवाम् ।

निर्विशन्ति नरा नाके क्रमाद्यान्ति पर पदम् ॥ ३२ ॥

अर्थ—शुभध्यानके फलसे उत्पन्न हुई सर्गकी लक्ष्मीको स्वर्गमें भोगते हैं और क्रममें मोक्षको प्राप्त होते हैं ॥ ३२ ॥

दुष्पर्यानादुर्गतेर्धाज जायते कर्म देहिनाम् ।

क्षीयते यद्य कष्टेन महतापि कथंचन ॥ ३३ ॥

अर्थ—दुष्पर्यायसे जीवोंकी दुर्गतिका कारणभूत अशुभकर्म होता है, जो कि बड़े कष्टसे भी बर्ही क्षय नहीं होता ॥ ३३ ॥

निःशेषहेतुनिर्मुक्त स्वभावजमनश्वरम् ।

फलं शुद्धोपयोगस्य ज्ञानराज्य शरीरिणाम् ॥ ३४ ॥

अर्थ—जीवोंका शुद्धोपयोगका फल समस्त दुःखोंमें रहित, स्वभावसे उत्पन्न, और अविनाशी ज्ञानरूपी राज्यका पाना है । भावार्थ—शुद्धोपयोगसे जीवोंकी वैवलज्ञानकी प्राप्ति होती है ॥ ३४ ॥

इति संक्षेपतो ध्यानलक्षण समुदाहृतम् ।

बन्धमोक्षफलोपेत संक्षेपमचिरञ्जकम् ॥ ३५ ॥

अर्थ—इस प्रकार संक्षेपसे संक्षेपरूपिपुत्रोंको रत्न करनेवाला बन्धमोक्षके फलसहित ध्यानका लक्षण कहा गया । भावार्थ—शुभध्यानसे पुण्यबन्ध तथा अशुभध्यानसे पापबन्ध होता है और शुद्धध्यानसे पापपुण्यरूप बन्धोंका नाश होकर मोक्षकी प्राप्ति होती है ॥ ३५ ॥

अब इस अधिकारकी पूरा करते हुए कहते हैं,—

नित्यिणी ।

अविद्याविक्रान्तैश्चपलचरितैर्दुर्नयशतै

जगद्गुणालोक मृतमतिघनध्वान्तनिचितम् ।

त्वपोच्छयाशेष परमततमोवातमतुल

प्रणीत भव्याना शिष्यपदमपानन्दनित्यम् ॥ ३६ ॥

अर्थ—अविद्याके कारण विकाररूप होकर अविध्यरूप तथा अमात्मक आचरणवाले

अर्थ—ज्ञानागमूत्रमें जो ध्यानका स्थान विचारमहित कहा गया है, उसका गाना (सौया भाग) भी जान कोई कहनेको समझ नहीं है, तथापि उसकी प्रसिद्धिने लिये इस ग्रन्थमें दिग्दर्शनमात्र बणन किया जाता है ॥ २ ॥

अन्यथैव्यतिरेकाभ्या गुणदोषै प्रपञ्चितम् ।
हेयोपादेयभावेन सविकल्प निगद्यते ॥ ३ ॥

अर्थ—यह ध्यानका लक्षण गुण दोष और अन्यथैव्यतिरेकमें द्वित्र प्रकार विष्णुप्रकृत है, उसी प्रकार हेयोपादेय भावोंसे भेदोंसहित बता जाता है । अन्यथैव्यतिरेक अथवा दोष गुण ही तो यही ध्यान होना है और व्यतिरेकदोषोंमें अथवा गुण य ही ध्यान ही कहा ध्यान नहीं होता । तथा अप्रमाणध्यान तो दृश्य है और प्रमाणध्यान उपलब्ध है । और आर्त, रौद्र धर्म और गुह्य में चार भेद कहे गये हैं, जो इनमें विशेषतः ध्यान विचाररूप ध्यानका स्वरूप कहा जावेगा ॥ ३ ॥

आर्तलक्षिकीतिम् ।

ध्याता ध्यानमितस्तद्वृत्तमग्निरुदयोपगृह्णान्वित
ध्येय तद्गुणदोषलक्षणयुत नामानि कालं परम् ।
तत्सूत्रमन्त्रार्णवास्तस्मदित यत्प्राक्प्रणीतं धुम्
तत्सम्पक्वपरिभाषयन्तु निपुणा अत्रोच्यमानं व्रजाम् ॥ ४ ॥

अर्थ—पूर्वकालमें ज्ञानी पुरुषोंने (पूर्वप्राचीने) ध्यानचरनका ध्यान १६४, ध्यानके दर्शन ज्ञान चारित्र्य सहित समझ अंग, ध्येय, तथा ध्येयके गुणदोषों सहित ध्यानके नाम, ध्यानका समझ, और ध्याता का वन य सब ही उ सूत्ररूप महासमुद्रसे प्रगट होके बुद्धिमानोंन द्वारा पृथगे प्रकाश किये गये हैं, य ही सब इन प्रथो व्रजसे कह जाते हैं । निपुण पुरुषोंको अने प्रकार इत्यादि वर्णन करना चाहिये ॥ ४ ॥

ध्याता ध्यान तथा ध्येय वत् त्रयेण चतुष्टयम् ।
इति सूत्रमन्त्रमासेन सविकल्प निगद्यते ॥ ५ ॥

अर्थ—ध्याता, ध्यान ध्येय और वन यह चतुष्टय सूत्ररूप मन्त्रसे दिग्दर्शन कहा जाता है ॥ ५ ॥

मुमुक्षुर्जन्मनिर्विण्ण दान्तपिप्प्लो वशी स्थिर ।
जिताक्ष संवृत्तो धीरो ध्याता शास्त्रे प्रशस्यते ॥ ६ ॥

अर्थ—जन्मने ऐसे ध्याताकी प्रशंसा की गई है कि, जो मुमुक्षु हो अर्थात् जन्मने लप्ता स्वनेशाला हो । क्योंकि यदि ऐसा नहीं हो, तो जन्मने लप्ता ध्याताको बने वन ।

दूसरे ससारसे विरक्त हो । क्योंकि ससारसे विरक्त हुए बिना ध्यानमें चित्त स्थिति लगावे ? तीसरे क्षोभरहित शान्तचित्त हो । क्योंकि व्याकुलचित्तके ध्यानकी सिद्धि नहीं हो सकती । चौथे बन्धी कहिये जिसका मन अपने वशमें हो । क्योंकि मनके वश हुए बिना वह ध्यानमें कैसे लगे ? पाचवें स्थिर हो, शरीरके सागोपाग आसनमें दृढ़ हो । क्योंकि फाय चलायमान रहनेसे ध्यानकी सिद्धि नहीं होती । छठे निराक्ष (जितेन्द्रिय) हो । क्योंकि इन्द्रियोंके जीते बिना वे विषयोंमें प्रवृत्त करती हैं, और ध्यानकी सिद्धि नहीं हो सकती । सातवें सञ्चत कहिये समरयुक्त हो । क्योंकि स्नानपानादिमें विरक्त हो जब तो, ध्यानमें चित्त कैसे स्थिर हो ? आठवें धीर हो । उपसर्ग आनेपर ध्यानमें झुन न होवे तब ध्यानकी सिद्धि होती है । ऐसे आठगुणसहित ध्याताके ध्यानकी सिद्धि हो सकती है, अन्यके नहीं होती ॥ ६ ॥

अब इस ही कथनका विस्तार करते हैं और प्रथम गृहस्थावस्थाम् उत्तम आनन्द निषेध करते हैं,—

उपपातिवृत्तम् ।

उदीर्णकर्मन्धनसम्भवेन दुःखानलेनातिकदर्थ्यमानम् ।

दन्दद्यते विश्वमिदं समन्तात्प्रमादमूढं व्युत्सिद्धिमार्गम् ॥ ७ ॥

अर्थ—छोड़ दिया है मोक्षमार्ग जिसने ऐसे प्रमादसे मूढ़ होकर वह जगत् उदयम आये हुए कर्मरूपी इष्यनसे उत्पन्न दुःखरूपी अग्निसे पीड़ित होता हुआ, बर्तों ओरमें जलता है ॥ ७ ॥

अब घेमे जगतसे निकले हुए मुनिको उद्देश्य करके कहते हैं—

दायमाने जगत्सिन्धुमहा मोक्षयहिना ।

प्रमादमदमुत्सृज्य निष्क्रान्ता योगिनः परम् ॥ ८ ॥

अर्थ—महामोक्षरूपी अग्निसे जलते हुए इस जगतमेंमे केवल मुनिगण ही प्रमादसे छोड़कर निकलते हैं, अन्य कोई नहीं ॥ ८ ॥

न प्रमादजयं कर्तुं धीमनैरपि पार्यते ।

महायमनमकीर्णं गृह्यासेऽतिनिन्दिते ॥ ९ ॥

अर्थ—अनेक कष्टोंमें मरे हुए अतिनिन्दित गृह्यामम बड़े २ बुद्धिमान् भी प्रमाद छोड़ पगड़ित करनेमें समर्थ नहीं हैं । इस कारण गृहस्थावस्थाम् ध्यानकी सिद्धि नहीं हो सकती ॥ ९ ॥

दास्यते न धर्माकर्तुं गृहमिदं पणं मनः ।

अनर्थात्प्रशान्त्यर्थं मज्झिस्थिता गृहे स्थितिः ॥ १० ॥

अर्थ—गुरुत्वान्न धारमें रहने हुए अपने चक्षुमनको बग करीमें असमर्थ होते हैं, अन्तर बिच्छी शान्तिके अथ मयुरकीने धारमें रहना छोड़ दिया है और व लक्ष्मण स्वामी गुरुवर ध्यानमें होकर उसमी हुए है ॥ १० ॥

वशाण्यम् ।

प्रतिक्षेपं दृष्ट्वात्मासंवेतमा

गुणां दुराज्ञाग्रहपीडितात्मनाम् ।

नितम्बिनीलोचनपीरमङ्गटे

गृहाश्रमे व्यात्महितं न सिद्ध्यति ॥ ११ ॥

अर्थ—जिसको प्रचारक चन्दोने दुःखितविष, और घनादिककी दुराचारूपी पि क्षीयित पीडित मनुष्योंके प्रतिक्षण मियाँके नेत्ररूपी पीरोंका है उपद्रव जिसमें, ऐसे इस गृहाश्रममें अपने हितकी निधि नहीं होती है ॥ ११ ॥

विर भी कहते हैं,—

निरन्तराज्ञानलदाहदुर्गमे

बुधामनाप्यान्तपितृसलोचने ।

अनेकचिन्ताउपरजित्तितात्मना

मृणा गृहे नात्महितं प्रसिद्ध्यति ॥ १२ ॥

अर्थ—निरन्तर पीडारूप आउप्यानपी अतिव दाहसे दुर्गम, बसनेके अयोग्य, तथा कामकोभादिर्वा बुधामनापी अन्धकारसे विभुस हो गई है नेत्रोंकी दृष्टि जिसमें, ऐसे परोक्ष ओष चिन्तारूपी उपरमे विचाररूप मनुष्योंके अपने आत्माका हित कदापि सिद्ध नहीं होता । ऐसे गृहस्थावासमें उत्तम ध्यान कैसे हो ॥ १२ ॥

आगे विर भी कहते हैं —

विषन्मलापङ्कनिमग्नबुद्धय

प्रगुदरागज्वरयस्त्रपीडिता ।

परिमहत्वात्विषामिमुर्च्छिता

विवेकवीथ्या गृहिण समलन्त्यमी ॥ १३ ॥

अर्थ—गृहस्थावस्थाकी आपदाक्षी महान् बीचड़में जिनकी बुद्धि फैसी हुई है, तथा जो प्रचुरतामें नष्ट हुए रागरूपी ज्वरने यन्त्रसे पीडित है, और जो परिमहरूपी सपने विषमि ज्वागमे मुर्च्छित हुए हैं, व गृहस्थगण विवेकरूपी बीथीमें (गलीमें) चलते हुए म्बलित हो जाते हैं अर्थात् न्युत हो जाते हैं । अथवा समीचीन मार्गसे (मोक्ष मार्गमें) भ्रष्ट हो जाते हैं ॥ १३ ॥

दूररे संगारमे विरक्त हो । क्योंकि मंगल
 लगाये । तीररे शोभरहित गानावित हो
 हो सकती । चौथे वणी कहिये जिनका ग-
 विना वह ध्यानमें कैमे लगे । पानत्रं निग-
 फाय चलायमान रहनेमे ध्यानकी वि-
 क्योंकि इन्द्रियोंक जीते विना वे विरा-
 सती । मानने सेरुन कहिये संग-
 तो, ध्यानमें निष कैमे निग हो ।
 न होवे तब ध्यानकी मिद्धि हो।
 हो सकती है, अन्य नहीं होती ॥

अब इस ही पद्यका विचार
 नरा निषेध करते हैं,—

उदीर्णकर्मन्धनमभयेन ।

दन्ददन्ते विश्वमिदं सम-

अर्थ—छोड़ दिया है मोक्षमार्ग निमो-
 यम आये हुए कमरूपी इधनसे उत्पन्न ह-
 ओरसे जलता है ॥ ७ ॥

अब ऐसे जगतसे निकले हुए मुनिको उ-

दक्षमाने जगत्सिन्धुता-

प्रमादमदमुत्सृज्य निष्क्रान्त।

अर्थ—महामोहरूपी अग्निसे जलते हुए ह-
 छोड़कर निकलते हैं, अन्य कोई नहीं ॥ ८ ॥

न प्रमादजय कर्तुं धीधनैरपि पा

महान्यसनसकीर्णं गृह्वासेऽर्ति-

अर्थ—अनेक कष्टोंसे मरे हुए अतिनिन्दित गृ-
 दको पराजित करनेमें समर्थ नहीं हैं । इस कारण
 हो सकती ॥ ९ ॥

शक्यते न धशीकर्तुं गृहिभिश्चपलः स

अतश्चित्तप्रशान्त्यर्थं सद्भिस्त्यक्ता गृह-

अर्थ—दृष्टि की विकलतासे बन्धुसमूहको अपनी इच्छानुसार ग्रहण करनेवाले मिथ्यादृष्टियोंके ध्यानकी सिद्धि स्वप्न भी नहीं होती है ॥ १८ ॥

ध्यानमिद्विर्धेति त्वेऽपि न स्यात्पापण्डिना कचित् ।

पूर्वापरविरुद्धार्थमतसत्तावत्स्मिनाम् ॥ १९ ॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टिको (अन्यथाश्रयान्तरनेवाले अन्यमतीको) गृहस्वावस्था छोड़के मुनि होनेपर भी ध्यानकी सिद्धि नहीं होती । क्योंकि वे पूर्वापरविरुद्ध पदार्थोंके स्वरूपमें समीचीनता (सत्यता) माननेवाले हैं, अर्थात् अन्यमतमें सत्ता यथार्थता नहीं है, ॥ १९ ॥
तो ही कहते हैं—

किं च पापण्डिनं सचे सर्वथैकान्तद्वयिता ।

अनेकान्तात्मकं घस्तु प्रभवन्ति न वेदितुम् ॥ २० ॥

अर्थ—सब ही अन्यमती पाखंडी सयथा एकान्ततासे दूषित हैं, और बन्धुका स्वरूप अनेकान्तात्मक है अन वे उसके यथाथस्वरूपको जाननेमें असमर्थ हैं । स्वाद्धादिके जाने बिना विरोध आदि दूषणोंका परिहार उनसे नहीं किया जा सकता है ॥ २० ॥

नित्यता केचिदाचक्षु केचिच्चानित्यता खल्ला ।

मिथ्यात्वाद्यैव पश्यन्ति नित्यानित्यात्मकं जगत् ॥ २१ ॥

अर्थ—कोई २ तो बन्धुके नित्यता ही कहते हैं और कोई २ अनित्यता ही सिद्ध करते हैं । परन्तु यह जगत् नित्य अनित्य दोनों स्वरूप है ऐसा मिथ्यात्वके उदयसे नहीं देखते । आचार्य—सांख्य, नैयायिक, वेदान्त और मीमांसकमतवाले तो आत्माको सयथा नित्य तथा जगत्को अविद्यादिक्लृप्तावस्थासे विभ्रमरूप अनित्य मानते हैं और कहते हैं कि, “आत्माको अनित्य माननेसे आत्माका नाश होकर नास्तिकताका मत आता है और नित्यानित्य दोनों स्वरूप माननेसे विरोधादिक दूषण आते हैं” । इसप्रकार अपनी कपोलकल्पना करके आत्माको सयथा नित्य ही मानते हैं और बौद्धमती बन्धुको क्षणिक तथा अनित्यस्वरूप मानते हैं । नित्य माननेको अविद्या कहते हैं और नित्यानित्य माननेमें विरोधादि दूषण कहते हैं । किन्तु सबको जानना चाहिये कि, वास्तवमें बन्धुका स्वरूप जो नित्यानित्यरूप है, वह स्वाद्धादिके ही सिद्ध होता है । उसमें विरोध आदि कोई भी दूषण नहीं आते । शोक है कि, ऐसा स्वरूप अन्यमती समझते नहीं है और अपनी बुद्धिसे कल्पना करके जिसतिस प्रकार सिद्ध करके सन्तुष्ट हो जाते हैं । परन्तु वास्तवमें विचार किया जावे, तो उनका ध्याता ध्यान ध्येयादिकी सिद्धि नहीं होती । इसकारण उनका कहना सब मत्वापमात्र जानना चाहिये ॥ २१ ॥

अर्थ—एक ही विद्यमानमे बन्धुगणको अपना इच्छानुसार ग्रहण करनेवाले निष्कारणिके भ्रमाका निदि सप्रमे भी नहीं होती है ॥ १८ ॥

ध्यानमिन्द्रियैर्नित्यऽपि न भ्यात्पापण्डिना कथितम् ।

पर्यापरविस्तारमनमस्तापनम्यिनाम् ॥ १९ ॥

अर्थ—निष्कारणिको (चक्षुष्यभ्रमवाक्योवाले अन्धमतीको) गृहस्थावस्था छोड़के मुनि होकर भी ध्यानकी सिद्धि नहीं होती । क्योंकि ये पर्यापरविरुद्ध पदार्थोंके स्वरूपमें ही विधीनता (संयता) मानेवा है, अर्थात् अन्यमनमें सदा यथार्थता नहीं है, ॥ १९ ॥ तो ही कहते हैं—

विं च पापण्डिनः सर्वे सर्वथैकान्तदृषिताः ।

अनेकान्तात्मकं यन्तु प्रमथन्ति न वेदितुम् ॥ २० ॥

अर्थ—सब ही अन्धमती पान्थी मर्यादकान्तनामे दृषित हैं, और बन्धुका स्वरूप अन्यात्मक है अतः वे उगम यथायमरूपको जाननेमें असमर्थ हैं । स्वाद्वादके जाने बिना विरोध आदि दृष्टिको परितार उनमें नहीं किया जा सकता है ॥ २० ॥

नित्यता वैचिदायधुः वैचिद्यानित्यता गता ।

मिथ्यात्वात्तैष पटयन्ति नित्यानिस्थात्मकं जगत् ॥ २१ ॥

अर्थ—वार्त् २ तो बन्धुके नित्यता ही कहते हैं और कोई २ अनित्यता ही सिद्ध करते हैं । परन्तु यह जान लिये अनित्य दोनों स्वरूप हैं ऐसा मिथ्यात्वके उदयसे नहीं दमते । आचार्य—माध्य, वैचारिक, वेदान्त और मीमांसकमतवाले तो आत्माको सत्य नित्य तथा चरमको अविद्यादिवच विलाससे विभ्रमरूप अनित्य मानते हैं और कहते हैं कि, “आत्माको अनित्य माननेमें आत्माका नाश होकर नास्तिकताका मन आता है और नित्यानित्य दोनों स्वरूप माननेसे विरोधादिक दूषण आते हैं” । इसप्रकार अपनी वषोन्कल्पना करके आत्माको सत्य नित्य ही मानते हैं और बौद्धमती बन्धुको क्षणिक तथा अनित्यस्वरूप मानते हैं । नित्य माननेको अविद्या कहते हैं और नित्यानित्य माननेमें विरोधादि दूषण कहते हैं । किन्तु सबका जानना चाहिये कि, वास्तवमें बन्धुका स्वरूप तो नित्यानित्यरूप है, वह स्वाद्वादमें ही सिद्ध होता है । उसमें विरोध आदि कोई भी दूषण नहीं आते । शोक है कि, ऐसा स्वरूप अन्यमती समझते नहीं हैं और अपनी बुद्धिसे कल्पना करके जिसतिस प्रकार सिद्ध करके मनुष्ट हो जाते हैं । परन्तु वास्तवमें विचार किया जावे, तो उक्त ध्याता ध्यान ध्यवादिकी सिद्धि नहीं होती । इसकारण उनका कहना सब प्रतापमात्र जानना चाहिये ॥ २१ ॥

वस्तुनन्वापरिज्ञानात्किं ध्येयं क च भावना ।

ध्यानाभ्यासस्ततस्तेषां प्रयासायैव केवलम् ॥ २० ॥

अर्थ—उक्त मिथ्यादृष्ट अन्यमतात्तल्लभियोंकि यथार्थस्वरूपके चानके अभावसे घोर कष्ट और भावना कहा । इसकारण उनको ध्यानना करना केवल प्रयासमात्र ही है अर्थात् निष्फल खेद करना है ॥ २० ॥

उक्त च प्रयान्तरे ।

“शतमाशीत प्रथित क्रियाविदा वादिना प्रचण्डानाम् ।

चतुरधिकाशीतिरपि प्रसिद्धमहत्सा त्रिपञ्चाणाम् ॥ १ ॥

पष्टिर्विज्ञानविदा मसममेता प्रसिद्धबोधानाम् ।

छात्रिञ्जलैरनयिका भवन्ति सर्वे प्रयादधिद ॥ २ ॥” (युग्मम्)

अर्थ—“प्रचण्ड क्रियावादियोंके तो निम्नारूप ण्सो अस्ती भेद हैं और उनके विपक्षी प्रसिद्ध अक्रियावादियोंके चौरासीभेद हैं ॥ १ ॥ तथा प्रसिद्ध है ज्ञानवाद जिनका ऐम ज्ञानवादियोंके सड़सठ भेद हैं और विनयवादियोंके बचीस भेद हैं । इस प्रकार तीनोंमें त्रैसठ प्रकारके मत आदिनाथस्वामीके समयमें ही थे और अब तो इनके भेद प्रभेद अनगिनती हो गये और होते जाते हैं । इन मतोंका विशेष बणन गोमठसार नाम जानना” ॥ २ ॥

ज्ञानादेयेष्टसिद्धिः स्यात्ततोऽन्यः शास्त्रविस्तरः ।

मुक्तिरुक्तमतो बीज विज्ञान ज्ञानवादिभि ॥ २३ ॥

अर्थ—ज्ञानवादियोंका मत तो ऐसा है कि एकमात्र ज्ञानसेही इष्टसिद्धि होती है । इससे अन्य जो कुछ है सो सब शास्त्रना निस्सारमात्र है । इस कारण मुक्तिका बीजमूल विज्ञान ही है ॥ २३ ॥

कैश्चिच कीर्त्तिता मुक्तिर्दर्शनादेव केवलम् ।

वादिना गल्लु सर्वेषामपाकृत्य नयान्तरम् ॥ २४ ॥

अर्थ—और कई वादियोंने अयसमस्तवादियोंके अन्य नयपक्षोंका निराकरण करके केवल दर्शन (भद्रा) से ही मुक्ति होनी कही है ॥ २४ ॥

अथान्यैर्धृत्तामेवैक मुख्यद्व परिकीर्त्तितम् ।

अपाम्य दर्शनज्ञाने तत्कार्यधिफलश्रमे ॥ २५ ॥

अर्थ—अथवा अय कई वादियोंने चारित्र्यको (क्रियाको) ही मुक्तिका अंग माना है और ज्ञानदर्शनको मुक्तिमागन कार्यमें व्यर्थ मानकर उमका खटा लिया है ॥ २५ ॥

विज्ञानादित्रिषणऽस्मिन्धे ज्ञे दृष्टे तथा परे ।

स्यन्विज्ञानावर्त्तनं जन्ममन्ततिशातने ॥ २६ ॥

अर्थ—और कितनेही चाही अपने सिद्धान्तके गर्भसे समारम्भ की सन्ततिक नागकी परि-
पाटीमें विज्ञान, दर्शन (ध्यान) और चारित्र इन तीनोंमेंमे दो दो को इष्ट कहते हैं,
अर्थात् कोई तो दर्शन और ज्ञानकोही मानते हैं, किसीने दर्शन और चारित्रकोही माना
है और कोई २ ज्ञान और चारित्रकोही मानते हैं । इस प्रकारमे तीन प्रकार की बादी
हैं ॥ २६ ॥

एकैक च त्रिभिर्नष्ट द्वे द्वे नष्टे तथाऽपरै ।

अथ न रूपायतेऽन्यस्य मसैते दुर्दृशा स्मृता ॥ २७ ॥

अर्थ—इन बादियोंमें तीन बादियोंमें तो एक एकको नष्ट किया और तीन बादि-
योंने दोदो को नष्ट किया । इनके अतिरिक्त एकको ये तीनोंही नहीं रचते, इस प्र-
कार मिथ्यामतियोंके सात भेद हुए । भावार्थ—जिसने दर्शन और ज्ञान दोहोंको मोक्षका
मार्ग माना उसने तो एक चारित्रको नष्ट किया, जिसने ज्ञान और चारित्र माना, उसने
एक दर्शनको नष्ट किया, और जिसने दर्शन और चारित्र ये दो माने उसने एक ज्ञानको
नष्ट किया । इसी प्रकार जिसने एक दर्शनहीको माना उसने ज्ञान चारित्रको नष्ट
कर दिया और जिसने एक ज्ञानहीको माना उसने दर्शन और चारित्रको नष्ट किया
और जिसने एक चारित्रकोही माना उसने दर्शन और ज्ञानपर पानी फेर दिया ।
इस प्रकार छह पक्ष तो ये हुए और एक नामिकका पक्ष है, जो इन तीनोंमें किसीको
नहीं मानता है । इस प्रकार सात पक्ष मिथ्यादृष्टियाँ हैं ॥ २७ ॥

इत च प्रमाणान्तरे—

“ज्ञानहीने प्रिया पुंसि पर नारभते फलम् ।

ततोऽप्यपेय किं लभ्या फलश्रीर्नष्टदृष्टिभि ॥ १ ॥

ज्ञान पक्षौ प्रिया चान्धे नि श्रद्धे नार्थगृह्यम् ।

ततो ज्ञानं प्रिया श्रद्धा अथ तत्पदकारणम् ॥ २ ॥

इत ज्ञान प्रियाशून्य हता प्राज्ञानिन प्रियः ।

धावसम्पन्धको नष्ट पदपद्मपि च पद्मम् ॥ ३ ॥”

अर्थ—“ज्ञानहीन पुरुषकी प्रिया पल्लवायक नहीं होती । जिसकी दृष्टि नष्ट हो गई
है वह अथवा पुरुष चलते २ जिस प्रकार वृक्ष की छायाको प्राप्त होता है, उसी प्रकार
क्या उसका फलकोभी प्राप्त होता है ? कदापि नहीं । ॥ १ ॥ पशुने तो अपने पल्लव
देख लेना प्रयोजनकी नहीं साधना और अपने पक्ष जनकर से होकर प्रिया
प्रयोजनकी नहीं साधती । अद्वारहितक ज्ञान और प्रिया दोनोंही (दर्शनकी सन्तति)
प्रयोजनसाधक नहीं हैं, इस कारण ज्ञान प्रिया और श्रद्धा तीनों एकत्र होकर ही
बाँटित अथवा साधक होती है ॥ २ ॥ प्रियाशून्य तो ज्ञान नष्ट है अथवा अ-

नीकी क्रिया नष्ट हुई देखो । दौड़ता २ तो अघा नष्ट हो गया और देवदत्त ९ (पगला) नष्ट हुआ । भावार्थ—वनमें आग लगी अपने-अपने इधर उधर दौड़नेकी क्रिया की किन्तु दृष्टिके बिना आगम गिरकर जल गया और पगु (लगडा) क्षिप्रका मर गई और क्षिप्रको रस्ता है, मर देखता तो है, परन्तु दौड़ा नहीं गया इस कारण प्रभुमें जलकर मर गया । इस कारण नान श्रद्धा और क्रिया इनमें ही प्रयोजनरी प्रिय होती है” ॥ ३ ॥

कारकादिक्रमो लोके व्यवहारश्च जायते ।

न पक्षेऽन्यिष्यमाणोऽपि सर्वथैकान्तवादिनाम् ॥ २८ ॥

अर्थ—सर्वथा एकान्तवादियोंके पक्षका विचार करनेसे उनके यदा कदा कदा कर आदि कारकोंका क्रम (परिपाटी और व्यवहार) दृष्टिगोचर नहीं होता है ॥ २८ ॥

इति च प्रमाणान्तरे—

श्रुतिषी ।

“इदं फलमियं क्रिया करणमेतदेव क्रमो

व्ययोऽप्यमनुपद्भज फलमिदं दशोपमम् ।

अथ सुदृढपक्षिपक्षिपतदेवकालाविमा-

यिति प्रतियितक्यन्प्रपतते बुधो नेतरः ॥ १ ॥”

अर्थ—‘जो विद्वान् हैं, वे ऐसा विचार करते हुए यत्न करते हैं, कि, वह तो दिया है, वह करण है और यह इसका फल है, यह इसका क्रम है, यह इसमें व्यय है, यह अनुपपत्तिमें व्यय हुआ फल है और यह मेरी दशा है । यह निश्चय है, वह इस करनेवाला पक्ष है और यह कार्यमेव ही देण तथा फल है । इस प्रकारका विचार करके अनेकान्त व्यवस्था बनाता है, परन्तु मूलतः इनका विचार नहीं करा है’ ॥ १ ॥

यस्य प्रज्ञा मृगमृगधरनेकान्ते च्युतधमा ।

ध्यानमिद्विधिनिधाय तस्य माध्वी महात्मन ॥ २० ॥

अर्थ—जिस पुरुषकी बुद्धि अनेकान्तमें अमग्नित्व जनिताय मृगप्राप्तमान है, जो मृगमृगका उच्च ध्यानकी विधि निधाय हो मग्नता है । सर्वथा एकान्तमतका ही सिद्धि न हो, एवं ध्यानकी विधि कैसे हो ॥ २० ॥

इस प्रकार मृगमृगधरनेकान्त ध्यानकी योग्यता का विचार किया । अथ देण कर है कि देण कर कर है ॥ २१ ॥ विचारक प्रसिद्ध है, उनकाही ध्यान की विधि ॥ २१ ॥

ध्याननक्ष्रे निषेध्यन्ते नैते मिध्यादृशः परं ।

मुनयोऽपि जिनेशाज्ञाप्रत्यनीकाश्चलाशया ॥ ३० ॥

अर्थ—सिद्धान्तमें ध्यान मात्र बचल मिथ्यादृष्टियोंकी नहीं निषेधते हैं, किन्तु जो जिनेन्द्र भगवान्की आज्ञामें प्रतिष्ठित हैं तथा तिनका चित्त चलित है और जैन साधु कहते हैं, उनकेभी ध्यानका निषेध किया जाता है । क्योंकि उनके ध्यानकी सिद्धि नहीं होती ॥ ३० ॥

ॐ योऽप्यता न पतित्वेऽपि येषां ध्यातुमिह क्षणम् ।

अन्यिदप्यलिङ्गमेतेषां सूत्रसिद्धि निगमते ॥ ३१ ॥

अर्थ—इस लोकमें जिनका मुनिअवस्थामें भी ध्यान करनेकी एक क्षणमात्रकी योग्यता नहीं है, उनकी परिचान सूत्रसिद्धि (शास्त्रोक्त) कही जाती है ॥ ३१ ॥

११ यत्कर्मणि न तद्वाचि वाचि यत्तद्य चेनसि ।

यत्तेयस्य स किं ध्यानपदधीमधिरोहति ॥ ३२ ॥

अर्थ—जिम वस्तुके जो कर्म (किया) में है, सो वचनमें नहीं है, वचनमें और ही कुछ है । तथा जो कुछ वचनमें है सो चिन्तनमें नहीं है । ऐसे मायाचारी यदि क्या ध्यानपदकीको पामकते हैं ॥ ३२ ॥

१२ सद्देनापि महत्त्व ये मन्यन्ते स्वस्य लाघवम् ।

परेषां सगवैकल्यासे स्वयुद्धैव यञ्जिता ॥ ३३ ॥

अर्थ—जो मुनि होकर भी परिग्रह रखते हैं और उम परिग्रहसे अपना महत्त्व मानते हैं तथा अन्य कि तिनके परिग्रह नहीं है उनकी लघुता समझते हैं, वे अपनी ही बुद्धिमें ठगे गये हैं, क्योंकि मुनिका महत्त्व तो निर्मयतासेही है ॥ ३३ ॥

१३ सत्सयमधुरा धृत्वा तुच्छशीर्लेर्मदोद्धतै ।

त्यक्ता ये सा च्युतस्यैर्ध्यातुमीश क तन्मन ॥ ३४ ॥

अर्थ—जिन नि सारस्वमायी मदोद्धत मुनियोंने समीचीन संयमकी पुरा धारण करके छोड़ दी और तिनका धैर्य छूट गया, उनका मन क्या ध्यान करनेमें समर्थ हो सक्ता है ? कदापि नहीं । क्योंकि हीनप्रवृत्ति मदोद्धत धैर्यरहितके ध्यात्री योग्यता नहीं है ॥ ३४ ॥

१४ कीर्तिपूजाभिमानार्तैर्लोकयात्रानुरञ्जितै ।

बोधचक्षुर्विलुप्तैस्तेषां ध्याने न योग्यता ॥ ३५ ॥

अर्थ—जो मुनि कीर्ति प्रतिष्ठा और अभिमानके अधमें आसक्त हैं, दुःखिन हैं तथा लोकयात्रामें प्रसन्न होते हैं अर्थात् हमारे पास बहुतसे लोग आवें जावें और हमको माने

जो ऐसी बातें समझे, उन्होंने अपने पापों की तरफ से किया है इससे
योंकि ध्यानकी योग्यता नहीं हो सकती है ॥ ३१ ॥

अन्न करणशब्दार्थ मिथ्यात्वविमलम् ।

निष्ठपूत येन नि शेष न मैमात्र प्रमीयते ॥ ३३ ॥

अर्थ—जिन मुनियों ने भगवान् के गुणों को निष्ठपूत मिथ्यात्व
समझ लिया नहीं यमन किया (नहीं उठाया) व मत्ताओं को प्रमाणरूप नहीं मान लें
हैं। क्योंकि मिथ्यात्वरूपी विषय प्रमाण नहीं है, इसका प्रमाणार्थी इन्द्रियों से, तत्त्वाथका ज्ञान शब्दान् प्रमाणरूप नहीं होता तब ऐसी अज्ञान ध्यानकी योग्यता
कहाँ ॥ ३३ ॥

१. दुःखमत्यादयः कालः कार्यमिच्छेन मायकम् ।

इत्युक्त्या स्वस्य ध्यान्येषा कैश्चिद्भयानं निविध्यते ॥ ३७ ॥

अर्थ—कोई २ मायु ऐसा कहकर अपना तथा परम ध्याता विषय कहते हैं कि,
“यह काल दुःख (पंचम) है। इस कालम ध्यानकी योग्यता सिमीरणी नहीं है”
इस प्रकार कहनेवालोंके ध्यान कैसे हो ॥ ३७ ॥

सदित्यते मतिस्तच्चे यम्य कामार्थलालसा ।

विप्रलब्धाऽन्यसिद्धान्तैः स कथं ध्यातुमर्हति ॥ ३८ ॥

अर्थ—जिसकी बुद्धि अन्यमतके शास्त्रोंमें ठगी गई है तथा जो काम और यमने
लुब्ध होकर वस्तुके यथार्थ स्वरूपम सन्निरूप (मंदेहसहित) है वह ध्यान करनेका
पात्र कैसे हो? क्योंकि जबतक तत्त्वोंमें (वस्तुस्वरूपम) संदेह होता है, तबतक
मन निश्चल नहीं हो सकता और जब मनही निश्चल नहीं, तब ध्यान कैसे हो ॥ ३८ ॥

मिसर्गचपल चेतो नास्तिकैर्विप्रनारितम् ।

स्याद्यस्य स कथं ध्यानपरीक्षाया क्षमो भवेत् ॥ ३९ ॥

अर्थ—एक तो मन स्वभावहीसे चंचल है, तिसपरमी निमग्न मन नामिक वादियों
द्वारा वंचित किया गया हो वह मुनि ध्यानकी परीक्षाम कैसे समझ हो सकता है?
अर्थात् नहीं हो सकता, क्योंकि नास्तिकमती सोटी २ युक्तियोंमें आत्माका नाशही
सिद्ध करते हैं। उसकी कुयुक्तियोंमें निमग्न मन फँस जाता है, उसके ध्यानकी योग्यता
कहाँसे हो सकती है ॥ ३९ ॥

कान्दर्पीप्रमुखा. पञ्च भावना रागरजिता ।

येषां हृदि पदं चक्षुः क तेषां वस्तुनिश्चयः ॥ ४० ॥

अर्थ—जिनके मनमें रागसे रजित कान्दर्पी आदि पांच भावनाओंमें निवास किया है,
उनके वस्तुनिश्चय (तत्त्वाथका) कैसे हो ॥ ४० ॥

एतत्तु अन्तर्भावो न भवति चतुर्था

चतुर्थी वैशिष्ट्यी वैश्व भावना आभिप्रायिणी ।

दानवी अपि अस्मोनी त्याग्या पश्यन्ती च सा ॥ ४१ ॥

अर्थ—चतुर्थी (वैशिष्ट्यी) वैश्व (वैश्ववर्तिनी) आभिप्रायिणी (युद्ध-
क्षेत्री), दानवी (दानवी) और अस्मोनी (कुटुम्बोदनी) इस प्रकार ये पांच
भावनाएं एक-एक हैं और चतुर्थी इनसे बांधी है ॥ ४१ ॥

१ आर्जुनरसिनमार्थं येषां वृत्ता प्रपादयन् ॥

नयां अस्मदपि अस्मद्वानमिद्विर्नयोपजायते ॥ ४२ ॥

अर्थ—जो मुनिवा आदि विचारक बहुत हुए उपायान्वित (बहानीय) समान
लक्षणवा हैं उनमें समीचीन ध्यानकी सिद्धि सम्भवेगी नहीं हो सकती । विचारका
उपायवा लक्षणसिद्धि है कि जब विचारमूलकोम बड़ा करनाया कि, मैंने तीर्थमें
जाकर लक्ष्य प्राप्त का उपाय किया है, मुझ द्वारा पाया आते हुए बड़ापि
होता न था । जब मूलविचार बड़ा विचारक पाया आते होने तब विचारको
बड़ा है, तब मूलविचार बड़ा होता । इसी प्रकार जो पुरुष पहिले तो मुनिदीक्षा
लक्ष्य प्रविष्टा प्रवृत्त करे और फिर अहं हो जाये उनका ध्यानकी सिद्धि
शक्य है ॥ ४२ ॥

११ अनिरुद्धाक्षरान्नाना भजिनोऽपरीयता ।

अपराधित्तयापया प्रमत्तान्यारमनिक्षणे ॥ ४३ ॥

अर्थ—जिनका हृदयविषयविषयोंकी प्रवृत्तिको नहीं रोका, उम परीपहें
नहीं जानते, और मनकी चपलता नहीं छोड़ी वे मुनि आत्माके विषयसे व्युत्त हो
जाते हैं । भाषार्थ—जिनके हृदय बगम नहीं हैं और परीपह आनेपर जो विषय
जाने हैं या जिनका मन चपल है, उनको आत्माका विषय या ध्यानी कीरता
परी पड़ती ॥ ४३ ॥

अनामादितनियेदा अविद्याप्याधयञ्जिता ।

अस्यार्द्धिमस्येमा न विदन्ति पर पदम् ॥ ४४ ॥

अर्थ—जो विरागताको प्राप्त नहीं हुए हैं तथा निष्कालरूपी व्यापसे (शिकारीसे)
बन्धन विषय है और तिनका मोक्ष और मोक्षमार्ग अज्ञात नहीं है, वे परमपद
अथवा आत्माका स्वरूपकी प्राप्तिरूप मोक्षको नहीं जानते ॥ ४४ ॥

न चेन कृष्णात्रान्त न च विज्ञानवासितम् ।

विरत न भोगभ्यो यस्य ध्यातु न स क्षम ॥ ४५ ॥

अर्थ—जो सातावेदनीयनित सुख और अणिमा महिमादि तथा धनादिक भ्रष्टि तथा रसीले भोजनादिकमें लपट है । मोहसे पापाभिचार कर्म करते हैं । उनके लिये आचार्य महाराज खेदसहित कहते हैं कि, हाय ! हाय ! इन्होंने अपने जीवनका नाश किया और अपनेको संसारसमुद्रमें डुबा दिया ॥ ५१ ॥

ये पापाभिचार कर्म कौन २ हैं, सो कहते हैं,—

११ घइयाकर्षणविद्वेष मारणोचाटन तथा ।

जलानलपिपस्तम्भो रसकर्म रसायनम् ॥ ५२ ॥

११ पुरक्षोभेन्द्रजाल च पलस्तम्भो जयाजयौ ।

विद्याच्छेदस्तथा घेघ ज्योतिर्ज्ञान चिकित्सितम् ॥ ५३ ॥

११ यक्षिणीमस्त्रपातालसिद्धय कालचक्षना ।

पादुकाञ्जननिर्ग्लिशभूतभोगीन्द्रसाधन ॥ ५४ ॥

१ इत्यादिविक्रियाकर्मरञ्जितैर्दुष्टचेष्टितै ।

आत्मानमपि न ज्ञात नष्ट लोकदयच्युतै ॥ ५५ ॥

अर्थ—वशीकरण, आकर्षण, विद्वेषण, मारण, उचाटन, तथा जल अग्नि विपक्वा खमन, रसकर्म, रसायन ॥ ५२ ॥ नगरमें शोभ उत्पन्न करना, इन्द्रजालसाधन, सेनाका खमन करना, वीरद्वारका विधान बनाना, निषाफे छेदनेका विधान साधना, घेघना, ज्योतिषका ज्ञान, वैपकविद्यासाधन ॥ ५३ ॥ यक्षिणीमस्त्र, पातालसिद्धिसे विधानका अभ्यास करना, कालचक्षना (मृत्यु जीतनेका मन्त्र साधना), पादुकासाधन (महाका पहनकर आकाश या जलमें विहार करनेकी विद्याका साधन) करना, अदृश्य होने तथा गड़े हुए धन देखनेके अञ्जनका साधना, शस्त्रादिकका साधना, भूतसाधन, सर्पसाधन ॥ ५४ ॥ इत्यादि निष्क्रियारूप कार्योंमें अनुरक्त होकर दुष्ट चेष्टा करनेवाले जो हैं उन्होंने आत्मज्ञानसे भी हाथ धोया और अपने दोनों लोकका कार्यभी नष्ट किया । ऐसे पुर वीरोंके ध्यानकी सिद्धि होनी कठिन है ॥ ५५ ॥

११ यतित्य जीयनोपाय कुर्यन्त किं न लभिता ।

मातु पण्यमिवाल्म्य यथा केचिद्व्रतगुणा ॥ ५६ ॥

११ निस्त्रपा कर्म कुर्यन्ति यतित्वेऽप्यतिनिन्दितम् ।

ततो विराध्य सन्मार्गं विशन्ति नरकोदरे ॥ ५७ ॥

अर्थ—कई निदय, निर्लज्ज साधुपनमें भी अतिशय निंदा करनेयोग्य कार्य करते हैं । ये समीचीन हितरूप मार्गका विरोध कर नरकमें प्रवेश करते हैं । जैसे कोई अपनी माताको घेय्या बनाकर उसमें धनोपार्जन करते हैं, तैसेही जो मुनि होकर उम मुनि-

तथा—

इत्थ न किञ्चिदपि साधनमाध्यमम्
समेन्द्रजालसदृश परमार्थगूढम् ।

तस्मादनन्तमजर परम विकाशि

तद्वत्तु चाञ्छत जना यदि चेननास्ति ॥ ७ ॥

अर्थ—उक्त प्रकारसे जगतमें कुछभी साधने योग्य साध (साध) नहीं है । क्योंकि जगतका कार्य समूहके समान अथवा इन्द्रजालके समान क्षणविनश्वर और परमाधीन रहता है । इस कारण आचार्य महाराज कहते हैं कि, हे प्राणी जन ह । यदि तुमने चेतना (बुद्धि) है तो ऐसे परम उत्कृष्ट प्रकाशरूप ज्ञानानन्द स्वरूप अपने जन्म की बाधा करो, जो अन्न और अरारहित है और अन्य समस्त प्रकारका अभिन्न अंशोंका त्याग कर दो ॥ २ ॥

सांख्यविहीनम् ।

११ किं ते सन्ति न कोटिशोऽपि सुधियः स्फारैर्यथोभि परम्

ये घाता प्रथयन्त्यमेयमहसा राशे परब्रह्मण ।

तन्म्यानन्दसुधासरस्यनि पुनर्निर्मज्ज्य मुञ्चन्ति ये

सन्ताप भयसम्भय त्रिणतुरास्ते सन्ति या नात्र या ॥ ६१ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि, इस जगत् में बहुत बचनोक्त (कथन) हैं, अथवा प्रतापकी शक्तिरूप परमात्माकी शक्तिको विस्तार करनेवाले बर्गोंको विद्वान् कहा नहीं होते । अवश्य होतेही हैं । परन्तु उस परब्रह्मस्वरूप अमनोरे समुद्र, समुद्र संसारसे उत्पन्न हुए सन्तापको नष्ट करनेवाले जगतमें तीन वा चारही होते हैं, अवश्य नहीं भी होते । भाषार्थ—परमानाकी कष्टोंको विस्ताररूपसे कहते हैं कि जगत् अनेक विद्वान् होते हैं, परन्तु परमात्मस्वरूपमें हीन होनेवाले विद्वतेही होते हैं । जगत् तीन चार कहनेसे विरलवचन जानना चाहिये, संख्याका विद्वत् साधन उचित नहीं है क्योंकि थोड़े कहने हों, तो हँसिकेमेंभी एनेही शब्द कहा करने हैं ॥ ६१ ॥

अब इस अधिकारको पूरा करते हुए समाप्त्युक्त कहते हैं,—

सांख्यविहीनम् ।

एते पण्डितमानिनः शमदमस्याध्यायचिन्तायुता

रागादिमहयन्त्रिणा यन्निगुणप्रध्वमनृच्छानना ।

ध्यातृष्टा विषयैर्मदैः प्रमुदिता दाह्याभिरद्गीहृता

न ध्यान न विवेचन न च तपः वनु चराचर क्षमा ॥ ६२ ॥

अर्थ—शे पण्डित तो नहीं हैं, किन्तु अनेकों पण्डित कहने हैं, जैसे —, दम,

व्यायायमे रहित, तथा शरीर में मोक्षदि निगन्तव्य नष्ट है, तब जो गुण नष्ट करनेमें योग्य है, कदाचित् करने में, विनाश में, या नष्ट, इस संदेह शून्यमयादिकमें, पकड़े में है, तब भी गुण नष्ट करनेको समय है नष्ट पान करनेमें समय है और न तभी कर सकते हैं ॥ ६२ ॥

इस प्रकार ध्यानात गुण शेष बचाने हैं। जिसमें गुण, शिवशरीर, अद्वैत, पापद्विषय तथा जो जैनके यज्ञ (मातृ) कदाचित् शास्त्रमें मन्त्र है, या नष्ट पानेको वेद आशीर्वादों विविध शोभा है, उक्त ध्याना करनेकी योग्यता विशेष किया है।

गोत्रम् ।

जो गृहस्थानी योग, सम्मग्नसत्त्वप्रगतिना ।

ध्यानयोग्य नहिं योग्य, गृहस्थानीकी का क्या ॥ १ ॥

इति श्रीजानाजने योगप्रदीपाधिकारे पुनरावृत्तायें विहिते चतुर्थ सर्ग ॥ ४ ॥

अथ पञ्चम सर्ग ।

आगे ध्याता योगीधरोंकी प्रशंसा करते हैं,—

अथ निर्णीततत्त्वार्था धन्या सविद्वान्मनसा ।

कीर्त्यन्ते यमिनो जन्मसम्भूतसुखनिःस्पृहा ॥ १ ॥

अर्थ—अध्यातार जो सयमी मुनि तत्त्वार्थका (बन्धुका) यथाथ स्वरूप जानते हैं, मनमें सवेगरूप हैं, मोक्ष तथा उसने मार्गमें अनुगामी है, और समारम्भित सुखोंमें निष्प्र (बाछारहित) हैं वे मुनि धन्य हैं। उनका कीर्तन वा प्रशंसा की जाती है ॥ १ ॥

भवभ्रममणनिर्विण्णा भावशुद्धिं समाश्रिता ।

सन्ति केचिच्च भूषण्ये योगिन पुण्यचेष्टिना ॥ २ ॥

अर्थ—इस पृथिवीतलपर अनेक योगीधर सत्कारके चरसे विरक्त हैं, भावोंका शुद्धतासहित हैं, तथा पवित्र चेष्टावाले हैं। यहाँ कोई यह पूछे कि, “इस काजमें तो ऐसे कोई साधु दीख नहीं पड़ते” तो इसका यह उत्तर है कि, यह प्रथम जिस समय रचा गया था, उस समय ऐसे अनेक योगीधर थे और अब भी किसी दूर क्षेत्रमें हों तो क्या आश्चर्य है ॥ २ ॥

११ विरज्य कामभोगेषु विमुच्य वपुषि स्पृहाम् ।

यस्य चित्त स्थिरीभूत स हि ध्याता प्रशस्यते ॥ ३ ॥

अर्थ—जिस मुनिका चित्त कामभोगोंमें विरक्त होकर और शरीरमें स्पृहाको छोड़के स्थिरीभूत हुआ है, निश्चय करके उसीको ध्याता कहा है । वही प्रशसनीय ध्याता है ॥ ३ ॥

१) सत्सयमधुरा धीरैर्नरि प्राणात्ययेऽपि वै ।

त्यक्ता महत्त्वमालम्ब्य ते हि ध्यानधनेश्वरा ॥ ४ ॥

अर्थ—जिन मुनियोंने महान् मुक्तिपनको अगीकार करके प्राणोंका नाश हाते भी समीचीन संयमकी धुरीको नहीं छोड़ा है, वेही ध्यानरूपी धनके ईश्वर (स्वामी) होते हैं । क्योंकि संयमसे च्युत होनेपर ध्यान नहीं होता ॥ ४ ॥

१) परीपह्महान्यालैर्ग्राभ्यैर्वा कण्टकैर्दृढैः ।

मनागपि मनो येषा न स्वरूपात्परिच्युतम् ॥ ५ ॥

अर्थ—जिन मुनियोंका चित्त परीपहरूप दुष्ट दृष्टियों अथवा सर्पोंमें तथा भामीण मनुष्योंके दुवचनरूपी काटोंसे किंचिन्मात्रभी अपने स्वरूपसे च्युत नहीं हुआ, तथा—॥ ५ ॥

१) श्रोधादिभीमभोगिन्द्रैः रागादिरजनीचरैः ।

अजप्पैरपि विध्वस्त न येषा यमजीयितम् ॥ ६ ॥

अर्थ—जिन मुनिकोंका संयमरूपी जीवन श्रोधादि कषायरूप सर्पोंसे तथा अजय रागादि निशाचरोंसे नष्ट नहीं हुआ, तथा—॥ ६ ॥

१) मन प्रीणयितुं येषा क्षमास्ता दिव्ययोषितः ।

मैत्र्यादयः सता सेव्या ब्रह्मचर्यपञ्चनिन्दिते ॥ ७ ॥

अर्थ—जिन मुनियोंके अनिन्दित (प्रशसनीय) प्रसन्नचर्यक होतेहुए मनको वृत्त करने वाली प्रसिद्ध मैत्री, प्रमोद, कारण्य, माध्यस्थ्य, ये ४ भावनारूपी मुशर तथा समथ सिया हैं । अर्थात् इन भावनाओंके भावनेसे जिनका चित्तमें कामादि विषादभाव नहीं उपजते, तथा—॥ ७ ॥

१) तपस्तरत्नीव्राचि प्रचये पातितः स्मरः ।

वै रागारिषुभिः सार्द्धं पतद्गमतिमीदृशः ॥ ८ ॥

अर्थ—जिन मुनियोंने तपस्वरूपी तीव्रअग्निवी ज्वालाके समुद्गमें रागादि शत्रुओंके साथ कामको डाल दिया और पतगके समान भूल कर दिया, तथा—॥ ८ ॥

१) निःसङ्गत्वं समासाद्य ज्ञानराज्यं समीप्यितम् ।

जगत्प्रपञ्चमत्कारि विघ्नभूत विचेष्टितम् ॥ ९ ॥

अर्थ—जिनोंने निष्परिमहद्वनको अगीकार करके तीन जगत्तमें चमत्कार करोडन तथा आश्चर्यरूप घेष्टावाले ज्ञानरूपी राज्यकी बाठा की, तथा—॥ ९ ॥

१) अत्युग्रतपसाऽऽत्मानं पीडयन्तोऽपि निर्दयम्

जगद्धिध्यापयन्त्युच्चैर्यं मोहदहनक्षतम् ॥ १० ॥

अर्थ—जो मुनि अपने आत्माको अति तीन तपसे निर्दयीके समान पीडा करते हैं तो भी मोहरूपी अग्निसे जलते हुए जगतको अतिशयताके साथ बुझाते हैं अर्थात् शान्त करते हैं, तथा—॥ १० ॥

१) स्वभावजनिरातङ्गनिर्भरानन्दनन्दिता ।

तृष्णार्चिःशान्तये घन्या येऽकालजलदोद्गमाः ॥ ११ ॥

अर्थ—जो घन्य मुनि तृष्णारूपी अग्निकी ज्वालाको शान्त करनेके लिये अकालमें (ग्रीष्मकालमें) स्वभावसे उत्पन्न, दाहरहित, पूर्ण आनन्दसे आनन्दरूप मेघके उदयके समान हैं, तथा—॥ ११ ॥

१) अशेषसगसन्यासवशाजितमनोदिजा ।

विषयोद्दाममातङ्गघटासघटघातका ॥ १२ ॥

अर्थ—जो मुनि समस्त परिग्रहके त्यागके कारण मनरूप चञ्चल पक्षीको जीतनेवाले हैं, तथा निषयरूपी मदोन्मत्त हस्तियोंके सघट्टके (समूहके) घातक हैं, तथा—॥ १२ ॥

१) पाकपथातीतमाहात्म्या विश्वविद्याविशारदाः ।

शरीराहारसंसारकामभोगेषु निस्पृहा ॥ १३ ॥

अर्थ—जिनका वचनपथसे अगोचर माहात्म्य है, जो समस्त विद्याओंमें विद्वान् हैं और शरीर आहार संसार काम भोगोंमें निस्पृह (बांछारहित) हैं, तथा—॥ १३ ॥

१) विशुद्धमोघपीयूषपानपुण्यीकृताशया ।

स्मिरेतरजगज्जन्तुकण्ठावारिवाह्य ॥ १४ ॥

अर्थ—जिनका चित्त निमल ज्ञानरूप अमृतके पानसे परिग्रह है और जो स्वादायन भेदमुक्त जगत्में जीवोंको करणारूपी जलने समुद्र हैं, तथा—॥ १४ ॥

१) स्वर्णाचल इयाकम्पा ज्योति पथ इयामला ।

समीर इव निमग्ना निर्ममत्वं ममाश्रिता ॥ १५ ॥

अर्थ—मेघप्रवर्तने समान-
मग्न हैं और निमग्नतासे
निमल हैं, पराके समान नि-
—॥ १५ ॥

१) निमल

॥ १५ ॥

अर्थ—वे मुनि नि

तृप्त करनेवाले हैं,

॥ १६ ॥

या मयुगो
साय

इत्यादिपरमोदारपुण्याचरणलक्षिता ।

ध्यानसिद्धेः समाख्याताः पात्र मुनिमहेश्वराः ॥ १७ ॥

अर्थ—इत्यादि परम-उदार पवित्र आचरणोंसे चिह्नित, मुनियोंमें प्रधान, मुनीश्वर ध्यानशील सिद्धि के पात्र बने गये हैं ॥ १७ ॥

तयारोदु प्रवृत्तस्य मुक्तेर्भवनमुत्तमम् ।

सोपानराजिकाऽमीषा पादच्छाया भविष्यति ॥ १८ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि, हे आत्मन् ! मुक्तिरूपी मंदिरपर चढ़नेकी प्रवृत्ति करते हुए तुझे पूजात् प्रकारके मुनियोंके चरणोंकी छायाही सोपानकी पकिसमान होवेगी । भावार्थ—जिनको ध्यानकी सिद्धि करनी हो, उन्हें ऐसे मुनियोंकी सेवा करनी चाहिये ॥ १८ ॥

ध्यानसिद्धिर्मता सूत्रे मुनीनामेव केवलम् ।

इत्याद्यमलधिगयातगुणलीलायलम्पिनाम् ॥ १९ ॥

अर्थ—सूत्रमें (सिद्धान्तमें) उपर्युक्त गुणोंसे आदि लेकर निमल प्रसिद्ध गुणोंमें प्रवर्तनरूप श्रीद्वावे अवलम्बन करनेवाले केवल मुनियोंकेही ध्यानकी सिद्धि मानी है । अर्थात् मुक्तिके पारणसरूप ध्यानकी सिद्धि अन्यके नहीं हो सक्ती ॥ १९ ॥

साङ्ख्यविद्भीषितम् ।

१) निष्पन्दीशूतचित्तचण्डविहगा पञ्चाक्षकक्षान्तराः

ध्यानध्यस्तसमस्तकल्मषविषा विषाम्बुधे पारगाः ।

लीलोन्मूलितकर्मकन्दनिचयाः काम्प्यपुण्याशया

योगीन्द्रा भयभीमदैत्यदत्ता कुर्यन्तु ते निर्वृतिं ॥ २० ॥

अर्थ—पूर्वोक्त गुणोंके धारक योगीन्द्र गण हमारे तथा मय्य पुरुषोंके निर्वृति (सुख) रूप मोक्षको करो । ईश्वर हैं वे योगीन्द्र । निश्चलरूप किया है चित्तरूपी प्रचंड पत्नी निन्दोने, पचेन्द्रियरूप बनके दग्ध करनेवाले हैं, ध्यानसे समस्त पापोंके नाश करनेवाले हैं, विषारूप समुद्रके पारगामी हैं, श्रीडामात्रसे कर्मोंके मूलको उखाड़नेवाले हैं, कम्प्यभावरूप पुण्यसे पवित्र चित्तवाले हैं और ससाररूप भयानक दैत्यको ब्रूण करने वाले हैं ॥ २० ॥

१) विन्ध्याद्रिर्नगर गुहा घसतिका शय्या शिला पार्यती

दीपाध्यन्द्रकरा मृगा सहचरा मैत्री कुलीनाङ्गना ।

विज्ञानं सत्सिद्धं तपः सदृशान्येषा प्रशान्तात्मना

धन्यास्ते भवपङ्कनिर्गमपथप्रोदेशका सन्तु न ॥ २१ ॥

१) अत्युग्रतपसाऽऽत्मान पीडयन्तोऽपि निर्दयम्

जगद्विध्यापयन्त्युचैर्ये मोहदहनक्षतम् ॥ १० ॥

अर्थ—जो मुनि अपने आत्माको अति तीन तपसे निर्दयीके समान पीडा कराते तो भी मोहरूपी अग्निसे जलते हुए जगतको अतिगयताके साथ बुझाने हैं अर्थात् नष्ट करते हैं, तथा—॥ १० ॥

स्वभावजनिरातङ्गनिर्भरानन्दनन्दिता ।

तृष्णार्थि शान्तये घन्या येऽकालजलदोद्गमा ॥ ११ ॥

अर्थ—जो घन्य मुनि तृष्णारूपी अग्नि की ज्वालाको शान्त करनेके लिये अग्निसे (प्रत्यक्षानन्द) स्वभावसे उत्पन्न, दाहरहित, पूर्ण आनन्दसे आनन्दरूप भेषके उत्पन्न करने हैं, तथा—॥ ११ ॥

अशेषसंगमन्यासयशास्त्रितमनोमिजाः ।

विषयोद्दाममातङ्गघटासघटघातका ॥ १२ ॥

अर्थ—जो मुनि गमन परिग्रहके त्यागके कारण मनरूप घात पक्षीको जानोते हैं, तथा विषयरूपी अशेषमग्न हृदयविषयोंसे (समूहके) घातक हैं, तथा—॥ १२ ॥

२) साक्ष्यभागीनमात्रात्म्या विश्वविधायिगारदा ।

जरीगाररसंगारकामभोगेषु निःस्पृहा ॥ १३ ॥

अर्थ—जिनका वक्तागतो भगो ॥ माहात्म्य है, जो समस्त विषयोंमें निष्प्रह है, तथा साक्ष्यभागीनमात्रात्म्या निष्प्रह (बांझरहित) हैं, तथा—॥ १३ ॥

विशद्विषयगोचरीगुणगानुष्णगीकृताशयाः ।

विशेषतः समन्तानुकरणाधारिचार्द्रय ॥ १४ ॥

अर्थ—जिनका विश्वविषय गानुष्ण अमृत पानमें परिवर्तित है और जो विशद्विषयगोचरीगुणगानुष्णगीकृताशयाः विशेषतः समन्तानुकरणाधारिचार्द्रय हैं, तथा—॥ १४ ॥

सर्गात्म्य इवाकस्या गगोनि पथ इवागम्या ।

सर्गात्म्य इव नि सद्भा निर्मेमर्थ्य समाश्रिता ॥ १५ ॥

अर्थ—जिनका समन्तानुकरण अथवा है, आद्यात्म्य विमल है, पानतः समन्तानुकरण है, तथा निर्मेमर्थ्य समाश्रिता हैं, तथा—॥ १५ ॥

विशेषतः समन्तानुकरणाधारिचार्द्रय ॥

विशेषतः सर्गात्म्य इव नि सद्भा निर्मेमर्थ्य समाश्रिता ॥ १६ ॥

अर्थ—जो विश्वविषयगोचरीगुणगानुष्णगीकृताशयाः विशेषतः समन्तानुकरणाधारिचार्द्रय हैं, तथा निर्मेमर्थ्य समाश्रिता हैं, तथा—॥ १६ ॥

इत्यादिपरमोदारपुण्याचरणलक्षिता ।

ध्यानसिद्धेः समाख्याता पात्र मुनिमेश्वरा ॥ १७ ॥

अर्थ—इत्यादि परम-उदार पवित्र आचरणोंसे चिह्नित, मुनियोंमें प्रधान, मुनीश्वर ध्यानकी सिद्धिके पात्र बने गये हैं ॥ १७ ॥

तवारोढुं प्रवृत्तस्य मुक्तेर्भयनमुत्तमम् ।

सोपानराजिकाऽमीषा पादच्छाया भविष्यति ॥ १८ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि, ॥ आत्मन् ! मुक्तिरूपी मंदिरपर चढ़नेकी प्रवृत्ति करते हुए तुझे पूर्वोक्त प्रकारके मुनियोंके चरणोंकी छायाही सोपानकी पश्चिममान होवेगी । भावार्थ—जिनसे ध्यानकी सिद्धि कर्नी हो, उन्हें ऐसे मुनियोंकी सेवा कर्नी चाहिये ॥ १८ ॥

ध्यानसिद्धिर्मता सूत्रे मुनीनामेव केवलम् ।

इत्याद्यमलविद्यानगुणानीलायनम्बिनाम् ॥ १९ ॥

अर्थ—सूत्रमें (मिदान्तमें) उपर्युक्त गुणोंको आदि लेकर निम्न भिन्न गुणोंमें अवर्धनरूप कीड़ाके अलम्बन करनेवाले पक्षी गुणियोंकी ध्यानकी सिद्धि कर्नी है । अर्थात् मुक्तिके कारणस्वरूप ध्यानकी सिद्धि अन्यके नहीं हो सकती ॥ १९ ॥

शार्ङ्गलक्षिकीकृतम् ।

१) निष्पन्दीकृतचिन्ताचण्डपिङ्गा पञ्चाक्षवक्षस्तथा

ध्यानध्वस्तसमस्तबालमपथिया विद्याम्बुधे पारगा ।

लीलोन्मूलितकर्मवन्दनिषया काष्ण्यपुण्याशया

योगीन्द्रा भयभीमदैत्यदरुणा कुर्वन्तु त निर्दृति ॥ २० ॥

अर्थ—पूर्वोक्त गुणोंके धारक योगीन्द्र गण हमारे तथा भय पुराणोंके विद्वान् (मुनि) रूप मोक्षको करो । किन्तु वे योगीन्द्र विद्यारूप विद्या है विनाशकारी शक्ति है जिन्होंने, पञ्चेन्द्रियरूप बनये दग्ध करवाते हैं, ध्यासे समस्त कर्मों का नाश करनेवाले हैं, विद्यारूप समुद्रके पारगामी हैं, कीलकप्रभे कीलके रूपको उन्मूलनेवाले हैं करणमयरूप पुण्यसे पवित्र विद्या है और संसाररूप भयानक दैत्यको बुरा करने वाले हैं ॥ २० ॥

१) चिन्ताचिन्तितगर गुहा वसतिना दार्या निला पार्वती

दीपाश्चन्द्रवरा भृगा सहसरा मैत्री कुलीनाह्वना ।

विज्ञाने मलितं लपः सदृशान् देवा प्रशान्तात्मना

पयास्ते भवपटुनिर्गमपथमोदेतावा सन्तु न ॥ २१ ॥

अर्थ—जिन प्रशान्तात्मा मुनि महाराजाओंके विन्याचल पर्यंत नगर है, परम गुफाये वसतिका (गृह) है, पर्यंतकी शिला शय्यासमान हैं, चन्द्रमानी विरा दीप कबू हैं, मृग सहचारी है, सर्वभूतमैत्री (दया) कुलीन स्त्री है, पीनेका जल विज्ञान और तप उत्तम भोजन है, वेही धन्य है। ऐसे मुनिराज हमको ससाररूप कर्मसे निरुद्ध मार्गका उपदेश देनेवाले हों ॥ २१ ॥

अथवा ।

११ रुद्धे प्राणप्रचारे वपुषि नियमिते सवृतेऽक्षप्रपञ्चे
नेत्रस्पन्दे निरस्ते प्रलयमुपगतेऽन्तर्विकल्पेन्द्रजाले ।
भित्ते मोहान्धकारे प्रसरति महसि कापि विश्वप्रदीपे
धन्यो ध्यानावलम्बी कलयति परमानन्दसिन्धुप्रवेश ॥ २२ ॥

अर्थ—श्वासोच्छ्वासके रूढ़ते हुए, शरीरके निश्चल होतेहुए, इन्द्रियोंके प्रचार सवरण होतेहुए, नेत्रोंकी चलनक्रियाके रहित होते हुए, समस्त विस्मयरूप इन्द्रजाल प्रलय होते हुए, मोहान्धकारके दूर होते हुए, और समस्त वस्तुओंको प्रकाश करनेवाले तेज पुजको अपने हृदयमें विस्तारते हुए जो धन्य मुनि ध्यानावलम्बी है हैं वही परमानन्दरूपी समुद्रमें प्रवेश करनेका अभ्यास करते हैं ॥ २२ ॥

शिलारिणी ।

११ अहेयोपादेय त्रिभुवनमपीद व्ययसितं
शुभ वा पाप वा दयमपि दहन्कर्म महसा ।
निजानन्दास्वादव्यवधियिषुरीभूतविषयं
प्रतीत्योषेः कश्चिद्विगलितविकल्पं विहरति ॥ २३ ॥

अर्थ—अपने स्वाभाविक आनन्दके स्वादसे दूर हैं इन्द्रियविषय जिसके ऐसा का मुनि अपने तेजसे शुभाशुभ कर्मोंका दहन करता हुआ, भले प्रकार प्रतीतिगोचर का इस अहेयोपादेयरूप त्रिभुवनमें विकल्परहित भ्रमण करता है। भावार्थ—ध्यानम्। तब तो निश्चय अवस्था देही, परन्तु विहार करते हुएभी निश्चलके समान है, अर्थात् जगत्में विगलित त्याग करने वा ग्रहण करने योग्य कुछभी नहीं है, और विषयोंकी वृत्ति नहीं है वही निर्विकल्परूप होकर कर्मात्ती निर्वास करता हुआ विचरता है ॥ २३ ॥

आनन्दविहीनचित्तम् ।

दृष्ट्वा च तदुत्तमस्तु निचया विज्ञानानुपाशयाः
विषयं न प्रणिमन्द्रं निजनिजस्थाधारणा देहिनाः ।
आनन्दमृगमिन्धुशीकरणयैर्निर्वाण्य जन्मज्वर
ये मुञ्च्यन्ते नन्दुपीक्षणपराम्ने मग्नि विप्रा यदि ॥ २४ ॥

अर्थ—दृष्टि व दृग्गुणगणको गोपनीयता (तामिष), साक्षात्प्राप्तनो नृत्य नि
 तरा—तदा लम् । निषयादिष्वयं प्रयोजनो ज्योती तेमे प्राप्ती तो वापरमें विद्यमान
 है, दृग्गुणान्तररूप अन्तर व दृग्गुणान्तरमे मंगाररूप उदर व दाहको (अ
 गिषो) दृग्गुणान्तररूपी शीत व दृग्गुणान्तर व दृग्गुणान्तर करनेमें ओ तपर है, व
 यदि है ओ दो तीन ही होने ॥ २४ ॥

५ सुम तिमिष्टात्तद्वसुभगप्रामादगर्भात्तरे
 पश्यते परमोपधानरविने दिव्याद्गनाभि मत् ।
 निरेषात् निरम्भविष्टपिपैरन्त स्फुरज्ज्योतिषि
 क्षोणीरप्रदिग्गदिबोटरगतेर्कन्यनिशा नीपते ॥ २५ ॥

अर्थ—त्रिनेत्रे वृक्ष, वृक्षमें दिव्यान्तरमे तिमिरतमान सुदूर महलोंमें उत्कृष्ट उपधान
 दृग्गुणान्तरमे तपी दृग्गुणान्तरमे सुदूर तिमिर व साध गयन विद्या था, वेही समस्त संसारके
 विषयो व तिमिर करने व दृग्गुणान्तरमे पुन अन्तरगते पानज्योतिके स्फुरण होनेसे धृष्टीमें
 तदा पश्यते व दृग्गुणान्तरमे तिमिर अन्तर व दृग्गुणान्तरमें प्राप्त होकर रात्रि
 विद्यते है जहाँ धृष्ट है ॥ २५ ॥

यिस्ते निश्चयता गते प्रशमिने रागाद्ययिषामपे
 यिद्राणेऽक्षदम्भवे विष्टिने प्याने भ्रमारम्भके ।
 आनन्दे प्रविज्जुम्भिने पुरपनेर्ज्ञाने समुन्मीलिते
 स्या दृष्टपन्ति वदा पनम्यममिन पुस्तेच्छया द्यापदा ॥ २६ ॥

अर्थ—हे आनन्द ! तरे मनने निश्चयता होते हुए, रागादि अविषाकार रोगोंमें उप
 शमता होते हुए, इन्द्रियो व समुत्पत्ति विषयोमें नही प्रवृत्तते हुए, भ्रमोत्पादन करनेवाले
 अज्ञानाधकारके नष्ट होते हुए, और आनन्दको विन्यारते हुए आत्मज्ञानके प्रगट होनेपर
 ऐमा वृत्तता दिन होगा जब तुझे बनने वारों ओरमे मृगादि पशु चित्रलिखित मूर्ति अथवा
 मूर्ति हुए वृत्त व दृष्ट व समान देखेंगे । तिम समय तू ऐसी निश्चयमूर्तिमें ध्यानस्थ होगा,
 उसी समय धन्य होगा ॥ २६ ॥

सम्भवा ।

११ आत्मन्यात्मप्रकारे कृतमवस्थति सद्रमन्यासपीर्षा
 दन्तज्ज्योति प्रकाशादिलयगतमहामोहनिद्रातिरेक ।
 निर्णीते स्वस्वरूपे स्फुरनि जगदिदं यम्य शन्य जह वा
 तम्य श्रीयोधयार्थेर्दिशतु तय शिव पादपङ्केरश्री ॥ २७ ॥

१ वदा दा लीनका अर्थ विरलवचन जानना संस्कारका कुछ भिन्न नहीं है ।

अर्थ—जिसकी आत्मा में अपना प्रवर्तन है, पद्मव्यम नहीं है और बाह्यपरिग्रह त्यागसे तथा अन्तरगविज्ञानज्योतिर्वे प्रकाश होनेसे जिमका महामोहरूप निद्राका उत्कर्ष नष्ट होगया है और जिसको स्वरूपका निश्चय होनेसे यह जगत् ग्रन्थवत् वा जड़वत् प्रतिभासता है, ऐसे श्रीज्ञानसमुद्र मुनिके चरणमलकी लक्ष्मी (ज्ञान) तुमको मोक्षपद प्रदान करे ऐसा आशीर्वादात्मक उपदेश है ॥ २७ ॥

मन्दाकाता ।

११ आत्मायत्त विषयविरस तत्त्वचिन्तायलीन
निर्व्यापार स्वहितनिरत निर्वृतानन्दपूर्ण ।

ज्ञानारूढ शमयमतपोध्यानलब्धावकाश

कृत्याऽऽत्मान कलय सुमते दिव्ययोधाधिपत्यम् ॥ २८ ॥

अर्थ—हे सुमुक्ति ! अपनेको प्रथम तो आत्मायत्त कहिये पराधीनतासे छुड़ाकर स्वाधीन कर । दूसरे—इन्द्रियोंके विषयोंसे निरक्त कर । तीसरे—तत्त्वचिन्तामें मग्न (लीन) कर । चौथे—सासारिक व्यापारसे रहित निश्चल कर । पाचवें—अपने हितमें लगा । छठे—निर्वृत अर्थात् क्षोभरहित आनन्दसे परिपूर्ण कर । सातवें—ज्ञानारूढ कर । आठवें—शम यम दम तपमें अवकाश मिले ऐसा करके फिर दिव्यशोध कहिये केवल ज्ञानक अधिपतिपनेको प्राप्त कर । भावार्थ—उपर्युक्त आठ कार्योंसे केवलज्ञानकी प्राप्ति होती है ॥ २८ ॥

अब इस अधिपतिपनेको पूर्ण करते हुए कहते हैं—

शादूलविज्रीनितम् ।

इदपन्ते भुवि किं न ते हूनधिष सरवान्यतीताधिरम्

ये लीला परमेष्ठिन प्रतिदिन तन्वन्नि वाग्नि परा ।

त साक्षादनुमूयं नित्यपरमानन्दाम्बुराशि पुन-

ये जन्मभ्रममुत्सृजन्ति पुरुषा धन्यास्तु ते दुर्लभा ॥ २९ ॥

अर्थ—इस पृथिवीपर परमेष्ठीकी नित्यप्रति केवल बचनोंसे बहुत कालपर्यन्त लीना भवनोंको विमृष्ट करनेवाले वृत्तबुद्धि क्या गणनामें अर्थात् नहीं हैं ? अनि तु अमरपद देवनेमें आते हैं । परन्तु नित्यपरमानन्दामृतरी राशिरूप उम परमेष्ठीको सागार अनुभवोत्तर कर समारोह भ्रमको दूर करते हैं, ऐसे पुरुष दुर्लभ हैं और वेत हैं पुरुष धन्य हैं ॥ २९ ॥

इस प्रकार ज्ञान करनेवाले योगीधर्मोंकी प्राप्ति की गद् । यद्यपि इस पंचम काव्योपदेश में अन्तर्ध्या देवनेमें नहीं आते, तो भी उनके गुणाज्वाला मुक्त करण करनेसे भगवत् बोधा मन परितः होता है और अथ कर्मिणीकी श्रद्धात्मक मिथ्याचक्षा तारा होता है ।

बोहा ।

रत्नत्रयको धार जे, शम दम यम चित देय ।

ध्यान करै मन रोकिय, धन तें मुनि शिव लेंय ॥ १ ॥

इति श्रीजानार्णवे योगप्रदीपाधिकार गुभचन्द्राचार्यविरचिते पद्मम सग ॥ ५ ॥

अथ षष्ठ सर्ग ।

आगे ध्याता ध्यानके अगस्वरूप सम्यग्दर्शनादिकका व्याख्यान करते हैं—

सुप्रयुक्तं स्य साक्षात्सम्यग्दृग्बोधमयम् ।

त्रिभिरेवापवर्गश्रीर्चनाश्लेष प्रयच्छति ॥ १ ॥

अर्थ—भूतैककार प्रयुक्त किये हुए सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य इन तीनोंसे अर्थात् तीनोंकी एकता होनेसे मोक्षरूपी लक्ष्मी उभ रत्नत्रययुक्त आत्माको स्व दृढालिङ्गन देती है । भाषार्थ—तीनोंकी एकता ही मोक्षमार्ग है ॥ १ ॥ क्योंकि—

तैरेष हि विशीर्यन्ते विचित्राणि बलीन्यपि ।

दृग्बोधसयमैः कर्मनिगट्टानि शरीरिणाम् ॥ २ ॥

अर्थ—इन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र्यसे ही जीवोंकी नानापकारकी बलवान् कर्मरूपी बेडिया शरती हैं (टूटती हैं) ॥ २ ॥

त्रिङ्गुलुडिपूर्वक ध्यानमाभनन्ति मनीषिण ।

ध्वष्य स्यात्तामनामाद्य तदेवात्र शरीरिणाम् ॥ ३ ॥

अर्थ—विद्वानोंने दान ज्ञान चारित्र्यी गुद्धतापूर्वकही ध्यान बता है । ऐसा आशय है । इस कारण इन तीनोंकी गुद्धता पायेविना जीवोंका ध्यान करना व्यर्थ है । क्योंकि वह ध्यान मोक्षफलके अर्थ नहीं है ॥ ३ ॥

रत्नत्रयमनासाद्य य साक्षाद्भातुमिच्छति ।

स्वपुच्छैः कुग्ने मृदं स घन्ध्यासुतशोखरम् ॥ ४ ॥

अर्थ—जो पुरुष सा शत्रु रत्नत्रयको (सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र्यको) प्राप्त न होकर ध्यान करना चाहता है, वह मूर्ख भाकाके ज्वालने बध्माके पुत्रने ग्नि सेहरा (मोर) बनाना चाहता है । भाषार्थ—रत्नत्रय पाये बिना ध्यान होना असाध्य है ॥ ४ ॥

आप्तौ ।

तत्त्वगणि सम्पत्तयस्तत्त्वप्रगयापक भवेत्ज्ञानम् ।

पापत्रिपानिष्टिद्वारिप्रमुक्त जिनेन्द्रेण ॥ ५ ॥

अर्थ—जिनेद्र भगवानो तत्त्वोंकी मति अर्थात् श्रद्धावर्तीतिहो सम्यक्त्व (सम्पूर्ण) तत्त्वोंको प्रत्यक्ष रूप कहने अर्थान् जाननेको सम्यग्ज्ञान, और पापत्रियाओंमें निरा होनेको सम्यक्चारित्र कहा है ॥ ५ ॥

इन सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र्यमें प्रथम सम्यग्दर्शनका वर्णन करते हैं,—

रव्यजीवादिपदार्थानां श्रद्धानं तद्धि दर्शनम् ।

निर्मगणाधिगत्या या तद्द्रव्यस्यैव जायते ॥ ६ ॥

अर्थ—जो जीवादि पदार्थोंका श्रद्धान करना है वही नियमसे दर्शन है । यह सम्यग्दर्शन निसर्ग (स्वभावसे) अथवा अधिगमसे (परोपदेशसे) भव्य जीवोंकी उत्पत्ति होता है । अव्यक्त नहीं होता ॥ ६ ॥

११ क्षीणप्रशान्तमिश्रास्तु मोक्षप्रकृतिषु क्रमात् ।

तत् स्याद्रव्यादिमामश्या पुमां सदृशन त्रिधा ॥ ७ ॥

अर्थ—यह सम्यग्दर्शन पुरुषोंके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप मामग्रीसे दर्शन और कर्मकी तीन प्रकृतियोंके क्षय, उपशम तथा क्षयोपशमरूप होनेसे क्रमशः तीन प्रकारका है—१ क्षायिमसम्यक्त्व २ उपशमसम्यक्त्व और ३ क्षयोपशमसम्यक्त्व ॥ ७ ॥

उक्त च प्रथमम्—

११ “भव्य. पर्याप्तक सजी जीव. पञ्चेन्द्रियान्वित ।

काललब्ध्यादिना युक्त सम्यक्त्व प्रतिपद्यते ॥ १ ॥

१) सम्यक्त्वमथ तत्त्वार्थश्रद्धान परिकीर्तित ।

तस्योपशमिको भेद क्षायिको मिश्र इत्यपि ॥ २ ॥

अर्थ—“जो भव्य हो, पर्याप्त हो मनसहित सजी पञ्चेन्द्री हो और काललब्धि आदि सामग्रीसहित हो वही जीव सम्यक्त्वको प्राप्त होता है ॥ १ ॥ सात तत्त्वोंका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन कहा गया है । उसके उपशम, क्षायक और मिश्र अर्थात् क्षयोपशमिक ये तीन भेद हैं ॥ २ ॥

११ सप्तानां प्रशमात्सम्यक् क्षयादुभयतोऽपि च ।

प्रकृतीनामिति प्राहुस्तत्रैविध्यं सुमेधसः ॥ ३ ॥

अर्थ—मोक्षकर्मकी मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृतिमिथ्यात्व तथा अनन्तावधि क्रोध मान माया रोम इन सात प्रकृतियोंके उपशम, क्षायक और क्षयोपशम तीन प्रकार सम्यक्त्व होना सम्यग्ज्ञानी पंडितोंने कहा है । भावार्थ—उपशमसे उपशम सम्यक्त्व और क्षयसे क्षायिक सम्यक्त्व और कुछ क्षय तथा कुछ उपशम होनेसे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है ॥ ३ ॥

१) एक प्रदामरवेगदयास्निग्धादिच्छणम् ।

आमनः शुद्धिमात्र म्यादितरथ समन्ततः ॥ ४ ॥”

अर्थ—एक सम्बन्ध मो प्रेम, प्रेम, अनुकम्पा और आत्मिय चिह्नों से विहित है, जिसे शरासम्बन्ध कहते हैं । और दूसरा समस्त प्रकारसे आत्मा की शुद्धि मात्र है, जिसे पीतगाम्बन्ध कहते हैं ॥ ४ ॥”

११) द्रव्यादिषमभावाच्च तज्जीवि प्राप्यते कथितम् ।

पञ्चविंशतिमुन्मृज्य दोषास्तच्छक्तिघातकम् ॥ ८ ॥

अर्थ—अथवा यह सम्बन्धान्तर द्रव्य, क्षेत्र, काल भावरूप सामग्रीको प्राप्त होकर तथा सम्बन्धान्तर की शक्ति पर पात करनेवाले पञ्चास दोषोंको छोड़नेसे कथित प्राप्त होता है ॥ ८ ॥

उक्त च शब्दान्तरे—

११) “मूढत्रय मदाक्षाष्टौ तथाऽनायतनानि पट्ट ।

आष्टौ छाङ्गादयमेति हन्तोपा पञ्चविंशति ॥ १ ॥”

अर्थ—“तीन मूढता, आठ मर (मर), छ अनायतन और अक्षादि आठ दोष इस प्रकार पचीस दोष सम्बन्धान्तरे कहें गये हैं, इनका नाम स्वरूप आदि छात्रोंमें प्रसिद्ध है यहां प्रत्यक्षारम्भमें नहीं लिया गया है ॥ १ ॥”

अथ सम्बन्धवशे विषयभूतं नाम तत्त्वोक्तं वणनं करते हैं,—

जीवाजीवात्म्या यन्ध संवरो निर्जरा तथा ।

मोक्षधैतानि ससैव तत्त्वान्युत्तुर्मनीषिणः ॥ ९ ॥

अर्थ—पड़ितोंन जीव, अजीव, आसव, यन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सातही तत्त्व कहें हैं ॥ ९ ॥

अथ इन सप्त तत्त्वोंका विरोध वणन करते हैं,—

अनन्तं सर्पदा मर्या जीवराशिर्दिषा स्थितः ।

सिद्धेतरपिकल्पेन त्रैलोक्यमुपनोदरे ॥ १० ॥

अर्थ—इस तीन लोकस्थी भुवनमें जीवराशि सदाकाल सर्व (अनन्त) है, और वह दो भेदग्रह है—१ सिद्ध तथा २ समारी ॥ १० ॥

सिद्धस्त्वेकम्भावस्याद्भुग्योधानन्दशक्तिमान् ।

भृत्युत्पादादिजन्मोत्पत्त्येषाप्रचयविच्युतः ॥ ११ ॥

अर्थ—उन दो भेदोंमेंसे जो सिद्ध है, सो सो दशन-ज्ञान-सुख-वीर्य-सहित एक स्वभाव है, और मरण-जन्म-आदि सासारिक श्रेणोंसे रहित है ॥ ११ ॥

चरसिंहरमचोद्भूतविकल्पैः कल्पिताः पृथक् ।

भगवन्त्यनेकभेदास्ते जीवाः ससारवर्तिनः ॥ १२ ॥

अर्थ—और ससारी जीव उन और स्थावररूप ससारमें उत्पन्न हुए भेदोंसे निम्न १
अनेक प्रकारके हैं ॥ १२ ॥

पृथिव्यादिविभेदेन स्थावराः पञ्चधा मताः ।

असास्त्वनेकभेदास्ते नानायोनिसमाश्रिताः ॥ १३ ॥

अर्थ—ससारी जावाम् स्थावर जीव पृथिवी, अप, तेज, वायु और वनस्पति आदि
पांच प्रकारके हैं और अस जीवोंन्द्रियादिक भेदोंसे अनेक भेदरूप हैं तथा अनेक प्रकार
योनिके आश्रित हैं ॥ १३ ॥

चतुर्धा गतिभेदेन भिद्यन्ते प्राणिनः परम् ।

मनुष्यामरतिर्यश्चो नारकाश्च यशस्यम् ॥ १४ ॥

अर्थ—और समारी जीव गतिके भेदसे मनुष्य, देव, तिर्यच और नारक चार प्रकारके
हैं ॥ १४ ॥

अमन्ति नियतजन्मकान्तारे कल्मषाशयाः ।

दुरन्तकर्मसम्पातप्रपञ्चशवर्त्तिनः ॥ १५ ॥

अर्थ—ये पापाशयरूपी समारी जीव दुरन्त कर्मके सम्पातके प्रपञ्चके वशवर्ती होकर
संसाररूपी बनम निरन्तर भ्रमण करते हैं ॥ १५ ॥

किन्तु तिर्यग्गतावेव सशयरा विकलेन्द्रियाः ।

अमजिनश्च नान्यत्र प्रभवन्त्यह्निनः कचित् ॥ १६ ॥

अर्थ—किन्तु स्थावर, विकलेन्द्रिय (हीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय) और अमजिन
(मनहित पचेन्द्रिय) ये तिर्यगगतिमेंही होते हैं, अन्यत्र नहीं होते ॥ १६ ॥

उपमहारविस्तारधर्मा दृग्बोधलाञ्छनः ।

कर्त्ता भोक्ता मय्य जीयस्तनुमात्रोऽप्यमूर्तिमान् ॥ १७ ॥

अर्थ—जीव मकोच विभाग धर्मको गिनेहुए दर्शन आनमहित है और मय
कर्त्ता, भोक्ता तथा गतिग्रमाण हाकर अमूर्तिमान् है ॥ १७ ॥

अथ च प्रथमान्तर—जीवधनुषाणि ।

“तत्र जीयन्तजीवश्च जीयिष्यन्ति सचेतनः ।

यमालम्भाद्भूतं प्रोक्ते जीवन्तव्यविदा वरं ॥ १ ॥”

अर्थ—“अथ सत्त्वोने विमम सचेतनाग्नि ‘जीव’ है, ‘जीव’ या ‘जीव’ और ‘जीव’
एक विवेकतत्त्व ‘जीव’ शब्द बुद्धिमान् है उक्त ‘जीव’ कर्म है ॥ १ ॥”

एको द्विधा त्रिधा जीवः चतुः सत्क्रांतिपथम् ।

पट्टकर्म सप्तमद्भोऽष्टाश्रयो नवदशस्थितिः ॥ १८ ॥

अर्थ—जीव गामान्य चैतन्यरूपसे एक प्रकारके हैं। प्रस आबर भेदसे दो प्रकारके हैं। एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, सकलेन्द्रिय भेदसे तीन प्रकारके हैं। एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, संज्ञी, असंज्ञी, भेदसे चार प्रकारके हैं। एकन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय भेदसे पाँच प्रकारके हैं। पाच आबर और एक प्रस इम प्रकार भेद कर नेसे छह प्रकारके हैं। पाच आबर, विकलेन्द्रिय, सकलेन्द्रिय, ऐसे भेद करनेसे सात प्रकारके हैं। पाच आबर, विकलेन्द्रिय, संज्ञी, असंज्ञी, ऐसे आठ प्रकारके हैं। पाच आबर, तीन विकलेन्द्रिय, एक सकलेन्द्रिय ऐसे नव प्रकार हैं और पाच आबर, तीन विकलेन्द्रिय और संज्ञी तथा असंज्ञी ऐसे भेद करनेसे दस प्रकार भी हैं। इस प्रकार गामान्य विरोधके भेदमें जीव सम्यात असम्यात तथा अनन्तभेदरूप हैं ॥ १८ ॥

अभ्याभ्यषिक्त्वोऽयं जीवराशिर्निसर्गजः ।

मम पूर्णोऽपवर्गाय जन्मपङ्काथ चेतरे ॥ १९ ॥

अर्थ—यह जीवराशि सभावमें भव्य और अभव्य भेद स्वरूप है। पहिला अपवर्ग अर्थात् मोक्षके लिये और इतर अर्थात् दूसरा अभव्य संसारके लिये माना गया है अर्थात् भव्य मोक्षगामी होता है और अभव्यको कभी मोक्ष नहीं होता है ॥ १९ ॥

सम्यग्ज्ञानादिरूपेण ये भविष्यन्ति जन्तवः ।

प्राप्य द्रव्यादिसामग्रीं ते भव्या मुनिभिर्मताः ॥ २० ॥

अर्थ—जो जीव द्रव्यक्षेत्रकालभावरूप सामग्रीको पाकर सम्यग्ज्ञानादिरूप परिण मंगे, उन्हीको आचार्योंने 'भव्य' कहा है ॥ २० ॥

अन्यपापाणकल्प स्यादभव्यस्य शरीरिणाम् ।

पप्साञ्जन्मशतेनापि नात्मतस्य पृथग्भवेत् ॥ २१ ॥

अर्थ—जीवोंका अभव्यपन अधपापाणके समान है, जिससे सैकड़ों जन्मोंमेंभी आत्मतत्त्व पृथक् नहीं होता ॥ २१ ॥

अभव्यानां स्वभावेन सर्वदा जन्मसंक्रमः ।

भव्यानां भाविनी मुक्तिर्निशेषदुरितक्षयात् ॥ २२ ॥

अर्थ—अभव्यजीवोंका सभावसे संसारमें सजदाही जन्म, संक्रम अर्थात् भ्रमण होता है और भव्य जीवोंको समान कर्मोंके क्षयसे मुक्ति होतीही है ॥ २२ ॥

यथा घातोर्मलैः सार्द्धं सम्यन्पोऽनादिसंभवः ।

तथा कर्ममलैर्ज्ञेयः सस्त्रेषोऽनादिदेहिनाम् ॥ २३ ॥

अर्थ—त्रिप्रकार सुवर्णादि धातुआंका मलके साथ अनादि संघ है, उनी का जीवोंका कममलमे अनादिकालका संघ है ऐसे जानना चाहिये ॥ २३ ॥

द्वयोरनादिसंसार सान्तः पर्यन्तवर्जितः ।

चस्तुम्यभागतो जेषो भव्याभय्याद्धिन् क्रमात् ॥ २४ ॥

अर्थ—मग्न अमग्न दोनोंहीको ससार आदिरहित है, परन्तु मग्नका ससार तो अमग्नरहित है (क्योंकि इसको मुक्ति होती है।) और अमग्नका अमग्नता (क्योंकि इसको मुक्ति नहीं होती)। प्रेमा यन्मुग्धभावसेही जानना चाहिये। इमने ही अमग्न हेतु नहीं है ॥ २४ ॥

चतुर्दशममासेषु मार्गणास्तु शुणेषु च ।

शाखा ससारिणो जीया, अद्वेषाः शुद्ध दृष्टिभिः ॥ १५ ॥

अर्थ—मार्गी जीवोंको चौरह जीवसमाम, चौरह मार्गणा और चौरह गुणधर्मे
उदहरके मन्त्रद्विषाको अद्यान करना चाहिये । भावार्थ—संसारी जीवोंके भेद गुण
दे, व चारोंक करे जाय, इस कारण यहाँ संशेषमेंही कह दिया गया है कि
अथ, व अथ, गुणधर्मांमं जीवोंका विशेष स्वरूप जाकर अद्यान करना चाहिये।
इहं अथर्वसिद्धि विशेष स्वरूप गोमन्त्रादि अथ मन्त्रांसे जाना चाहिये ॥ २१ ॥

मंत्रों में मंत्रों का वर्णन करके अजीत सराफा वर्णन करते हैं,—

पर्मो रमैनम जाला पुद्गले' सङ्गोऽभिनिः ।

ब्रह्माणि तद् मणीनानि जीवपूर्याण्यनुग्रमात् ॥ २१ ॥

अर्थ—१, पृथ्वी, जल, अग्नि, आकाश और वायु योगीभाषी वे छह द्रव्य हैं
वस्तु ६६ हैं ॥ २६ ॥

सप्त त्रीशस्य १६ प्रदेशप्रणामना ।

काया काल विना ज्ञाया निगमकृतयोऽप्यमी ॥ २७ ॥

[illegible]

अविद्या विना विद्यमयूषां गृह्य विना ।

॥ ५८ ॥

[illegible]

सक कहा गया है, इस कारण जो उत्पाद, व्यय, प्रौढ्य रूप होता है, वही पर्यायरूप भी होता है ॥ २८ ॥

अणुस्कन्धविभेदेन भिन्ना स्युः पुद्गला दिष्टा ।

मूर्ता वर्णरसस्पर्शगुणोपेताश्च रूपिणः ॥ २९ ॥

अर्थ—अणुस्कन्ध विभेदसे यहाँ पुद्गल दो प्रकारका है और वर्ण, रस, स्पर्श, गुण सहित होनेसे रूपी (मूर्त) हैं ॥ २९ ॥

किन्त्येकं पुद्गलद्रव्यं पञ्चिकत्वं युधैर्मनम् ।

स्थूलास्थूलादिभेदेन सूक्ष्माग्रक्ष्मेन च त्रयमात्रं ॥ ३० ॥

अर्थ—किन्तु एक एक पुद्गल द्रव्यको विद्वानोंने स्थूल और सूक्ष्माग्रक्ष्मादि भेदों के समसे छह प्रकारका कहा है । यथा—स्थूलास्थूल,—नौ पृथिवी परतादिक हैं । स्थूल-जल दुग्धादिक सरल पदार्थ हैं । स्थूलसूक्ष्म-छाया आतपादि नेत्रइन्द्रियगोचर हैं । सूक्ष्मस्थूल-नेत्रके बिना अन्य चार इन्द्रियांसे ग्रहणमें आनेवाले दृक् दृग्धादिक हैं । सूक्ष्म-कमवर्गना है और सूक्ष्मसूक्ष्म-परमाणु हैं । इस प्रकार पुद्गल छह भेद हैं ॥ ३० ॥

प्रत्येकमेकद्रव्याणि धर्मादीनि पथापथम् ।

आकाशान्नान्यमूर्तानि निष्प्रियाणि स्थिराणि च ॥ ३१ ॥

अर्थ—धम, अधम, आकाश, ये तीन द्रव्य भिन्न २ एक एक द्रव्य है और तीनोंही अमूर्तिक, निष्प्रिय और स्थिर हैं ॥ ३१ ॥

सलोकगगनव्यापी धर्मः स्याद्गतिलक्षणः ।

तावन्मात्रोऽप्यधर्माऽयं स्थितिलक्ष्मः प्रकीर्तितः ॥ ३२ ॥

अर्थ—धमद्रव्य लोकाकाशमें व्यापक है और गतिमें सहकारी होना उसका लक्षण या लभाव है । और अधम द्रव्यभी लोकाकाशव्यापी है, तथा भित्तिसहकारी उसका लभाव है ॥ ३२ ॥

स्वयं गन्तुं प्रवृत्तौषु जीवाजीवेषु सर्वदा ।

धर्माऽयं सहकारी स्याज्जलं यादोऽद्भिनामिष ॥ ३३ ॥

अर्थ—यह धमद्रव्य जीवपुद्गलका प्रेरक सहकारी गरी है, किन्तु जंतुद्रव्य सम्यक् गमन करनेमें प्रवृत्त तो यह सर्वदा सहकारी (सहायक) है । जैसे जन्मे रहोकर मत्स्यादिषको जल सहकारी है । जब भरण करके मत्स्यादि जलचरोंको नहीं चलना किन्तु ये चलते हैं तो उनका सहायक होता है ॥ ३३ ॥

दत्ते स्थितिं प्रपन्नाना जीवादीनामयं स्थितिं ।

अधर्मः सहकारित्वाद्यथा छायाऽध्ववर्त्तिनाम् ॥ ३४ ॥

अर्थ—अधम द्रव्य स्थितिको प्राप्त हुए जीवपुद्गलोंकी स्थिति करनेमें सहकारी है। जैसे मार्गमें चलते हुए पथिकोंको बैठनेके लिये छाया सहकारी है, उसी प्रकार अन द्रव्य भी जीवोंके टहरानेमें सहकारी है। प्रेरक नहीं है ॥ ३४ ॥

अचक्राशप्रद व्योम सर्वग स्वप्रतिष्ठितम् ।

लोकालोकप्रिकल्पेन तस्य लक्ष्म प्रकीर्तितम् ॥ ३५ ॥

अर्थ—आकाशद्रव्य अन्य पाचद्रव्योंको अवकाश देनेवाला और सर्वव्यापी है। स्वप्रतिष्ठित है। अर्थात् अपने आपहीने आधार है, अन्य कोई आधार (आश्रय) नहीं है। यह लोक अलोकके भेदमें दो प्रकारका है ॥ ३५ ॥

लोकाराशप्रदेशेषु ये भिन्ना अणयः स्थिताः ।

परिवर्त्ताय भावाना मुख्यकालः स वर्णित ॥ ३६ ॥

अर्थ—लोकाराशमें प्रदेशोंमें जो कालके भिन्न २ अणु द्रव्योंका परिवर्तन करने लिये भिन्न हैं उन्हें मुख्य काल अर्थात् निश्चयकाल कहते हैं ॥ ३६ ॥

समपादिकृत यस्य मान ज्योतिर्गणाश्रितम् ।

व्यपहाराभिष काल स कालज्ञैः प्रपञ्चितः ॥ ३७ ॥

अर्थ—जिस कालका परिमाण ज्योतिषी देवोंके समूहके गमनागमनके आगम समय आदि भेदरूप किया गया है, उसे कालके जाननेवाले विद्वानोंने व्यवहार किया है ॥ ३७ ॥

यदमी परिवर्त्तन्ते पदार्था विश्ववर्त्तिन ।

नयजीर्णादिरूपेण तत्कालम्येष चेष्टितम् ॥ ३८ ॥

अर्थ—लोकमें रहनेवाले ए समस्त पदार्थ जो नयेसे पुगनी अरखाको पारण करता है। सब कालकी चेष्टामें ही करते हैं। अर्थात् समस्त द्रव्योंके परिणमोको काली कह ही निर्मित है ॥ ३८ ॥

भायिनो वर्तमानस्य वर्तमानास्त्वनीतताम् ।

पदार्था प्रनिपद्यन्ते कालकेलिकदर्शिता ॥ ३९ ॥

अर्थ—पदार्थ कालके वर्तमाने (वर्तना) में एक अवस्थामें अन्य अवस्थाको प्र होते हैं। अर्थात् जो वर्तमान अवस्था होनेवाली है वह तो वर्तमानको प्राप्त होती है। अतः वर्तमान में वह वर्तमानको प्राप्त होती है। इस प्रकार समय समय अवस्था वर्तमान है ॥ ३९ ॥

धर्माधर्मनभ'काला अर्थपर्यायगोचरा ।

व्यञ्जनाख्यस्य सधन्धौ द्वावन्यौ जीवपुद्गलौ ॥ ४० ॥

अर्थ—धम, अधम, आकाश और काल ये चार पदार्थ तो अथपर्यायगोचर हैं, और अन्य दो अर्थात् जीव तथा पुद्गल व्यञ्जनपदार्थके सम्बन्धरूप हैं । भावार्थ—धर्मादिक चार द्रव्योंके आकार पलटते नहीं, इस कारण हानिवृद्धिके परिणमनरूप अधपर्यायही इनके मुख्य कहे हैं । और जीव तथा पुद्गलोंके आकार पलटते रहते हैं इसकारण इनके व्यञ्जनपर्याय मुख्य कहे गए हैं ॥ ४० ॥

भावा' पञ्चैव जीवस्य द्वावन्यौ पुद्गलस्य च ।

धर्मादीनां तु शेषाणां स्याद्भावा पारिणामिक' ॥ ४१ ॥

अर्थ—जीवके औदयिकोदि पार्चा ही भाव हैं और पुद्गलके अन्तिम दो अर्थात् सूत्र पाठकी अपेक्षा अन्तिम औदयिक और पारिणामिक हैं, तथा शेष धर्मादिक चार द्रव्योंके एक पारिणामिक भावही हैं ॥ ४१ ॥

अन्योऽन्यसन्नमोत्पन्नो भाव स्यात्साक्षिपातिक' ।

पङ्क्तिशब्देदभिघात्मा स पक्षो मुनिभिर्मत ॥ ४२ ॥

अर्थ—जीवके इन पांच भावोंके परस्पर संयोगसे उत्पन्न हुआ साक्षिपातिक नामका एक छठा भाव भी आचार्योंने माना है । वह छव्वीस धर्मोसे भेदरूप है, तथा छठीस भेदरूप और इकतासीस भेदरूपभी कहा है । 'तत्त्वार्थवार्तिक' नाम तत्वाध्यायकी टीकाने भावोंका अष्टा विस्तार किया है

यहां यदि कोई मन करे कि, जीवके पांच वा छट आदि भाव क्यों किये ? क्योंकि जीवका यथाय भाव एक पारिणामिकही है । औदयिक आदिक भाव तो कमजन्य है, टीकाने उन्हें जीवके भाव कैसे कहते हो ?

उत्तर—ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ये भाव यदि कमजतिन हैं तबहि जीवही इन भावोंके रूपमें परिणमता है । अनादि कमजन्मके निमित्तसे जन्मरी ऐसी ही सामर्थ्य है कि, जब जैसे कमका उद्भादिक निमित्त हो वेमा ही यह भावरूप परिणमता है । यदि ऐसा नहीं माना जायगा, तो जीव सामर्थ्यवती तथा वेदान्तवादम्भिदोर्हि समान नित्य कूटस्थ ठहरैगा और उसके सत्कारका होना भी नहीं ठहरैगा । और जब सत्कारअवस्था दी नहीं होगी तब फिर मोक्षका अभाव मानना पड़ेगा । तथा मोक्षका अभाव माननेसे बड़ाही दोष आवेगा । इस कारण जैनमतमें जीवके कमका कथ होना तथा कमके नाग होनेपर मोक्षहोना कहा गया है । और मोक्ष होनेका उपाय सम्मर्शन,

ज्ञान, चारित्रसहित ध्यान करना कहा है । म्याद्वादव्यायमे मन समन्वित होना है । स्तुस्वरूप अनन्तधर्मी है, ऐसा प्रमाणमिद्ध है । इस कारण जैनिवांछा कहना सदा निराबाध है । और एकान्तीका कहना सर्वथा बाधामहित है । ऐसा निमन्द शन कर श्रद्धान करना उचित है ॥ ४२ ॥

धर्माधर्मैरुजीयाना प्रदेशा गणनातिगा ।

कियन्तोऽपि न कालस्य व्योम्न पर्यन्तयजिता ॥ ४३ ॥

अर्थ—धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य और एक जीवद्रव्यके प्रदेश गणनासे अतीत कर्वा असंख्यात हैं और कालद्रव्यके एकही अनु मात्र प्रवेश है । इस कारण कालके विस्तृत प्रदेश हैं, ऐसी कथनीही नहीं है । और आकाशके अन्तर्वर्तिन अनन्तप्रदेश हैं ॥ ४३ ॥

एकादय प्रदेशा स्युः पुद्गलाना यथायथम् ।

सख्यातीताश्च सख्येया अनन्ता योगिरुत्पिताः ॥ ४४ ॥

अर्थ—योगीश्वरानि पुद्गलद्रव्यके एक प्रदेशको आदि ले जैसे हैं तैसे सख्यात अनख्यात और अनन्त कहे हैं । भावार्थ—पुद्गलद्रव्य एक परमाणु है वह मिलकर दो परमाणुसे लेकर सख्यात परमाणुतकका म्कच होता है तथा असख्यात परमाणु मिलकर असख्यात परमाणुका म्कच होता है और अनन्त परमाणुओंका म्कच भी होता है । इस कारण पुद्गलम्कचके सख्यात असख्यात वा अनन्त प्रदेश कहे हैं ॥ ४४ ॥

मूर्त्तौ व्यञ्जनपर्यायो बाग्गम्पोऽनश्वर स्थिर ।

सूक्ष्मः प्रतिक्षणध्यसी पर्यायश्चार्थसज्जिक ॥ ४५ ॥

अर्थ—व्यञ्जनपर्याय मूर्तिक है, वचनके गोचर है, अनश्वर है स्थिर है । और अर्थाय सूक्ष्म है तथा क्षणनिघ्नसी है ॥ ४५ ॥

इस प्रकार अजीवतत्त्वका वर्णन किया अब बाध तरंग वर्णन करते हैं—

प्रकृत्यादिप्रिकृतेन ज्ञेयो बन्धश्चतुर्विध ।

ज्ञानावृत्त्यादिभेदेन सोऽष्टधा प्रथम स्मृत ॥ ४६ ॥

अर्थ—प्रकृत्यादि भेदसे बाध चार प्रकारका है । उनमेंसे प्रथम प्रकृति बाध है, जो नि ज्ञानावरण दर्शनावरणादि भेदसे आठ प्रकारका है ॥ ४६ ॥

मिथ्यात्वाविरती योग कषायाश्च यथाक्रमात् ।

प्रमाद सप्तपञ्चेते विज्ञेया बन्धहेतव ॥ ४७ ॥

अर्थ—मिथ्यात्व, अविरति, योग कषाय और प्रमाद यथाक्रमसे ये पांच बाध हैं अर्थात् कारण जानने चाहिये । अतः प्रमादको मिथ्यात्व, अत्यागरूप परिणामोंको अविरति, मिथ्य व्यवहार चारित्र्य असाधारणरूप परिणामोंको प्रमाद, मोह मान माया

नाम रूप परिणामोंको ब्रह्म और माध्वचक्रावयव विभिन्नमे आत्माके चक्ररूप होनेको योग कहत है इस प्रकार ब्रह्मके हेतु ब्रह्म ॥ ४७ ॥

उत्कर्षणापवर्षण स्थितिर्गो कर्मणां मता ।

स्थितिष्वप्यस्य विज्ञेय इतरस्तत्त्वलोदय ॥ ४८ ॥

अर्थ—जो उच्छिष्ट, जपन्य तथा मध्यम भेदोंरूप बढ़ती घटती मर्माङ्गी स्थिति (का रण्य तथाज्ञ) पढ़ी गई है, उसे स्थितिब्रह्म और कर्मके चक्रके उदय होनेको इतर भव २ अनुमागवच जानना चाहिये ॥ ४८ ॥

परस्परप्रदेष्टानुप्रवेष्टो जीवकर्मणो ।

यः कश्चेत्यस्य निर्दिष्टो यन्मो विष्यस्तयन्मनैः ॥ ४९ ॥

अर्थ—जो जीव और कर्म इन दोनोंके प्रदेष्टाका परस्पर अनुप्रवेष्ट कहिये एकक्षेत्रा-वगाह होनेके संबंध होता है, उसे ब्रह्मरहित सत्त्वदेवने प्रदेष्टाब्रह्म कहा है । इस प्रकार ब्रह्मत्वका ब्रह्मन किया है ॥ ४९ ॥

आगेय भायनात्मने निर्जराम्यसंहरा ।

वधिना कीर्तयिष्यामि मोक्षमाग सत्तेतुकम् ॥ ५० ॥

अर्थ—विज्ञता, आत्मक और संवरका ब्रह्मन पहिले द्वादश भावनाके प्रकरणमें कर आये है इस कारण यहां गढ़ी किया । आगे मोक्षतत्त्वका वर्णन हेतुसहित करते हैं ॥ ५० ॥

एष द्रव्याणि तत्त्वानि पदार्थान् कायसमुत्तान् ।

य भ्रष्टस्ते व्यभिद्धान्तात्स स्यान्मुक्तेः स्वयं पर ॥ ५१ ॥

अर्थ—इस प्रकार छह द्रव्य, सत्तत्त्व, नव पदार्थ, या पंचात्मिकायका अपने सिद्धा-न्तसे जो आत्मा भ्रष्टान करता है वह मुक्तिका स्वयंवर होता है । अर्थात् मुक्तिरूपी कन्या उस स्वयं वरण करती है । तात्पर्य यह कि उसे मुक्ति प्राप्त होती है ॥ ५१ ॥

इति जीवाद्यो नावा दिक्षाग्रेणात्र वर्णिता ।

विशेषवर्णिभिः सम्प्रविज्ञेया परमागमात् ॥ ५२ ॥

अर्थ—इस प्रकार 'जीवादि' पदार्थोंका दिग्दर्शनमात्र इस ग्रन्थमें किया गया विशेष ज्ञाननेकी रवि रक्षनेवाल् पुरषोंको परमागमसे अर्थात् सत्त्वार्थमूयकी टीका तथा गोमठ सारादि अन्य शास्त्रोंसे जानना चाहिये ॥ ५२ ॥

सहर्षानमहारक्ष विश्वलोकेकभूषणम् ।

मुक्तिपर्यन्तकल्याणदानदक्ष प्रकीर्तितम् ॥ ५३ ॥

अर्थ—यह सम्प्रदाया महारक्ष समस्त लोकका आभूषण है और मोक्ष दोपर्यन्त आत्माको कल्याण देनेवालोंमें चतुर है ॥ ५३ ॥

चरणज्ञानयोर्बीजं यमप्रशमजीवितम् ।

तपःश्रुताद्यधिष्ठानं सङ्गिः सदर्शनं मतम् ॥ ५४ ॥

अर्थ—इस सम्यग्दर्शनको सत्पुरुषोंको चारित्र और ज्ञानका बीज अर्थात् उत्पन्न करने का कारण माना है । क्योंकि इसके बिना सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र होना ही नहीं तथा यम (महाव्रतादि) और प्रशम (निशुद्धभाव) का यह जीवनस्वरूप है । इस सम्यग्दर्शनके बिना यम व प्रशम निर्जीविके समान है । इसी प्रकार तप और श्रुतग्रन्थ आश्रय है । इसके बिना ये निराश्रय हैं । इस प्रकार नितने शमदमरोधनका भी कहे हैं उनको यह सफल करता है । इनके बिना वे मोक्षफलके दाता नहीं हो सकते हैं ॥ ५४ ॥

अप्येक दर्शनं श्लाघ्यं चरणज्ञानविच्युतम् ।

न पुनः सम्यग्ज्ञाने मिथ्यात्वविषदपिते ॥ ५५ ॥

अर्थ—यह सम्यग्दर्शन चारित्रज्ञानके होनेपर भी प्रशंसनीय कहलाता है और इसका बिना यम (चारित्र) और ज्ञान मिथ्यात्वकी निषेध दपित होते हैं अर्थात् सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिसे बिना ज्ञान मिथ्यामान और चारित्र कुचारित्र कहा जाता है ॥ ५५ ॥

अत्यल्पमपि सुध्रुवैर्दृष्टिपूर्वं यमादिकम् ।

प्रणीतं भवसम्भूतकेशप्रारम्भारभेपजम् ॥ ५६ ॥

अर्थ—गम्यदर्शनमहित यम नियम तपादिक थोड़े भी हों, तो उन्हें सूत्रके शब्द आचार्योपि समारम्भे उत्पन्न हुए केशदु सोने बड़े भारी भी औपधिके समान कहा है ।
भावार्थ—गम्यदर्शनके होने हुए यमादिक अल्प होने, तो भी वे समारम्भित दुःख हरी गोगोहो नष्ट करनेके लिये औपधिके समान हैं ॥ ५६ ॥

भवेत्सुखं स पुण्यात्मा निशुद्धं यस्य दर्शनम् ।

यत्नमन्देव सुखयन्ममग्रिमं परिकीर्तितम् ॥ ५७ ॥

अर्थ—आचार्य महाशय कहते हैं कि,—जिगमो नियम अतीवाराहित गम्यदर्शन के बड़ा पुण्यात्मा का महाभाग्य सुख है ऐसा वे मानता है । क्योंकि सम्यग्दर्शनकी मोक्ष प्रदान अंग बना गया है । मोक्षमार्गके प्रक्रमण गम्यदर्शनकी मुख्य कहा गया है ॥ ५७ ॥

प्राप्तुवन्ति तस्य ज्ञानचरणज्ञानविश्रुताः ।

अपि नीचा जगत्प्रसिद्धा पुनर्दर्शनं विना ॥ ५८ ॥

अर्थ—इस ज्ञानके जो ज्ञान चारित्र और ज्ञानके कारण ज्ञान जगत्प्रसिद्ध हैं, वे भी सम्यग्दर्शनके बिना पुनर्दर्शन नहीं पाते ॥ ५८ ॥

अब इस सम्यग्दर्शनके प्रकरणको पूर्ण करते हुए कहते हैं—

माहिनी ।

अतुलसुरनिधानं सर्वकल्याणबीजं

जननजलधिपोत भव्यसस्वैकपात्रम् ।

दुरिततरुकुठारं पुण्यतीर्थप्रधानं

पिपत जितविपक्ष दर्शनारण्य सुधाम्युम् ॥ ५९ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि हे भव्य जीवो! तुम सम्यग्दर्शन नामक अमृतका पान करो । क्योंकि यह सम्यग्दर्शन अतुल्यमुक्ता निधान (सजाना) है । समस्त कल्याणोंका बीज अर्थात् कारण है । ससाररूपी समुद्रमें तारनेके लिये जहाज है । तथा इसको धारण करनेवाले एक मात्र पात्र भव्य जीवही है । अभव्य जीव इसका पात्र कदापि नहीं हो सकते । और यह सम्यग्दर्शन पापरूपी वृक्षको काटनेके लिये कुटार (कुल्हाड़े) के समान है, तथा पवित्र तीर्थोंमें यही प्रधान है, अर्थात् मुख्य है । और जीत लिया है अपने विपक्ष अर्थात् मिथ्यात्वरूपी शत्रुओं जिनसे ऐसा यह सम्यग्दर्शन है अतः भव्यजीवोंको सबसे पहिले इसेही अंगीकार करना चाहिये ॥ ५९ ॥

उपपद्यते ।

सप्त तस्य पदं द्रव्यं, पदारथ नय मुनि भाष्ये ।

अस्तिकायसम्यक्पदं, विषय नीचे मन राखे ॥

तिनको सांचे जान, आप परमेद पिछानहु ।

उपादेय है आप आन सय हेय बरतानहु ॥

यह सरदा साची धारवै, मिथ्यामाय निषारिये ।

तब सम्यग्दर्शन पाववै बिर है मोक्ष पधारिये ॥ १ ॥

इति भीज्ञानावधि योगप्रदीपाधिकारे गुमचन्द्राचार्यविरचिते

सम्यग्दर्शनप्रकरणम् ॥ ६ ॥

अथ सप्तम प्रकरणम् ।

अब सम्यग्ज्ञानका वर्णन करते हैं—

ॐ त्रिकालगोचरानन्तगुणपर्यायसमुत्ता ।

यत्र भावा स्फुरन्त्युद्यैस्तज्ज्ञानं ज्ञानिना मतम् ॥ १ ॥

अर्थ—जिसमें तीनकालके गोचर अनन्तगुणपर्यायसमुत्त पदार्थ अतीत्यन्तके सब प्रतिभासित होते हैं उसको ज्ञानी पुरुषों ने ज्ञान कहा है । यह सामान्यतः पूर्ण ज्ञान

स्वरूप है। आकाशद्रव्य अनन्तानन्तप्रदेशी है। उसके मध्यमें अस्मर्यातप्रणेतृ का काश है। उसमें जीव, पुद्गल, धम, अधर्म और काल ये अनन्तद्रव्य हैं। उनके तीन काल सप्ती अनन्त २ भिन्न २ पर्याय हैं। उन सबको युगपत् (एक समयमें) उत्पन्न करने वाला पूर्णज्ञान आत्माका निश्चय स्वभाव है। क्रमके निमित्तसे उसके भेद हो गये हैं ॥१॥

११ धौव्यादिकलितैर्भावैर्निर्भर कलितं जगत् ।

चिन्तित युगपद्यत्र तज्ज्ञान योगिलोचनम् ॥ २ ॥

अर्थ—उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-स्वभावी पदार्थोंसे अतिशय भरा हुआ वह ज्ञान स ज्ञानमें युगपत् प्रतिनिश्चित हो वही ज्ञान योगीश्वरोंके नेत्रके समान है भावार्थ अल्पमतावलम्बियोंमें योगिप्रत्यक्ष ज्ञान मानते हैं, वह यथाथ नहीं है। उक्त ज्ञान सत्याथ है ॥ २ ॥

अब हमके निमित्तसे जो पानके भेद हो गये हैं, उनका वर्णन करते हैं,

११ मतिश्रुतावधिज्ञान मन पर्ययकेवलम् ।

तदित्थ सान्द्यैर्भदे पञ्चधेति प्रकल्पितम् ॥ ३ ॥

अर्थ—यह ज्ञान मति, श्रुत, अजधि, मन पर्यय और केवल इन भेदासे पाच प्रकार कल्पना किया गया है। भावार्थ—कर्मके निमित्तसे यह पाच प्रकारकी कल्पना की गई है। परमात्मसे ज्ञानमात्रम को भेद नहीं है। केवल प्रत्यक्ष और परोक्षताका भेद मात्र है ॥ ३ ॥

अथ महादिमिर्भेदैर्यथायन्तर्भये परै ।

पदत्रिंशत्त्रिंशत् प्रादुर्मनिज्ञान प्रपद्यत ॥ ४ ॥

अर्थ—जन्ममद, ईश, ज्ञान और धारणा तथा बहु, बहुनिधि, आदि बारह मद्रोने विचार करनेसे मतिज्ञानसे तीनमें छत्तीस भेद होते हैं । सो तत्वाध्यायकी टीकामें जन्मना चाहिये ॥ ३ ॥

प्रगृभं पट्ट्याऽनेकैर्द्वयैः प्रकीर्णैः ।

ग्याष्टद्वयान्द्रिम तद्वि श्रुमज्जानमनेकपा ॥ ५ ॥

अर्थ—स्यद् अग, चोत्त पूरे और चोत्त प्रतीति के इतने बहुत प्रकारों में
 सन्तुष्ट में विहित धुनजन अनेक प्रकारों के । भाषार्थ—गाम् सुतोर् विहित
 एतत्तु इत्त इत्त सुतयत्तम् धुनजन कहा गया है वह साम् भंगपूर्वक इत्तम् अनेक
 प्रकारों के इस धुनजन धुनजी कोट प्रकृत है । और 'गाम्' गद् 'गिगी प्रकृत' के
 धुन है जो इस धुन में वह धुनजन विहित है । त्रिगमे इत्तम् गिगी प्रकृत की धुन
 दत्त धुन, इस धुन को विहित है धुन धुनजन है ॥ ५ ॥

देवनारवयोऽपस्त्वयिर्भयसम्भवः ।

पट्टिकरूपम शोषाणा क्षयोपशमलक्षणः ॥ ६ ॥

अर्थ—देव और नागकी जीवोंको तो अरुणिान भवहीमे उत्पन्न होता है । उसका कारण गरव-ति वा देवादिही है, इस कारण उसे भवप्रत्यय अवधि कहते हैं और मनुष्य तथा त्रियर्षाको जो क्षयोपशमसे होना सो छद् मकारका होता है—जैसे—अनु गति १ अनुगामि २ हीयमान ३ बद्धमान ४ अवस्थित ५ अनवस्थित ६ इस प्रकार छद् भेद है ॥ ६ ॥

वाञ्छार्थिपुल इत्येष ह्यान्मनःपर्ययो द्विधा ।

विशुद्धमणिपाताभ्या तद्विशेषोऽवगम्यताम् ॥ ७ ॥

अर्थ—एन पर्ययान्न-क्रयुपति तथा विपुन्ननि भेदसे दो प्रकारका है । इन दोनोंमें विपुद्धता और अप्रतिपातनी विशेषता है ॥ ७ ॥

अक्षोपद्रव्यपर्यापयिष्य विश्वलोचनम् ।

अनन्तमेवमयक्ष वेपल कीर्तित युधि ॥ ८ ॥

अर्थ—जो समस्त द्रव्योंके पर्यायोको जानोवाला है, सब जगतके देखने जाननेका नेत्र है तथा अनन्त है, एक है, और अतीन्द्रिय है अथाव मति शुभ ज्ञानके समान इन्द्रियजनित नहीं है, वेपल आत्मासेही जानता है, उसको विद्वानोंने केवल ज्ञान कहा है ॥ ८ ॥

वरपनातीतमघ्नान्न स्वरार्थावभासकम् ।

जगज्ज्योतिरसदिग्यमनन्त सर्वदोदितम् ॥ ९ ॥

अर्थ—तथा केवल ज्ञान वरपनातीत है विषयको जाननेमें किसी प्रकारकी कहरना नहीं है, स्पष्ट जानता है, तथा आरको और परको दोनोंको जानता है । जगतका प्रकाश करनेवाला, संदेहरहित, अनन्त और सदाकाल उदयरूप है तथा इसका किसी समयमें किसी प्रकारसेभी अभाव नहीं होता है ॥ ९ ॥

अनन्तानन्तभागेऽपि यस्य लोकद्वराचरः ।

अलोचन स्पूरत्युच्चैस्तज्ज्योतिर्योगिना मतम् ॥ १० ॥

अर्थ—जिग केवल ज्ञानके अनन्तानन्त भाग करनेपरभी यह चराचर लोक मति भासित होता है तथा अलोकाकाग अनन्तानन्त प्रदेसी है, यहभी प्रकट प्रतिभासता है हम प्रकार योगीश्वरोंके ज्योतिप्रकाशरूप कहा है । भावार्थ—केवल ज्ञानमें समस्त लोकालोक प्रकाशमान है । और यह ज्ञान योगीश्वरोंको ही होता है ॥ १० ॥

इस प्रकार सामान्य ज्ञानकी अपेक्षा सो ये पाचोही ज्ञान एक हैं, तथापि कमके निमि

ससे पाच प्रकारके भेद कहे गये । क्योंकि मति श्रुत अग्रहि और मन पर्यय ये चार ज्ञान कर्मोंके क्षयोपशममे होते हैं और केवल ज्ञान आत्माका निनम्बभाव है, जो मति कर्मोंके सर्वथा क्षय होनेसे प्रगट होता है । यह ज्ञान अविनाशी और अनन्त है, सदा जैसाका तैसा रहता है और इसको फिर कभी कर्ममल नहीं लगता है ॥

अगम्य यन्मृगाङ्कस्य दुर्भेद्य यद्रचेरपि ।

तदुर्बोघोद्वृत ध्वान्त ज्ञानभेद्य प्रकीर्तितम् ॥ ११ ॥

अर्थ—जिस मिथ्याज्ञानरूप उत्कट अधःशक्को चन्द्रमा तथा सूर्यभी नष्ट नहीं कर सन्ता ऐसा दुर्भेद्य है । वह मिथ्यात्वापकार ज्ञानमेही नष्ट किया जाता है । नरक ज्ञानही उसको भेद सका है ॥ ११ ॥

दुःखज्वलनतप्ताना समारोघमरुस्थले ।

विज्ञानमेव जन्तूना सुधाम्बुमीणनक्षमः ॥ १२ ॥

अर्थ—इस तप्तारूपी उग्रमरुस्थलमें दुःखरूप अग्निसे तपायमान जीवोंको यह सत्याथ ज्ञानही अमृतरूप जलसे तृप्त करनेको समर्थ है । भावार्थ—संसारके दुःख मिटानेको सम्यग्ज्ञानही समर्थ है ॥ १२ ॥

निरालोक जगत्सर्वमज्ञानतिमिराहतम् ।

तावदास्ते उदेत्युच्चैर्न यावज्ज्ञानभास्करः ॥ १३ ॥

अर्थ—जन्तुक ज्ञानरूपी सूर्यका उदय नहीं होता तभीतक यह समस्त जगत् अज्ञानरूपी अधःशरसे आच्छादित है । अर्थात् ज्ञानरूपी सूर्यका उदय होतेही अज्ञानरूपी अधःशर नष्ट हो जाता है ॥ १३ ॥

पोष ण्य ददः पाशो हृषीकृष्णबन्धने ।

गारुडश्च महामथ चित्तभोगिविनिग्रहे ॥ १४ ॥

अर्थ—इन्द्रियरूपी मृगोंको बांधनेके लिये ज्ञानही एक दृढपासी है, अर्थात् ज्ञान ही चित्तभोगि वश नहीं होती, तथा चित्तरूपी सर्पका निग्रह करनेके लिये ज्ञानही एक गारुड महामथ है । अर्थात् मन भी ज्ञानहीसे बशीभूत होता है ॥ १४ ॥

निशात विद्धि निस्त्रिंश भवारातिनिपातने ।

तृतीयमथवा नेत्रं विश्वतरुप्रकाशने ॥ १५ ॥

अर्थ—ज्ञानही सो संसाररूप शत्रुको निपान (नष्ट) करके नये तीक्ष्ण मन्त्र और ज्ञानही समस्त तत्त्वोंको प्रकाशित करनेके लिये तीक्ष्ण नेत्र है ॥ १५ ॥

क्षीणमन्त्रा जिह्वेक्षदा धीतमद्वा. स्थिराशयाः ।

तन्मार्थोऽर्मा तपम्यन्ति योगिन. कृत्तनिश्चयाः ॥ १६ ॥

अर्थ—प्रमादको क्षीण करनेवाले, झूठोंको जीतनेवाले, परिग्रह रहित, मिर आशय वाले ये योगिगण उस ज्ञानकी प्राप्तिके लिये यत्नपूर्वक तपस्या करते हैं । भावार्थ—ऐसे ज्ञानी मुनिही इस ज्ञानको पाते हैं ॥ १६ ॥

घेष्टयत्याऽऽत्मनात्मानमज्ञानी कर्मबन्धनै ।

विज्ञानी मोक्षयत्येष प्रबुद्धः समयान्तरे ॥ १७ ॥

अर्थ—अज्ञानी पुरुष आपको अपनेहीसे कमरूपी बन्धनोंसे वेष्टित करते हैं । और जो भेदविज्ञानी है वह किसी कालमें सावधान होकर अपनेको कमबलोंसे छुड़ा लेता है ॥ १७ ॥

पञ्चन्मकोटिभिः पाप जयत्यज्ञस्तपोयलात् ।

तद्विज्ञानी क्षणार्द्धेन दहत्यतुल्यिक्रम ॥ १८ ॥

अर्थ—जो अज्ञानी है वह तो करोड़ों जन्म लेकर तपके प्रभावसे पापकी जीतता है । और उसी पापको अतुल्य पराक्रमवाला भेदविज्ञानी आधे क्षणहीमें मग्न कर देता है ॥ १८ ॥

अज्ञानपूर्विका चेष्टा घतेर्यस्यात्र भूतले ।

स यथात्यात्मनात्मानं कुर्यन्नपि तपश्चिर ॥ १९ ॥

अर्थ—जिस यतिकी इस पृथिवीपर अज्ञानपूर्वक चेष्टा (क्रिया) है वह विरकालसे तपस्या करता हुआ भी अपने आत्माको अपनेही हृत्पसे बाध लेता है । क्योंकि अज्ञानपूर्वक तप बन्धहीका कारण है ॥ १९ ॥

ज्ञानपूर्वमनुष्ठानं नि शेष यस्य योगिनः ।

न तस्य बन्धमायाति कर्म कस्मिन्नपि क्षणे ॥ २० ॥

अर्थ—जिस मुनिके समस्त आचरण ज्ञानपूर्वक होते हैं इसको किसी कालमें भी कमबध नहीं होता है । भावार्थ—अज्ञानीको तो बहुत काल तिष्ठनेवाला कर्मबध होता है, विन्दु ज्ञानीको कभी नहीं होता है ॥ २० ॥

यत्र बालश्चरत्यस्मिन्पथि तत्रैव पण्डित

बालः स्वमपि यथाति मुच्यते तत्त्वविद्वयम् ॥ २१ ॥

अर्थ—जिस मार्गमें अज्ञानी चलते हैं उसी मार्गमें विरज्जन चलते हैं, परन्तु अज्ञानी तो अपने आत्माको बाध लेता है और तत्त्वज्ञानी बन्धरहित हो जाता है । यह ज्ञानका माहात्म्य है ॥ २१ ॥

मालिनी ।

दुरिततिमिरांस मोक्षलक्ष्मीसरोज
मदनमुजगमश्च चित्तमातद्गसिंह ।

अमनपनममीर विश्वनरैकदीपं

निपयशफरजाल ज्ञानमाराधय त्वं ॥ २० ॥

अर्थ—हे भव्यजीव ! तू ज्ञानका आराधन कर । क्योंकि ज्ञान पापरूपी निमिर् (बन कारको) नष्ट करनेके लिये सूर्यके समान है, और मोपरूपी लक्ष्मीक निवाम करने लिये कमलके समान है, तथा कामरूपी सर्पके नीलनेत्रों मयके समान और मनरूपी हस्तीको सिंहके समान है, तथा—अमन आपदा कष्टरूपी मेघाको उड़ानेके लिये पवनके समान और समस्त तत्त्वोंको प्रकाश करनेके लिये दीपकके समान है तथा विषमरूपी मत्स्योंको पकड़नेके लिये जालके समान है ॥ २२ ॥

अब ज्ञानके प्रकरणको पूर्ण करते हुए कहते हैं,—

अथवा ।

अस्मिन्ससारकक्षे यमसुजगन्निपाक्रान्तनिःशेषसत्त्वे

क्रोधाद्युल्लुङ्घशैले कुटिलगतिसरित्पातसन्तापभीमे ।

मोहान्धाः सचरन्ति स्मलनविधुरिताः प्राणिनस्तापदेते

यावद्विज्ञानभानुर्भवभयदमिदं नोच्छिनत्पन्धकारम् ॥ २३ ॥

अर्थ—जबतक इस ससाररूपी वनमें यह सम्यग्ज्ञानरूपी सूर्य संसाररूप मय देनेवाले अज्ञान अधकारका उच्छेद नहीं करता तबतकही मोहसे अंगे हुए प्राणी अपने स्वरूप उत्तम मार्गसे छूटनेसे गिरते पड़ते पीडित हुए चलते हैं । कैसा है ससार रूपी वन ? जिसमें कि—पापरूपी सर्पके विषसे समस्त प्राणी व्याप्त हैं अर्थात् दूषित हैं तथा—क्रोधादिक पापरूपी बड़े २ ऊँचे पर्वत हैं । और बक गमनवाली दुर्गतिरूपी नदि योंमें गिरनेसे उत्पन्न हुए सन्तापसे अतिशय भयानक है । ज्ञानरूपी सूर्यके प्रकाश होने किसी प्रकारका दुःख वा भय नहीं रहता । इस प्रकार सम्यग्ज्ञानका वणन किया ॥ २३ ॥

बोहा ।

सम्यक्दर्शन प्राप्ते, ज्ञानविशेष वदाम ।

धारितकी विधि जानिके, लागू ध्यान उपराय ॥ १ ॥

इति श्रीज्ञानार्णवे श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते योगप्रदीपाधिकारे सम्यग्ज्ञानप्रकरण नाम

सप्तम सर्ग ॥ ७ ॥

अथ अष्टम सर्ग ।

आगे सम्भवचारित्रका वर्णन करते हैं,—

८ पद्मिशुके पर धाम योगिजनजीवितम् ।

तद्वत् सर्वसाधनपर्युदामैकलक्षणम् ॥ १ ॥

अर्थ—जो दिगुदताका उत्कृष्ट धाम है तथा योगीधरोका जीवन है और समस्त प्रकारकी साधनपर्युदयोसे दूर रहनेका लक्षण है, उसको सम्भूतचारित्र कहते हैं ।

भावार्थ—जो चारित्र समस्तसाधनोसे निवृत्त्यर्थ है वही दर्शनको शुद्ध करता है और मुनिजनोंका वही एक जीवनसयस है हमके बिना मुनिपदवी हो ही नहीं सकती है ॥१॥

९ सामायिकादिभेदेन पञ्चधा परिकीर्तितम् ।

काममादिजिनैः पूर्वं चारित्र्य सम्पद्यरुम् ॥ २ ॥

अर्थ—यह चारित्र्य पूर्वकालमें श्रीरूपभदेवतीर्थकर महाराजसे लेकर समस्त तीर्थकरोंने सामायिक १, ऐदोपम्यापना २, परिहारविगुद्धि ३, सृष्ट्यसपराय ४ और यथाख्यात चारित्र्य ५ ऐसे पांच प्रकारका कहा है ॥ २ ॥

१० पञ्चमहाप्रतमूल समितिप्रसर नितान्तमनवयम् ।

शुसिफलभारनघ्नं सन्मतिना कीर्तितं वृत्तम् ॥ ३ ॥

अर्थ—तथा वही चारित्र्य श्रीवर्द्धमानस्वामी तीर्थकर भगवान्ने तेरह प्रकारका कहा है । पांच महाप्रत हैं मूल जिसका तथा पांच समिति हैं प्रसर (फैलाव) जिसका और अत्यन्त निदाघ तीन गुस्तिरूप इसके भारसे नभीभूत ऐसा चरित्ररूपी वृक्ष है ।

भावार्थ—चारित्र्य तेरह प्रकारका है । वह वृक्षही उपमाको धारण करता है । उसकी जड़ पांच महाप्रत हैं, उसकी विसृज्यमान्यामें पांच समिति हैं और उसके फल तीन गुस्तिया हैं ॥३॥

११ पञ्च पञ्च त्रिभिर्भेदैर्दुक्तं मुक्तसंशयै ।

भयभ्रमणभीतानां चरणं शरणं परम् ॥ ४ ॥

अर्थ—भयारहित गणधरादिषोने पांच पांच और तीन भेदसे जो चारित्र्य कहा है वह संसारके भ्रमणसे भयभीत पुरर्पाक हलु एक उत्तम शरण है । अर्थात् जो मुनि संसारके भयसे भयभीत हैं वे इस चारित्र्यका धारण करनेसे भयारहित (अमय) हो जाते हैं ॥ ४ ॥

१२ पञ्चव्रत समित्पञ्च शुसिन्नपवित्रितम् ।

श्रीवीरवदनोद्गीर्णं चरणं चन्द्रनिर्मलम् ॥ ५ ॥

अर्थ—पांच महाजन, पांच समिति और तीन गुमिस्त ने प्रहार का चरित्र भीरीर (वर्द्धमान) तीर्थकर भगवान् के मुनमें प्रगट हुआ है वर महाजन निमल है ॥ ५ ॥

हिंसायामनृते स्तेपे मेयुने च परिग्रहे ।

विरतिर्व्रतमित्युक्त मर्ममरगानुकम्पके ॥ ६ ॥

अर्थ—हिंसा, अनृत, चोरी, मेषु और परिग्रह इन पापोंमें विरति कहिने लग भाव होना ही मन है । समल जीवापर दयालु गुणियों प्रेमाही कहा है ॥ ६ ॥

इस प्रकार संक्षेपमें कहकर अब प्रथमही अहिंसा महाजन का बणन करते हैं,—

अथ मत्यानुसारनि शेषयमजातनिषन्धनम् ।

शीलैश्चर्याधिष्ठानमहिंसाग्न्य महाजनम् ॥ ७ ॥

अर्थ—अहिंसा नामा महानन मत्यादिक अगले ४ महाजनोंका तो कारण है, क्योंकि सत्य चौर्यादि विना अहिंसा नहीं हो सकते । और शीलदिमहित उत्तुणोंकी चर्याका स्थान भी यह अहिंसाही है । अर्थात् समल उत्तर गुणभी इस अहिंसा महाजन आश्रय हैं ॥ ७ ॥

११ चाक्षयिस्तनुभिर्घ्न न स्वप्नेऽपि प्रवर्त्तते ।

चरस्थिराङ्गिना घातस्तदाद्य घतमीरितम् ॥ ८ ॥

अर्थ—जिसमें मनवचनकायसे प्रस और स्थार जीवोंका घात स्वप्नें भी न हो उ आघवत (प्रथम महानत—अहिंसा) कहते हैं ॥ ८ ॥

१२ मृते वा जीविते वा स्याज्जन्तुजाते प्रमादिनाम् ।

बन्ध एव न बन्ध स्याद्विंसाया सवृतात्मनाम् ॥ ९ ॥

अर्थ—जीवोंके मरते वा जाते प्रमादी पुरुषोंको तो निरन्तरही हिंसाका पाप होताही रहता है । और जो सवरसहित अप्रमादी हैं उनको जीवोंकी हिंसा होते हुए १ हिंसारूप पापका बध नहीं होता । भावार्थ—कर्मबन्ध होनेमें प्रधान कारण आत्मा परिणाम है, इस कारण जो प्रमादसहित विना बलके प्रवर्त्तते हैं उनको तो जीव २ अथवा न मरे किन्तु कर्मबन्ध होताही है, और जो प्रमादरहित बलपूर्वक प्रवृत्ति करते हैं उनके दैवयोगसे जाव मरे तौभी कर्मबन्ध नहीं होता है ॥ ९ ॥

१३ सरम्भादित्रिक योगै कपायैर्व्याहृत क्रमात् ।

शतमष्टाधिक शेष हिंसामेदैस्तु पिण्डितम् ॥ १० ॥

अर्थ—संरंभ, समारंभ और आरंभ इस त्रिको को मनवचनकायकी तीन २ प्रवृत्ति योंसे तथा क्रोध, मान, माया, सोम इन चार कषायों और कृत, कारित, अनुमोदना (अनुमति वा सम्मति) से क्रमसे गुणन करनेपर हिसाके भेद (१०८) होते हैं, तथा अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलिनी कषायोंके उत्तरभेदोंमें गुणन करनेसे ४३२ भेद भी हिसाके होते हैं ॥ १० ॥

॥ अतः प्रमादमुत्सृज्य भावशुद्ध्याद्विसन्ततिम् ।

यमप्रशमसिद्धयर्थं बन्धुबुद्ध्या विलोकय ॥ ११ ॥

अर्थ—उपर्युक्त संरंभादिक हिसापरिणामके १०८ अथवा ४३२ भेद हैं अतः हे आत्मन्! तू प्रमादको छोड़कर भावोंकी शुद्धिके लिये जीवोंकी मन्तनिको (सम्राट्को) बन्धु (भाई, हित, मित्र)की दृष्टिमें अवलोकन किया कर । अर्थात् प्राणीमात्रसे शत्रुभाव न रखकर सबसे मित्रभाव रख और सबकी रक्षामें मनवचनकायादिकसे प्रवृत्ति कर ॥ ११ ॥

॥ यजन्तुमन्धसजातकर्मपाशाच्छरीरिभिः ।

श्वघ्रादौ सहाते दुःखं तद्वपुः केन पार्यते ॥ १२ ॥

अर्थ—जीवोंके पात (हिंसा) करनेसे पापकर्म उपार्जन होना है उसका जो पन् अर्थात् दुःख नरकादिक गतिमें जीव भोगते हैं वह बचनके अगोचर है । अर्थात् बचनमें कहनेमें नहीं आसकता ॥ १२ ॥

॥ हिंसैव नरकागारप्रतोली प्राशुविग्रहा ।

कुठारीव द्विधा कर्तुं भैरवं शूलोऽतिनिर्दया ॥ १३ ॥

१ हिंसामें उपमरूप परित्यागोंका होना ही स्वप्न है हिंसाक साधन में अभ्यास करना (साधन मिलाना) समारंभमें आरंभ करनेमें प्रवर्तन करना आरंभ है । इन तीनोंको मनवचनकायक दोषसे गुणन करनेमें सब होत हैं अर्थात् कृत कारित अनुमोदनासे गुणन करनेसे १०८ भिन्न इनको क्रोध मान माया और सोम इन चार कषायोंसे गुणनसे १०८ हिंसाके भेद होते हैं । कृत-अप स्वकीय होकर की, कारित-अपसे कराये और अन्य कोई हिंसा करता हो उसको अप्य जान उसे अनुमोदना वा अनुमन करत है । यह-कोषकृतकायसंरंभ १ मानकृतकायसंरंभ १ मानकृतकायसंरंभ ३ कोषकृतकायसंरंभ ४ कोषकारितकायसंरंभ ५ मानकारित कायसंरंभ ६ साक्षाकारित कायसंरंभ ७ कोषकारित कायसंरंभ ८ कोषानन्द कायसंरंभ ९ मानकुमन कायसंरंभ १ साक्षाकुमन कायसंरंभ ११ कोषकुमन कायसंरंभ इन प्रकार कायक संरंभ १२ भेद इसी प्रकार बचनसंरंभके १२ भेद अर मनसंरंभके १२ भेद मित्रकर ३१ भेद सखिकर ३२ भेद इसी प्रकार ३१ सामंजसिक ३॥ ३१ आरंभके सबमिलकर १०८ भेद हिंसाके होते हैं । अर्थात् क्रोध मान माया तथा सोम इन चार कषायोंके अनन्तानुबन्धी अप्रत्याख्यान प्रत्याख्यान और संज्वलन इन चार कोषोंसे गुणन करनेसे ४३२ भेद भी हिंसाके होते हैं जब करवही कालमें १ दण्ड करत और १० दण्ड करतें १०८ दण्ड करतें इसी संरंभ समंजस आरंभके लिये दण्डों के दून्ने रखकर उलक मेहरण (हल्लाकर) १०८ दण्ड दण्डे जाते हैं । अथ तू सामंजसिक (संज्वलन प्रत्याख्यान) काग मय्य करत १०८ आरंभके (हिंसाक पापकर्मोंका) परमेष्ठिके सम्मोदकपूर्वक साधन करना कर्ममें तपस्वान् धर्मोपायोंमें लब्ध करीव ।

अर्थ—यह हिंसाही नरकरूपी घरमें प्रवेश करनेके लिये प्रतौली (मुफ्त दातक) है तथा जीनोंको काटनेके लिये कुठार (कुल्हाड़ा) और विदारनेके लिये निर्दयता शूली है ॥ १३ ॥

क्षमादिपरमोदारैर्यमैयों वर्द्धितश्चिरम् ।

हन्यते स क्षणादेव हिंसया धर्मपादपः ॥ १४ ॥

अर्थ—जो धर्मरूप वृक्ष उत्तम क्षमादिक परम उदार समयमेंसे बहुत कान्ते बढ़ है वह इस हिंसारूप कुठारसे क्षणमात्रमें नष्ट हो जाता है । भावार्थ—जहा हिंसा होती है वहा धर्मका लेशभी नहीं है ॥ १४ ॥

तपोयमसमाधीना ध्यानाध्ययनकर्मणा ।

तनोत्यविरत पीडा हृदि हिंसा क्षणस्थिता ॥ १५ ॥

अर्थ—हृदयमें क्षणभरभी स्थान पाई हुई यह हिंसा तप, यम, समाधि और ध्यान अध्ययनकर्मणा (हिंसारूप परिणाम) किसी कारणसे एकबार उत्पन्न हो जाता है तो उनका संघ (सारण) लगा रहता है । वह तप, यम, समाधि और ध्यानाध्ययनकर्मणि विच्छेद नहीं टहरने देता, इस कारण यह हिंसा महा अनथकारिणी है ॥ १५ ॥

अहो व्यसनविध्वस्तैर्लोकः पाप्मण्डिभिर्विलात् ।

नीयते नरक घोर हिंसाशास्त्रोपदेशकैः ॥ १६ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज आश्रयके साथ कहते हैं कि देखो! धर्म तो दयान जगत्में प्रसिद्ध है परन्तु निपयनपायसे पीडित पाप्मण्डी हिंसाका उपदेश देने (यज्ञादिकर्म पशुशोभने तथा देवी आदिके बलिदान करने आदि हिंसानिधान करनेवाले शास्त्रोंको रचकर जगत्के जीनोंको बलात्कार नरकादिकर्म ले जाते हैं । यह बात अनर्थ है ॥ १६ ॥

शैरवादिषु घोरेषु पिशन्ति पिशिताशनाः ।

तप्येव हि कदर्प्यन्ते जन्तुघातकृतोद्यमाः ॥ १७ ॥

अर्थ—जो मांस के खानेवाले हैं वे मांस में शैरवादि विप्रोथ प्रवेश करने और बर्षीरा जीवाँको घात करनेवाले शिकारी आदिक भी पीशित होते हैं । भावार्थ जो जीवघातक मांसभी खाती हैं, वे नरक में ही जाते हैं । और जो जीवघातको ही न मानकर उपद्रव करते हैं वे अपने और पाक दोनों में घातक हैं, अब वे भी न बर्षीरा बन रहे ॥ १७ ॥

घान्त्यर्थं देवपूजार्थं पशार्थमथवा नृभिः ।

मृम प्राणभृता घात पातपत्यविरम्भित ॥ १८ ॥

अर्थ—अपनी शान्तिरे अर्थ अथवा देवपूजाके तथा यज्ञके अर्थ जो मनुष्य जीवघात (जीवहिंसा) करते हैं वह घात भी जीवोंको नीग्रही नरकमें डालता है ॥ १८ ॥

हिंसेय दुर्गतेर्छार हिंसेय दुरितार्णव ।

हिंसेय नरक घोर हिंसेय गहन तम ॥ १९ ॥

अर्थ—हिंसा ही दुर्गतिका द्वार है, पापका समुद्र है तथा हिंसाही घोर नरक और महा अपहर है । भावार्थ—समस्त पापोंमें मुख्य हिंसाही है । जितनी सोदी उपमायें हैं, सब हिंसाको लाती हैं ॥ १९ ॥

निःस्पृहस्य महत्तपः च नैराश्य दुष्करं तपः ।

वायश्रेष्ठश्च दानं च हिंसकानामपार्थक्यम् ॥ २० ॥

अर्थ—जो हिंसक पुरुष हैं उनकी निष्पृहता, महत्ता, आगारहितता, दुष्कर तप करना, वायश्रेष्ठ और दान करना आदि समस्त धर्मकार्य व्यर्थ है अर्थात् निष्फल हैं ॥ २० ॥

च कुलत्रमागता हिंसा कुलनाशाय कीर्तिता ।

कृता च विप्रशान्त्यर्थं विप्रौपायैष जायते ॥ २१ ॥

अर्थ—कुलत्रमसे जो हिंसा चलीआई है वह उस कुलको नाश करनेके लियेही कही गई है तथा विप्रकी शान्तिरे अथ जो हिंसा की जाती है वह विप्रसमूहको कुलानेके लियेही है । भावार्थ—कोई बड़े नि हमारे कुलों देवी आदि का पूजन चला आता है अतएव हम बकरे भैंसेका घात करके देवीको चढ़ाते हैं और इसीसे कुलदेवीको सन्तुष्ट हुई मानते हैं तथा ऐसा करनेसे कुलदेवी कुलकी वृद्धि करती है, इस प्रकार भ्रम मान करके जो बकरे आदि की हिंसा की जाती है वह कुलनाशके लियेही होती है, कुलवृद्धिके लिये कदापि नहीं । तथा कोई २ अज्ञानी विप्रशान्त्यर्थ हिंसा करते हैं और यज्ञ करते हैं उनकी उल्टा विप्रही होता है और उनका कभी कल्याण नहीं हो सकता है ॥ २१ ॥

१) सौरयार्थं दुःखसन्तानं मङ्गलाथऽप्यमङ्गलम् ।

जीवितार्थं ध्रुव मृत्यु कृता हिंसा प्रयच्छति ॥ २२ ॥

अर्थ—सुखके अर्थ की हुई हिंसा दुःखकी परिपाटी करती है, मङ्गलाथ की हुई हिंसा अमङ्गल करती है, तथा जीवितार्थ की हुई हिंसा मृत्युको प्राप्त करती है । इस बातको निश्चय जानना ॥ २२ ॥

१) तितीर्पति ध्रुव मूढः स शिलाभिर्नदीपति ।

धर्मबुद्ध्याऽधमो यस्तु घातपत्यङ्गिसत्तपम् ॥ २३ ॥

स्तानि दयाधर्मको छांड़कर दुःखकी शान्तिके लिये हिंसाको भी धम करके उपदेश करते हैं । भावार्थ—हिंसामें धम करनेवाले विपातके गर्भमें मदोन्मत्त हो रहे हैं और वे विषयलम्पट और बषाही हैं ॥ २८ ॥

११ धर्मयुद्धाऽधर्म पाप जन्तुघातादिरक्षणम् ।

त्रिपते जीवितस्यार्थं पीपते विषम विष ॥ २९ ॥

अर्थ—जो पापी धनकी बुद्धिसे जीवपातकारी पापको करते हैं वे अपने जीवनकी रक्षासे हालाहल विषको पीते हैं ॥ २९ ॥

११ एतस्मिन्मयसर्पस्यमेतत्सिद्धान्तजीवितम् ।

यजन्तुजातरक्षार्थं भावशुद्ध्या दृढं मतम् ॥ ३० ॥

अर्थ—वही तो मतका सन्त है और वही सिद्धान्तका रहस्य है जो जीवोंके सम्बन्धी रक्षाके लिये है । एवम् वही भावशुद्धिपूर्वक दृढ मत है ॥ ३० ॥

अपते सर्वशस्त्रेषु मयेषु समयेषु च ।

“अहिंसालक्षणो धर्मः” तन्निपक्षश्च पातकम् ॥ ३१ ॥

अर्थ—समस्त मतोंमें समस्त शास्त्रोंमें यही सुना जाता है कि अहिंसालक्षण तो धर्म है और इसका प्रतिपक्षी हिंसा करनाही पाप है । इस सिद्धान्तसे जो विपरीत बचन हो वह सब निषयाभिलाषा जिहासपट जीवोंके दूरहीसे सबने योग्य जानना चाहिये ॥ ३१ ॥

अहिंसैव जगन्माताऽहिंसैवानन्दपद्धतिः ।

अहिंसैव गतिः साध्वी श्रीरहिंसैव शाश्वती ॥ ३२ ॥

अर्थ—अहिंसाही तो जगतकी माता है । क्योंकि समस्त जीवोंकी प्रतिपालना करने वाली है । अहिंसाही आनन्दकी सन्तति अर्थात् परिपाटी है । अहिंसाही उत्तम गति और शाश्वती रक्षणी है । जगतमें जितने उत्तमोत्तम गुण हैं वे सब इस अहिंसाहीमें हैं ॥ ३२ ॥

अहिंसैव शिष्य सृते दत्ते च त्रिदिवश्चिप ।

अहिंसैव हितं कुर्याद्व्यसनानि निरस्यति ॥ ३३ ॥

अर्थ—यह अहिंसाही मुक्तिको करती है तथा सर्वकी रक्षणीको देती है और अहिंसाही आत्माका हित करती है तथा समस्त कष्टरूप आपदाओंको नष्ट करती है ॥ ३३ ॥

११ ससटीपवर्ती धार्त्री कुलाचलसमन्विताम् ।

नैकप्राणिवधोत्पन्नं दत्त्वा दोषं व्यपोहति ॥ ३४ ॥

अर्थ—यदि कुलाचल पर्वतोंके सहित सातद्वीपकी शृङ्गी भी दान करदी जाय तो भी एक प्राणीको मारनेका पाप दूर नहीं हो सकता है । भावार्थ—समस्त दानोंमें अमय,

अर्थ—जो मूढ अधम धर्मकी बुद्धिसे जीवोंको मार्गता है सो पापाणकी शिन्नासत बैठकर समुद्रको तैरनेकी इच्छा करता है । क्योंकि वह नियमसे झूगेगा ॥ २३ ॥

प्रमाणीकृत्य शास्त्राणि चैर्यघः क्रियतेऽधमैः ।

सह्यते परलोके तैः श्वश्रे शूलाचिरोत्थणम् ॥ २४ ॥

अर्थ—जो अधम शास्त्रोंका प्रमाण देकर जीवोंका वध करना धर्म बताते हैं वे मृत होनेपर नरकमें शूलीपर चढ़ाये जाते हैं । भावार्थ—अनेक अज्ञानी कहते हैं कि वेदशास्त्र यज्ञके समय जीववध करना कहा है, उसीको ईश्वरकृत प्रमाणमूल मानकर हम पशुवध करते हैं । परंतु ऐसा कहनेवाले अधर्मी हैं । क्योंकि जिस शास्त्रमें जीववध धर्म कहा है वह शास्त्र कदापि प्रमाणमूल नहीं कहा जा सकता । उसको जो अज्ञानी प्रमाण मानकर हिंसा करते हैं वे अवश्यही नरकमें पड़ते हैं ॥ २४ ॥

निर्दयेन हि किं तेन श्रुतेनाचरणेन च ।

यस्य स्वीकारमात्रेण जन्तवो यान्ति दुर्गतिम् ॥ २५ ॥

अर्थ—जिसमें दया नहीं है ऐसे शास्त्र तथा आचरणसे क्या लाभ ? क्योंकि वे शास्त्रके वा आचरणके अंगीकार मात्रहीसे जीव दुर्गतिको चले जाते हैं ॥ २५ ॥

परमेष्ठाक्षर ब्राह्म सर्वसत्त्वानुरूपनम् ।

न त्वक्षपोपक पाप कुशास्त्र धूर्त्तचर्चितम् ॥ २६ ॥

अर्थ—सर्व प्राणियोंपर दया करनेवाला तो एक अक्षर श्रेष्ठ है और प्रत्यक्ष करने योग्य है, परन्तु धूर्त तथा निपयस्पायी पुरुषोंका रचा हुआ इन्द्रियोंको पोषणार्थ जो पापरूप कुशास्त्र है वह श्रेष्ठ नहीं है ॥ २६ ॥

१) चरुमर्चापधाना वा हेतोरन्यस्य वा कचित् ।

कृता मती नरैर्हिंसा पातयत्यविलम्पितम् ॥ २७ ॥

अर्थ—देवताकी पूजाने लिये रघुचेष्ट नैवेद्य तथा मंत्र और औषधक निमित्त अथवा अन्य किसीमी कारणसे लिये की हुई हिंसा जीवोंको नरकमें लेजाती है ॥ २७ ॥

वसन्धम् ।

११ विहाय धर्मं जामशीललाञ्छित

दयायह भूतहित गुणाकरम् ।

मदोदना अक्षयपाययक्षिता

दिदाम्नि हिंमामपि दुग्धशान्तये ॥ २८ ॥

अर्थ—जो दुग्ध ग्रहमें उदित है और इन्द्रियोंमें निषय तथा कषायोंमें ठोका गया है वही मन्दकाय तथा उपग्रहमय पीनम बिहिन दयामयी जीवोंके हितकरोपाय पुण्य है ॥

प्राप्ति दयापूर्णो लांहर दुःखी प्राप्तिने मिने दिमाको भी भय कहकर उपदेश करने हैं । भावार्थ—दिमाके भय करनेवाँ विपातके गर्भमें मदोन्मत्त हो रहे हैं और ये विषयलम्पट और कपायी है ॥ २८ ॥

११ धर्मयुत्तराऽधर्मैः पाप जन्तुपातादिलक्षणम् ।

त्रिषम जीवितस्यार्थे वीर्यमे विषम विषं ॥ २९ ॥

अर्थ—जो पापी धर्मकी बुद्धिसे जीवपातरूपी पापको करते हैं वे अपने जीवनकी दृष्टागे दानाहल दिपको पीते हैं ॥ २९ ॥

११ एतस्मिन्मयनर्पण्यमेतस्मिन्मान्तजीवितम् ।

यजन्तुजानतरक्षाध भापशुद्ध्या दृढं व्रतम् ॥ ३० ॥

अर्थ—यही तो मतवा सन्म है और यही सिद्धान्तका रहस्य है जो जीवोंके समूहकी रक्षाके मित्र है । एषम् यही भावशुद्धिपूर्वक दृढ व्रत है ॥ ३० ॥

भूयमे नर्पण्यन्त्रेषु नर्पेषु ममयेषु च ।

“अहिंसांलक्षणो धर्मः” तन्निपक्षश्च पातकम् ॥ ३१ ॥

अर्थ—समस्त ममोप समस्त भासनेमें यही सुना जाता है कि अहिंसांलक्षण तो धर्म है और इसका प्रतिपक्षी हिंसा करनाही पाप है इस सिद्धान्तसे जो विपरीत वचन तो बट सब विषयाभिलाषी जिह्वालम्पट जीवोंके दूरहीसे सजने योग्य जानना चाहिये ॥ ३१ ॥

अहिंसैव जगन्माताऽहिंसैयानन्दपद्धति ।

अहिंसैव गतिः साध्वी श्रीरहिंसैव शाश्वती ॥ ३२ ॥

अर्थ—अहिंसाही तो जगतकी माता है । क्योंकि समस्त जीवोंकी प्रतिपालना करने वाली है । अहिंसाही आनन्दकी सत्तति अर्थात् परिपाटी है । अहिंसाही उत्तम गति और शाश्वती लक्ष्मी है । जगतमें त्रितने उत्तमोत्तम गुण हैं वे सब इस अहिंसाहीमें हैं ॥ ३२ ॥

अहिंसैव शिष्य सृते दत्ते च त्रिदिवश्रिय ।

अहिंसैव तित कुर्याद्भग्नानि निरस्यति ॥ ३३ ॥

अर्थ—यह अहिंसाही मुक्तिको करती है तथा स्वर्गकी लक्ष्मीको देती है और अहिंसाही आत्माका रित करती है तथा समस्त कष्टरूप आपदाओंको नष्ट करती है ॥ ३३ ॥

११ सप्तटीपवर्ती धार्त्री कुलाचलसमन्विताम् ।

नैकप्राणियघोत्पन्न दृष्ट्वा दोष ध्वपोहति ॥ ३४ ॥

अर्थ—यदि कुलाचल पवर्तीके सहित सातद्वीपकी पृष्ठी भी दान करदी जाय तो भी एक प्राणीको मारनेका वाप दूर नहीं हो सकता है । भावार्थ—समस्त दानोंमें अमय,

दान प्रधान है । क्योंकि एक प्राणीके घातसे उत्पन्न हुआ पाप सात द्वीप और कुन्तल सहित पृथिवी दान करनेसे भी दूर नहीं होता ॥ ३४ ॥

११ सकलजलधिवेलागारिसीमा धरित्रीं

नगरनगसमग्रा स्पर्णरत्नादिपुष्पाम् ।

यदि मरणनिमित्ते कोऽपि दयात्कथंचित्

तदपि न मनुजाना जीविते त्यागनुद्धिः ॥ ३५ ॥

अर्थ—जो कोई किसी मनुष्यको मर जानेके बदलेमें नगर, पर्यंत तथा सुगन्ध पत्र धान्यादिमें भरी हुई समुद्रपर्यन्तकी पृथिवीका दान करे तो भी अपने जीवने त्याग करनेपर उसकी इच्छा नहीं होगी । भावार्थ—मनुष्योंको जीवन इत्यादि त्याग देनेसे जिसे जो कोई समस्त पृथिवीका राज्य दे तो भी मरना नहीं चाहता । इस कारण एक जीवको बचानेमें जो पुण्य होता है वह समस्त पृथिवीका दानमें भी भरी होगा है ॥ ३५ ॥

आत्मनोत्क्षिप्य तेनाशु प्रक्षिप्तं श्वस्रमागरे ।

गोष्ठममयेनापि येन हिंसा समर्थिता ॥ ३६ ॥

अर्थ—जिस पुरुषने किसीकी प्रीतिसे भयसे अथवा किसीसे भयसे हिंसाका स्वरूप दिए कि हिंसा करना बुरा नहीं है तो ऐसा समझो कि उसने अपनी आत्माको भी स्वयं दास्यकी समुद्रमें डाल दिया ॥ ३६ ॥

शुण्यवनामिहोदण्डैरुगुक्ता सारगणहने ।

गोष्ठमास्तेऽपि निर्मिदोर्दयस्येन प्रवर्णिता ॥ ३७ ॥

अर्थ—जो वानर शिगुल बक, मर्याद और धनुष इत्यादि शस्त्रोंमें जीवोंको मार करने के लिये हैं वे सब बक, काली, भेराट्टिकोंकी भी निश्चय पुण्य लेना मायका उदर भरण करते हैं । भावार्थ—जो जीवोंका घात करनेमें मनुष्य का वह काइका है वह मनुष्य को निर्दिष्ट करने के लिये वे सब निर्दिष्ट करती हैं ॥ ३७ ॥

वर्जितैर्दण्डैश्चान्न त्रिगुणे न पराभवः ।

पराजितं न भिन्नमादृत्य प्रविशन्ते ॥ ३८ ॥

अर्थ—जो बलवान् पुरुष हम को नहीं हिंसा करता वह हमको मारता है और हमें मारने के लिये हमें मारता है । अर्थात्—जो कोई बलवान् हिंसा करता है तो हमें मारता है और हमें मारता है । भावार्थ—जो बलवान् हिंसा करता है तो हमें मारता है और हमें मारता है ॥ ३८ ॥

अपरेन्द्रियसर्वोद्धारवाचनं विविक्तप्रियात् ।

निर्दिष्टं प्रवृत्तं नित्यं न भिन्नमादृत्य ॥ ३९ ॥

अर्थ—जिनके सब अंग भयसे कपित हैं, जिनका कोई रक्षक नहीं, जो अनाथ हैं, जिनको जीवनही एक मात्र मियवस्तु है, ऐसे प्राणियोंको जो मारते हैं उन्होंने क्या अपनेको अजरामर जान लिया ? । भावार्थ—अपनेको भी कोई मारेगा यह उन्होंने नहीं जाना ॥ ३९ ॥

स्वपुत्रपौत्रसन्तान घर्दयन्त्यादरैर्जना ।

व्यापादयन्ति चान्येषामत्र हेतुर्न युज्यते ॥ ४० ॥

अर्थ—यह बड़ा आश्चर्य है कि अपने पुत्रपौत्रादिसन्तानको तो बड़े धनसे पालते और बढ़ाते हैं परन्तु दूसरोंकी सन्तानका पात करते हैं । न मालूम कि इसमें क्या हेतु है ? । भावार्थ—यह महामोहका (अज्ञानका) ही माहात्म्य है ॥ ४० ॥

परमाणो पर नाल्प न महद्भगनात्पर ।

यथा किञ्चित्तथा धर्मो नार्हिसालक्षणात्पर ॥ ४१ ॥

अर्थ—इस लोकमें जैसे परमाणुसे तो कोई छोटा ॥ अस्य नहीं है और आकाशसे कोई बड़ा नहीं है । इसी प्रकार अर्हिसारूप धर्मसे बड़ा कोई धर्म नहीं है । यह जगत्प सिद्ध लोकोक्ति है । यथा—“अर्हिसा परमो धर्मो हिंसा सर्वत्र गर्हिता” ॥ ४१ ॥

११ तप श्रुतयमज्ञानध्यानदानादिकर्मणा ।

सत्यशीलव्रतादीनामर्हिसा जननी मता ॥ ४२ ॥

अर्थ—तप, श्रुत (शास्त्रका ज्ञान), यम (महाव्रत), ज्ञान (बहुत जानना), ध्यान और दान करना तथा सत्यशील व्रतादिक जितने उत्तम कार्य हैं उन सबकी माता एक अर्हिसाही है । अर्हिसाव्रतके पालन विना उपर्युक्त गुणोंमेंसे एक भी नहीं होता इस कारण अर्हिसाही समस्त धर्मकार्योंकी उत्पत्ति करनेवाली माता है ॥ ४२ ॥

१२ कर्णार्द्रं च यिज्ञानयासित यस्य मानसम् ।

इन्द्रियार्थेषु नि सद्ग तस्य सिद्ध समीहितम् ॥ ४३ ॥

अर्थ—जिस पुरुषका मन बरणासे आर्द्र (गीला) हो तथा विगिष्ट ज्ञानमहित हो और इन्द्रियोंके विषयोंमें दूर हो उसीको मनोवांछित कार्यकी सिद्धि होती है ॥ ४३ ॥

निर्विश एष निर्विशं यस्य चेत्तोऽस्ति जन्तुषु ।

तप'श्रुताद्यनुष्ठान तस्य हेतुश्चाप केवलम् ॥ ४४ ॥

अर्थ—जिस पुरुषका चित्त जीवोंके लिये शास्त्रके समान निर्द्वय है उसका तप करना और शास्त्रका पढ़ना आदि कार्य केवल बहके लियेही होता है किन्तु कुछ भयार्द्र लिये नहीं होता ॥ ४४ ॥

११) द्ययोरपि सम पापं निर्णीत परमागमे ।

यधानुमोदयो. कर्त्रारसत्सरुत्पमश्रयात् ॥ ४५ ॥

अर्थ—घातकरनेवाला और घातकरनेवालेकी प्रशंसा करनेवाला इन दोनोंको परमागममं समानही निर्णय किया गया है । क्योंकि जैसे घात करनेवालेको जो पारसोभी अशुभ परिणामोंसे हुआ है, उसी प्रकार मले जाननेवालेके भी अशुभ सम्मतिना उसकी अनुमोदना नहीं हो सकती है, इसकारण हिंसा करने और उसको जाननेवालेको पाप बराबर लगता है ॥ ४५ ॥

१२) सरुत्पाच्छालिमत्स्योऽपि म्वयमूरमणार्णये ।

महामत्स्याशुभेन स्व नियोज्य नरक गत ॥ ४६ ॥

अर्थ—देखो स्वयमूरमणसमुद्रमें शालिमत्स्य महामत्स्यके परिणामोंसे अपने पात मिलाकर नरकको गया । यह अन्य कोई हिंसा कर उसका जो आप अनुमोदन कर उसके सरुत्पमात्रसे उसीके समान पाप होनेका उदाहरण है ॥ ४६ ॥

अहिंसैकाऽपि यत्सौरय कल्याणमश्रया शिवम् ।

दत्ते तदेहिना नाय तपःश्रुतयमोत्करः ॥ ४७ ॥

अर्थ—यह अहिंसा अकेलीही जावोंको जो सुख, कल्याण वा अम्युदय देती है तप, स्वाध्याय और यमनियमादि नहीं दे सकती है । क्योंकि धर्मके समस्त अंगोंमें अहिंसा एक मात्र प्रधान है ॥ ४७ ॥

वृयते यस्तृणेनापि स्वशरीरे कदर्शने ।

न निर्दय परस्याङ्गे कथं शस्त्र निपातयेत् ॥ ४८ ॥

अर्थ—जो मनुष्य अपने शरीरमें तिनका चुभनेपर भी अपनेको दुःखी हुआ माने वह निर्दय होकर परके शरीरपर शस्त्र कैसे चलाता है? यह बड़ा अनर्थ है ॥ ४८ ॥

१३) जन्मोग्रभयभीतानामहिंसैवौपधि परा ।

तथाऽमरपुरीं गन्तु पाधेय पधि पुष्कलम् ॥ ४९ ॥

अर्थ—इम संसाररूप तीव्र भयमें भयभीत होनेवाले जावोंको यह अहिंसा ही परम औपधि है—जिससे सबका भय दूर करती है तथा स्वयं जाते हैं तब अहिंसा ही उन्मत्त अवन्त हुआ है स्वयं पानेय हितकारिणी ।

भययैरिणमर्वाङ्गाननाथास्तु न मरम्यमी ॥ ५० ॥

अर्थ—जिनके शरीरोंमें भय है वे मरम्यमी नहीं हैं । जो भयभीत होना चाहते हैं वे मरम्यमी नहीं हैं । जो भयभीत होना चाहते हैं वे मरम्यमी नहीं हैं ।

और भीये समान विचारों आद देगारी है तथा सपुपदेग देनेके लिये सरस्वतीके समान है ॥ ५० ॥

१) श्यान्ययोरप्यनान्येभ्य सुखं दुःखं हितारितम् ।

जन्तून् य पानकी हन्यात्स नरत्वेऽपि राक्षस ॥ ५१ ॥

अर्थ—जो पानी नर अपने और अन्यने सुख दुःख वा हित अनहितको न विचार कर जीवोंको मारता है वह मनुष्यजन्ममें भी राक्षस है । क्योंकि मनुष्य होता तो अपना या परका हितारित विचारता ॥ ५१ ॥

१) अभयं यच्छ भूतेषु कुं मैत्रीमनिन्दिताम् ।

पदपात्मसदृशं चिन्तय जीवलोकं चराचरम् ॥ ५२ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज उपदेश करते हैं कि— हे भव्य ! तू जीवोंके लिये अभयदान दे तथा उनसे प्रशंसनीय मित्रता कर पौर समस्त जस तथा स्वावर जीवोंको अपने समान देख ॥ ५२ ॥

जायन्ते भूतय पुता या मृपाभ्रान्तचेतसाम् ।

चिरेणापि न ता वक्षुं शक्ता देव्यपि भारती ॥ ५३ ॥

अर्थ—जिनका चित्त दयालु है उन पुरुषोंको जो सम्पदा होती है, उनका धन सरस्वती देवी भी बहुत कल्पपन्न करे तो भी उससे नहीं हो सकना फिर अन्यसे तो किया ही कैसे ना सक्ता है ॥ ५३ ॥

किं न तप्तं तपस्तेन किं न दत्तं महात्मना ।

दिनीर्णमभयं येन प्रीतिमालम्ब्य देहिनाम् ॥ ५४ ॥

अर्थ—जिस महापुरुषने जीवोंको प्रीतिसे आश्रय देकर अभयदान दिया उस महात्माने कौनसा तप नहीं लिया और कौनसा दान नहीं दिया ? । अर्थात् उस महा पुरुषने समस्त तप, दान लिया । क्योंकि अभयदानमें सब तप, दान आजाते हैं ॥ ५४ ॥

यथा यथा हृदि स्थैय करोति करुणा नृणाम् ।

तथा तथा विवेकश्री परा प्रीतिं प्रकाशते ॥ ५५ ॥

अर्थ—पुरुषोंके हृदयमें जैसे जैसे करुणाभाव स्थिरताको प्राप्त करना है तैसे तैसे विवेकरूपी हृद्गी उससे परमप्रीति प्रगट करती रहती है । भावार्थ—करुणा (दया) विवेकको बढ़ाती है ॥ ५५ ॥

अन्ययोगव्यवच्छेदादहिंसा श्रीजिनागमे ।

परेश योगमात्रेण कीर्तिता सा यदृच्छया ॥ ५६ ॥

अर्थ—जिनेन्द्र भगवान्क मार्गों तो अहिंसा अन्ययोगव्यवच्छेदसे कही है । अर्थात् तैसे जैसी अहिंसाका योगही कहा है । इस जिनमतमें तो हिंसाका सख्य निषेधही

११) द्योरेपि मम पाप निर्णीतं परमागमं ।

घघानुमोदयो* कत्रागमत्संरुतपमश्रयात् ॥ ४५ ॥

अर्थ—घानकरनेवाला और घानकरनेवाले की प्रणमा करनेवाला इन दोनों में परमागमर्म समानही निर्णय किया गया है । क्योंकि जैसे घात करनेवाले को जो पर दुःख सोभी अगुम परिणामोंमें हुआ है, उसी प्रकार मले जाननेवाले को भी अगुम मर्मा दुःख बिना उसकी अनुमोदना नहीं हो सकती है, इसकारण हिंसा करने और दया करने जाननेवाले को पाप परावर लगता है ॥ ४५ ॥

१२) सकृत्पाच्छात्लिमत्स्योऽपि न्ययभूरमणार्णवे ।

महामत्स्याशुमेन स्व नियोज्य नगरं गता* ॥ ४६ ॥

अर्थ—देखो न्ययभूरमणसमुद्रम शात्तिमत्स्य महामत्स्यके परिणामोंमें अपने पापों में लानर नरकको गया । यह अन्य कोई हिंसा करे उसका जो आप अनुमोदन करे उसके सकल्पमात्रसे उसीके समान पाप होकर उदाहरण है ॥ ४६ ॥

अहिंसैकाऽपि यत्सौर्य कल्याणमयया शिवम् ।

दत्ते तद्देहिना नाय तपःश्रुनयमोत्करः ॥ ४७ ॥

अर्थ—यह अहिंसा अकेलीही जावोंको जो सुख, कल्याण वा अभ्युत्थ देती है वह तप, स्वाध्याय और यमनियमादि नहीं दे सकते हैं । क्योंकि धर्मके समस्त अंगोंमें अहिंसा एक मात्र प्रधान है ॥ ४७ ॥

दूयते यस्तृणेनापि स्वशरीरे कदर्थिते ।

स निर्दय परस्याङ्गे कथं शस्त्र निपातयेत् ॥ ४८ ॥

अर्थ—जो मनुष्य अपने शरीरमें तिनका चुमनेपर भी अपनेको दुःखी हुआ मानता है वह निर्दय होकर परके शरीरपर शस्त्र कैसे चलाता है? यह बड़ा अनर्थ है ॥ ४८ ॥

१३) जन्मोन्नमयभीतानामहिंसैवौपधिः परा ।

तथाऽमरपुरीं गन्तु पाथेय पथि पुष्कलम् ॥ ४९ ॥

अर्थ—इस ससाररूप तीव्र भयमें भयभीत होनेवाले जीवोंको यह अहिंसाही एक परम औपधि है । क्योंकि यह सबका भय दूर करती है तथा स्वर्ग जानेके लिये अहिंसा ही मार्गमें अनिग्रय वा पुष्टिकारक पाथेयस्वरूप (भोजनादिकी सामग्री) है ॥ ४९ ॥

शित्वहिंसैव भूतानां श्रुतेषु हितकारिणी ।

तथा रमयितुं कान्तां विनैतु च सरम्बती ॥ ५० ॥

अर्थ—यह अहिंसा इतनीही नहीं है, किन्तु जीवोंको माताके समान रक्षा करनेवाली

और स्त्रीके समान चिच्छो आनंद देनेवाली है तथा सदुपदेश देनेने लिये सरस्वताके समान है ॥ ५० ॥

१) स्यान्मयोरप्यनालोक्य सुख दुःख रिताहितम् ।

जन्तून् य पातकी हन्यात्स नरत्वेऽपि राक्षसम् ॥ ५१ ॥

अर्थ—जो पापी नर अपने और अन्यके सुख दुःख वा हित अनहितको न विचार कर जीवोंको मारता है वह मनुष्यजन्ममें भी राक्षस है । क्योंकि मनुष्य होता तो अपना वा परका हितहित विचारता ॥ ५१ ॥

२) अभय यच्छ भूतेषु कुरु मैत्रीमनिन्दिताम् ।

पश्यात्सदृशं विश्व जीवलोक चराचरम् ॥ ५२ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज उपदेश करते हैं कि— हे भव्य ! तू जीवोंके लिये अभयदान दे तथा उनसे प्रशंसनीय मित्रता कर और समस्त जन्म तथा स्वर जीवोंको अपने समान देख ॥ ५२ ॥

जायन्ते भूतय पुनर या शृणुमान्नचेतसाम् ।

चिरेणापि न ता वक्तुं शक्ता देव्यपि भारती ॥ ५३ ॥

अर्थ—जिनका चित्त दयालु है उन पुण्योंको जो सम्पदा होता है, उनका बान सरस्वती देवी भी बहुत कालपर्यन्त करे तो भी उमसे नहीं हो सकना फिर अन्यमें जो लिया ही कैसे आ सकता है ? ॥ ५३ ॥

किं न तप्त तपस्तेन किं न दत्त महात्मना ।

विनीर्णमभय येन प्रीतिमालम्ब्य देहिनाम् ॥ ५४ ॥

अर्थ—जिस महापुरुषने जीवोंको प्रीतिता आश्रय देकर अभयदान दिया उस महात्माने कौनसा तप नहीं लिया और कौनसा दान नहीं दिया ? । अर्थात् उस महा पुरुषने समस्त तप, दान दिया । क्योंकि अभयदानार्थ सब तप, दान आश्रय हैं ॥ ५४ ॥

यथा यथा हृदि स्थैर्यं करोमि कृष्णा लुणाम् ।

तथा तथा विवेकश्रीं परा प्रीतिं प्रकाशने ॥ ५५ ॥

अर्थ—पुरुषोंके हृदयमें जैसे जैसे करुणाभाव मिलनेको प्रगट करता है ऐसे ऐसे विवेकरूपी लक्ष्मी उससे परमशक्ति प्रगट करती रहती है । भाषार्थ—करुणा (५५) विवेकको बढ़ाती है ॥ ५५ ॥

अन्ययोगव्ययच्छेदादहिसा श्रीजिनागमे ।

परैश्च योगमात्रेण ब्रीहिता सा पश्यन्त्या ॥ ५६ ॥

अर्थ—जिनेन्द्र जन्माके मार्गों से अहिंसा अन्ययोगव्ययच्छेदना कहा है । अर्थात् अन्यमतोंमें ऐसी अहिंसाका बोझ नहीं है । इस विनम्रता से अहिंसा सरल विवेक

हैं और अन्यमतियोंने जो अहिंसा कही है सो योगमात्रसेही कही है। अर्थात् कही अहिंसा कही है और कहीं हिंसाका पोषण किया है, सो स्वेच्छापूर्वक उन्मत्तकी तरह कहा है।
भावार्थ—विनागममहिंसाका सर्वा निषेध है किन्तु अन्यमतियोंने पागलके जैसे कहीं तो हिंसाका निषेध किया है और कहीं उसका पोषण किया है ॥ ५६ ॥

આચાર્ય :

तद्भास्ति जीवलोके जिनेन्द्रदेवेन्द्रचक्रकल्याणम् ।

यत्प्राप्नुवन्ति मनुजा न जीवरक्षानुरागेण ॥ ५७ ॥

अर्थ—इम जीवलोकम (जगतम) जीवरक्षाके अनुरागसे मनुष्य समन कल्याण पदको प्राप्त होते हैं। ऐसा कोई भी तीर्थकर देवेद्र चक्रवर्तित्वरूप कल्याणपद को नहीं है जो दयावान् नहीं पावे। अर्थात् अहिंसा (दया)सर्वोत्तमपदकी देनेवाली है ॥१॥

११) पटिकचित्ससारे शरीरिणा दु त्वशोरुमययीजम् ।

दौर्भाग्यादि समस्त तर्हिस्सामभय श्रेयम् ॥ ७८ ॥

अर्थ—संसारमें जीवोंके जो कुछ दुःख गोक मयका बीच फर्ग है तथा दुर्भाग्य
दिष्ट है ये समस्त एकमात्र हिंसासे उत्पन्न हुए जाते । भावार्थ—समस्त पापघ्नो
मृत हिंसाही है ॥ ५८ ॥

अब अहिंसाका प्रकरण पूरा करते हुए कहते हैं,—

सम्भारः ।

उपोनिषदस्य चन्द्रो हरिमृत्तभुजा चण्डरोचिर्ग्रीवाणाम् ।

कम्पाद् पादपाना सलिलनिधिरपा गर्णशैलो गिरीणाम् ।

देवर्षीर्यातरायन्निदशानुनिगणम्यात्र नाथो यथाऽयम्

तद्वच्छीघ्रमना दामयमतपमा यिद्वर्हिंसा प्रपानाम् ॥ २१ ॥

अर्थ—हे मया जीव ! तिम प्रकार ज्योतिषकांम प्रधान लागी चद्रमा हे तथा दंड, इन्द्र, इत्यादि मुख्य, वृक्षांम कल्पवृक्ष, जगत्पार्थीम समुद्र, पर्वतांम मेरु, और देवांम मुनिं गुरु (माने) र्थ निरुपमा देव प्रमान हे उगी प्रकार तिम और प्रतीम तथा सत्यवन (महावन) और ज्योतिं अहिमाका प्रमान जानो । ऐसे अहिमा प्रमानाका दिना मया ॥ ५७ ॥

पृष्ठ ३

হাসানীক নিম্নে বর্ণী তৎসমস্ত দৃষ্টান্ত ।

दिष्वा लार्गे च अर्था मुने हाव उमय न ॥ १ ॥

५३१

अथ सत्यमहाव्रतस्वरूपम् ।

आगे सत्य महाव्रतका वर्णन करते हैं,—

८८ य संयमधुरा घत्ते धैर्यमालम्ब्य संयमी ।

स पालयति यत्नेन चाग्वने सत्यपादपम् ॥ १ ॥

अर्थ—जो संयमी मुनि धैर्यावलम्बन करके संयमही धुराको (मुनिदीक्षाको) धारण करता है वह मुनि यचनरूपी वनमें सत्यरूपी वृक्षको यत्नके साथ पालन करता है ॥ १ ॥

११ अहिंसाग्रतरक्षार्थं यमजात जिनेर्मतम् ।

नारोहति परा फोडिं तदेवामत्यदूषितम् ॥ २ ॥

अर्थ—जिनेन्द्र भगवान्ने जो यमनियमादिनवोंका समूह कहा है वह एकमात्र अहिंसाग्रतकी रक्षाके लियेही कहा है । क्योंकि अहिंसाग्रत यदि असत्यवचनसे दूषित हो तो वह उत्कृष्टपदको प्राप्त नहीं होता । अर्थात् असत्य वचनके होनेसे अहिंसानत पूरा नहीं होता ॥ २ ॥

१ असत्यमपि तत्सत्य यत्सत्याशक्तं घच ।

सायथ घच पुष्पाति तत्सत्यमपि निन्दितम् ॥ ३ ॥

अर्थ—जो वचन जीवोंका इष्ट हित करनेवाला हो वह असत्य हो तो भी सत्य है और जो वचन पापसहित हिंसारूप कार्यकी पुष्ट करता हो वह सत्यभी हो तो असत्य और निन्दनीय है ॥ ३ ॥

११ अनेकजन्मजल्लेशशुद्ध्यर्थं यस्तपस्यति ।

सर्वे सत्यवहितं शश्वत्सं ग्रूते स्रुतं घच ॥ ४ ॥

अर्थ—जो मुनि अनेक जन्ममें उत्पन्न श्रेष्ठों (दुष्टों) की शान्तिके लिये तपश्चरण करता है वह जीवोंके हितरूप निरन्तर सत्यवचनही बोलता है । क्योंकि असत्यवचन बोलनेसे मुनिपन नहीं संभवता है ॥ ४ ॥

११ स्रुतं करुणाप्रान्तमविरुद्धमनाकुलम् ।

अग्राम्य गौरवाभिरुष्टं घच शार्ये प्रशस्यते ॥ ५ ॥

अर्थ—जो वचन सत्य हो, करुणामे व्याप्त हो, विरुद्ध न हो, आहुल्यारहित हो, छोटे मामोंकासा गैरारीवचन न हो और गौरवसहित हो अर्थात् जिसमें हल्कापन नहीं हो वही वचन शास्त्रमें प्रशंसा किया गया है ॥ ५ ॥

अर्थ—इस जगत्में व्यवहार । प्रवर्तीबानी बानी चेमी नहीं है कि जिसमें
मन्त्र व्यवहारको निन्दित बानीका स्थापना सत्ताय बानी स्फुरामान न हो, किन्तु
देवी स्थापना सत्ताय बानीकी भी निन्दितही नष्टविस्तृत अस्तव कहते हुए समस्त
व्यवस्था को पतन करत है । भाषार्थ—निन्दितही (सम्प्रदाय एकांती) स्थापना विषय
करते हैं जगत्पतन नष्ट करत हैं । क्योंकि सम्प्रदाय एकांती जगत्पतन है । उस अस्तव
वचनमें न तो व्यवहारकी निन्दित होती और न भगवन्व्यवहारकी सिद्धि होती है ।
देवी अस्तव वचनका कहते हुए निन्दितही समस्त व्यवहारको पतन करत है ॥ ११ ॥

११ वृष्टैरपि न वरस्य न श्रौतव्यं कथंचन ।

यथा चाङ्गावृष्ट पाप दोषास्तथाभिरुपकम् ॥ १२ ॥

अर्थ—जो वचन सत्वरूप हो तथा पापरूप हो और दोषोंसे समुक्त हो एवम्
दर्शको उत्पन्न करनेवाला हो वह अथवा वृष्टिनेपरभी नहीं कहना चाहिये । तथा किसी
व्यक्ति सुनना भी नहीं चाहिये । भाषार्थ—निन्दितवचनका प्रसंगभी नहीं करना
चाहिये ॥ १२ ॥

११ मर्मच्छेदि मन शाल्य व्युत्पन्नं विरोधकम् ।

निर्दयं च वचस्त्वाङ्ग्य प्राणैः कण्ठगर्जरपि ॥ १३ ॥

अर्थ—तथा मर्मका छेदनेवाला, मनमें शाल्य उपजावेला, सिरसारहित (वचन
रूप), विरोध उपजानेवाला तथा दयाविरहित वचन कण्ठगतप्राण होनेपर भी नहीं
बोलना चाहिये ॥ १३ ॥

११ धन्यास्ते हृदये येषामुदीर्णं कण्ठाम्युधि ।

पार्थिवसिद्धयोरुद्गमनिर्निर्वापयति देहिनि ॥ १४ ॥

अर्थ—इस जगत्में वे पुरुष धन्य हैं जिनके हृदयमें करारूप समुद्र उदय होकर
वचनरूप हृदयोंके समुद्रोंके उगलनेमें जीवोंको शान्तिप्रदान करता है । भाषार्थ—
करारूप वचनोंको सुनकर दुःखी जीवभी मुक्त हो जाते हैं ॥ १४ ॥

११ धर्मनाशे त्रिपाप्यमे सुसिद्धान्तार्थविज्ञये ।

अवृष्टैरपि वचस्य तत्स्वरूपप्रकाशने ॥ १५ ॥

अर्थ—जहां धर्मका नाश हो, त्रिपापविह्वली हो तथा समीचीन सिद्धान्तका लोप
होता हो उस जगत् समीचीन धर्मविज्ञा और सिद्धान्तके प्रकाशनाय विना पूछे भी
विद्वानोंको बोलना चाहिये । क्योंकि यह सपुष्पोंका कार्य है ॥ १५ ॥

या मुहुर्मोहयत्येव विश्रान्ता कर्णयोर्जनम् ।

विषम विषमुत्सृज्य साङ्गदय पक्षगी न गी ॥ १६ ॥

अर्थ—जो कभी लोको के कानों में बरबाद पड़ी हुई तथा शिवनिरिको जन्म लेने को मोहना कभी है और मनीषीनमार्गको भुगतो है वह कभी नहीं है। आचार्य—विन वचनको सुनतेही संगीर्षा प्राणी उषन मर्त्यो को सुनने पर उषन वह वचन सर्पके समान है ॥ १६ ॥

अमन्येनैव विक्रम्य चार्थाकमिजकालिकैः ।

मर्वाभपोषक भूमे पदय पक्षं प्रतिष्ठितम् ॥ १७ ॥

अर्थ—एक अमन्य वचनके प्रभावमेंही चार्थाक (नामिकमती) और अमन्य २ ॥ १७ ॥ पदय पक्षं प्रतिष्ठितम् ॥ १७ ॥

मन्ये पुनराचार्यप्रतिम तन्मुणोदरम् ।

पक्षे चाम प्रत्यक्षे कदमला, कार्यनित्यकला ॥ १८ ॥

अर्थ—एक अमन्य वचन है कि मैं ऐसा माना है कि चार्थाक ॥ १८ ॥ पक्षे चाम प्रत्यक्षे कदमला, कार्यनित्यकला ॥ १८ ॥

राज्य गतिर्गोरेषु रीत्यादिषु मानयम् ।

विज्ञापन विगोरेषु मृगयागान देष्टिनः ॥ १९ ॥

अर्थ—राज्य गतिर्गोरेषु रीत्यादिषु मानयम् ॥ १९ ॥ विज्ञापन विगोरेषु मृगयागान देष्टिनः ॥ १९ ॥

मन्ये अमन्य अमन्य मणयो माल्यमणयः ।

कृतेन निर्वेन पृष्ठा मणायार्थ अनिवार्य ॥ २० ॥

अर्थ—मन्ये अमन्य अमन्य मणयो माल्यमणयः ॥ २० ॥ कृतेन निर्वेन पृष्ठा मणायार्थ अनिवार्य ॥ २० ॥

मन्ये अमन्य अमन्य मणयो माल्यमणयः ।

कृतेन निर्वेन पृष्ठा मणायार्थ अनिवार्य ॥ २१ ॥

अर्थ—मन्ये अमन्य अमन्य मणयो माल्यमणयः ॥ २१ ॥ कृतेन निर्वेन पृष्ठा मणायार्थ अनिवार्य ॥ २१ ॥

सर्वलोकप्रिये तथै प्रसक्तं ललिताक्षरे ।

वाक्ये सत्यपि किं व्रूते निरुष्टं पम्प वचं ॥ २० ॥

अर्थ—जो वचन सर्वलोकको प्रिय, सत्य तथा प्रसक्त कर्मेवाले व ललिताक्षरवाले हैं उनके होते हुए भी नीचपुरुष कठोर वचन निमित्तिये कहते हैं सो मान्य नहीं होता है ॥ २० ॥

सता चिज्ञाततत्त्वानां सत्यशीलावलम्बिनाम् ।

चरणस्पर्शमात्रेण विशुद्ध्यति घरातलम् ॥ २१ ॥

अर्थ—जो महापुरुष सत्यवचन श्रोतनेवाले हैं, तत्त्वोंके यथाथ स्वरूपको जानने हैं, और सत्यशीलादिके अवलम्बी हैं उनके चरणोंके स्पर्शमात्रसे यह घरानव पवित्र होता है । ऐसेही लोग उत्तम पुरुष हैं । और जो असत्य श्रोतते हैं वही नीच हैं ॥ २१ ॥

यमघ्नगुणोपेतं सत्यश्रुतममन्यितम् ।

वैजन्म सफलं नीतं ते धन्या धीमता मताः ॥ २२ ॥

अर्थ—जिन पुरुषोंने अपना जन्म यमघनादि गुणोंसे युक्त मनुष्यजाति में अध्ययन पूर्वक सत्य किया है वेही धन्य और विद्वानोंके द्वारा पूजनीय हैं ॥ २२ ॥

नृजन्मन्यपि यं सत्यप्रतिज्ञामच्युतोऽधमः ।

स केन कर्मणा पश्चाज्जन्मपङ्कातरिष्यति ॥ २३ ॥

अर्थ—जो अधम पापी नीचपुरुष मनुष्यजन्म पाकरभी सत्यप्रतिज्ञासे रहित है, वह पापी फिर संसाररूप कर्मसे जिस बाधसे पार होगा । भाषार्थ—नरकाज्जन्म तो मनुष्यजन्मही है । इसमें ही धर्माचरण तथा प्रतिज्ञादि सब साधत हैं । इसका कोटि पर फिर तरनेका अवसर प्राप्त होना कठिन है, अन्यथा मनुष्यजन्मही सत्यशील से सफल करना चाहिये ॥ २३ ॥

अदयं सप्रयुक्तानि पादुछन्नाणीह भूतले ।

सद्यो मर्माणि नृन्तन्ति शितास्त्राणीव देहिनाम् ॥ २४ ॥

अर्थ—निम्न पुरुषोंके द्वारा चलाये हुए बचनरूप शस्त्र इस दुष्टीतल पर जहाँके मर्मको तीक्ष्णरसोवे समान साक्षर छेदन करने हैं । क्योंकि असत्य वचनके शस्त्र दूसरा कोइभी शस्त्र नहीं है ॥ २४ ॥

घनश्रुतयमस्याम विद्याधिनयमूपणम् ।

चरणज्ञानयोर्धौलं सत्यमज्ञं घनं मनम् ॥ २५ ॥

अर्थ—यह सत्यजाना घन, घन, श्रुत और घनके ही मर्म है, तथा चरण

और प्रियका भूषण है । क्योंकि प्रिया और प्रिय मत्स्यवर्णमे नामको प्र होते हैं । और सम्यक्चारित्र तथा सम्यग्ज्ञानका बीज उत्पन्न करनेका कारण सम बनती है ॥ २७ ॥

न हि सत्यप्रतिज्ञस्य पुण्यकर्मानलम्बिनः ।

प्रत्युत्तरकरणे शक्ता अपि दैत्योरगादयः ॥ २८ ॥

अर्थ—सत्यप्रतिज्ञावाले पुण्यकर्मानलम्बी पुण्यका दुष्ट दैत्य तथा सर्पादिक कुछ भी बुरा करनेको समर्थ नहीं हो सक्त हैं ॥ २८ ॥

११ चन्द्रमूर्त्तिरिवानन्दवर्द्धयन्ती जगन्त्रये ।

स्वर्गिभिर्धियते मूर्ध्ना कीर्तिः सत्योत्थिता नृणा ॥ २९ ॥

अर्थ—तीन लोकमें चन्द्रमाके समान आनन्दको वृद्धानेवाली सत्यवचनसे उत्पन्न हुई मनुष्योंकी कीर्तिसे देवता भी मस्तकपर धारण करते हैं ॥ २९ ॥

खण्डिताना विरूपाणा दुर्विधाना च रोगिणाम् ।

कुलजात्यादिहीनाना सत्यमेक विभूषण ॥ ३० ॥

अर्थ—जिनके हाथ नाक आदि अवयव कटे हों तथा जो विरूप हाँ, और जो दाढ़ी तथा रोगी हों वा कुलजात्यादिसे हीन हो उनका भूषण सत्यवचन बोलनाही है । अर्थात् यही उनकी शोभा करनेवाला है । क्योंकि जो उक्त समस्त बातोंसे हीन और सत्यवचन बोलता हो, उसकी सन कोई प्रशंसा करते हैं ॥ ३० ॥

११ पस्तपत्नी जटी मुण्डो नम्रो वा चीवराधृतः ।

सौऽप्यसत्यं यदि धृते निन्द्य स्यादन्त्यजादपि ॥ ३१ ॥

अर्थ—जो तपस्वी हो, जटाधारी हो, मस्तक झुँडाये हो अथवा नम्र (दिगम्बर) हो, वा बख्तधारी हो और असत्य बोलता हो तो वह चङ्गलसेभी बुरा और अतिशय निन्दनीय है ॥ ३१ ॥

कुटुम्ब जीवितं वित्तं यद्यमत्येन वर्द्धते ।

तथापि युज्यते चतुः नासत्यं शीलशालिभिः ॥ ३२ ॥

अर्थ—यदि असत्य वचनसे अपने उदुब, जीवन और धनकी वृद्धि हो तो भी, शीलसे गोमित पुरषोंको असत्यवचन कहना उचित नहीं है ॥ ३२ ॥

एकतः सकलं पापमसत्योत्थं ततोऽन्यतः ।

साम्यमेव वदन्त्याप्यस्तुलाया धृतपोस्तपो ॥ ३३ ॥

अर्थ—आर्य पुरषोंने तराजूमें एक तरफ तो समस्त पापोंको रक्खा और एक तरफ

असत्यसे उत्पन्न हुए पापको रगसर तौला तो दोनो समान हुए । भावार्थ—असत्य अके लाही समस्त पापोंके बराबर है ॥ ३३ ॥

११ मृकता मतिपैकत्प मूर्खता बोधविच्युतिः ।

पाथिय मुग्धरोगित्यमसत्यादेव देहिनाम् ॥ ३४ ॥

अर्थ—गूगापन, बुद्धिहीन, विवर्त्ता, मूर्खता, अज्ञानता, धिक्कता तथा मुग्धमें रोग होना इत्यादि जो सबही जीवोंके होते हैं वे असत्यवचन बोलनेके पापहीसे होते हैं ॥ ३४ ॥

अपाकोटुकभाजार्धकगोमायुमण्डलाः ।

स्त्रीक्रियते कचिद्गोकेन सत्यच्युतचेतसः ॥ ३५ ॥

अर्थ—चण्डाल, उलू (धूँ), बिलाव, भेड़िया और कुत्ता आदि यद्यपि निर्दित्त है तथापि इन्हें अनेक रोग अगौरार करते हैं, परन्तु असत्यवादियोंसे कोई अगीकार नहीं करता अतएव असत्यवादी इन सबसे भी अधिक निर्दनीय है ॥ ३५ ॥

१२ प्रमथोन्नतवृत्ताना गुणाना चन्द्ररोचिषा ।

सद्गुण चातयत्येव सहृदप्युदित सृषा ॥ ३६ ॥

अर्थ—एकबार भी बोला हुआ असत्यवचन चन्द्रमाकी विरणकि समान मसल (मिमल) तथा उन्नत गुणोंके समूहको नष्ट करता है । भावार्थ—असत्य वचन ऐसा मलिन है कि चद्रवत् मिमल गुणोंको भी मलिन कर देता है ॥ ३६ ॥

न हि स्वमेऽपि ससर्गममत्यमलिनै सह ।

कश्चित्करोति पुण्यात्मा दुरितोरमुकशङ्कया ॥ ३७ ॥

अर्थ—जो असत्यमे मलिन पुरुष है उनके साथ पापरूप कालिमाके भयसे कोई पुण्यात्मा पुत्र स्वप्नमें भी साक्षात् (मुलाकात) नहीं करते । भावार्थ—झूठेकी संगतसे सबको भी कालिमा लगती है ॥ ३७ ॥

जगद्वन्द्वे सता सेव्ये भव्यव्यसनशुद्धिदे ।

शुभे कर्मणि योग्य स्यान्नासत्यमलिनो जन ॥ ३८ ॥

अर्थ—जगतके बदनीय, सत्पुरुषोंके पूजनीय, सत्कारक कष्ट आपदाओंसे शुद्धिके देने वाले शुभ कार्योंमें असत्यसे भले पुरुष योग्य नहीं गिने जाते । भावार्थ—शुभकार्योंमें झूठेका अधिकार नहीं है ॥ ३८ ॥

महामतिभिर्निष्ठयुत देवदेवैर्निषेधितम् ।

असत्य पोषितं पापैर्दुःशीलाघमनास्तिकैः ॥ ३९ ॥

अर्थ—बड़े २ बुद्धिमानोंने सो असत्य वचनको त्याग दिया है और देवाधिदेव सर्वज्ञ भितरागने इसका निषेध किया है किन्तु छोटे स्वभाववाले नीच नास्तिक पापियोंने इसका

रोहा ।

सत्यपचन ससारमे, करे सब बरवान ।

मुनि पाले पूरण इसे, पाये मोक्षनिधान ॥ १ ॥

इति श्रीज्ञानाणवे योगप्रदीपाधिकारे गुमबद्राचार्यविरचिते सत्यमहात्म्ये

नाम नवम प्रकरण ॥ ९ ॥

अथ अस्तेयमहान्तप्रकरणम् ।

आगे अस्तेय महात्मका वचन करते हैं,—

अनासाद्य धनं नाम तृतीय गुणभूषणम् ।

नापयर्गपथि प्रायः कचिद्धत्ते मुनिः स्थितिम् ॥ १ ॥

अर्थ—मुनि गुणोंका भूषणभूषण तीसरे अस्तेयनामा महात्मको जीवित मर्ति करे तो मोक्षमार्गमें प्राय कहींभी भ्रमनाको प्राप्त नहीं होता ॥ १ ॥

ॐ यः समीप्सति जन्मान्धे पारमात्रमिदं सुधी ।

स त्रिशुद्धातिनि शङ्को नादसं वृत्ते मतिं ॥ २ ॥

अर्थ—जो पुरुष ससारमग्नसे पार होनेकी इच्छा रखे है वह शुद्धि निराक (निगल) होकर भावबन्धनवासे अद्वय (विना दीप्ति) वस्तुव भरण करनेकी इच्छा नहीं करता ॥ २ ॥

→ चित्तमेव मत्तं सुत्रे प्राणा वात्या शरीरिणाम् ।

तस्यापहारमात्रेण स्युस्ते प्रागेव चानिना ॥ ३ ॥

अर्थ—धन चासोमें जीवोंको बलवान कहा गया है इसवाक्य, "म ५२४" हरण करनेसे जीवोंका प्राण चानित हो जाते हैं । भावार्थ—यदि निराक चित्तका धन हरण किया तो उसने उसका प्राणही हरे गया समझना चाहिये । इस बात का बखाना दिया है ॥ ३ ॥

११ गुणा गौणतयमायानि यानि चित्ता विदग्धनाम् ।

चौर्येणाकीर्णं पुमा शिरस्यादधने पदं ॥ ४ ॥

अर्थ—चौर करेवाले गुण तो गौणताको प्राप्त हो जाते हैं तथा चित्त विदग्धनाको प्राप्त होता है और अकीर्ण (निघावे) गलबपर वह चाली है । भावार्थ—चौर करनेवाले पुरुषके गुणोंको कोई भी नहीं माना है तथा इसका दण्ड अर्द्ध दिवसे दिवस हो जाया है और अकीर्णता टीका समझकर समझा रहना है ॥ ४ ॥

पुण्यानुष्ठानजातानि प्रणयन्तीह देहिनाम् ।

परित्यामिपग्रासलालमाना घरातले ॥ ६ ॥

अर्थ—इस पृथिवीमें परधनरूपी मामके ग्रासमें आमक्त जनके पुण्यरूप आचरण समूह इसी लोकमें नष्ट हो जाते हैं । भावार्थ—चोरी करनेवालेके आचरण उतन न रहते ॥ ५ ॥

परद्रव्यग्रहार्त्तस्य तस्करस्येह निर्दया ।

गुरुबन्धुसुतान्नु प्रायः प्रजा प्रवर्तते ॥ ६ ॥

अर्थ—परद्रव्यका ग्रह कहिये ग्रहण करना अथवा परद्रवरूपी पिगावम पीत चोरके गुरु, भाई और पुत्रको मार डालनेकी निर्दयरूप इच्छा प्राय हो जाता करती । भावार्थ—चोरको किसीको मारनेमें दया नहीं होती ॥ ६ ॥

हृदि यस्य पद धत्ते परित्यामिपस्पृहा ।

करोति किं न किं तस्य कण्ठलग्नेव सर्पिणी ॥ ७ ॥

अर्थ—जिस पुरुषके हृदयमें परधनरूप मासभक्षणकी इच्छा स्थान पावेती है उसके कठमें लगीहुई सर्पिणीके समान है, और वह क्या क्या इच्छा नहीं करता अर्थात् सबही अनिष्ट करती है ॥ ७ ॥

चुराशील विनिश्चित्य परित्यजति शङ्किता ।

वित्तापहारदोषेण जनन्यपि सुत निजम् ॥ ८ ॥

अर्थ—जिसका स्वभाव चोरी करनेका हो जाता है ऐसे अपने पुत्रको माता यह जानकर अपने धन हरेजानेके भयसे भयभीत होकर छोड़ देती है । अन्यकी क्याही क्या ? ॥ ८ ॥

भ्रातरः पितरः पुत्राः स्वकुल्या मित्रयान्धया ।

ससर्गमपि नेच्छन्ति क्षणार्द्धमिह तस्करैः ॥ ९ ॥

अर्थ—भाई, पिता, पुत्र, निजकी, मित्र तथा हित् आदि कोईभी चोरका स क्षणमरके लिये नहीं चाहते, अर्थात् चोरका कोईभी सगा (सघाती) नहीं होता ॥ ९ ॥

न जने न वने चेतः स्वस्य चौरस्य जायते ।

मृगस्येवोद्धतज्याघादाशङ्क्य वधमात्मनः ॥ १० ॥

अर्थ—चोरका चित्त न तो मनुष्योंमें बैठनेपर स्थिर रहता है और न वनहीमें धिन्न रहता है जैसे किसी मृगके पीछे निकारी लग जाय तो अपना घात होने भयसे ज्याघात चित्त ठिकाने नहीं रहता, उसी प्रकार चोरकोभी अपने पकड़े जानेका निमित्त रदा करता है ॥ १० ॥

संग्रासोऽक्रान्तचेतस्कञ्चौरो जागर्त्यहर्निशम् ।

घघ्पेयाग्र ध्रियेयाग्र भार्ययाग्रेति शङ्कित ॥ ११ ॥

अर्थ—मैं यहाँ पकड़ा जाऊंगा या मारा जाऊंगा तथा यहाँपर पीटा जाऊंगा इत्यादि आवृत्ततासे पागलता होकर चोर रातदिन जागता रहता है, अर्थात् सचेत रहता है अतः कभी असावधान नहीं रहता ॥ ११ ॥

नात्मरक्षा न दाक्षिण्य नोपकार न धर्मता ।

न सता दासित कर्म चौर स्वमेपि युह्यति ॥ १२ ॥

अर्थ—चोर अपनी रक्षाको नहीं जानता और सब चतुर्दाई भूल जाता है, वह परोपकार तथा धर्मकोभी नहीं जानता और न सत्पुरुषोंक करने योग्य कार्योंकोही स्वयंसे याद करता है । भावार्थ—चोरका चित्त निरन्तर चोरी करनेमें और भयम मग रहता है, उसे उत्तमकार्य करनेका अवसर कैसे मिले ? ॥ १२ ॥

शुरवो त्याग्य नीता गुणिनोऽप्यग्र खण्डिता ।

चौरसश्रयदोषेण यतथो निघन गताः ॥ १३ ॥

अर्थ—इस लोकमें चोरकी संगतिसे बड़े २ महापुरुष सौ लघुताको प्राप्त हुए तथा गुणी पुरुष सङ्घित किये गये और गुणिगणभी मारे गये । भावार्थ—चोरका संसर्ग मात्र भी महादुःखदायक है ॥ १३ ॥

तृणाङ्कुरमिवादाय घातयन्त्यविलम्बितम् ।

चौर पिशाय नि शङ्क धीमन्तोऽपि धरातले ॥ १४ ॥

अर्थ—इस पृथिवीतलमें चोर जाननेपर बुद्धिमान् पुरुष भी तत्काल उसे तृणाङ्कुरके समान पकड़कर नि शङ्क हो मारने पीटने लग जाते हैं । भावार्थ—चोरपर कोईभी दया नहीं करता ॥ १४ ॥

यिश्नन्ति नरक घोर दुःखज्वालाकरालित ।

अमुग्र निपत मुढा प्राणिनश्चौर्यचर्चिता ॥ १५ ॥

अर्थ—चोरी करनेवाले मुड़ पुरुष परलोकमें दुःखरूपी ज्वालासे भयानक घोर नरकमें निमग्नपूषक प्रवेश करते हैं ॥ १५ ॥

सरित्पुरगिरिग्रामवनवेदमजलादिषु ।

स्थापित पतित नष्ट परस्य स्यज सर्वथा ॥ १६ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज उपदेश करते हैं कि हे आत्मन् ! नदी, नगर, पर्वत, ग्राम, वन, घर तथा जल इत्यादिमें स्वरूढ, गिरेहुए तथा नष्ट हुए वनको मन-वचन-का यसे ग्रहण करना छोड़ ॥ १६ ॥

चिदचिद्रूपतापन्नं यत्परस्वमनेकधा ।

तत्तयाज्य सयमोद्दामसीमासरक्षणोद्यमैः ॥ १७ ॥

अर्थ—परमनके दो भेद हैं, एक चेतन, दूसरा अचेतन चेतन तो दामी, कन, शू, पौर, स्त्री, गौ, महिष तथा घोड़े आदि हैं, और अचेतन धन धान्य, सुवर्नद हैं। ये अनेक प्रकारके हैं। अत यदि समयकी उत्तम मर्यादा (प्रतिज्ञा) की रक्षा करने हो तो उनकी अप्रत्यक्ष छोड़ना योग्य है अर्थात् परद्रव्य कुछभी नहीं लेना चाहिये॥ १०॥

११ आस्ता परधनादित्सा कर्तुं स्यम्रेऽपि धीमताम् ।

तृणमात्रमपि ग्राह्यं नादत्तं दन्तशुद्धये ॥ १८ ॥

अर्थ—युद्धिमानोंको पशुधन ग्रहण करनेकी इच्छा करनी तो स्वप्ने भी दृग्ते, किन्तु दन्त धोनेको तृण (दानोन) भी निना दिया हुआ पशुका ग्रहण करना शक नहीं है ॥ १८ ॥

आया ।

१) अतुलसुगमिद्विज्ञेतो,—धर्मपशश्चरणरक्षणार्थं य ।

इह परलोकहितार्थं, कलपत चित्तेऽपि मा धीर्यम् ॥ १९ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज उपदेश करते हैं कि—हे भव्य जीयो ! तुम इस उपयुक्त प्रकारसे निध जानकर अनुल्य सुम्बरी सिद्धिके लिये, ण्यम् धर्म, दत्त मी चारित्र्यकी रक्षा म्यिे तथा उभय लोकम हितके म्यिे चित्तमेमी इसे मत निवारो । भयं घेगी करना तो दूर ग्हा, इनको चित्तमभी ७ लाओ ॥ १९ ॥

अब इस अपिहारकी पूर्ण करते हुए कहते हैं,—

મગડિની ।

विषयविरतिमुल संयमोदात्मशास्त्रम्

यमदलजम्पुष्यं ज्ञानग्रीवाकलाशम् ।

विष्णुपूजनशक्यं नैवेद्यं धर्मवृक्षं

दक्षि मुनिरणी स्तेयमीग्रानलेन ॥ २० ॥

अर्थ—जिस धर्मकी वृत्ति उड़ विषयों में निष्ठा होता है जिसकी संस्कृति
 वहि दुसरे में, वन विषयों में वह है, उन्हाय मान पुन है पानानदकी वृत्ति
 उन्हा है जो वृत्ति तब वैषम्यकी वृत्तियों में मिलित है । जेने धर्मकी वृत्ति
 उन्हा वृत्ति तब वैषम्यकी वृत्ति तब वैषम्यकी वृत्ति तब वैषम्यकी वृत्ति तब वैषम्यकी वृत्ति
 उन्हा वृत्ति तब वैषम्यकी वृत्ति तब वैषम्यकी वृत्ति तब वैषम्यकी वृत्ति तब वैषम्यकी वृत्ति
 उन्हा वृत्ति तब वैषम्यकी वृत्ति तब वैषम्यकी वृत्ति तब वैषम्यकी वृत्ति तब वैषम्यकी वृत्ति

सोरभ ।

ओ मदस बन्तु लेत ताको सगो न कोर है ।

गुणनि जगजलि देत, नरकवास परमय रुदै ॥ १ ॥

इति श्रीनागध्वे योगप्रदीपाधिकारे ऋग्वेद-महाव्रतप्रकरणम् ॥ १० ॥

अथ ब्रह्मचर्यमहाव्रतप्रकरण ।

आगे ब्रह्मचर्यमहाव्रतका निरूपण करते हैं—

चिन्दन्ति परम ब्रह्म यत्समालम्ब्य योगिन ।

तद्व्रत ब्रह्मचर्य स्याद्वीरचौरेयगोचरम् ॥ १ ॥

अर्थ—जिन व्रतका आलम्बन करके योगीगण परब्रह्म परमात्माको जानते हैं अर्थात् उसे अनुभवते हैं और जिसको धीरवीर पुण्यही धारण कर सकते हैं । किंतु सामान्य मनुष्य धारण नहीं कर सकते, यह ब्रह्मचर्य नामका महाव्रत है ॥ १ ॥

सम्पन्न प्रवक्ष्यामि ज्ञात्वेद गहन व्रतम् ।

स्वल्पोऽपि न सता श्लेशः कायोऽस्यालोक्य विस्तरम् ॥ २ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि मैं इस व्रतको गहन आकर विस्तारके साथ कहूँगा, परन्तु सत्पुरुषोंको इसके विस्तारको देखकर स्वल्पभी श्लेश न करना चाहिये ॥ २ ॥

एकमेव व्रत श्लाघ्य ब्रह्मचर्यं जयप्रवे ।

यदिशुद्धिं समापन्ना पूज्यन्ते पूजितैरपि ॥ ३ ॥

अर्थ—इन तीन गगतामैं ब्रह्मचर्यनामका व्रत ही प्रशंसा करने योग्य है क्योंकि जिन पुरुषोंने इस व्रतकी निमलता निरतिचारतापूजक प्राप्त की है व पूज्य पुरुषोंके द्वारा भी पूजे जाते हैं । भावार्थ—अर्हत भगवान् ब्रह्मचर्यकी पूर्णताकी प्राप्त हुए हैं, अतः उनकी पूजा मुनि और गणपरादिज सहस्री पूज्य पुरुष करते हैं ॥ ३ ॥

ब्रह्मव्रतमिदं जीयाचरणस्यैव जीवितम् ।

स्यु सन्तोऽपि गुणा येन विना श्लेशाय देहिनाम् ॥ ४ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज आजीवार्थपुत्रक कहते हैं कि—यह ब्रह्मचर्यमाना महाव्रत जययन्त हो । क्योंकि यह चारित्र्यका तो एकमात्र जीवन है और इसके बिना अन्य जिनने गुण हैं वे सब जीवाँको श्लेशही कारण होते हैं ॥ ४ ॥

ॐ नाएपसचरैर्न निःशीलैर्न दीनैर्नाश्रनिर्जितैः ।

स्वमेऽपि चरितुं शक्यं ब्रह्मचर्यमिदं नरैः ॥ ५ ॥

अर्थ—जो अल्पशक्ति पुरुष है, ग्रीष्मरहित है, दीन है और इन्द्रियमें जीने से हैं वे इस ब्रह्मचर्यको धारण करनेको स्वप्न भी समर्थ नहीं हो सकते हैं अर्थात् शक्तिके धारक पुरुषही ऐसे कठिनव्रतसे आचरण करनेके लिये समर्थ होते हैं ॥ ५ ॥

अब इस ब्रह्मचर्यको धारण करनेवालोंमें त्यागने योग्य दश प्रकारके मैथुनको कहते हैं—

१) पर्यन्तविरसं चित्त्रि दशधान्यच मैथुनम् ।

योपित्सगाहिरक्तेन स्याज्यमेव मनीषिणा ॥ ६ ॥

अर्थ—इस ब्रह्मचर्य व्रतका प्रतिपक्षी मैथुन (कामसेवन) है । सो दशप्रकारका और अन्तमें निरस है, इस कारण जो पुरुष भीमें निरक्त है तथा बुद्धिमान है वह अवश्यही त्यागना योग्य है ॥ ६ ॥

उन दशप्रकारके मैथुनोंके नाम तीन श्लोकोंसे कहते हैं,—

२) आद्यं शरीरसंस्कारो द्वितीयं घृष्यसेवनम् ।

तौर्यधिकं तृतीयं स्यात्ससर्गस्तर्यमिष्यते ॥ ७ ॥

३) योपिद्विषयसंकल्पः पञ्चमं परिकीर्तितम् ।

तदङ्गवक्षिणं पष्ठं संस्कारः सप्तमं मनम् ॥ ८ ॥

४) पूर्वानुभोगसंभोगस्मरणं स्यात्तदष्टमम् ।

नवमं भाविनी चिन्ता दशमं वस्तिमोक्षणम् ॥ ९ ॥

अर्थ—प्रथम तो शरीरका संस्कार करना (शृंगारादि करना) १, दूसरा—पुष्टा सेवन करना २, तीसरा—तौर्यत्रिक कहिये गीतनृत्यवादित्रका देखना सुनना ३, चौथी—समर्ग करना ४, पाचवा—स्त्रीमें किसी प्रकारका संस्पर्श वा विचार करना छठा—स्त्रीके अंग देखना ६, सातवा—उस देखनेका संस्कार (हृदयमें अंकित) रहना आठवा—पूर्वमें लिये हुए संभोगका स्मरण करना ८, नवा—आगामी भोगनेकी चिन्ता ९ और दशवा—शुक्लका क्षरण १० । इस प्रकार मैथुनके दश भेद हैं इन्हे प्रथम संस्था त्यागना चाहिये ॥ ७ ॥ ८ ॥ ९ ॥

५) किम्पाकफलसंभोगमस्त्रिभं तद्वि मैथुनम् । ✓

आपातमाश्रयस्य स्याद्विपाकेऽत्यन्तभीतिदम् ॥ १० ॥

अर्थ—त्रिभ प्रकार किम्पाकफल (हृद्रायणका फल) देखने, स्पर्श और संभोग (मुग्धा) हैं और विपाक होनेपर हायाहल (विष)का काम करता है प्रथम यह मैथुन भी कुछ कालपर्यन्त रमणीय वा सुखदायक मात्र होना है, किन्तु अन्तमें (अन्तमें) बहुतही भयका दरोवाण है ॥ १० ॥

११) विरज्य कामभोगेषु ये ब्रह्म समुपामन ।

एते दश महादोषास्तैस्त्याज्या भावशुद्धये ॥ ११ ॥

अर्थ—जो पुरुष काम और भोगोंमें विरक्त होकर ब्रह्मचर्यका भवन करते हैं उनकी भावशुद्धिके लिये उपर्युक्त दश प्रकारके मैथुन त्याग देने चाहिये । क्योंकि इन दोषोंके त्यागके बिना भावोंकी शुद्धि नहीं होती ॥ ११ ॥

अब और भी विशेषतामें कहते हैं,—

स्वरप्रकोपसभृतान्ग्रीकृतान्मैथुनोत्थितान् ।

संसर्गप्रमथान्ज्ञात्वा दोषान् स्त्रीषु विरज्यताम् ॥ १२ ॥

अर्थ—हे आत्मन् ! कामके प्रकोपसे उत्पन्न हुए दोषों तथा मत्स्यक किये हेतु और मैथुनकृत दोषों तथा संसर्गजन्य दोषोंको जानकर स्त्रियोंमें विरक्त हो ॥ १२ ॥

अब प्रथमही कामका प्रकोप होनेमें जो दोष होते हैं उनका वर्णन करते हैं,—

सिक्तोऽप्यभ्युधरमानैः श्लाघिनोऽप्यभ्युरागिभिः ।

न हि त्यजति सत्ताप कामपहिमदीपिन ॥ १३ ॥

अर्थ—कामरूपी अग्नि का ताप एसा होता है कि वह प्रज्वलित होनेपर मैथुन समूहोंसे सिंचन होनेपर भी दूर नहीं होता । अथवा कामाग्निमें प्रज्वलित पुरुषको तृणद्वय द्वारा रक्ष्यो तो भी सत्ताप दूर नहीं होता ॥ १३ ॥

मूले ज्येष्ठस्य मध्याह्ने स्यध्रे नभसि भास्वरः ।

न क्षोपति तथा लोक यथा दीप स्मरानलः ॥ १४ ॥

अर्थ—कामरूप अग्नि प्रज्वलित होकर जिस प्रकार लोकको ताल्पल्लव जगती है उस प्रकार जेठमहीनेके मूलनक्षत्रमें बादलरहित अश्विना नक्षत्रमें सूर्य की किरणें फैल कर सकती हैं ॥ १४ ॥

हृदि ज्वलति कामाग्निः पूर्वमेव शरीरिणाम् ।

अस्मत्साराङ्गुलमेव व्यादहोपाद्गानि विदधे ॥ १५ ॥

अर्थ—कामरूपी अग्नि प्रथम तो शरीरके हृदयमें प्रज्वलित होती है, तत्पश्चात् जब शरीरको प्रज्वलित होती है तब शरीरके अंग उपर्युक्तों के अंगों पर फैल कर दहाने लगती है ॥ १५ ॥

अविन्द्यकामभोगी ह्रदिपक्ष्पापारमूर्दिष्ठनम् ।

वीक्ष्य विश्वं विवेकाय यत्नमे योगिनः परं ॥ १६ ॥

अर्थ—जो पुरुष लोग हैं वे हृदय के अविन्द्य कामभोगी हृदिपक्ष्पापारमूर्दिष्ठन हैं ।

नित्यं तुल्यं देवकी वने अन्त्यरुके भेदविनाशाय यत्र कर्म है । भार्या ॥
 वने देवकी वने है ॥ १६ ॥

स्मरन्त्यान्विषोहारैर्वीक्ष्य विश्व कदर्पितम् ।

गमिन शरण जामुर्विदेकविनमासुतम् ॥ १७ ॥

अर्थ—स्मरन्त्यान्विषोहारैर्वीक्ष्य मन्त्र जगत्को देवकी वने
 विदेक जगत्को देवकी वने है । भार्या-काममे वनेका जगत्
 जगत् जगत् है ॥ १७ ॥

एक एव स्मरो गीतं म मेकोऽभिनवविजयम् ।

जगत्तैव मैनेहं पार्थीवीकृत जगत् ॥ १८ ॥

अर्थ—एक एव स्मरो गीतं म मेकोऽभिनवविजयम् ।
 जगत्तैव मैनेहं पार्थीवीकृत जगत् ॥ १८ ॥
 अर्थ—एक एव स्मरो गीतं म मेकोऽभिनवविजयम् ।
 जगत्तैव मैनेहं पार्थीवीकृत जगत् ॥ १८ ॥

जगत्तैव मैनेहं पार्थीवीकृत जगत् ॥ १९ ॥

जगत्तैव मैनेहं पार्थीवीकृत जगत् ॥ २० ॥

अर्थ—जगत्तैव मैनेहं पार्थीवीकृत जगत् ॥ २० ॥
 जगत्तैव मैनेहं पार्थीवीकृत जगत् ॥ २० ॥

जगत्तैव मैनेहं पार्थीवीकृत जगत् ॥ २१ ॥

जगत्तैव मैनेहं पार्थीवीकृत जगत् ॥ २२ ॥

अर्थ—जगत्तैव मैनेहं पार्थीवीकृत जगत् ॥ २२ ॥
 जगत्तैव मैनेहं पार्थीवीकृत जगत् ॥ २२ ॥

जगत्तैव मैनेहं पार्थीवीकृत जगत् ॥ २३ ॥

जगत्तैव मैनेहं पार्थीवीकृत जगत् ॥ २४ ॥

अर्थ—जगत्तैव मैनेहं पार्थीवीकृत जगत् ॥ २४ ॥
 जगत्तैव मैनेहं पार्थीवीकृत जगत् ॥ २४ ॥

जगत्तैव मैनेहं पार्थीवीकृत जगत् ॥ २५ ॥

जगत्तैव मैनेहं पार्थीवीकृत जगत् ॥ २६ ॥

अर्थ—पिर भी कहते हैं कि मैं इस जीवोंके समूहको कामरूपी अग्निसे जलता हुआ मानता हूँ । क्योंकि—यह प्राणिसमूह स्त्रीके शरीररूपी कीचड़में प्रवेश करके डूबता है । भावार्थ—कामी पुरुष कामरूप अग्निसे तापने संतप्त हो स्त्रीके शरीररूपी कीचड़में प्रवेश करके शीतल होना चाहता है ॥ २२ ॥

अनन्तव्यसनासारदुग्ध भवमग्नस्थले ।

स्मरञ्जरपिपासार्त्ता विपद्यन्ते शरीरिण ॥ २३ ॥

अर्थ—ये सगरी जीव कामञ्जरके दाहसे उत्पन्न हुई वृषासे पीड़ित होकर अनन्त पछोंका समूहस्वरूप दुग्ध संसाररूपी मरुस्थलमें दुःख सहन करते हैं ॥ २३ ॥

घृणास्पृधमतिभूर पापादय योगिदूषितम् ।

जनोऽप्य कुम्भे कर्म स्मरशार्दूलचर्चित ॥ २४ ॥

अर्थ—कामरूपी सिंहसे चर्चित हुआ यह मनुष्य योगियोंसे निन्दित, पापसे भरे, अतिशय क्रूरत्वरूप तथा घृणास्पद कायको भी करता है ॥ २४ ॥

दिग्मूढमथ विभ्रान्तमुन्मत्त शङ्किताशयम् ।

विलक्ष्य कुम्भे लोक स्मरचैरीविजृम्भित ॥ २५ ॥

अर्थ—प्रलोपको प्राप्त हुआ यह कामरूपी बेरी लोगोंको दिशामूढ़ अथवा विभ्रमरूप करता है । तथा उन्मत्त और भयभीत करता है । एवम् विलक्ष्य कहिये लक्ष्यभ्रष्ट (इष्ट-कायसे विमुख) करता है । भावार्थ—जब कामोदीपन होता है तब समस्त समीचीन का योंको मूलपर एवमात्र उसकाही चिंतवन स्मरणका ध्यान रहता है ॥ २५ ॥

न हि क्षणमपि स्वस्य चेत्त व्यग्रेऽपि जायते ।

मनोभवशरघातैर्भिद्यमान शरीरिणाम् ॥ २६ ॥

अर्थ—कामके बाणोंके समूहसे भिद्यता हुआ जीवोंका चित्त क्षणभरके लिये व्यग्रमेंभी स्वस्यताको प्राप्त नहीं होता ॥ २६ ॥

जानन्नपि न जानाति पश्यन्नपि न पश्यति ।

लोकः कामानलज्वालाकलापकउलीकृत ॥ २७ ॥

अर्थ—यह लोक है तो कामरूपी अग्निकी ज्वालाने समूहसे प्रसाहुआ जानता हुआभी कुछ नहीं जानता और देखता हुआभी कुछ नहीं देखता । इस प्रकार अचेत (बे स्वर) हो जाता है ॥ २७ ॥

॥ भोगिदृष्टस्य जायन्ते वेगा ससैव देहिन ।

स्मरभोगीन्द्रदष्टाना दश स्युस्ते भयानका ॥ २८ ॥

अर्थ—तपसे काटेहुए प्राणीके सौ सातही वेग होते हैं, परन्तु कामरूपी सर्वके दसेहुए जीवोंके दश वेग होते हैं जो बड़े भयानक हैं ॥ २८ ॥

१) प्रथमे जायते चिन्ता द्वितीये द्रष्टुमिच्छति ।

तृतीये दीर्घनिश्वासाश्चतुर्थे भजते ज्वरम् ॥ २९ ॥

१) पञ्चमे दृष्टते गात्र पष्ठे भुक्त न रोचते ।

सप्तमे स्यान्महामूर्च्छा उन्मत्तत्वमथाष्टमे ॥ ३० ॥

१) नवमे प्राणमन्देतो दशमे मुच्यतेऽसुभिः ।

एतैर्वर्गैः समाक्रान्तो जीवस्तत्र न पश्यति ॥ ३१ ॥

अर्थ—कामके उद्दीपन होनेपर प्रथमही तो चिन्ता होती है कि सीका सतें कैसे हो, दूसरे वेगमें उसके ठेसनेकी इच्छा होती है, तीसरे वेगमें दीर्घनिश्वास लेता है और कहता है, कि हाय देखना नहीं हुआ, चौथे वेगमें ज्वर होता है अर्थात् बुझार (ताप) बढ़ आता है, पाचवें वेगमें शरीर दण्ड होने लगता है, छठे वेगमें नियाहुपा भोजन नहीं रुचता, सातवें वेगमें महामूर्च्छा हो जाती है अर्थात् अचेत (बेहोश) हो जाता है, आठवें वेगमें उन्मत्त (पागल) हो जाता है तथा यद्वा तद्वा प्रयाप करने (बकने) लग जाता है, नवें वेगमें प्राणोंका सदेह हो जाता है कि अब मैं जीवित नहीं रहूँगा। और दशवा वेग ऐसा आता है कि जिससे मरण हो जाता है। इस प्रकार कामके दश वेग होते हैं। इन वेगोंसे व्याप्त हुआ जीव यथाथ तत्त्व अर्थात् यत्सुखरूपको नहीं देखता। अब लोकव्यवहारहीका ज्ञान नहीं रहे तब परमाथका ज्ञान कैसे हो ॥ २९ ॥ ३० ॥ ३१ ॥

मकरपवणतस्तीव्रा वेगा मन्दाश्च मध्यमा ।

कामज्वरप्रकोपेन प्रभवन्तीह देहिनाम् ॥ ३२ ॥

अर्थ—संक्रान्ति के वेगों और कामज्वरके प्रकोपके तीन, मन्द, मध्यम होनेमें वे दश वेग तीव्र, मध्यम और मन्द भी होते हैं। सबही एकसे रहित होते ॥ ३२ ॥

अपि मानसमुत्तुङ्गनगशृङ्गाप्रवर्तिनाम् ।

स्मरवीर क्षणाद्भूत विचसे मानग्रण्टनम् ॥ ३३ ॥

अर्थ—जो पुण्य मानस्वी उसे पनेतों गिरावके अग्रमागपर गेहुण हैं अथवा बन्धके बड़े अभिमानी हैं उन्हामी मात्र यह स्मरवीर आपेवणमें राडिन कर देता है। भावार्थ—कामकी उन्हामी गामों सिमीका मान नहीं रहता। यह काम तीव्रमें तब काम कागदर उमके मानस्वी पशुइको भुक्तिमें गिरा देता है ॥ ३३ ॥

शीलशास्त्रमनिश्रय धीचरैरपि तन्यमे ।

दाम्बलमन्यजग्रीणा संभोगाय माराजपा ॥ ३४ ॥

अर्थ—जो बड़े २ बुद्धिमान हैं वेभी कामदेवकी आत्मामें अपने शीलस्वी कोरके

उत्पन्नं च ममोग्रं भिये चापानकी मीका दामत्व स्वीकार करलेते ह । भाषार्थ—
कामने व शिथिल होकर बड़े २ बुद्धिमान् चाहालकी मियातकके दास हो जाते ह
और ये जो जो नाच उताती है वे मबही उाको नाचो पड़ते ह ॥ ३४ ॥

११ प्रवृत्तमपि चारित्र्य ध्यसयत्याशु देहिनाम् ।

निगुणाद्धि श्रुत मल्यं धैर्य च मदनपथा ॥ ३५ ॥

अर्थ—मदनकी व्याप्ति जब उठती है तब जीवोंक बहुत दिनमें बढ़ाये तथा पाले
हुए चारित्र्यको ध्यान करदेती है । जबम् गाम्नाध्ययन, धैर्य और सत्यभाषणादिकोभी बढ़
कर देती है । भाषार्थ—जब कामकी पीड़ा व्यापती है तब चारित्र्य निगड़ जाता है ।
गाल पड़ना, सत्य बोल्ना और धैर्य रखना जादि सबही भूल जाते ह ॥ ३५ ॥

नाम्ने शयने पाने म्रजने भोजने स्थितिम् ।

क्षणमात्रमपि प्राणी प्राप्नोति स्मरशक्त्यत ॥ ३६ ॥

अर्थ—जिगको कामरूपी बाटा चुभता रहता है वह प्राणी बैठने, सोने, चलने,
भोजन करने तथा स्वप्नमें क्षणभरभी स्मिरताको प्राप्त नहि होता । अर्थात् सर्वत्र
दामाडोल रहता है ॥ ३६ ॥

पितृपुत्रायलस्यान्नं मृकूलस्य च लाञ्छनम् ।

मरण या समीपस्थ न स्मरसं प्रपद्यन्ति ॥ ३७ ॥

अर्थ—कामरूपीनि पुत्र अपने धन, चारित्र्य और बलके नाश होगको तथा अपने
गुरुपर कलंक लगनेको, वा मरणभी निकट आनाय तो उसकोभी नहि दस्तता है । अर्थात्
उमके विषम हिताहितका कुछ भी विचार नहि रहता ॥ ३७ ॥

न पिशाचोरगा रोगा न दैत्यग्रहराक्षसा ।

पीडयन्ति तथा लोक यथाऽय मदनज्वर ॥ ३८ ॥

अर्थ—नैसा कष्ट यह कामज्वर जगनको देता है ऐसा पिशाच, सर्प, रोग, आदि
नहि दते और न दैत्य-ग्रह-राक्षसादिकही देते ह । भाषार्थ—कामकी पीड़ा सबसे
अधिक है ॥ ३८ ॥

अनामाय जन कामी कामिनी हृदयमिषाम् ।

विषशस्त्रानलोपायं सद्यः स्वहन्तुमिच्छति ॥ ३९ ॥

अर्थ—कामी पुत्र यदि अपनी मनकी प्यारी कामिनीको नहि प्राप्त होता है तो
विष, शस्त्र, अग्नि आदिसे त्वरितही अपना अपघात करनेको तैयार हो जाता है ।
भाषार्थ—जिस मीसे कामीका मन आकर्षित होता है वह प्राप्त नहि होती तो फिर
अपना मरना विचार रता है ॥ ३९ ॥

आर्षः ।

हरिहरपितामहाणां बलिनोऽपि तथा स्मरेण विध्वस्ता ।

त्यक्ताग्रपा यथेने ग्राह्याग्नारीं न मुञ्चन्ति ॥ ४६ ॥

अर्थ—जैसे ये गिरजा नव अपनी गोदमें स्थित स्त्रीको नहीं छोड़ते वैसेही हरि, हर, और ब्रह्मादिक बलिष्ठोंको भी कामने नष्ट करदिया है अर्थात् ये भी स्त्रीको गोदसे कभी बाहर नहीं करते ॥ ४६ ॥

यदि प्राप्त स्वया मृत नृत्य जन्मोद्यस्तक्रमान् ।

तदा मृत्युर येनेय स्मरज्ज्वाला तिलीयते ॥ ४७ ॥

अर्थ—हे मृत प्राणी ! जो तुने संगारम भ्रमण करते २ इस मनुष्यभरको पाया है तो तू बह काम कर जिसके बि तेरी कामरूपी ज्वाला नष्ट हो जाय ॥ ४७ ॥

अब इस प्रवर्णको पूरा करते हुए अहते हैं,—

मादिभो ।

स्मरदहनसुनीयानन्तसन्तापविद्ध

भुवनमिति समस्त धीक्ष्य योगिप्रवीरा ।

विगतविषयसद्गा प्रत्या मश्रयन्ते

प्रशमजल्पितीर मयमारामरम्पम् ॥ ४८ ॥

अर्थ—विषयसगरहित योगिप्रवीर (भेष्ठ योगीश्वर) इस संसारको कामाग्निके प्रचण्ड और अनन्य संतापोंने पीड़ित देखकर प्रतिदिन समयरूप बगीचेमें शोभायमान ऐसे घान्तिसागरके सदृश आश्रय लेते हैं ॥ ४८ ॥

इति श्रीशानाशने योगप्रदीपाधिकारे गुभचन्द्राचार्यविरचिते कामप्रकोपप्रकरणम् ॥ ११ ॥

अथ द्वादश प्रकरणम् ।

कुर्वन्ति घन्मदोद्रेकदपिता भुवि घोषित ।

शताशमपि तस्यैव न घञ् कश्चिदीश्वर ॥ १ ॥

अर्थ—इस पृथ्वीतन्त्रमें मदके आधिक्यसे गर्वित शिवां जो कर डालती हैं, उसका शताश कहनेके लिये भी कोई समय नहीं है ॥ १ ॥

धारयन्त्यमृत वाचि हृदि हालाहल विषम् ।

निसर्गकुटिला नार्यो न विद्म केन निर्मिता ॥ २ ॥

अर्थ—जो वाणीमें तो अमृतको धारण करती हैं और हृदयमें विष भरे हुए हैं, इस प्रकार स्वभावसेही कुटिल इन शिवांको किसने बनाया हैं यह हम नहीं जानते । भावार्थ—

निनका बोल तो अमृतके समान मीठा है, और हृदयम जहर भरा हुआ है, इस प्रकार
दूर सभाजवाली स्त्रियाँको निम्ने बनाया यह हम नहि जान सकते ॥ २ ॥

वज्रज्जलनलेपेय भोगिदष्टैय केवलम् ।

चनितेय मनुष्याणा सतापभयदायिनी ॥ ३ ॥

अर्थ—यह स्त्री मनुष्योंको वज्राग्निजि ज्वालाके समान और सापकी डाढ़के समान बना
तथा सताप देनेवाली है । भाषार्थ—जैसे वज्रपातनिनि अग्निज्वाला और सापकी डाढ़
मनुष्योंको कष्ट और भय उपजानेवाली है, वैसेही यह स्त्रीभी है । इसमें कुछभा मर
नहि है ॥ ३ ॥

उडामयनि निडशङ्का जगत्पूज्य गुणव्रजम् ।

पद्मती वसति चित्ते सतामपि निनम्बिनी ॥ ४ ॥

अर्थ—शकारहित मनमें स्थान (अङ्का) जमाती हुई स्त्री सज्जनोके भी जगत्पू
जनेयोग्य गुणसमूहको दूर भगादेती है । भाषार्थ—माधारण मनुष्योंकी क्या क्या
किंतु यदि बेडर स्त्रीने मनमें डेरा कर लिया तो सत्पुरुषोंके भी निन्द्य गुणोंको दूर
हटा देती है । अर्थात् मनमें स्त्रीका ध्यानमान करनेसेही वस्त्रीय पुरुष भी निन्दनीय हो
जाते हैं ॥ ४ ॥

घरमालिङ्गिता क्रुद्धा चलहोलाऽत्र सर्पिणी ।

न पुन कान्तुकेनापि नारी नरकपद्मति ॥ ५ ॥

अर्थ—कोपसे पुनार मारती चलती हुई सर्पिणीका आन्विगन करना श्रेष्ठ है किन्तु
स्त्रीको कौतुकमात्रसे भी आन्विगन करना श्रेष्ठ नहि । क्योंकि सर्पिणी यदि दग्ध करे
(काट) तो पकनाही मरना होता है, और स्त्री तो नरककी पद्मतिस्वरूप है अर्थात्
यह पारनार भरण कराकर नरकमें लेजानेवाली है ॥ ५ ॥

हृदि दत्ते तथा दाह न स्पृष्टा हृतभुकुशित्वा ।

चनितेय यथा पुस्तमिन्द्रियार्थप्रकोपिनी ॥ ६ ॥

अर्थ—यह स्त्री इन्द्रियोंके कोपको बढ़ानेवाली है, सो स्पृष्ट कीहुई जेमा दाह
उत्पन्न करती है कि जेमा स्पृष्ट कीहुई अग्निकी शिखा भी नहीं करती ॥ ६ ॥

+ मन्थ्येय क्षणरागाद्या निम्नगोयाधरप्रिया ।

यत्रा पात्नेन्दुलेपेय भवति नियत स्त्रिय ॥ ७ ॥

अर्थ—ये स्त्रियें मन्थकी समान क्षणभर रागमहित रहनेवाली (क्षणभर प्रीति रखने
वाली) हैं और नदीकी समान अधरप्रिया हैं अर्थात् जैसे नदी तीर्थी श्रुतिकी तरफ जाती
है उसी प्रकार स्त्रिय भी प्राय नीच पुरुषमें रमण करनेवाली होती हैं । तथा स्त्रीयाके

चन्द्रमाकी समान वज्र (टेढ़ी) रहती है । अर्थात् सिय हृदयम कपटभाव अवश्य समती है ॥ ७ ॥

धूमावत्य इयाशङ्कया कुर्वन्ति मलिन क्षणात् ।

मदनोन्मादसन्धान्ता योपिन म्वकूल गृहम् ॥ ८ ॥

अर्थ—मदनके वेगसे उन्मादयुक्त होकर सिया अपने गुल और घरकी क्षण भरमें मलिन (कलित) कर देती है, इस कारण धूमावलीके समान आकाश करने योग्य है । अर्थात् जिस प्रकार धूमावलीसे घर काला होनेकी शका है इसी प्रकार सियोंकी तरफमें भी शका रहनी चाहिये ॥ ८ ॥

निर्दयत्यमनार्यत्व मूर्खस्वमतिचापलम् ।

घञ्जरुत्य कुशीलस्य ग्रीणा दोषा म्भायजा ॥ ९ ॥

अर्थ—निर्दयता, अनायता (अपवित्रता), मूर्खता, अतिचपलता, बचकता और कुशीलता इतने दोष प्राय विषोके स्थाभावित होते हैं । अर्थात् बिना विगायेही आज्ञाने है ॥ ९ ॥

विचरन्ति कुशीलेषु लक्ष्यन्ति बुलप्रमम् ।

न स्मरन्ति शुभ मित्र पति पुत्र न योपित ॥ १० ॥

अर्थ—ये सिया विचरती पुत्रोंमें विचरती लग जाती हैं और अपने बुलप्रमका उत्पन्न कर देती हैं तथा अपने गुरु मित्र (हितैषी) पति पुत्रका स्मरणतक नहीं करती ॥ १० ॥

यदपाज्जनादितश्चाणि मन्त्रगन्त्राद्यनेकधा ।

व्यर्थीभ्यन्ति मर्याणि घनिताराधन मनि ॥ ११ ॥

अर्थ—क्षीर्ण आराधनाके लिये (प्रसन्न करनेके लिये) कर्माकरण, अज्ञानादि तथा ओषध प्रकारके यन्त्र-मन्त्र तत्रादि समस्त व्यर्थ हो जाते हैं ॥ ११ ॥

अगाधत्रोधवेगान्धा कर्म कुर्वन्ति तत्त्रिषय ।

मद्य पतति येनैतदुच्यते दुःखसागरे ॥ १२ ॥

अर्थ—ये सिया अगाध ओषध वेगसे जंभीहूर्द लेना काम करती हैं जिससे शीघ्र ही मद्य जगत् दुःखसागरमें पड़ जाता है ॥ १२ ॥

स्यात्स्वप्नमभियाच्छन्त्य बुलवल्परमारीरम् ।

अविषार्थेण निपन्ति म्रियोऽभीष्टफलप्रदम् ॥ १३ ॥

अर्थ—स्वप्नकारी बाटा करती हुई सियें अनीष्ट (नष्टकालीन) काम देकर अपने बुलवल्परमारीरके विना विचारही मूर्खाने बाट टाकता है ॥ १३ ॥

न दान न च मौजन्त्य न प्रतिष्ठा न गौरवम् ।

न च पठयन्ति कामान्धा योषितः भवान्ययोर्हितम् ॥ १४ ॥

अर्थ—कामांध स्त्रियां न तो दान सुननताको देगती हैं, न अपने गौरव का प्रतिष्ठाका विचार करती ह और न अपना वा पराया हितही देरती हैं, सिन्तु नो विधने आया सो विना विचारेही कर बैठती हैं ॥ १४ ॥

न सत् शुद्धा हरिव्याघ्रव्यालानलनरेश्वराः ।

कुर्वन्ति यत्करोत्येका नरि नारी निरङ्कुशा ॥ १५ ॥

अर्थ—एक निरङ्कुश स्त्री ही नरके (मनुष्यके) लिये बह काम करती है कि निम्नो क्रोधित हुए सिंह, व्याघ्र, सर्प, अग्नि और राजाभी नहि करसकते । भावार्थ—पुरुषको खतत्र स्त्री जैसा पक्ष देती है वैसा कोईभी नहि दे सक्ता ॥ १५ ॥

यामासाद्य त्वया कान्ता सोढव्या नारकी व्यथा ।

तस्या वार्त्तापि न श्लाघ्या कथमालिङ्गनादिरुम् ॥ १६ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज समझाते हैं कि—हे आत्मन् ! जिस स्त्रीकी सगतिसे तुझे नरकके दु ख सहने पड़े ऐसी स्त्रीकी चर्चा करनाभी तेरे लिये प्रशसनीय नहीं है, तो उससे आर्लिङ्गनादि करना केसे प्रशसनीय हो सकता है ? ॥ १६ ॥

म कोऽपि स्मर्यता देवो मन्त्रो वाऽऽलम्ब्य साहमम् ।

यतोऽङ्गनापिशाचीय असितु नोपसर्पति ॥ १७ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज उपदेश करते ह कि—हे आत्मन् ! तू ऐसे किसी देव वा मन्त्रको स्मरण कर अथवा ऐसा कोई साहस कर जिससे यह स्त्रीरूपी पिशाचिनी तुझे भक्षण करनेको निकट न आवे ॥ १७ ॥

एकैव धनिताभ्याली दुर्विचिन्त्यपराक्रमा ।

लीलयैव यया मूढ खण्डित जगता ध्रुयम् ॥ १८ ॥

अर्थ—हे मूढ ! आत्मन् ! यह स्त्री रूपी सर्पिणी ऐसी है कि जिसका पराक्रम पचिन्त्य है अर्थात् चिन्तनमें नहि आसकता । क्योंकि लीलामात्रसे जिस अकेलीनेही इन तीनों सुवनोंको खण्डित करदिया है, सो तू देर ॥ १८ ॥

न तद्दृष्ट श्रुत ज्ञात न तच्छास्त्रेषु चर्चितम् ।

यत्कुर्वन्ति महापाप म्रिय कामकलङ्किता ॥ १९ ॥

अर्थ—ये स्त्रियें कामसे पलित हो ऐमाही कोई महापाप कर बैठती हैं कि जिसको न तो किसीने देखा, न सुना तथा न शास्त्रोंमेंही जिसकी चर्चा आई ॥ १९ ॥

यमजिहानलज्जालाघञविगुह्यिपाकुरान् ।

ममाहृत्य कृता मन्ये धेधसेय विलासिनी ॥ २० ॥

अर्थ—आचार्य महाराज उत्प्रेक्षा करते हैं कि—मैं ऐसा मानता हूँ कि—विधाताने यमराजकी जीम, अग्निवी ज्वाला, विजली तथा पिप इनके अक्षुर (सार भाग) इन सबको संग्रह करके यह विलासिनी (स्त्री) बनाई है क्योंकि इससे कोईभी नहीं बचता ॥ २० ॥

मनस्यन्यद्वयस्यन्यद्वयपुण्यन्यमिचेष्टितम् ।

पासा प्रकृतिदोषेण प्रेम तासा क्षिपत्स्विरम् ॥ २१ ॥

अर्थ—निन सियोके लयावसेही मनम तो कुछ, बचनमें कुछ और शरीरसे कुछ और ही चेष्टा है उनका प्रेम बचतक स्मिर रह सक्ता है अर्थात् बहुत समयतक नहीं ठहरता ॥ २१ ॥

अप्युत्तुङ्गा पतिप्यन्ति नरा नार्यङ्गसंगता ।

यथायामिति लोकस्य स्तनाभ्या प्रकटीकृतम् ॥ २२ ॥

अर्थ—सियोवे दोनों स्तन प्रकट करते हैं अर्थात् परस्पर कहते हैं कि देखो, भाई! स्त्रीपे अगसंगसे नितप्रकार हमारा अप पतन हुआ है इसी प्रकार जगतके यहे २ पुरुष स्त्रीपे अगसंगसे नीचे गिरेंगे । अर्थात् नीरी अवस्थाको प्राप्त होंगे ॥ २२ ॥

पदीन्दुस्तीग्रता धत्ते चण्डरोचिश्च शीतताम् ।

दैवास्तथापि नो धत्ते नरि नारी स्थिर मनः ॥ २३ ॥

अर्थ—कदाचित् दैवयोगसे चन्द्रमा उष्णस्वभावी और सूर्य शीतल भलेही होनाय परन्तु स्त्रीका मन किसी एक पुरुषमें स्थिर नहीं होमक्ता । अर्थात् उसे अन्य २ पुरुषकी कामना बनीही रहती है ॥ २३ ॥

देवदैत्योरगप्पालप्रचन्द्रार्कचेष्टितम् ।

विदन्ति ये महाप्राज्ञास्तेऽपि वृत्त न योयिताम् ॥ २४ ॥

अर्थ—जो महानिद्वान् देव, दैत्य, नाग, हत्ती, गृह, चन्द्रमा और सूर्य इन सबकी चेष्टाओंको जानते हैं, वे भी सियोवे चरित्रको नहीं जान सकते । क्योंकि स्त्रीचरित्र अगाध है यह जगत्प्रसिद्ध उक्ति है ॥ २४ ॥

सुखदुःखजयपराजयजीवितमरणानि ये विजानन्ति ।

मुच्यन्ति तेऽपि तून् तत्त्वविद्वेष्टिने क्रीणाम् ॥ २५ ॥

अर्थ—जो तत्त्वज्ञानी सुख-दुःख, जय पराजय और जीवित मरण आदिकको निमि घञानके बलसे जानते हैं, येभी सियोवी चेष्टा जाननेमें मोहको प्राप्त होते हैं । अर्थात् सियोके चरित्र जाननेके लिये अज्ञानमूढ होजाते हैं ॥ २५ ॥

जलधेर्यान्पात्राणि ग्रहाभ्या गगनम्य च ।

यान्ति पार न तु स्त्रीणा दुश्चरित्रस्य केचन ॥ २३ ॥

अर्थ—यद्यपि समुद्र और आकाश अपार हैं तथापि जहाजपर बैठनेवाले समुद्रक और महादिक आकाशके अतर्का पार करने हैं परन्तु स्त्रियाँ कि दुश्चरित्र पार नहीं पासकता ॥ २३ ॥

आरोपयन्ति सदेह तुलायामतिनिर्दया ।

नार्यः पतिं च पुत्रं च पितरं च क्षणादपि ॥ २४ ॥

अर्थ—स्त्रिये ऐसी निर्दय हैं कि क्षणमात्रम अपने पति पुत्र पितादिको संहरी तुलापर चढ़ादेती है । भाचार्य—स्त्रिय जो दुश्चरित्र करें और पति पितादिकको हरा होजाय तो तत्काल ऐसी चेष्टा करती हैं कि निमसे उनको ऐसा सदेह होता है कि इसने यह दुश्चरित्र नहीं किया होगा, मुझे व्यर्थ ही भ्रम होगया है ॥ २४ ॥

गृह्णन्ति विपिने व्याघ्र शकुन्त गगने स्थितम् ।

सरिद्धदगत मीन न स्त्रीणा चपल मनः ॥ २५ ॥

अर्थ—कई पुरुष वनमसे व्याघ्रको पकड़ते हैं, आकाशगामी पक्षीको पकड़ते हैं तथा नदी वा तड़ागमसे मछलीको पकड़ते हैं, परन्तु स्त्रियोंके मनको कोईभी पकड़ नहीं सकता अर्थात् वशीभूत नहीं करसकता ॥ २५ ॥

न तदस्ति जगत्स्मिन् मणिमञ्जौषधाञ्जनम् ।

विद्याश्च येन सद्भाव प्रयास्यन्तीह घोषितः ॥ २६ ॥

अर्थ—इस जगत्में ऐसा कोईभी मणि, मन्त्र, औषध, अञ्जन अथवा विद्या नहीं है कि जिससे स्त्रिये सद्भावको प्राप्त हो अर्थात् कुटिलतारहित होजाय ॥ २६ ॥

मनोभवसम शर कुलीन भुवनेश्वरम् ।

हत्वा पतिं स्त्रिय सद्यो रमन्ते चेदिकास्तुतै ॥ २७ ॥

अर्थ—स्त्रिये ऐसी दुष्टा हैं कि अपना पति काण्डेवरी समान सुंदर शरवीर कुलीन और राजा ही क्यों न हो तोभी उसे मारकर तत्काल दासीके पुत्रसे रमने लग जाती हैं ॥ २७ ॥

स्मरोत्सहमपि प्राप्य चाच्छन्ति पुरुषान्तरम् ।

नार्यः सर्वाः स्वभावेन यदन्तीत्यनलाशया ॥ २८ ॥

अर्थ—निर्मलाशय विद्वत्पुत्र

स्त्रिय कामदेवमरीचे पतिको

न। स्वभावसे अन्य पुरुषकी

विनाञ्जनेन तन्त्रेण मन्त्रेण विनयेन च ।

चक्षयन्ति नरं नार्यं प्रज्ञाधनमपि क्षणात् ॥ ३२ ॥

अर्थ—स्त्रियोंमें कोई ऐसीही मोहिनी विद्या है कि विना मन्त्र तन्त्र अञ्जनके कथना विना प्राधनाकेभी क्षणमात्रमें पंडित पुरुषकोभी टगतेती है । अर्थात् अपने प्रेममें कैसा लेती है ॥ ३२ ॥

कुलजातिगुणभ्रष्ट निहृष्ट कुष्ठचेष्टिताम् ।

अस्पृश्यमधमं प्रापो मन्ये स्त्रीणां प्रियं नरम् ॥ ३३ ॥

अर्थ—मैं ऐसा मानता हूँ कि कुल-जाति-गुणसे भ्रष्ट, निहृष्ट, दुश्चरित्र, अस्पृश्य और नीच पुरुषही स्त्रियोंको प्रिय होता है । क्योंकि प्रायः प्रगाढ़ी दम्बनमें आता है कि जिस उक्त पुरुषको छोड़ नीचसेही प्रीति कर लेती है ॥ ३३ ॥

धैर्यारणदन्ताग्रं समारण्य स्थिरीकृता ।

वीरश्रीर्यैर्महासत्त्वैर्यापिक्लिस्तेऽपि गण्डिता ॥ ३४ ॥

अर्थ—जिन महापराक्रमी वीर पुरुषोंने युद्धमें शत्रुके हस्तीके दातापर चढ़कर वीरश्रीको हरा लिया है, अर्थात् विजय प्राप्त किया है, वेम वीरवीर योद्धाभी स्त्रियोंके द्वारा स्पर्द्धित (भूषित) होजाते हैं अर्थात् स्त्रीय सामने विजयीभी पराक्रम नहीं बल्ला ॥ ३४ ॥

गौरवेषु प्रतिष्ठारु गुणेष्वाप्यकोटिषु ।

श्रुता अपि निमज्जन्ति क्षोभपङ्के स्वयं स्त्रिय ॥ ३५ ॥

अर्थ—गौरव, प्रतिष्ठा और आराधना करनेयोग्य गुणोंमें भूविषय कर सभी दुर्भी स्त्रियें अपने दुश्चरित्ररूपी बीचड़में पैस जाती हैं । अर्थात् स्त्रियें विजयीगी बनने लगी रहतीं किंतु लच्छन्द बर्तने लग जाती हैं ॥ ३५ ॥

दोषान्गुणेषु पश्यन्ति प्रिये क्षुर्यन्ति विप्रियम् ।

सन्मानिताः प्रक्षुप्पन्ति निमग्नकुटिलाः स्त्रियः ॥ ३६ ॥

अर्थ—कुटिल स्त्रियोंका स्वभाव ऐसा है कि—वे गुणोंमें तो दोष देखती हैं और जो प्यार करे उसमें अप्रियताका आचरण करती हैं और सन्मानन करनेमें क्षुब्ध होती हैं ॥ ३६ ॥

गृह्याऽप्यवार्थलक्षानि प्रत्यक्षमपि योषितम् ।

छादयन्नेष निपाङ्गा विश्वधनपण्डिता ॥ ३७ ॥

अर्थ—वे स्त्रियां लक्षों बुरे बातें इस में बतावेकी निपाङ्ग होकर उठे हैं । क्योंकि वे स्त्रियें अज्ञानको छानेके लिये अनिष्ट बन गई हैं । इनकी लक्षणादि-लक्षणा के-भी पार नहीं पासकता ॥ ३७ ॥

दानसन्मानसंभोगप्रणतिप्रतिपत्तिभिः ।

अपि सेवापरं नाथ व्रन्ति नार्योऽतिनिर्दयाः ॥ ३८ ॥

अर्थ—ये स्त्रियें ऐसी निर्दय होती हैं कि दान, सम्मान, संभोग, नमस्कार करने, आदर करने आदि सुखामतके कार्यसे सेवा करनेमें तत्पर ऐसे पतिकों भी मार डालती हैं ॥ ३८ ॥

विषमध्ये सुधास्यन्द सस्यजातं शिलोचये ।

सभाष्यं न तु समाख्य चेतः स्त्रीणामरुद्धमलम् ॥ ३९ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि विषमें कदाचित् अमृतका क्षरण अपराधनतपर (शिलाओंके समूहपर) धान्यका उत्पन्न होना संभव है, परंतु स्त्रियोंका विष निष्पाप कदापि न समझना । अर्थात् ये स्त्रियें निष्पाप (उज्ज्वल) कभी नहीं होती ॥ ३९ ॥

घन्ध्याङ्गजस्य राज्यश्रीः पुष्पश्रीर्गगनस्य च ।

स्यादैवाद्य तु नारीणा मनःशुद्धिर्मनागपि ॥ ४० ॥

अर्थ—देवात् घन्ध्यापुत्री राज्यलक्ष्मी और आकाशमें पुष्पांकी शोभा होना संभव है; परंतु स्त्रियोंके मनकी शुद्धि किंचिन्मानवी नहीं होती ॥ ४० ॥

कुलद्वयमहाकक्ष भस्मसात्कुरुते क्षणात् ।

दुश्चरित्रसमीरालीप्रदीप्तो वनितानल ॥ ४१ ॥

अर्थ—दुश्चरित्ररूपी पवनसे प्रदीप्त हुई वनितारूपी अग्नि क्षणमात्रमें अपने उमय कुलरूपी वनको भस्म करदेती है ॥ ४१ ॥

सुराचल इयाकम्पा अगाधा चार्कियद्दशम् ।

नीयन्तेऽत्र नराः स्त्रीभिरघचूतिं क्षणान्तरे ॥ ४२ ॥

अर्थ—सो पुण्य मुनेर पवनसे समान अचट (अकण) है तथा समुद्रके समान अगण्य अथात् गभीरगह्वरी है वेभी इन जगत्में स्त्रियोंने द्वारा क्षणमात्रमें चण्डवपन वा निरन्तर क्रिये जाने हैं सो अय सामान्य पुण्यारी तो क्याही क्या ॥ ४२ ॥

विषाद्रीनो जरी गेगी दुर्बल स्थानयिच्युतः ।

कुलीनामिरपि स्त्रीभिः सद्यो भर्त्ता विमुच्यते ॥ ४३ ॥

अर्थ—सिद्धिदा वृत्ति यदि वनगन्धि (दरिद्री) हो, बद्ध हो, रोगी अथवा निर्धन हो तथा स्थानवृष्ट हो तो उसे कुलीन स्त्रियोंने अपने भग्नारको दीप्रदी होई देनी है और किन्ना अव्ययमें रक्षण करने लग जाती है ॥ ४३ ॥

मेघु शुल्मसिं छेत्तु कर्तितु क्रकचं ददम् ।

नरान्पीडयितुं यच्च वेधसा विदिता नृपि ॥ ४४ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज उत्प्रेक्षा करते हैं कि कहिये प्रमाने जो स्त्रियें बनाई हैं, ये मनुष्योंको वेधने लिये शूनी, काटने लिये तरवार, कतरनेके लिये दृढ़ करोत (आरा), अथवा पेन्नाके लिये मानों मग्न ही बनाये हैं ॥ ४४ ॥

विपुर्वधूभिर्मन्येऽहं नभस्पोऽपि प्रतारितः ।

अन्यथा क्षीयते वस्मात्कलङ्काऽपहतप्रभम् ॥ ४५ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज फिरभी उत्प्रेक्षा करते हैं कि आकाशमें रहनेवाला यह चन्द्रमाभी नियोसे ध्वनि किया गया है, अर्थात् मोहित किया गया है । क्योंकि यदि ऐसा न माना जाय तो यह कलङ्कसे प्रहारित होकर प्रतिदिन क्षीण क्यों होता है ॥ ४५ ॥

आचार्य महाराज फिरभी उत्प्रेक्षा करते हैं—

यद्गामं सन्ध्ययोर्यस्ते यद्भ्रमत्यविलम्बितम् ।

समन्ये यन्निनासार्थेर्विप्रलम्ब्य रारयति ॥ ४६ ॥

अर्थ—यह सूर्य जो दोनो स-यात्रोंके समय स्याङ्को घायन करता है और निरंतर भ्रमण करता रहता है सो मैं ऐसा मानता हूँ कि यह भी स्त्रियोंके समूहोंसे ठगा गया है ॥ ४६ ॥

फिरभी उत्प्रेक्षा करते हैं—

अन्तःशून्यो भृशं रौति पेलान्याजेन घेपते ।

धीरोऽपि मथितो यद् श्रीनिमित्ते सरित्पति ॥ ४७ ॥

अर्थ—यह समुद्र स्त्रीके निमित्तही नारायणसे मथागया और रामचन्द्रजीसे बाधा गया इस कारण अन्तःशून्य होकर गर्भनाके बहानेसे (मिससे) सो रोता है और धीर होते हुए भी हृदयके बहानेसे मानों वन्ध्यायमान होता है ॥ ४७ ॥

सुरेन्द्रप्रतिमा धीरा अप्यचिन्त्यपराजमा ।

दशग्रीवादयो घाता कृते स्त्रीणा रसातलम् ॥ ४८ ॥

अर्थ—देसो, इन्द्रके समान धीर धीर अचिन्त्यपराजमी रावण आदिफ बड़े २ छत्रपारी राजाभी नियोव निमित्त रसातलको (नरकको) चले गये सो अन्य सा मान्य जनोंकी तो कटनारी क्या ॥ ४८ ॥

तु गगानिरगाधेय कलेर्मूलं भयस्य च ।

पापपीज शुचां कन्दः श्वन्नमृभिर्नितम्बिनी ॥ ४९ ॥

अर्थ—यह स्त्री दु खोंकी तो अगाध खानि है, जिसमसे कि दु खही दु ख निकले रहते हैं और कलह तथा भयभीत जड है, पापका चीन और चिन्ताओंका कद (मूठ) है तथा नरककी पृथिवी है ॥ ४९ ॥

यदि मृत्ताः प्रजायन्ते स्त्रीणा दोषा कथंचन ।

परयेयुस्तदा नून निःशेष सुवनोदरम् ॥ ५० ॥

अर्थ—आचार्य महाराज उल्लेखामे कहते हैं कि—कियोंकि दोष यदि किसी प्रकार से मूर्तिमान् होनायें तो मैं समझता हूँ कि उन दोषोंसे निश्चयकरके समस्त त्रिलोकी परितः भरजायगी ॥ ५० ॥

कौतुकेन समाहर्तुं त्रिचर्यपङ्क्तिसचयम् ।

वेधसेय कृता मन्ये नारी व्यसनप्रागुरा ॥ ५१ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज उल्लेखामे कहते हैं कि—प्रधाने जो स्त्री बनाई है सो मानो उसने कौतुकसे जगतके समस्त जीवोंका समूह करनेके बाने आकर्षण करनेके लिये फट्फट्पी पामीही बनाई है ॥ ५१ ॥

एक दृशा पर भाषेर्वाग्भिरन्य तथेक्षितैः ।

सज्जपाऽन्य रतैश्चान्य रमयन्त्यङ्गना जनम् ॥ ५२ ॥

अर्थ—किसी किसी एकको तो दृष्टिसेही प्रसन्न करदेती हैं, किसी दूसरेको माँकोमे ही रमाती हैं, और अन्य किसी एकको बचामात्रसे तृप्त करके किसीको इशारोंमेंही प्रसन्न करदेती हैं, और शरीरके किसी सजन औरहीसे करती हैं और रतिसे किसी औरहीमे रमण करती हैं । इस प्रकार अनेक पुण्यकि चित्तको प्रसन्न करके अपने बग कर देती हैं ॥ ५२ ॥

धीरैर्धैर्यं समालम्ब्य विवेकामग्लोचनैः ।

त्यक्ता म्यमेऽपि नि मद्देनार्य श्रीमृरिपुङ्गवै ॥ ५३ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि—जो धीर वीर और ज्ञान ही दे निमग्न नर त्रिके आच. र्य. म प्रसन्न है उन्नि धीरजका अवग्रह करके स्वप्नमयी विषाका त्यज कर दिया है उसे महापुण्यही प्राप्त है ॥ ५३ ॥

अथ इमं कथनको पूर्ण करनेके लिये मङ्गोचने रूप उपदेश दत्ता हैं—

नार्हकविश्वीरिणम् ।

यदनु न पृथग्गतिं प्राप्तमपि श्रोतुं नमाक्षान्ध्रम

नमर्थाणामगुणग्रन्थ निगदिषु मये न कोऽपि प्रभुः ।

आत्मोक्त इत्यनीपया कतिपर्यवर्णयंकुस्त मया

मत्तुरया गुणिनरूपमनु यनितासंभोगपापमहं ॥ ५४ ॥

अर्थ—साधारण मतागत्र उपदश करते हैं कि मियोंक दोषसंग्रहको बढ़नेके लिये तो कृष्णनि ममध मरी, और गुन के लिये इस ममध नहीं, इस कारण मैं ऐसा मानता हूँ कि और कोई भी मियोंक दोषोका बणन नहीं करसकता । तिसपरभी मैंने मियोंके अत्युत्त देवकर निगोदी अक्षरोंमें जो बदे हैं सो इनको गुनकर जो गुणी पुराण हैं वे कतितास संभोगरूपी साधक पापदको छोड़ो, यह हमारा उपदेश है ॥ ५४ ॥

मात्रिणी ।

परिभवकल्पाद्रीं दुःखदायानलात्मीम्
विषयजलधिपेला श्वघ्नमापप्रतोलीम् ।

मदनमुजगदद्वा मोल्लन्त्रासपित्रीम्
परितर परिणामैर्धर्ममालम्ब्य नारीं ॥ ५५ ॥

अर्थ—हे अगमन ! तू धैर्य अवनम्यापूरक चित्तमें स्त्रीका प्रसंग छोड़ । क्योंकि यह भी अपमानरूपी कष्टको उत्पन्न करनेके लिये तो येन (सता) हैं और दुःखरूपी दावापित्री पति हैं तथा विषयरूपी मनुष्यकी लहर और नरकरूपी महलभ भवेदा करनेके लिये प्रतीती हैं अर्थात् भवेगद्वार या घर हैं तथा कामरूपी सर्पकी दाढ़ और मोह या सदा (आलस्य) की माता हैं ॥ ५५ ॥

इस प्रकार दोषके आशय स्त्रीका विशेष दिया अब यह कहते हैं कि, समस्त स्त्रियं दोषयुग्मही हैं वेना एकांत नहीं हैं, किन्तु विनम शीलसेवमादि गुण होते हैं ये प्रसत्ता करनेयोग्यभी हैं—

यमिभिर्जन्मनिर्विण्णैर्नृपिता यथापि त्रिष ।

तथाप्येवान्ततस्तामा विद्यते नाघसंभव ॥ ५६ ॥

अर्थ—यद्यपि सत्तागमे विरक्त हुए संयमी मुनियोंने मियोंको दुषितही किया है अर्थात् दोषयुक्त ही बणन दिया है तथापि उनमें एकांततामें पापकाही संभव नहीं है किन्तु उनमें निती २ सीमें गुणभी होते हैं साही कहते हैं ॥ ५६ ॥

आर्ष ।

ननु सति जीयन्तेके काश्चित्मशीलसमोपेता ।

निजयशतिलकभूता श्रुतमत्यसमन्विता नार्य ॥ ५७ ॥

अर्थ—अहो ! इस जगत्में अनेक स्त्रियां ऐसीभी हैं जि—जो गमभाव (मदकषायरूप परिणाम) और शीलसेवामे भूषित हैं तथा अपने वस्त्रोंमें तिलकभूत हैं अर्थात्

अने बगको शोभायमान कर्ती है और गाम्भाय्ययन तथा सत्यचनकरक ही
भी है ॥ ५७ ॥

मतीत्वेन महत्त्वेन वृत्तेन विनयेन च ।

विवेकेन म्रिय काश्चिद् भूषयन्ति धरातलम् ॥ ५८ ॥

अर्थ—अनेक म्रिया ऐसी हैं जो अपने पतिव्रतपनसे, महत्त्वमे, चारित्र्यसे (एक
बन्धोमे), विनयमे और विवेकसे इस पृथिवीतलको सुविन (शोभायुक्त) बना
ते ॥ ५८ ॥

मार्तुमविकीरितम् ।

निविष्णोर्भयमक्रमाच्छ्रुतशरैरेकान्ततो निस्पृष्टै-

मोपा यद्यपि दूषितां शमधनेर्गताप्रसालम्बिभिः ।

निष्पन्ने न तथापि निर्मलपमणाध्यायवृत्ताङ्किता

निर्दम्यजामादिपुण्यपरिमैर्यां शुद्धिभूता भुवि ॥ ५९ ॥

अर्थ—जो ममयत प्रमथन विरक्त हैं, शास्त्रों परमांगी और स्वयंभी सर्व
विशेष हैं तथा गमयमानही हैं धन विराट् केमे प्रमथनार्थकी सुविष्णोरी बन्धि
विशेषी विराट् हैं तथा। जो स्वयं विमल और पवित्र समधिपमणा यावत्परिष्कृते
बुद्धि हैं और वैमल्य-गममादि परिश्रान्तानां पवित्र हैं य निरा करोयोग नहीं हैं।
कहे हैं निरा बन्धि की जाती है, निरा सुविष्णोरी विराट् ही हैं ॥ ५९ ॥

इत्येवमपि विराट् आश्रय विराट् और सुविष्णोरी आश्रय निरा नहीं हैं
बन्धि विराट् ।

कविः ।

अ प्रमथ प्रमथ हैं प्रमथे विराट् सुविष्णोरी बन्धि विराट् ।

बन्धि विराट् हैं विराट् सुविष्णोरी प्रमथ बन्धि विराट् ।

बन्धि विराट् बन्धि विराट् बन्धि विराट् बन्धि विराट् ।

बन्धि विराट् बन्धि विराट् बन्धि विराट् बन्धि विराट् ॥ ५९ ॥

बन्धि विराट् बन्धि विराट् बन्धि विराट् बन्धि विराट् ॥ ५९ ॥

बन्धि विराट् ॥ ५९ ॥

अथ त्रयोदश सर्ग ।

अथ मैथुन (कामसेवन) का वर्णन करते हैं—

स्मरज्वलनसम्रान्तो य प्रतीकारमिच्छति ।

मैथुनेन स दुर्बुद्धिराज्येनाग्नि निषेधति ॥ १ ॥

अर्थ—जो पुरुष कामरूपी अग्निसे पीड़ित होकर मैथुनसे उस पीड़ाको शान्त करनेकी इच्छा करता है, वह दुर्बुद्धि वृत्तसे अग्निको सुसाना चाहता है ॥ १ ॥

वरमाज्यच्छटासिक्त परिण्यो हुताशनः ।

न पुनर्दुर्गतेर्ह्यर योपिता जघनस्थलम् ॥ २ ॥

अर्थ—वृत्तकी छटाओंसे सिंचन किये हुए अग्निका आलिंगन करना श्रेष्ठ है, परन्तु स्त्रीके जघनस्थलका आलिंगन करना कदापि श्रेष्ठ नहीं, क्योंकि वह दुर्गतिका द्वार है । अर्थात् अग्निसे जला हुआ तो इस जन्ममें ही किंचित् कष्ट पाया है, किन्तु स्त्रीका आलिंगन करनेसे दुर्गतिमें माना प्रकारके कष्ट सहने पड़ते हैं ॥ २ ॥

स्मरशीतिज्वरातङ्कशङ्किता शीर्णबुद्धयः ।

विशान्तिं घनितापङ्के तत्प्रतीकारवाञ्छया ॥ ३ ॥

अर्थ—कामरूपी शीतज्वरके भयसे नष्ट बुद्धि पुरुष उसके प्रतीकारकी वाछाकरके स्त्रीरूपी कर्ममें (कीचड़में) प्रवेश करते हैं, परन्तु यह सङ्गीपीन उपाय नहीं है ॥ ३ ॥

घासनाजनित मन्ये सौम्य स्त्रीसद्वसभयम् ।

सेव्यमान यदन्ते स्यादैरस्यायैव केयलम् ॥ ४ ॥

अर्थ—स्त्रीके संगसे उत्पन्न हुए सुखका सेवन करना अन्तमें कबल विरसताका ही कारण है । इस कारण आचार्य महाराज कहते हैं कि इस प्राणीकी पूर्व कामना ऐसीही है, उसीसे ऐसा होना है, किन्तु परमार्थसे विचार लिया जाय तो यह सुख उ सही है ॥ ४ ॥

प्रपश्यति यथोन्मत्तः शम्भल्लोष्टेऽपि काशनम् ।

मैथुनेऽपि तथा सौख्यं प्राणी रागान्धमानसः ॥ ५ ॥

अर्थ—जिम प्रकार कोई पुरुष धतुरा खानेसे उन्मत्त होकर मिट्टाये देलमें सोना समझता है, उसी प्रकार रागसे अध हो गया है चित जिसका ऐसा यह प्राणी मैथुनमें (दु स्तमें) सुखानुभव करता है किन्तु बालबों इममें सुख नहीं है ॥ ५ ॥

अपथ्यानि यथा रोगी पथ्यबुद्ध्या निषेधने ।

सुखबुद्ध्या तथाद्धानि स्त्रीणां कामी गतप्रप ॥ ६ ॥

अर्थ—जैसे रोगी पच्यही इच्छामे अपच्य सेवा करना है उमी प्रद्युक्त कामी पुन निर्लेज्य होकर सुखही इच्छामे नियंत्रित अगोका दर्शनमर्गनादि करना है, परंतु उसकी बड़ी मूल है ॥ ६ ॥

कश्चिद्भूते यथा दीप निर्वाणमपि नन्दितम् ।

स्मरमूढः सुगम तद्वद्भुक्स्वमप्यत्र मैथुने ॥ ७ ॥

अर्थ—जिसप्रकार दीपके बुझजानेपर अनेक जन कहा करते हैं कि शीत बंद गया, इसी प्रकार काममूढ पुरुषभी मैथुनम दुस्वही दुःख है तोभी उसको सुन कल्पना करलेता है ॥ ७ ॥

किम्पाकफलसमान धनितासभोगसम्भव सौख्यम् ।

आपाते रमणीय प्रजायते निरममयसाने ॥ ८ ॥

अर्थ—छीके समोगमे उत्पन्न हुआ सुख किम्पाकफल (इन्द्रायणके फल) के समान सेवन करते समय तो रमणीय मानता है, परन्तु अन्तम निरम है । भावार्थ—जैसे—इन्द्रायणका फल देखनेमें सुन्दर सुगन्धित और खानेमें मिष्ट होता है, परन्तु उगने जाकर हलाहल विषकासा काम करता है इसी प्रकार सीजनित सुखभी सेवन करते रमणीय है परन्तु तज्जन्य पापसे नरक निगोदादि दुर्गतियोंके दुःख सहने पड़ते हैं ॥ ८ ॥

मैथुनाचरणे कर्म निर्धृणैः क्रियतेऽधमम् ।

पीयते वदन स्त्रीणां लालाम्पुकलुपीकृतम् ॥ ९ ॥

अर्थ—निर्दय अथवा ग्लानिरहित पुरुष मैथुनावस्थामें कैसा नीचकर्म करते हैं वि-लियोंके मुतसे निकली हुई लालोंसे मैले किये हुए मुखका पान करते हैं, अर्थात् चुनन करते हैं । हा ! इन मूर्खोंको ग्लानिभी नहीं आती ॥ ९ ॥

कण्डूयनतनुस्वेदादेति कुप्री यथा सुखम् ।

तीव्रस्मरज्जातकूपीडितो मैथुन तथा ॥ १० ॥

अर्थ—जैसे कोढ़ी पुरुष शरीरको सुजाने तथा तपानेसे सुख मानता है उमी प्रकार तीव्र कामरूपी रोगसे दुःखित हुआ पुरुषभी मैथुनकर्मको सुख मानता है । यह बड़ा विपर्यय है, क्योंकि जैसे सुजानेसे खान बढ़ती है और अन्तमें कष्टदायक जलनको पैदा करती है इसी प्रकार स्त्रीका सेवनभी कामसेवनेच्छाको उत्तरो उत्तर बढ़ाता है और अन्तमें कष्टदायक होता है ॥ १० ॥

अशुचीन्यद्गन्धानि स्मराशीविषमूर्धिता ।

जिह्वाभिर्धित्तिहन्त्युच्चैः शुनीनामिव कुकुरा ॥ ११ ॥

अर्थ—यद्यपि मियोंके अम अशुचि हैं अथवा अपवित्र हैं परन्तु उन्हे कानरूपी

रूपमें चाटे हुए अथवा पुष्प अतिथय आसक्त हो जैसे कुत्ते कुत्तियाने अगोको चाटते हैं वही प्रकार चाटते हैं । हा ! इन निम्नोको ग्यामी नहीं आती ॥ ११ ॥

ग्यानिर्मूर्च्छा भ्रम बन्ध भ्रम गेदोऽद्भुतित्रिया ।

क्षयरोगादयो दोषा मैथुनोत्था* शरीरिणाम् ॥ १२ ॥

अर्थ—रुबोचं यद्यपि ग्यामी, क्षीणता, मूर्च्छा, अतिसन्ता, भ्रम, कंपन, खेद, खेद (प्रेम), अविचार और क्षयरोग इत्यादि दोष मैथुनसेही उत्पन्न होते हैं वही यह प्राणी मूर्च्छाको सेवता ही है ॥ १२ ॥

अनेकदुःखमन्तामनिदान विद्धि मैथुनम् ।

अथ तदपि सेवन्ने हन्त रागान्धयुद्धम् ॥ १३ ॥

अर्थ—हे आत्मा ! इस मैथुनम्को पनेक दुःखोंका कारण जा । आचार्य महाराज सेदपूर्वक कहते हैं,—यत्पुत्र दुःखदायक आनन्दरमी रागांध युद्ध इसका सेवन करते हैं, सो बड़ा खेद है ॥ १३ ॥

कुष्ठप्रणमियाजस्र याति स्रवति पूतिकम् ।

पत्न्य्रीणा जघनद्वारं रतये तद्धि रागिणाम् ॥ १४ ॥

अर्थ—स्त्रियोंका जघनद्वार जो कुष्ठके (कोइके) पावसे समान गिरन्तर सरता है तथा दुर्गन्धमें बासता है वही भी रागी पुरुषोंकी रति (प्रीति) के लिये है, यह आश्चर्य है ॥ १४ ॥

बाक्* धृमिबुलाकीर्णं करङ्के कुरुने रतिं ।

यथा तद्वद्वाराकोऽयं कामी स्त्रीगुणमन्धने ॥ १५ ॥

अर्थ—जैसे काक बीड़ोंके समूहसे भरे दाढ़ का कलविशेषमें रति (प्रीति) करता है वही प्रकार यह धामर प्राणीभी स्त्रीके गुणस्वानके मन्धन करनेमें प्रीति करता है ॥ १५ ॥

आर्षी ।

वस्तुमपि लज्जनीये दुर्गन्धे मूत्रशोणितद्वारे ।

जघनपिष्टे यनिताना रमते पालो न तत्पयज्ञ ॥ १६ ॥

अर्थ—स्त्रियोंके योनिछिद्रका नाम सेतेही लज्जा आती है, फिर दुर्गन्धमय और मूत्र तथा रधिरके सरनेका द्वार है । ऐसमें अज्ञानी ही रमता है तत्त्वज्ञानी तो कभी नहीं रमता ॥ १६ ॥

यशस्वः ।

स्वतालुरर्षं किल कुकुराधमैः प्रपीयते यद्वदिहास्थिचर्षणात् ।

तथा विटैर्विद्धि यपुर्विहम्पनैर्निषेव्यते मैथुनसम्भव सुखम् ॥ १७ ॥

अर्थ—हे आत्मन् ! तू ऐसा जान कि—जैसे नीच तुझे हाडके चर्मण करनेसे बल्-
ही ताडसे निकलनेगले रक्तका पान करके प्रसन्न होते हैं कि यह स्थिर इस हाडमें
निकलता है इसी प्रकार व्यभिचारी जन अपने और स्त्रीके शरीरकी निन्दनासे उत्तन्न हुए
मुखका सेवन करते हैं ॥ १७ ॥

अशुचिष्वङ्गनाङ्गेषु सगताः पठय रागिणः ।

जुगुप्सा जनयन्त्येते लोलन्तः क्रमयो यथा ॥ १८ ॥

अर्थ—देखो, जिसप्रकार अपवित्र मलादिमें कीड़ कल्लवृद्ध करते हैं
उसी प्रकार ये चपल कामीजन स्त्रियोंने अपवित्र अर्गोंकी सगति करते हुए ग्लानि
उत्पन्न करते हैं ॥ १८ ॥

योनिरन्ध्रमिदं स्त्रीणां दुर्गतेर्धरमग्रिमम् ।

तत्पुजन्ति ध्रुव घन्या न दीना दैववञ्चिताः ॥ १९ ॥

अर्थ—स्त्रियोंका योनिरग्र दुर्गतिका प्रथम (मुख्य) द्वार है, इस कारण उसे
जो धन्य पुरुष हैं वे तो अवश्यही त्यागते हैं । किन्तु जो दीन है अर्थात् नीच हैं वे नहीं
छोड़ते क्योंकि ये दैवसे ठगे हुए अर्थात् अमागी है ॥ १९ ॥

मालतीयं मृदून्पासां यिद्धि चाङ्गानि योपिता ।

दारयिष्यन्ति मर्माणि विपाके जात्यसि स्वयम् ॥ २० ॥

अर्थ—हे आत्मन् ! तू इन स्त्रियोंके अङ्गोंको मालती पुष्पके समान कोमल पान
दे, परन्तु अन्तमें जब वे तेरे मर्माङ्गोंका निदारण करेंगे तब तूसे अपने आप मात्र हो
जायगा । भाषार्थ—तू स्त्रियोंके अङ्गोंको कोमल समस्त स्पर्शनादि करता है, परन्तु इनके
पद (दुर्गतियां) बहुतही कष्टकर होंगे—॥ २० ॥

मैथुनाचरणे मूढं श्रियन्ते जन्तुकोटयः ।

योनिरन्ध्रममुत्पन्ना लिङ्गसंगमपीदिता ॥ २१ ॥

अर्थ—हे मूढ ! योनिरग्रमें अमर्ष्यजीवोंकी कोटिरी (समूची) उत्पत्ति होती है
तो मैथुनाचरणमें वे सब जीव पाने जाते हैं उनकी हिमागेही दुर्गतिमें दुःख सहने
पड़ते हैं ॥ २१ ॥

यमिहमानेकदुर्गन्धमन्त्राक्तं मरुलेवरम् ।

यत्र तत्र यत् स्त्रीणां कन्यास्तु रतये सुखि ॥ २२ ॥

अर्थ—इस स्थानमें जब अपनाही शरीर वहाँ वहाँ बीचमें अनेक दुर्गन्धिवा
मन्त्रोंसे मग है तो कि स्त्रियोंका शरीर किम्वन्ति करने योग्य हो—अर्थात् दिगी
मन्त्रोंके अथ मन्त्री ॥ २२ ॥

अर्थ—हे ब्रह्मन्! तू ऐसा जान कि—जैसे नीच कुपे हाइके पाँव कागसे धूम
ही ननुने निम्ननेवाले रक्तका पान करके प्रसन्न होते हैं वी यद्द एषि इम हाइके
निम्न है इमी प्रकार व्यभिचारी जन अपने ओङ्गी सीक शरीरकी विद्वन्मते उत
दुनका स्वेन करने हैं ॥ १७ ॥

अशुचिः कृद्गान्धेयु संगताः पश्य रागिणः ।

जुगुप्सा जनगन्त्येते लोलन्तः कृमयो यथा ॥ १८ ॥

७७१—देमो विमपकार अपाति मलादिमो रीड कपपडर को ?
 मं दप ने वान कामीर विरोहे अपाति अंगोरी संगति को हुए मयि
 दप द-रे ॥ १८ ॥

गोविन्दप्रसिद्धं श्रीणां दुर्गनेर्दारममिमम् ।

तस्माज्जनिमं प्रपन्नं भगवा न दीता दीपयज्ञिताः ॥ १७ ॥

३५—विशेष जो १२ व दुर्भेदिका प्रमाण (मुद्रा) द्वारा है, इस कारण जो
 ३६—कलकत्ता है वे जो भारतीया लक्षण हैं । निम्न जो दीन है अभांग नीच है वे
 ३७—कलकत्ता है वे जो भारतीया लक्षण हैं । निम्न जो दीन है अभांग नीच है वे

साम्बन्धिषु मनुष्याणां विविध आहाराणि योजितानि।

इन्द्रिण्यनि सप्तमि विनादे ज्ञास्यमि एवम् ॥ २० ॥

[illegible]

द्विदशभक्तौ नैव भूयः प्रियं नैव तन्मृतोत्थनम् ।

सोऽहमस्यस्यत्रा विद्मामगर्भादिताः ॥ ५१ ॥

[illegible]

६७-अनेकमुनिः प्रजापतिं शरणं गतम् ।

॥ १३ ॥

1956年
 7月

अर्थ—जो पुरुष समस्त परिग्रहोंसे निरक्त हो कुपित सर्पसे कोई जिम प्रकार दू रहता है उसी प्रकार स्त्रियोंके ससर्गसे दूर रहता है, वही मुक्तिरूपी लक्ष्मीको बरता है।
अर्थात् प्राप्त होता है ॥ १ ॥

यथा सद्यो विलीयन्ते गिरयो वज्रताडिताः ।

तथा मत्ताङ्गनापाङ्गप्रहारेणाल्पचेतसः ॥ २ ॥

अर्थ—जैसे वज्रपातसे ताड़े हुए पर्वत शीघ्रही खड़ खड़ होजाते हैं ऐसे और मन्दोन्मत्त स्त्रियोंके नेत्रकटाक्षोंके प्रहारसे अल्पज्ञानी मण्ड २ हो सियोंमें तन्मय हो जाते हैं । अर्थात् स्त्रियोंका ससर्ग अल्पजनोंको सराव करता है ॥ २ ॥

यस्तपस्वी व्रती मौनी सधृतात्मा जितेन्द्रियः ।

कलङ्कयति निःशङ्कं स्त्रीसरयः सोऽपि सयमम् ॥ ३ ॥

अर्थ—जो मुनि, तपस्वी, व्रती, मौनी, संवरस्वरूप, तथा जितेन्द्रिय हो और सीमें संगति करता हो वह अपने सयमको कलक ही लगावे ॥ ३ ॥

भासे भासे व्यतिक्रान्ते यः पियत्यम्बु केवलम् ।

विमुह्यति नरः सोऽपि सगमासाद्य सुमुह्य ॥ ४ ॥

अर्थ—जो मुनि महीने २ का उपवास करके केवल जलही मात्र ग्रहण करता है ऐसा तपस्वीभी स्त्रीकी संगति या मोहित होजाता है ॥ ४ ॥

सर्वप्राप्युपधीयन्ते सपमाथास्तपम्भिनाम् ।

गुणाः किन्त्यङ्गनामङ्ग प्राप्य यान्ति क्षयं क्षणात् ॥ ५ ॥

अर्थ—तपस्वियोंके संयमादि गुण सब जगह वृद्धिको प्राप्त होते हैं किन्तु अंगनाके समर्गको प्राप्त होकर ये गुण क्षणमात्रमे नष्ट हो जाते हैं ॥ ५ ॥

संवरन्ति जगत्पद्मिन्त्येच्छया यमिना गुणाः ।

विलीयन्ते पुनर्नारीवदनेन्दुविलोकनात् ॥ ६ ॥

अर्थ—संयमी गणोंके गुण इस जगत्में लोच्छामे यत्र तत्र विचारताको प्राप्त होते हैं पान्दु स्त्रियोंके मुखरूपी चद्रमाके देखनेमे प्रीतिन हो जाते हैं ॥ ६ ॥

तावदसं मुनिः स्त्रीषु श्रुतं शीलं कुलत्रयम् ।

यावन्मत्ताङ्गनानेववापुरामिने बद्धमे ॥ ७ ॥

अर्थ—मुनि के लिये स्त्रियाँ, लज्जा, धर्म, शील और कुलधर्म (गुरु आश्रमकी) तत्त्वोंके बन्धन होते हैं यवनाके लिये भी स्त्रीकी प्रीतिमे लगे रहने से बन्धन होते हैं ॥ ७ ॥

नवनीतनिभं पुसा मन सद्यो विलीयते ।

घनितावहिस्रतसं सतामपि न सशय ॥ ८ ॥

अर्थ—पुरुषोंका मन नवनीत (यकत्तन) सदृश है सो खीरूपी अमिका संयोग होनेपर सत्पुरुषोंका चित्तभी चलायमान हो जाता है, इसमें कोई सशय नहीं ॥ ८ ॥

अन्तःसुप्तोऽपि जागर्ति स्मरं सगेन योपिताम् ।

रोगव्रज इवापध्यसेवासभावितात्मनाम् ॥ ९ ॥

अर्थ—जैसे अपथ्य सेवन करनेवाले मनुष्योंके रोगोंका समूह उत्पन्न हो जाता है, तैसेही काम है सो अन्तरंग (मनमें) सोता है तोभी स्त्रीके सगममात्रसे जागता है ॥ ९ ॥

क्रियते यैर्मन म्यस्थ भुतप्रशमसयमै ।

तेऽपि संसर्गमासाद्य घनिताना क्षय गता ॥ १० ॥

अर्थ—जिन पुरुषोंने शास्त्राध्ययन, प्रथममात्र और संयमसे अपने मनको स्थग्ध (बन्धीभूत) कर लिया है वे भी स्त्रियोंके संसर्गसे प्राप्त होकर नष्ट होगये हैं ॥ १० ॥

स्थिरीकृत्य मनस्तरवे तावत्तिष्ठति सयमी ।

यावन्नितथिनीभोगिभृकुटिं न समीक्षते ॥ ११ ॥

अर्थ—संयमी पुरुष तबतकही मनको तत्त्वमें स्थिर करके रहता है जबतक कि खीरूपी सर्पकी भृकुटीको नहीं देखता है ॥ ११ ॥

११ यासा सकल्पलेशोऽपि तनोति मदनज्वरम् ।

प्रत्यासक्तिर्न किं तासा ऋद्धि चरणश्रियम् ॥ १२ ॥

अर्थ—जिन स्त्रियोंके संकल्पका लेग मात्र भी मनमें हो तो वह मदनज्वरको बना देता है तो उनकी निकटता क्या चारित्र्यरूपी लक्ष्मीको नष्ट भष्ट नहीं करेगी ? ॥ १२ ॥

* यस्या संसर्गमात्रेण यतिभाय कल्हयते ।

तस्या किं न कथालापैर्भूभट्टैश्चाहविभ्रमे ॥ १३ ॥

अर्थ—जिस स्त्रीके संसर्गमात्रसे ही मुनिपन बमर्जित होता है उसके साथ बना लाभ करने, भौक्षके टेढ़ेपन और उदर विभ्रम विलासोंके देखनेसे क्या बनिपन नष्ट नहीं होता ? अर्थात् होताही है ॥ १३ ॥

सुचिर सुष्ठु निर्णान् लब्ध वा वृद्धसन्निधौ ।

लुप्यते ग्रीष्मवालोकाद्भस्तरस शरीरिणाम् ॥ १४ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि हमने बहुत काल बनेकी मंगलिन १८६२ में प्रकार निर्णय कर लिया है तथा यह निदान्त्र प्राप्त किया है कि—स्त्रीक दुष्प्रचलनेजन करनेसे जीवोंका संयमरूपी रत्न अवश्यही नष्ट होजाता है ॥ १४ ॥

पुस्तोपलविनिष्पन्नं दारुचित्रादिकल्पितम् ।

अपि वीक्ष्य उषुः स्त्रीणां मुखलङ्घनी न सञ्जयः ॥ १५ ॥

अर्थ—स्त्रियोंके शरीरकी आकृति पुंस्त (मिट्टी आदिसे) व पाषाणसे रची हुई व काष्ठ चित्रादिसे रची हुईको देखकरभी प्राणी मोहको प्राप्त होता है, इसमें कुछ संदेह नहीं है फिर साक्षात् स्त्रीको देखनेसे क्यों नहीं मोहित होगा ? अर्थात् अवश्यही होगा ॥ १५ ॥

यहा स्त्रीका मसर्ग होनेपर क्या क्या अवस्था होती है सो कहते हैं—

दृष्टिपातो भवेत्पूर्वं व्यामुह्यति ततो मनः ।

प्रणिधत्ते जनः पश्चात्तत्कथागुणकीर्तने ॥ १६ ॥

अर्थ—प्रथम तो स्त्रीपर दृष्टि पड़ती है, तत्पश्चात् चित्त मोहित होता है, तत्पश्चात् उस स्त्रीकी कथा और गुणकीर्तनमें मन लगाता है ॥ १६ ॥

ततः प्रेमानुबन्धः स्याद्भूभयोरपि निर्भरम् ।

उत्कण्ठते ततश्चेतः प्रेमकाष्ठप्रतिष्ठितम् ॥ १७ ॥

अर्थ—गुणकीर्तनके पश्चात् दोनोंके परस्पर प्रेमबोहकी अतिशयतासे प्रेमप्रतिष्ठा जाती है, तत्पश्चात् चित्त बोहकी सीमापर स्थित हो उत्कण्ठित रहता है कि का मित्र हो ॥ १७ ॥

दानदाक्षिण्यनिश्वासैरुभयोर्वर्द्धते स्मरः ।

ततः शास्त्रोपशास्त्राणि प्रीतिरङ्घ्री विस्पर्षति ॥ १८ ॥

अर्थ—पूर्वाक्तप्रकारमें तथा दान-दाक्षिण्य-निधासादिमें दोनोंके शरीरमें कामकी इच्छा होती है । तत्पश्चात् शास्त्रा उपशास्त्राओंमें वह प्रीतिरूपी स्त्रिया (वेन) मिलती जाती है ॥ १८ ॥

मनो मिलनि शान्त्योऽन्य नि शङ्क सगलालम् ।

प्रणश्यति ततो ह्यत्रा प्रेमप्रमदरपीडिता ॥ १९ ॥

अर्थ—तत्पश्चात् नि शङ्क संगमका जोरसे दोनोंका मन परस्पर एक हो जाता है । तत्पश्चात् प्रेमके प्रमद (मग) में पीडित होकर ह्यत्रा गड़ हो जाती है । अर्थात् १९ में प्रेम निर्विघ्न हो जाती है, कि बहोत निकट रहनेपर भी परस्पर बचनाशय दृष्टिमात्रसे निर्जिज्ञास काय होने लगते हैं ॥ १९ ॥

निशङ्कं कुरुते नमं रहोवन्ध्यायलम्बिमम् ।

वैभवादी गतोद्भूत कामाग्निं प्रविशुष्मते ॥ २० ॥

अर्थ—अपभार दोन एका-पा पावेदी निश्व हो हास्यरूप यातालाप करते रहते हैं तापभादनन स्पर्शादि इधनसे उत्पन्न हुइ कामाग्नि प्रज्वलित (तीव्र) हो जाती है ॥ २० ॥

परिरन्तस्ततमेन दण्डमानोऽग्निना भूशम् ।

अपिपार्य जनं द्वाघ्नं तन पापे प्रवर्त्तते ॥ २१ ॥

अर्थ—अपभार यह मनुष्य उस कामरूपी अगिसे यादव ती शरीर और अन्तरगमें चित्तों अनिष्टय तादृश्य होनेसे विना विचारों पापकायमें प्रवर्त्तने लग जाता है इसप्रकार अपुत्रगमे शीघ्र समाप्त मनुष्यकी पापचरणमें प्रवृत्ति हो जाती है ॥ २१ ॥

श्रुतं सत्यं तपः शीलं विज्ञानं वृत्तमुत्तमम् ।

इन्द्रणीशुक्ले मूढं प्रविश्य घनितानले ॥ २२ ॥

अर्थ—इसप्रकार यह मूढ प्राणी गीरूपी अग्निमें प्रवेश करने शाखाध्ययन, सत्यमत, तप, शील (ब्रह्मचर्य), विज्ञान और उत्तम पारिव्र इनको इधनकी समान जला देता है । अपर्ण—श्रीने सगासे समस्त धर्म धर्म नष्ट कर देता है ॥ २२ ॥

स्फुरन्ति हृदि सकल्पा ये स्त्रीव्यासक्तचेतसा ।

रागिणा तानि ते भ्रातर्न कोऽपि गदितु क्षम ॥ २३ ॥

अर्थ—हे भाइ ! जिन पुरुषोंका चित्त स्त्रियोंमें आसक्त है उन रागियोंके मनम जो जो सन्न्य होने हैं उन्हे बहोको बोझभी समथ है ? वदपि तर्ही क्योंकि फामीके मनम क्षणचणमें अनेक सरस होने रहते हैं ॥ २३ ॥

ससर्गप्रभया नूनं गुणा दोषाश्च देहिनाम् ।

एकान्ततन स दोषाय स्त्रीभि सार्द्धं कृत क्षणम् ॥ २४ ॥

अर्थ—सामान्यतासे ससर्गमें जीवोंके गुण दोष दोनोंही होते हैं, परन्तु स्त्रियोंके साथ जो सगर्ग क्षणभरके लियेभी बियाबाय तो वह कल दोषोंके लियेही होता है ॥ २४ ॥

पुण्यानुष्ठानसम्भृतं मत्स्व क्षीयते नृणाम् ।

सद्यः कलङ्कयते वृत्तं सार्वधर्मेण योपिताम् ॥ २५ ॥

अर्थ—स्त्रियोंके साथ ससर्ग रहनेसे मनुष्योंका अनेक पुण्यकार्यमें प्राप्त हुआ महत्त्व (चरप्पन) तत्काल नष्ट हो जाता है और जो व्रत चारित्र्य वे कलचित्त हो जाते हैं ॥ २५ ॥

अपवादमहापद्मे निमज्जन्ति न सशयः ।

यमिनोऽपि जगद्वन्द्यवृत्ता रामास्पदं श्रिता ॥ २६ ॥

अर्थ—जो सयमी मुनि जगतसे वदनेयोग्य चारित्र्यवाले हैं वे भी स्त्रीके सं भगवत्कृपी मद्गुरुदुष्टम निमज्जन्ति होने हैं अप्पात् पैम जाते हैं ॥ २६ ॥

तासा पूणन्दुगौर मुगकमलमल वीक्ष्य लीलारमाश

को योगी यस्तदानी कलयति कुशलो मानसं निर्विकारम् ८

अर्थ—जिन स्त्रियोंने सुन्दर भुजलताओंके आलिंगनादि विलासोंको प्राप्त होकर कु
बन, निलन, अंगोश और आम्रवृक्षभी अनियुक्त निवारको प्राप्त होते हैं अर्थात् फल
पूलते हैं तो उन स्त्रियोंके पूर्णचन्द्रमान समान गौर लीलारमयुक्त मुखरूपको देख
ऐसा कौनसा योगी यति प्रीण है जो अपने मनको उस समय निर्विकार रखे।
अर्थात् कोरेभी नहीं ॥ ३८ ॥

फिरभी विशेषतः साथ करते हैं,—

तावद्वत्ते प्रतिष्ठा परिहरति मनश्चापल चैव तावत्

तावत्सिद्धान्तसूत्र स्फुरति हृदि पर बिम्बनस्यैकदीपम् ।

क्षीराकूपारवेलावलयनिलसितैर्मानिनीना कटाक्षै-

र्यावन्नो हन्यमान कलयति हृदय दीर्घदोलायितानि ॥ ३९ ॥

अर्थ—यह पुरुष जनतक क्षीरसमुद्रकी लहरोंने बलयमगीले विलामय नाना
स्त्रियोंके कटाक्षोंसे हननेमें आये हुए हृदयके दीर्घ दोलायमान चंचलभावको प्राप्त नहीं
होता तबतकही यह मनुष्य प्रतिष्ठामें धारण करता और मनकी चंचलताको छो
कर स्थिरता रखसकता है और तबतकही समस्त तत्त्वोंकी प्रकाश करनेके लिये दारक
सम सिद्धान्तसूत्र हन्यमान स्फुरित होते हैं । अर्थात् स्त्रियोंके सुन्दर कटाक्षोंसे ब्रह्म
विसका मन स्थिर रह सकता है ? ॥ ३९ ॥

ससर्गादुर्धला दीना सघ्नन्नामप्यनिच्छतीम् ।

कुष्ठिनीं रोगिणीं जीर्णा दुग्निता क्षीणविग्रहाम् ॥ ४० ॥

निन्दिता निन्यजातीया स्वजातीया तपस्विनीम् ।

पालामपि तिरस्त्र्यां स्त्रीं कामी भोक्तुं प्रवर्तते ॥ ४१ ॥

अर्थ—स्त्रीके ससर्गमें भ्रष्ट हुये कामी पुरुष दुर्बल, दीन (भिखारिना), मयनीन,
विनादच्छती, कोढ़नी, रोगिणी, बुनिया, दुग्निता, क्षीणशरीरवाली, निन्दित (बेइयादिह)
तथा निन्यजातीकी चंडालनी आदि, तथा स्वजातीया, तपस्विनी, बालिका, और तो का
तिर्यचनीमेंभी व्यभिचार करने लग जाते हैं इसकारण ब्रह्मचारियोंको स्त्रीका सत्ता
सर्वथा छोड़ना चाहिये ॥ ४० ॥ ४१ ॥

अङ्गनापाङ्गनाणालीं प्रपतन्तीं निवारय ।

विधाय हृदय धीर दृढ वैराग्यवर्धितम् ॥ ४२ ॥

अर्थ—अब आचार्य महाराज उपदेश करते हैं कि— हे धीर धीर, अपने हृदय

धेराग्यरूपी दृढ बचसे वेष्टित करके गिर्योके कटाग्नानाणोंकी पत्ती हुई पत्तियो
निवारण कर ॥ ४२ ॥

ब्रह्मचर्यविशुद्धयर्थं सद्ग श्रीणा न केवलम् ।

त्याज्यं पुंसामपि प्रायो विटविद्याचलम्पिनाम् ॥ ४३ ॥

अर्थ—हे भाई! ब्रह्मचर्य रक्षाके लिये ब्रह्म गिर्योके ससगकाहा निषेध नहीं
किया है, किन्तु विटविद्याचलम्पी व्यभिचारी श्रीपुरुषोंका संगमी त्यागनेदोन कहा
है ॥ ४३ ॥

मदान्धै कासुकै पापैर्धनैर्कैर्मार्गविभ्युर्न ।

स्तब्धस्तुब्धाधमै साद्धे सगो लोकप्रयान्तक ॥ ४४ ॥

अर्थ—जो मदसे अंधे हैं, कामी हैं, पापी हैं, ठा हैं, कुमार्तो हैं, लज्ज हैं, मार्गी
हैं, अधम हैं तथा नीच हैं, इनसे किसीकेभी साथ समय करना दोनों लोकोंका बिगाड़
नेवाला है, इसकारण इनकी संगति करना सबथा त्याग्य है ॥ ४४ ॥

अथ इत्त प्रकरणको पूरा करते हुए कहते हैं,—

साधना ।

सूत्रे दस्तायधानां प्रशमयमतपोध्यानालन्धावकाशां

शाम्भत्सन्पस्तसगा विमलगुणमणिग्रामभाजं स्वयं ये ।

श्रूयन्ते कामिनीनां स्तनजघनमुखाश्लोकनासेऽपि भग्ना

मज्जन्तो मोहघातौ जिनपतिपतयः प्रारु प्रसिद्धा कथारु ॥ ४५ ॥

अर्थ—मिद्वान्तश्रौतों दिया है चित्त किन्तु, ऐसे तथा प्रशमभाव भार धन-नि-
यम-तप-ध्यानादिम समस्त बाल बितानेवाले, तिरतर परिघ्राते त्यागी, विमलगुणरूपी
मणियोंके समूहको धारण करनेवाले ऐसे जैनययी (रक्षादि) भी गिर्योके का, जघन
व मुखके देखनेमे भ्रष्ट होकर मोहरूपी समुद्रम झूड़ेहुए कथाओंमे प्रसिद्ध है अर्थात् सुने
जाते हैं । भाषार्थ—श्रीग सतगरी ऐमा है कि जिससे बोझी नहीं बचने । और जो
धीर, धार मदापुत्र इतके संतगते बचते हैं वे धन्य हैं ॥ ४५ ॥

इतप्रकार गीके संतगका निषेध बान किया—

रोहा ।

तपनी मौनी शयनी, श्रुत्यादी सुत भाग ।

तरलीक ससगतें बिगड़ लज्ज सुजान ॥ ४६ ॥

इति श्रीशानाण्डे योगप्रदीपधिकारे गुणवशादप्यसिचिने ब्रह्मचर्यकर्मवृत्तान्तं
स्तीसर्तानिषेधम् । अथ बनुदा प्रवरम् ॥ ४६ ॥

अथ पञ्चदश प्रकरणम् ।

आगे इस ब्रह्मचर्यमहान्तके उगनम वृद्धमेगाका वर्णन करके इस मन्त्रवाक्य व्याख्यान पूर्ण करते हैं—

लोकद्वयविशुद्ध्यर्थं भावशुद्ध्यर्थमश्रुता ।

विद्याविनयवृद्ध्यर्थं वृद्धसेवां शस्यते ॥ १ ॥

अर्थ—अनायाम दोनों लोकोंकी सिद्धिके लिये, भावोंकी शुद्धताके लिये तथा विद्याविनयकी वृद्धिके लिये वृद्धपुरोषोंकी (गुरुजनोंकी) सेवाहीरी प्रथमा कीजिए । भावार्थ—गुरुजनोंके (घरोंके) निरुद्ध रहने तथा उनकी सेवा करनेसे यह लोक परलोक सुधरता है, अपने परिणाम शुद्ध रहते हैं, विद्याविनयान्त्रि बढते हैं और मानवपापघ्न हानि इत्यादि गुण होते हैं ॥ १ ॥

कपायदहनं गान्तिं याति रागादिभिः समम् ।

चेतः प्रसस्तिमाधत्ते वृद्धसेवावलम्बिनाम् ॥ २ ॥

अर्थ—जो पुरुष वृद्धसेवा करनेवाले हैं उनकी कपायक्षरी अग्नि रागादिनिवृत्ति प्राप्त होजाती है और चित्त प्रसन्न वा निर्मल होजाता है यदोंकी सेवासेही ये गुण होते हैं ॥ २ ॥

निश्चलीकुरु वैराग्यं चित्तदैत्यं नियन्त्रय ।

आसादय वैरा बुद्धिं दुर्बुद्धे वृद्धसाक्षिकम् ॥ ३ ॥

अर्थ—आचार्यमहाराज यहां उपदेश करते हैं कि—हे दुर्बुद्धि आत्मा! गुरुजनोंकी साक्षीपूर्णक अर्थात् गुरुजनोंके निरुद्ध रहकर तू अपने वैराग्यको तो निमल कर बैन ससारदेहभोगोंसे ऐशमात्रभी राग मत कर, तथा चित्तरूपी दैत्य (राक्षस) जो कि स्वेच्छासे प्रव्रतता है उसे वधमे कर और उत्कृष्ट बुद्धिको (निवेदिताको) अगीकार कर। क्योंकि ये गुण गुरुजनोंकी सेवा करनेसेही प्राप्त होते हैं ॥ ३ ॥

स्वतत्त्वनिकपोद्भूत विवेकालोकवर्द्धितम् ।

पेया बोधमय चक्षुस्ते वृद्धा विदुषा मताः ॥ ४ ॥

अत्र वृद्धोंका स्वरूप कहते हैं,—

अर्थ—जिनमें आत्मतत्त्वस्वरूप कमोटीसे उत्पन्न भेदज्ञानस्वरूप आलोकसे वरदा हुआ ज्ञानरूपी नेत्र है उनकीही विद्वानोंने वृद्ध कहा है । भावार्थ—स्वप्न पदार्थोंका

मनो-मनो ज्ञान है ऐसे ज्ञानी वृद्ध कहाने हैं, बरल अस्थानेही वृद्ध
होते ॥ ४ ॥

तपभृतधुनिध्यानविषेकयमसयमे ।

ये वृद्धास्तेऽप्य दास्यन्ते न पुनः पतितादुरैः ॥ ५ ॥

अर्थ—जो पुनि तप, शास्त्राध्ययन धैर्य, ध्यान, निवेर (भेदज्ञान), यम, तथा
संयमरिषमे वृद्ध (बड़े हुए) अर्थात् बड़े हैं वेही वृद्ध होते हैं । केवल अदत्ता (उमर)
एवं अधिक होनेसे या कम संपेद होनेसेही वृद्ध गिं होते ॥ ५ ॥

प्रत्यास्तसि समापानैर्यिषयैः स्वान्तरज्जैः ।

न धैर्यं ह्यलित चेपा ते वृद्धा विबुधैर्मताः ॥ ६ ॥

अर्थ—जिन्हें निरन्तर मनको रज्ज करेवाले निरयोक्त प्राप्त होनेपरभी चित्तसे
धीमा म्यलित (मट) गिं होनी चाहोही विद्वानोंने वृद्ध माना है, अर्थात् निरयोक्त
प्राप्तमान होनेसे वे बड़े बड़े होते हैं ॥ ६ ॥

न हि स्वप्नेऽपि मयाता चेपा सदृक्षयान्यता ।

यौघनेऽपि मता वृद्धास्ते घन्या शीलशालिभिः ॥ ७ ॥

अर्थ—जिन्हें सदापरम मयनेभी धमी कलरित (मीले) नहीं हुए वे यौननार
मयनेभी वृद्ध हैं और वेही घन्य पुरव हैं ऐसा ब्रह्मचारी महात्माओंने माना है ॥ ७ ॥

यतं निवेर करते हैं,—

ॐ प्रायः शरीरशैथिल्यात्स्यात्स्वस्या मनिरङ्गिनाम् ।

यौघने तु वचिस्कुर्वाद्दृष्टतस्योऽपि विप्रियाम् ॥ ८ ॥

अर्थ—यद्यपि शरीरके शिथिल होनेसे (वृद्धावस्था होनेसे) नीबोंकी बुद्धिभी स्वल्प
(निमित्त) होजाती है परन्तु यौननावस्थानें ती मिमने तत्स्योका स्वरूप जाना है वहभी
कुछ विप्रियाको धारण करता है । भावार्थ—युवावस्थानें जो धलापमान नहीं होते वेहा
धन्य पुरव हैं ॥ ८ ॥

वार्द्धयेन यपुर्धत्ते शैथिल्यं च यथा यथा ।

तथा तथा मनुष्याणां विपयाशा नियर्त्तते ॥ ९ ॥

अर्थ—मनुष्योंका शरीर जैसे जैसे शिथिलताको धारण करता है तैसे तैसेही
निययोरी आशा घटती है परन्तु युवावस्थानें निवेर आशाका नाश होयही अधिकता है ॥

हानाचरणसम्प्रान्तो वृद्धोऽपि तरुणायने ।

तरुणोऽपि सता वत्ते श्रिय मत्सगवासितः ॥ १० ॥

अर्थ—जो वृद्ध होकर हीनाचरणोंसे व्याकुल हो भ्रमता फिरे वह वृद्ध होनेका तरण है और जो मत्सगतिसे रहता है वह तरण होनेपरभी सत्पुरुषोंकी प्रतिष्ठा है, अर्थात् वाग्निक वृद्ध कहता है ॥ १० ॥

• साक्षाद्बुद्धानुसेवेयं मातेव हितकारिणी ।

विनेत्री वागिवासाना दीपिकेवार्थदर्शिनी ॥ ११ ॥

अर्थ—यह वृद्धसेवा साक्षान् माताकी समान तो हित करनेवाली है और आत्मार्थ (जिनवाणी) के समान सर्वाचीन शिक्षा देनेवाली है तथा दीपकके समान पथोंको दिखानेवाली है ॥ ११ ॥

कदाचिदैश्वर्यमुख्यान्मातापि विकृतिं भजेत् ।

न देशकालयोऽपि धृष्टसेवा कृता सती ॥ १२ ॥

अर्थ—दैवके विमुख होनेसे माता तो कदाचिन् पुत्रको अहितैषिणी होती जान तो आश्चर्य नहीं निन्तु कीहुइ धृष्टसेवा किसीभी देश या कालमें हानिकारक नहीं होती।
भावार्थ—यह वृद्धसेवा निरन्तर जीवोंका हितही करती है ॥ १२ ॥

अन्ध एव वराकोऽसौ न सता यस्य भारती ।

श्रुतिरन्ध्र समासाय प्रस्फुरत्यधिरु हृदि ॥ १३ ॥

अर्थ—सत्पुरुषोंकी पवित्रवाणी जिसके कानोंमें प्राप्त होकर हृदयमें प्रकाशमान नहीं हुई वह रक्क अंधाही है । क्योंकि—सत्पुरुषोंकी वाणी मनुष्यके हृदयमें प्रवेश करती है सो जिसने हृदयमें सत्पुरुषोंकी वाणीने प्रवेश नहीं किया वह बालन अंधाही है ॥ १३ ॥

सत्सर्गमुपास्यन्दैः पुता हृदि पवित्रिते ।

ज्ञानलक्ष्मी पद धत्ते विवेकमुदिता सती ॥ १४ ॥

अर्थ—सत्पुरुषोंके सत्सर्गरूपी अमृतके शरनेसे पुरुषोंका हृदय पवित्र होकर समस्त विवेकमे प्रसन्न हुई ज्ञानलक्ष्मी निवास करती है । भावार्थ—सत्पुरुषोंकी साक्षि सर्वाचीन ज्ञानकी प्राप्ति होती है ॥ १४ ॥

• वृद्धोपदेशधर्मांशु प्राप्य चित्तकुशेशयम् ।

न प्रापोधि कथं तत्र संयमश्रीः स्थितिं दधे ॥ १५ ॥

अर्थ—मनुष्योंका चित्तरूपी कमल यदि वृद्धपुरुषोंके उपदेशरूपी तपसोंमें प्रसन्न होजाय तो उसमें संयमरूप लक्ष्मी क्या नहीं निवास करे ? अर्थात्—सत्पुरुषोंके वचन से चित्तमें सबही संयम हो रहता है ॥ १५ ॥

५-अनुपास्यैव यो वृद्धमण्डलीं मन्दचिह्नम् ।

जगत्तत्त्वस्थितिं वेत्ति स मिमीते नम कर्तुं ॥ १६ ॥

अर्थ—जो पुरुष अत्यशक्तिवाला है और सत्पुरुषोंकी मंडलीमें रहे निगहों जगत्के तत्त्वमयरूपकी अवस्थाको जानना चाहता है वह आकाशको हाथोंमें मारता है ।
भावार्थ—सत्पुरुषोंकी सेवाके बिना अत्यशक्तिवालेकी जगतकी स्थितिनीतिका ज्ञान नहीं हो सकता ॥ १६ ॥

शीताशुरदिमसपर्कादिसर्पति यथाम्बुधि ।

तथा सद्भूतससर्गाद्युष्मा प्रज्ञापयोनिधि ॥ १७ ॥

अर्थ—जिस प्रकार चन्द्रमाकी किरणोंसे समुद्र धड़ता है उसी प्रकार समीचीन वृत्तोंके धारण करनेवाले सत्पुरुषोंकी सगतिमें मनुष्योंका प्रणाली समुद्र धड़ता है ॥ १७ ॥

नैराद्यमनुष्यभाति विध्याप्याशाद्विर्भुज ।

आसाद्य यमिना योगी वाक्पथातीतसयमम् ॥ १८ ॥

अर्थ—योगी (मुनि) समयी पुरुषोंके महान् वचनमागसे अगोचर समयको प्राप्त हो, आशारूप भक्तिको युष्कार, निराशाका अवलम्बन करता है । भावार्थ—सयमी मुनियोंकी सगतिसे आशा नष्ट होकर चित्त शान्तिको प्राप्त होता है ॥ १८ ॥

वृद्धानुर्जीविनामेव स्युश्चारित्रादिसम्पद ।

भयत्यपि च निर्लेप मन क्रीडादिकदमलम् ॥ १९ ॥

अर्थ—वृद्धों (सत्पुरुषों)की सेवा करनेवाले पुरुषोंके ही चारित्र्य आदि सम्पदा होती हैं और क्रीडादि कषायोंसे मिला मन निर्लेप (निर्मल) हो जाता है ॥ १९ ॥

सुलभेभ्यपि भोगेषु नृणां मृच्छा निवर्त्तने ।

सत्ससर्गसुषास्पन्दः शश्वदार्द्राहृतात्मनाम् ॥ २० ॥

अर्थ—जिनका आत्मा सत्पुरुषोंके संगमरूपी अमृतके शरनेमें आर्द्र (भीखुआ गीला) रहता है उन पुरुषोंके ही भोग सुलभ होने हैं और उनके ही उदात्तपण वृच्छाकी निवृत्ति (निराहता) होती है ॥ २० ॥

कातरस्य परित्यज्य धैर्यमेवावलम्ब्यते ।

सत्सगजपरिज्ञानरञ्जितात्मा जनः स्वयम् ॥ २१ ॥

अर्थ—सत्पुरुषोंकी सगतिसे उत्तम वृत्त ज्ञानने रज्जुदहन हो गया है आत्मा जिसका ऐसा पुरुष अपने आरही बाधरत्नको छोड़ धैर्यावलम्बन करता है । भावार्थ—सत्पुरुषोंकी सगतिमें जाना होता है और बाधरत्न नष्ट होकरधीरता आती है बट आने पर पुरुष समीचीन मागसे ब्युत्पन्न नहीं होता ॥ २१ ॥

पुण्यात्मना गुणग्रामसीमाससक्तमानसैः ।

तीर्यते यमिभिः किं न कुविद्यारागसागरः ॥ २२ ॥

अर्थ—पुण्यपुरणोंके गुणग्रामकी सीमाय जिनका मन लगाहुआ है वे मुने रुक
कुनिद्यारूपी समुद्रको नहिँ तीरेंगे ? अथवा तीरेंगे । क्यों कि जत्र समुद्रोंके गुणोंके
लग जाता है तब अन्य पदार्थोंमें प्रीति दृष्ट जाती है ॥ २२ ॥

तत्त्वे तपसि वैराग्ये परा प्रीतिं समश्नुते ।

हृदि स्फुरति यस्योच्चैर्द्वयान्दीपसन्ततिः ॥ २३ ॥

अर्थ—जिम मनुष्यके हृदयमें सत्पुरुषोंके वचनरूपी दीपकरी सन्तति (परिणती) प्रकाश
मान है उसकी तत्त्वोंमें, तपस तथा वैराग्यमें अनिशय उत्कृष्ट प्रीति हो जाती है ॥ २३ ॥

मिथ्यात्वादिनगोचुद्गशङ्कमद्भाय कटिपत ।

विवेक साधुसगोत्थो वज्रादप्यजयो नृणाम् ॥ २४ ॥

अर्थ—सत्पुरुषोंकी संगतिसे उत्पन्न हुआ मनुष्यका विवेक मिथ्यात्वादि बातोंके ऊपर
गिरावोंको (विचारमें आये मिथ्यात्वादि भावोंको) खड़ खड़ करनेके लिये वज्रमें अधिक
अजेय है ॥ २४ ॥

अप्यनादिसमुद्भूत क्षीयते निषिद्ध तम ।

वृद्धानुपायिना च स्वाश्विनस्यैकनिश्चयः ॥ २५ ॥

अर्थ—जो वृद्धपुरुषोंके (मनुष्योंके) अनुपायी है उसका आश्विनका रूप
निषिद्ध अज्ञानरूप अधिकार नष्ट हो जाता है और समस्त सत्कारों अद्वितीय निश्चय हो
जाता है, अर्थात् अज्ञानका लेशमात्रभी रहि रहता ॥ २५ ॥

अन्तःकरणज कर्म य स्फोटयितुमिच्छति ।

स योगिवृन्दमाराध्य करोयात्मन्यवस्थितिम् ॥ २६ ॥

अर्थ—जो पुरुष अन्तःकरणके (मानके) उपरि कर्मोंको दूर करनेकी इच्छा करता है
वह पुरुष योगीश्वरोंके समुहकी सेवा करता है और वही अपनी आत्मा की स्थिति है ।
अर्थात् योगीश्वरोंकी स्मृतिमें रहने की आत्मानुभावी प्राप्ति और कर्मोंका त्याग होता
है ॥ २६ ॥

यस्यैव मत्स्या सेवा व्याघ्रेयी सुयनत्रये ।

यस्यैव यमिनामुपरन्तर्ग्योनिर्विशुद्धमने ॥ २७ ॥

अर्थ—इस विभुजकी मत्स्याकी सेवा की एकमात्र यनत्रयी (यमोंकी प्रीति) होती
है । इसकी व्याघ्रोंके अन्तर्गत अन्तर्गत अन्तर्गत अन्तर्गत अन्तर्गत होता है ॥ २७ ॥

इन्द्रा शुम्भा यमो नो ।

आश्विनानि निगमन्तु ।

५ ।

अर्थ—सयमी मुनि योगीश्वरोंके महापवित्र आचरणके अनुष्ठानको देखकर वा सुनकर उन योगीश्वरोंकी सेईहुई पदवीको निरपद्रव प्राप्त करता है । भावार्थ—जब धर्मोंका धडा पवित्र आचरण के, मुनें तब आपभी वैसा होनेका यत्न करता है ॥ २८ ॥

विश्वविद्यासु चातुय चिनयेष्यतिकौशलम् ।

भावशुद्धि स्वसिद्धान्ते सत्संगादेव देहिनाम् ॥ २९ ॥

अर्थ—जीवोंको समस्त विद्याओंमें चतुरता और नियम अतिप्रवीणता तथा अपने सिद्धान्तमें भावोंकी शुद्धि अर्थात् न सदेहता आदि गुण सत्पुरुषोंकी सगतिसे ही प्राप्त होते हैं ॥ २९ ॥

यथाश्रुद्रुद्धिमाधत्ते स्वर्णमत्यन्तमग्निना ।

मन सिद्धिं तथा ध्यानी योगिससर्गवह्निना ॥ ३० ॥

अर्थ—जैसे इस जगतमें सूर्य अग्निके सयोगसे अत्यन्त शुद्ध (निर्मल) हो जाता है उसीप्रकार योगीश्वरोंकी सगतिरूपी अग्निमें ध्यानी मुनि अपने मनकी शुद्धिको प्राप्त होता है ॥ ३० ॥

अपलज्जाभिमानेन धैर्यमेवावलम्ब्यते ।

साहचर्य समासाद्य सयमी पुण्यकर्मणाम् ॥ ३१ ॥

अर्थ—सयमी मुनि पवित्राचरणवाले सत्पुरुषोंकी सगतिको प्राप्त हो, उनके भयसे वा लज्जा तथा अभिमानसे धैर्यका ही अवलम्बन करता है । भावार्थ—कर्मोंके उदयसे परिणाम बिगड़ने लगा जायें तो महापुरुषोंकी सगतिमें रहनेसे भय, लज्जा वा अपने अभिमानमें ही बद्ध मुनि मार्गसे व्युत्पन्न नहीं होता । इसीकारणही सत्पुरुषोंमें रहना अतिशय श्रेष्ठ है ॥ ३१ ॥

शरीराहारमसारकामभोगेष्वपि स्फुटम् ।

विरज्यति नरः क्षिप्रं सद्भिः सुप्ते प्रतिष्ठित ॥ ३२ ॥

अर्थ—सत्पुरुषोंके द्वारा सूक्ष्म शिथिल किया हुआ पुरुष शरीर, आहार, समार, काम, व भोगादिकम तत्काल ही निरक्त हो जाता है । सत्पुरुषोंकी शिष्याई ही एक ऐसा होता है, शरीरादिकम वैराग्य होनेके कारण मोक्षमार्गसे व्युत्पन्न नहीं होता । यह स्पष्टतया जानो ॥ ३२ ॥

यथा यथा मुनिर्धत्ते चेत् सत्सगवासितम् ।

तथा तथा तपोलक्ष्मीं परा प्रीतिं प्रकाशयेत् ॥ ३३ ॥

अर्थ—जैसे जैसे मुनि अपने चित्तको सत्पुरुषोंकी सगतिमें लगाता है तैसे तैसे ही उससे तपस्वरूपी लक्ष्मी उत्तम प्रीतिको प्रकाश करती है ॥ ३३ ॥

पुण्यात्मना गुणग्रामसीमाससक्तमानसैः ।

तीर्यन्ते यमिभिः किं न कुविद्यारागसागरः ॥ २२ ॥

अर्थ—पुण्यपुरणोंके गुणग्रामकी सीमास जिनका मन लगा हुआ है वे मुनि का कुविद्यारूपी समुद्रको नहीं तिरंगे ? अत्रत्य तिरंगे । क्यों कि जब सत्पुरुषोंके गुणोंमें लग जाता है तब अन्य पदार्थसे प्रीति हट जाती है ॥ २२ ॥

तत्प्रे तपसि वैराग्ये परा प्रीतिं समश्नुते ।

हृदि स्फुरति यस्योच्चैर्बुद्धवाग्दीपसन्तति ॥ २३ ॥

अर्थ—जिम मनुष्यके हृदयमें सत्पुरुषोंके वचनरूपी दीपककी सन्तति (परिपक्वी) प्रकाशमान है उसकी तत्त्वोंमें, तपमें तथा वैराग्यमें अतिशय उत्कृष्ट प्रीति हो जाता है ॥ २३ ॥

मिथ्यात्वादिनगोचुद्गच्छद्भङ्गाय कल्पितः ।

विवेकः साधुसंगोत्थो वज्रादप्यजयो नृणाम् ॥ २४ ॥

अर्थ—सत्पुरुषोंकी संगतिसे उत्पन्न हुआ मनुष्योंका विवेक मिथ्यात्वादि पक्षोंके उच्च निवारोंको (निवारण आये मिथ्यात्वादि भावोंको) खंड खंड करनेके लिये वज्रमें अधिक अजेय है ॥ २४ ॥

अप्यनादिसमुद्भूत क्षीयते निबिडं तमः ।

बृद्धानुयायिना च स्याद्विश्वतश्चैकनिश्चयः ॥ २५ ॥

अर्थ—जो बृद्धपुरुषोंके (सत्पुरुषोंके) अनुयायी हैं उनका अनादिनालका उत्पन्न निबिड अज्ञानरूप अन्धकार नष्ट हो जाता है और समस्त तत्त्वोंका अद्वितीय निश्चय हो जाता है, अर्थात् अज्ञानका लेशमात्रभी नहीं रहता ॥ २५ ॥

अन्त करणज कर्म य स्फोटयितुमिच्छति ।

स योगिबृन्दमाराध्य करोत्यात्मन्यवस्थितिम् ॥ २६ ॥

अर्थ—जो पुरुष अन्त करणसे (मनसे) अपने कर्मोंको दूर करनेकी इच्छा करता है वह पुरुष योगीधरोंके समूहकी सेवा करता है और वही अपनी आत्मामें निष्ठता है । अर्थात् योगीधरोंकी सत्संगतिमें रहनेसे ही आत्मानुभवाकी प्राप्ति और कर्मोंका नाश होता है ॥ २६ ॥

एकैव महता मेवा स्याज्जेव्री भुवनत्रये ।

ययैव यमिनामुच्चैरन्तर्ज्योतिर्विजृम्भते ॥ २७ ॥

अर्थ—इम त्रिभुवाम संपूर्णोंकी सेवा ही एकमात्र जयनशील (कर्मोंको जीतनेवाली) है । इममेही मुनियोंके अन्त करणमें ज्ञानरूप ज्योतिरा प्रकाश विद्युत् होता है ॥ २७ ॥

दृष्ट्वा श्रुत्वा यमी योगिपुण्यानुष्ठानमूर्जितम् ।

आकामति निरातङ्ग पदवीं तैरुपासिताम् ॥ २८ ॥

देशके प्राप्त होनेसे स्वप्न भी भुज्यते बुद्धिमान् प्रादुर्भाव नहि होता । भाषार्थ—मत्सु-
षोंके उपदेशसे दुमति नष्ट होनी है और सुमति की प्राप्ति होती है ॥ ३८ ॥

तत्र लोके पर धाम न तत्कल्याणमग्रिम ।

यद्योगिपदराजीवसञ्चितैर्नाधिगम्यते ॥ ३९ ॥

अर्थ—जगतमें न तो ऐसा कोई उल्टा स्थान (मंदिर) है और न कोई ऐसा कल्याण है,
जो योगीश्वरोंके चरणरमलोंकी सेवा करनेवालोंको प्राप्त न हो । अथान् योगीश्वरोंकी सेवा
करनेवालोंको समस्त प्रकारके कल्याणकी प्राप्ति होती है ॥ ३९ ॥

अन्तर्लीनमपि ध्वान्तमनादिप्रभव नृणाम् ।

क्षीयते साधुससर्गप्रदीपप्रसरारतम् ॥ ४० ॥

अर्थ—अनादिकालसे उत्पन्न हुआ पुरुषोंके अंतरंग अज्ञानरूप अधकार भी साधु
महात्माओंके संगरूपी प्रदीपके प्रकाशसे नष्ट हो जाता है । अथान् साधुओंकी संगति
अज्ञान नहि रहता ॥ ४० ॥

शालिनी ।

दहति दुरितकक्ष कर्मबन्ध मुनीने

वितरति यमसिद्धिं भाषशुद्धिं तनोति ।

नयति जननतीर ज्ञानराज्यं च दत्ते

भुवमिह मनुजाना वृद्धसेवैव साध्वी ॥ ४१ ॥

अर्थ—मनुष्योंको वृद्धोंकी (सत्पुरुषोंकी) सेवाही करना उत्तम है क्योंकि यह वृद्ध
सदा पावरूपी यमको दण्ड करती है, कर्मके बंधोंको काटती है, पारिवर्षी सिद्धि
प्राप्ति देती है, और भावोंकी शुद्धता का विस्तार करके समस्त पारपर ज्ञानराज्यको (ब्रह्मज्ञान का
सुतज्ञानकी पूर्णतारी) देती है ॥ ४१ ॥

इसप्रकार वृद्धसेवाका (सत्पुरुषोंकी) वर्णन किया । इस वृद्धसेवासे मनुष्यके मनमें दास
विलय जाने हैं और समस्त गुणोंकी प्राप्ति होती है ॥ अब ब्रह्मस्य महामन्त्र अध्यात्म
समाप्त करते हुए कहते हैं,—

विरम विरम सत्तान्मुम सुम प्रपद्य

विमृज विमृज मोह विमि विमि स्वप्नत्त्वम् ।

कल्प कल्प वृक्ष पश्य पश्य स्वरूप

बुरु बुरु पुष्पार्थ निर्गुणानन्दहेतोः ॥ ४२ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज उपदेश करने हैं कि हे भक्त ! तू परिमल विमल का
विरम हो, प्रपद्य मायागत्यको छोड़ छोड़, और जातक मोहको दूर कर दूर कर, मित्र

उक्तं च प्रथमान्तर ।

आया ।

नहि भवति निर्विगोपकमनुपासितगुरुकुलस्य विज्ञानम् ।

प्रकटितपश्चिमभाग पश्यत नृत्य मयूरस्य ॥ ३४ ॥

अर्थ—जिसने गुरुकुलकी (सत्पुरुषोंके समूहकी) उपासना नहीं की, उनका ज्ञान (भेदज्ञान, कला, चतुराई) प्रशंसा करने योग्य नहीं है, किन्तु निन्दामहित होता है । इस मयूर नृत्य करतेमय अपना पृष्ठभाग (मलद्वार) उछाड़ कर नृत्य करता है । मारार्थ मयूर नाचता है सो अपनी बुद्धिमें नाचता है, नृत्य करनेका निधान मुदर शृङ्गा होता है, सो मयूरने निमीसे सीखा नहीं इसी कारण वह नाच करते समय अपने मागसो (गुदाको) उछाड़ देता है, सो ऐसा नृत्य प्रशंसनीय नहि होता । इसी प्रकार तन्वी गुरुजनाके निकट सीखे जिना जो जिया की जाय वह यथार्थ नहि होती । इसप्रकार योगीश्वरादि महापुरुषोंकी संगतिमें रहकरही उनकी आज्ञानुसार प्रवर्तना चाहिये ॥ ३४ ॥

तप कुर्यन्तु वा मा या चेद्ब्रह्मान्समुपामते ।

तीर्था व्यसनकान्तार यान्ति पुण्या गतिं नरा ॥ ३५ ॥

अर्थ—जो पुरुष सत्पुरुषोंकी उपासना (सेवा) करते हैं वे तप करें अपना कर्तव्य करें किन्तु दुःख स्वीकारो पार करने अश्वही पवित्र (उत्तम) गति प्राप्त करेंगे । मारार्थ—तप तो शक्यनुसार करना चाह है, यदि तप करनेकी शक्ति नहीं और मनुष्योंकी संगतिमें रहकर उनकी उपासना करता रहे तो उसको भी उत्तम गति प्राप्त हो ॥ ३५ ॥

कुर्यन्नपि तपस्वीत्र निदन्नपि श्रुतार्णयम् ।

नामादगति कल्याण चेद्ब्रह्मानवमन्यते ॥ ३६ ॥

अर्थ—जो तप करता हुआ भी तथा शास्त्रकी समुद्रसा अगारा करता हुआ भी यदि ब्रह्मके नष्ट करना है अथवा मनुष्योंकी आज्ञाओं नहि रहता है तो उसका कल्याण नहि हो सकता ॥ ३६ ॥

मनोऽविमननिगोपकमनुपादनश्चम ।

कथं नमिषोदार मातृषर्प महान्मनाम् ॥ ३७ ॥

अर्थ—मनुष्योंके मन को बन्धना बन्धुकी समान समान प्रकारसे प्रवर्तित करने के लिये मनमें है, अथवा मनुष्योंकी संगति अदर्य करनी चाहिये ॥ ३७ ॥

जायते यन्ममामाया न हि व्यप्रेक्ष्य दुर्मति ।

मुनिर्षीव नरेक म्मादुपदेशात्तर मन्याम् ॥ ३८ ॥

अर्थ—मनुष्योंके मनमें आया नहि व्यप्रेक्ष्य दुर्मति है । मुनिर्षीव नरेक म्मादुपदेशात्तर मन्याम् ॥ ३८ ॥

के प्राप्त होनेगे शाय भी मनुष्यके बुबुद्विरा प्रादुभाय गति होता । भावार्थ—साधु
के रूपमें हमें मिलेगी । और मुक्तिकी प्राप्ति होगी है ॥ ३८ ॥

मत्त लोके पर धाम न तत्कल्याणमग्रिम ।

ययोगिपदराजीवमधितैर्नाभिगम्यते ॥ ३९ ॥

अर्थ—जगतमें न तो ऐसा कोई उत्कृष्ट स्थान (मंदिर) है और न कोई ऐसा कल्याण है,
जो योगीश्वरों के चरणमलोंकी सेवा करनेवालोंको प्राप्त न हो । अर्थात् योगीश्वरोंकी सेवा
करनेवालोंको समस्त प्रकारके कल्याणकी प्राप्ति होती है ॥ ३९ ॥

अन्यर्त्तनमपि स्वान्तमनादिप्रभवं नृणाम् ।

क्षीयन्ते साधुसंसर्गप्रदीपप्रसरत्तम् ॥ ४० ॥

अर्थ—आदिवाल्से उत्पन्न हुआ पुण्योरे अन्तरगता अज्ञानरूप अधकार भी साधु
महामाओंके संगमरूपी प्रदीप प्रकाशमें नष्ट हो जाता है । अर्थात् साधुओंकी संगतिसे
अज्ञान गति रहता ॥ ४० ॥

मार्गिकी ।

दहति दुरितकण्ड कर्मपन्थं तूनीते

पितरति यमसिद्धिं भायशुद्धिं ननोति ।

नयति जननतीरं ज्ञानराज्यं च दत्ते

धुवमिह मनुजाना वृद्धमेवैव साध्वी ॥ ४१ ॥

अर्थ—मनुष्योंको वृद्धोंकी (मनुष्योंकी) सेवाही करना उत्तम है क्योंकि यह वृद्ध
मनुष्य पापरूपी पनको दग्ध करती है, बन्धोंको काटती है, चारित्र्यकी सिद्धिको
प्राप्ति है, और भावोंकी शुद्धताका विचार करके ससारसे पारकर ज्ञानराज्यको (ब्रह्मज्ञान वा
मुक्ति) देती है ॥ ४१ ॥

इसप्रकार वृद्धसेवाका (सत्संगति) ब्रह्म दिया । इस वृद्धसेवामें मनुष्यके समस्त दोष
पिलाय जाते हैं और समस्त गुणोंकी प्राप्ति होती है ॥ अब ब्रह्मपर्व महाप्रतने पञ्चनको
समाप्त करते हुए कहते हैं,—

विरम विरम मयान्मुञ्च मुञ्च प्रपञ्च

विमृज विमृज मोह विद्धि विद्धि स्वनित्यम् ।

कलय कलय धृत्त पश्य पश्य स्वरूप

कुङ्कु कुङ्कु पुङ्गुपार्थ निर्वृतानन्दहेतो ॥ ४२ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज उपदेश करते हैं कि हे आत्मन् ! तू परिग्रहसे निरक्त हो
निरक्त हो, प्रपञ्च मायाशाल्यको छोड़ छोड़, और जगतके मोहों दूर कर दूर कर, निज

तत्त्वको जान जान, चारित्र्य अम्याम कर कर अपने मन्त्रको देख देव, और नन्द
सुखार्थ पुरपार्थ कर कर । इसप्रकार जेठोत्तर करनेमें आचार्य महाराजने अच्युत प्रेरणा
है, क्यों कि श्रीगुरु महाराज बड़े व्यास हैं सो जारजार हितने लिये प्रेरणा करते हैं ॥१२॥

अतुलसुखनिधान ज्ञानविज्ञानवीज

विलयगतकलङ्क शान्तविश्वप्रचारम् ।

गलितसकलशङ्क त्रिप्परूप विनाश

भज विगतविकार स्वात्मनात्मानमेव ॥ ४३ ॥

अर्थ—हे आत्मन् ! तू अपने आत्माको आपसों कर मन अर्थात् सेव । तेरा अपना है
ह कि अतुल्य (अतीन्द्रिय) सुखना निधान है, ज्ञान और विज्ञान (मेज्ञान) का बा
ह, जिसके मित्यात्मभावस्वी कलङ्क नष्ट होगये हैं, जिसमें नानाप्रकारके निकलौटा वि
स्कार शान्त हो गया है, अर्थात् जो निर्विकल्प स्वरूप है तथा निमग्न समस्त प्रका
नष्ट हो गई हैं, जो समस्त ज्ञेयोंके आभारस्वरूप निश्चय है, विनाश है, अपने गुण व
योमें फला हुआ है और समस्त प्रकारके निवारोंमें रहित होगया है । इस प्रकारके मन
आत्माको भजना, उसीमें लीन रहना, इसीको परम ब्रह्मचर्य कहते हैं । ब्रह्म कहिये मान
धरना (लीन होना) योही ब्रह्मचर्य है ॥ ४३ ॥

गादृक्विक्रीडितम् ।

धन्यास्ते मुनिमण्डलस्य गुरुरा प्राप्ता स्वयं योगिनः

शुद्धाख्येव जगत्प्रयी शमवता श्रीपादरागाङ्किता ।

तेषां सयमसिद्धयः सृष्टिना स्वप्नेऽपि येषां मनो

नालीड विपर्ययः कामविशिष्टैर्नैवाङ्गनालोचनैः ॥ ४४ ॥

अर्थ—जिन मुनियोंका मन विपर्ययते स्वप्न भी आलीड (निद्रा) नहीं हुआ और क
के बाण तथा त्रियोंने नेत्रकटाक्षोंसे शृष्ट गति हुआ वे ही सृष्टी धन्य है । उनमें
सयमकी सिद्धियें होती हैं और वेही मुनि योगीश्वरोंने समूहमें प्रधानतासे (आचार्य
प्राप्त होने हैं तथा उनकी शास्त्रमात्रसुक्त योगीश्वरोंके शोभायमान चरणोंके रागसे अ
यह तान भुग्न निश्चय करके पवित्र होते हैं ॥ ४४ ॥

येषां चाग्भुयनोपकारचतुरा प्रज्ञा विवेकास्पदम्

ध्यान धर्म्ममममकर्मकथय वृत्त कलङ्कोज्जितम् ।

सम्यग्ज्ञानसुधातरङ्गनिचयैश्चेनश्च निर्यापित

धन्यास्ते शमयन्त्यनङ्गविशिष्टव्यापारजानां रुजः ॥ ४५ ॥

अर्थ—जिन योगीश्वरोंके वचन तो लोकोपकारमें बहुत हैं और प्रज्ञा (बुद्धि) सिद्धका
म्यान है और जिनके ध्याने कर्मव्यवस्था करवती (वर्तव्य) नष्ट करदिता है व

मित्राणां शत्रुषु चान्यत्रादि (११-१२) है, व मित्राणां चित्त मध्यस्थानरूपी अमृतारी तत्त्वोके
मध्यम भाग होना है यही योगी मुनि चय है । यही हमारे कामवापसे ध्यासारो
उत्तम दूर दीक्षा समा करो ॥ ४५ ॥

यश्चान्निधिरमप्यनद्वपरशुप्रस्यैर्षभूलोपनै
पैदामिष्टपद्मदं कृतपिपा नाच्छेदि क्षीलदुम ।

यन्माम्ने दामयतु मन्तममित्दुर्पारकामानर

उच्चार्यजालबरात्मानममिदं विश्व पियकाम्मुभि ॥ ४६ ॥

अर्थ—जिन दुर्निवारों हुए चरका दन्तगला क्षीलरूपी कृपा चपल तथा चमकते
हुए बालक मुक्तममान मित्रों व शत्रुओं विरक्तात्म तन्नि रंदागदा व महाभाग्य कृतमुक्ति
धन्य है । व मुक्तिदाता तत्त्वतः प्राप्त होनेवाले मुनिगार कामरूपी अमित्री जालाभोंके
मन्त्रना जन्मे हुए हम जगतको निवेदरूपी शिरोधार्य नीतल करो ॥ ४६ ॥

अक्षिणी ।

यदि विषयविज्ञापी निर्गता देहगेहात्
नपदि यदि विद्विषो मोहनिद्रातिरेक ।

यदि पुननिबरडे निर्ममप्य प्रपसो

अग्निनि ननु विधेति ध्यायीधीविहारम् ॥ ४७ ॥

अर्थ—हे आत्मा ! जो तेरे देहरूपी परत विषयरूपी विज्ञापी निकलगई हो, तथा
मोहरूप निद्रापी लम्पता क्षीण हो गई हो, और ग्रीके शरीरम तू निमग्न (निरुहता)को प्राप्त
हुआ हो तो तू नीमरी ध्यायर्थरूपी गर्जन विहार कर (शेर कर) । अथात् उत्तमप्रकारका
होगया है तो ध्यायर्थ अंगीकार करने की दील मत कर, ऐसा उपदेश है ॥ ४७ ॥

स्मरमोर्गान्द्रुर्पारविषानरकरालितम् ।

जगद्यं शान्तिमान्नीन ते जिना मन्तु शान्तये ॥ ४८ ॥

अर्थ—कामरूपी तपन दुर्निवार विषयरूपी अग्निपी जालासे प्रज्वलित इस जगतको
जिना महाभाग्य शान्तरूप दिया, ऐसे सोलहवें तीर्थर शान्तिनाथ भगवान् जगतको
शान्तरूप करनेवाले हो ऐसा आशीर्वाद दिया है ॥ ४८ ॥

इसप्रकार ब्रह्मचर्याना महाभक्तका वणन किया । जिसम कामका प्ररोप, मैथुन, स्त्रीका
स्वरूप, और राग इनका वणन किया, सो इनका त्याग करके जब मुनिमहाराजके
निकट रहे और उनकी सेवा करें तबहीं ब्रह्मचर्य दृढ रहे और तबहीं परमार्थरूप ब्रह्म-
चर्य (आनन्द हीन होनेरूप ध्यान) की सिद्धि होती है । इस कारण इस मतका वणन
मुक्त विचारसे किया है । यहाँ बारबार कहनेम पुराकि दोष न समझना, किन्तु अनिच्छता
जानी ।

अर्थ—वास्तु (घर), क्षेत्र (सेत), धन, धान्य, द्विपद (मनुष्य), चतुष्पद (पशु, हाथी, घोड़े,) शयनासन, यान, कुप्य और भांड ये बाहरके दश परिग्रह हैं ॥ ४ ॥

११ नि सद्गोऽपि मुनिर्न स्यात्समूर्च्छं सगवर्जित ।

यतो मूर्च्छैव तत्त्वज्ञैः सगमृतिः प्रकीर्तिता ॥ ५ ॥

अर्थ—जो मुनि नि सा हो अथान् बाह्य परिग्रहसे रहित हो ओर ममत्व करता हो वह नि परिग्रही नहि हो सकता । क्योंकि, तत्त्वज्ञानी विद्वानोंने मूर्च्छाको (ममत्त्वरूप परिणामोंको) ही परिग्रही उत्पत्तिका स्थान माना है ॥ ५ ॥

अर्थात् ।

११ स्वजनधनधान्यदारा पशुपुत्रपुराकरा गृह भृत्या ।

मणिकनकरचितशय्या यन्त्राभरणादि पाद्यार्था ॥ ६ ॥

अर्थ—स्वजन, धन, धान्य, स्त्री, पशु, पुत्र, पुर, यानि, घर, नौकर, माणिक, रत्न, सोना, रूपा, गह्व्या, वस्त्र, आभरण, इत्यादि सब ही पदार्थ बाह्य परिग्रह हैं ॥ ६ ॥

इह ५ ।

११ “मिध्यात्ववेदरागा दोषा हास्याद्योऽपि पद चैव ।

चत्वारश्च कपायाश्चतुर्दशाभ्यन्तरा ग्रन्था” ॥ १ ॥

अर्थ—निध्यात्व १ वेदराग ३ हास्यादिक (हास्य, रति, भरति, शोक, मय, जुगुप्सा) ६ और क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार कपाय, इसप्रकार अन्तरगके चौदह परिग्रह हैं ॥ १ ॥

११ सधृतस्य सुधृतस्य जिताक्षस्यापि योगिनः ।

ध्यामुद्यति मनः क्षिप्र धनाशाब्द्यालविभुनम् ॥ ७ ॥

अर्थ—जो मुनि संवत्सहित हो, उत्तम परिव्रताहित हो तथा जितेन्द्रिय हो उसका भी मन धनाशाखी सर्पसे पीडित होता हुआ तत्काल ही मोहसे ग्रस्त होता है, इसकारण धनकी भाशा अवश्य छोड़नी चाहिये ॥ ७ ॥

११ त्याज्य ण्याखिलं सगो मुनिभिर्मोक्तुमिच्छुभिः ।

स चेत्पशु न शक्नोति कार्यस्पर्द्धात्मदर्शिभिः ॥ ८ ॥

अर्थ—मुक्त होनेके इच्छा उनियोंको समस्त प्रकारका परिग्रह अथान् सब पदार्थोंका सग छोड़ना चाहिये । कदाचित् अन्तरगके परिग्रहसे वे कोइ परिग्रह विद्यमान रहै तो जो आत्मदर्शी बड़े मुनि हों उनकी संगतिमें रहै । क्योंकि मुनिको ममत्व सग त्याग्यमान रहना चाहिये । यदि ध्यानस्थ नहि रहा जाय तो अचार्योंके साथ संघर्ष रहै ॥ ८ ॥

११ नाणयोऽपि गुणा लोके दोषा शैलेन्द्रसखिभाः ।

भयन्त्यथ न सन्देहः सगमासाद्य देशिनाम् ॥ ९ ॥

११

अर्थ—इस लोभम जीवोंके परिग्रहने प्राप्त होनेमें गुण तो अनुनाम न
 विन्दु दोष सुमेरु पतंतमगीने बड़े २ होते है, इममें कुछ भी नदेह नहीं है ॥ १० ॥

११ अन्तर्वाग्भूतो शुद्धयोर्वागाद्योगी विशुद्धयति ।

नष्टेन पत्रमालम्ब्य व्योम्नि पत्नी प्रसर्पति ॥ १० ॥

अर्थ—योगी राक्षस्यन्तर गेनोप्रसारकी शुद्धियोंका योग होनेमें ही सिद्ध है
 किन्तु एक प्रकारकी शुद्धिमें ही नहीं होता जैसे—पत्नी एक ही पत्रक मालम्ब
 आकाशमें नहीं उड़ सकती, किन्तु दोनों पायोंके होनेमें ही उड़ सकती है इसी प्रकार
 प्रकाशकी शुद्धि होनेमें ही मुनि निर्मल हो सकता है ॥ १० ॥

१२ साध्वीष स्याद्वशिष्ठशुद्धिरन्न शुद्ध्याऽथ देहिनाम् ।

कन्धुभाय भजत्येव वाया स्वाध्यात्मिकीं विना ॥ ११ ॥

अर्थ—जीवोंके वायसी शुद्धता अन्तरासी शुद्धतामें उत्तम होती है और
 है। क्योंकि, अन्तरासी आध्यात्मिकी शुद्धिके विना वायुशुद्धि व्यर्थ ही रहती है।
 निष्क है ॥ ११ ॥

१३ सगात्कामस्तन क्रोधस्तस्माद्विज्ञा तयाऽशुभम्

तेन श्वात्री गतिस्तस्या दुःखं वाचामगोचरम् ॥ १२ ॥

अर्थ—परिग्रहमें काम (वाछा) होता है, काममें क्रोध, क्रोधमें हिमा
 और पापमें नरकगति होती है। उस तरङ्गनिम वरनोंके अगोचर अनिष्ट
 इस प्रकार दुःखका मूल परिग्रह है ॥ १२ ॥

१४ सग एष मत शूत्रे निशेषानर्थमन्दिर ।

येनामन्नोऽपि मृग्यन्ते रागाणा रिपव क्षणे ॥ १३ ॥

अर्थ—मृगमिद्वानमें परिग्रह ही समस्त आपाका मूल माता गया है
 किन्तु होनेमें गणितिक गुण न ही तो भी क्षणमात्रम उद्वेग हो जाते है ॥

१५ रागादित्रिजय सत्य क्षमा शौच विलुप्ताता ।

सुने प्रच्याप्यते नून सगैर्व्यामोहितारत्मनः ॥ १४ ॥

अर्थ—परिग्रहमें मोहित मुनिके रागादिकोंका जीता,
 विलुप्ताता आदि गुण नष्ट हो जाते है ॥ १४ ॥

१६ सगा शरीरमासाद्य र्स्यात्रियन्ते

मन्त्रागेव सुनिर्मात योगिमिः परिर्वर्ति

अर्थ—सगा शरीर मासाद्य प्राप्त होता है। परिग्रहों
 मन्त्रागेव सुनिर्मात योगिमिः परिर्वर्ति ॥ १५ ॥

रपीवराभमानीक वपायमुजगवजम् ।

दितामिपमुपादाय पक्षे कामप्युदीर्णता ॥ १६ ॥

अर्थ—इन्द्ररूपी रागमोरी का और वपायरूपी सोंसे का समूह धारुपी माताको प्रदत्त करने के लिये उक्त का धारण करते हैं जो कि चित्तारामे ही नहीं आती ॥ १६ ॥

उन्मूल्यनि निवेदयिषेकद्रुममगरी ।

प्ररासर्त्ति समपाता समामपि परिमल ॥ १७ ॥

अर्थ—यह परिमल विना प्राप्त होने पर मनुष्यों के भी वैराग्य विवेकरूपी वृषकी संज्ञासे का उन्मूल्य कर देता है ॥ १७ ॥

गुप्यने पिपयन्पांलंभिषामे मारमागंणं ।

वप्यने दमिगान्यार्थेनरं मद्भिरभिद्रुम ॥ १८ ॥

अर्थ—यह गुप्य परिमल से पीडित होकर निन्दरूपी सोंसे तो काटा जाता है, कामव दमने पीता जाता है और खीररूपी व्यापस (शिकारीमें) रोका जाता है, अथात् बाधा जाता है ॥ १८ ॥

यं मगपद्भिर्ममोऽप्यपपगाय वेष्टने ।

स मृदं पुप्यनारायैविभिन्त्याद्रिदशाचलम् ॥ १९ ॥

अर्थ—जो प्राणी परिमलरूपी पीचदमे कैता हुआ भी मोक्षमाप्तिके लिये वेष्टा (उपाय) करता है वह मृद वृत्तों के कारणे मेरुवर्तको तोड़ना चाहता है। भावार्थ—परि धारण करनेवालोंको मोक्षकी प्राप्ति होना असम्भव है ॥ १९ ॥

१) अशुमाद्यादपि मन्यान्मोहमन्धिर्ददीमयेत् ।

विमर्षनि तमस्तृष्णा यस्या विश्व न शान्तये ॥ २० ॥

अर्थ—अशुमात्र परिमल के रखनेसे मोहकनकी मयि (पांड) दृष्ट होगी है और इस तृष्णाकी ऐसी वृद्धि होगी है कि उसकी शान्तिके लिये समस्त लोक के राज्यसे भी नहीं पड़ता ॥ २० ॥

परीपट्टरिपुत्राग तुष्टवृत्तैकभीतिदम् ।

धीक्ष्य धैर्यं पिमुञ्चन्ति यतप सद्गुसद्गता ॥ २१ ॥

—परिमल रखनेवाले यही तुष्टवृत्तवालोंसे मयके देनेवाले परिमलरूपी शत्रुओंके देखते हैं धैर्यको छोड़ देने हैं अथात् परिमलही मुनि परीपहोंके आनेपर दृढ़ जाता, विनु भागस हट जाता है ॥ २१ ॥

मर्षसगपरित्याग कीर्त्यते श्रीजिनागमे ।

यस्तमेवान्यथा व्रते स हीन स्वान्यघातक ॥ २२ ॥

अर्थ—श्रीमज्जिनेन्द्रमगवानके परमागमम समान परिग्रहोका त्या हो नराम
है। उमसो जो कोई अन्यथा कहता है वह नीष है तथा भना और दूरे
घातक है ॥ २२ ॥

यमप्रशमज राज्य तपश्च्युतपरिग्रह ।

योगिनोऽपि विमुञ्चन्ति वित्तवेनालपीडिताः ॥ २३ ॥

अर्थ—जो धनरूपी पिशाचसे पीडित हैं ऐसे योगी मुनि भी यम, निम व
मात्रोमे उत्तम राज्यको तथा तप और शास्त्राद्यादिके ग्रहणसे छोड़ देने हैं ॥ २३ ॥

पुण्यानुष्ठानजातेषु नि शेषाभीष्टसिद्धिषु ।

कुर्यन्ति नियत पुसा प्रत्यूह धनसंप्रदा ॥ २४ ॥

अर्थ—धनका समग्र पुरुषोंके पुण्यरायति उत्पन्न हुई समस्त मोक्षोपार्जित
सिद्धिसे निश्चित करता है ॥ २४ ॥

अन्यस्तरंगमन्तानो मोक्षमात्मानमुगत ।

कामपि न जानाति स्वं धनैः कर्मवन्धनैः ॥ २५ ॥

अर्थ—मोक्ष तन्त्री है परिग्रही भागा। जिनके ऐसा पुण्य अनेको गुण पाये
उत्पत्ति है, वस्तु भाग भाग परिग्रहो कारण कमाके दृष्टधर्मात्त वस्तु है ता मोक्ष
वस्तु प्राप्त । २५ ॥ परिग्रहोप प्राप्त अनेको सामान होता है ॥ २५ ॥

अपि गुणैर्यजोप्राप्त स्मिरन्धं या सुराणल ।

न पुन संगमोर्षाणा मुनि स्यात्संभूतमिन्द्रिय ॥ २६ ॥

अर्थ—यजोप्राप्त या भाग प्राप्त होकर और मुनिप्राप्त प्राप्त (अप्राप्त)
उत्पत्ति मोक्ष है वस्तु परिग्रहोप्राप्त मुनि कर्मा। जिनिन्द्रिय नष्ट हो सकता ॥ २६ ॥

बाधानपि न ॥ गङ्गान्धरिग्यनमुनीभ्यः ।

स ह्येष कर्मणा संसर्गं कथमप्ये हनिष्यति ॥ २७ ॥

अर्थ—यजोप्राप्त वस्तु परिग्रहोप्राप्त मुनि कर्मा। जिनिन्द्रिय नष्ट हो सकता ॥ २७ ॥

अन्यस्तरंगमन्तानो मोक्षमात्मानमुगत ।

कामपि न जानाति स्वं धनैः कर्मवन्धनैः ॥ २८ ॥

अर्थ—यजोप्राप्त वस्तु परिग्रहोप्राप्त मुनि कर्मा। जिनिन्द्रिय नष्ट हो सकता ॥ २८ ॥

अन्यस्तरंगमन्तानो मोक्षमात्मानमुगत ।

कामपि न जानाति स्वं धनैः कर्मवन्धनैः ॥ २९ ॥

अर्थ—घोड़ेसे भी धनरूपी कीचड़ भवात्म्य फसा हुआ गुणवान् पुरुष भी इस जग
तमें तत्काल लक्ष्यवधि दोषोंसे कलङ्कित होता है । भावार्थ—घोड़ेसे भी धनसे कालिमा
लगती है ॥ २९ ॥

सन्त्यस्तसर्वसंगेभ्यो गुरुभ्योऽप्यतिशक्त्यते ।

धनिभिर्धनरक्षार्थं राघ्रावपि न सुप्यते ॥ ३० ॥

अर्थ—धनादयः पुरुष समस्त परिग्रहके त्यागनेवाले अपने गुरुसे भी शङ्कायुक्त रहता
है तथा धनकी रक्षाके लिये रात्रिको सोता भी नहीं । भावार्थ—कोई भेदा धन न ले जाय
ऐसी शक्ता उसे निरन्तर रहती है ॥ ३० ॥

सुतस्वजनभूपालदुष्टचौरारिविद्वरात् ।

पन्धुमित्रकलत्रेभ्यो धनिभिः शङ्कयते भृश ॥ ३१ ॥

अर्थ—जो धनवान् होते हैं वे पुत्र, स्वजन, राजा, दुष्ट, चौर, वैरी, बन्धु, स्त्री, मित्र
अथवा परपत्र आदिसे निरन्तर शङ्कित रहते हैं ॥ ३१ ॥

कर्म पभाति यज्जीयो धनाशाकइमलीकृत ।

तस्य शान्तिर्यदि क्लेशाद्बहुभिर्जन्मकोटिभिः ॥ ३२ ॥

अर्थ—यह जीव धनकी आशासे मलिन होकर जो कर्म साधता है उस कर्मकी शान्ति
बहुत ही कठिन होती है और बड़े कष्टसे होती है क्योंकि, एक जन्मका साधा हुआ कर्म
अनेक जन्मोंमें क्लेश भोगनेपर ही छूटता है ॥ ३२ ॥

सर्वसंगविनिर्मुक्तं सवृताक्षं स्थिराशय ।

धत्ते ध्यानधुरा धीरं सयमी धीरवर्णिता ॥ ३३ ॥

॥—समस्त परिग्रहोंसे तो रहित हो और इन्द्रियोंको संयत रूप करनेवाला हो ऐसा
सयमी मुनि ही धीवर्धमान भगवानकी वही हुई ध्यानकी धुराको धारण करण
क्योंकि ऐसा हुए बिना ध्यानी सिद्धि नहीं होती ॥ ३३ ॥

यस्यवत्स्यते ।

एषिन्मुनिः ॥ ३४ ॥

हो वही निराश्रयताका (निरुद्ध
होनेपर वह मुनि परतप्त स्वरूप
आशाहित होनेपर निर

अर्थ—श्रीमज्जिनेन्द्रमगवानके परमागम समस्त परिग्रहोंका त्याग ही महावन है। उसको जो कोई अन्यथा कहता है वह नीच है तथा अपना और दूसरोंका घातक है ॥ २२ ॥

यमप्रशमज राज्य तपःश्रुतपरिग्रह ।

योगिनोऽपि विमुञ्चन्ति विसृजेतालपीडिताः ॥ २३ ॥

अर्थ—जो धनरूपी पिशाचसे पीडित है ऐसे योगी मुनि भी यम, निषम व क माचोंसे उत्तम राज्यको तथा तप और शास्त्रत्याग्यादिके ग्रहणको छोड़ देते हैं ॥ २३ ॥

पुण्यानुष्ठानजातेषु निःशेषाभीष्टसिद्धिषु ।

कुर्यान्नि नियत पुसा प्रत्यूह धनसंग्रहा ॥ २४ ॥

अर्थ—धनका संग्रह पुरुषोंके पुण्यकार्योंसे उत्पन्न हुई समस्त मनोवांछितही दोष निवृत्तिमें सिद्ध करता है ॥ २४ ॥

अत्यरक्तमगसन्तानो मोक्षमात्मानमुग्रतः ।

व्यासपि न जानाति स्व धनैः कर्मबन्धनैः ॥ २५ ॥

अर्थ—नहिं तजी है परिग्रही बाग्या जिसने ऐसा पुरा अपनोंको मुक्त करेके उद्योग है, पात्र अग्रा आत्मा परिग्रहों कारण कर्मके दुर्ग्रन्थात्में बँधता है तो भी उ नहिं जानता। क्योंकि, परिग्रहलोभ प्राय अधीन समा होतो है ॥ २५ ॥

अपि सुपुत्रस्यजेत्काम स्थिरत्वं वा सुराचलः ।

न तुन नगमर्कणां मुनि स्यात्समृद्धतेन्द्रिय ॥ २६ ॥

अर्थ—कदाचित् सुपुत्र तो भगवान् प्रसाद छोड़दे और सुमेधात स्थिरता (२६ ॥ २६ ॥) के लिये सम्यक् है, पात्र परिग्रहहितमुनि कदापि तितेन्द्रिय नहिं हो सकता ॥ २६ ॥

काश्यान्पि य य मद्भान्परित्यक्तुमनीश्वरः ।

न श्लाघ कर्मणा मेन्य कथमग्रे हनिष्यति ॥ २७ ॥

अर्थ—जो पण्य कर्मपर परिग्रहोंका छोड़ने अगम्य है वह नमुग्य (नामदया २७ ॥ २७ ॥) के लिये नहिं जानता ॥ २७ ॥

स्मरमोर्गाद्वर्माक रागाणरिनिषेवनं ।

व्रीहान्पदमविशानां सुधैर्विशं प्रकीर्तितम् ॥ २८ ॥

अर्थ—जो नहिं (२८ ॥ २८ ॥) धनको कामरूपी राईकी बाँधी तथा २८ ॥ २८ ॥) का धन व्रीहान्पदम विना कदापि व्यापक्य कर्त है ॥ २८ ॥

प्रत्यक्षं धनत्रयान् निमग्नो गुणवानपि ।

प्राप्नोति धनं सिद्धं दोषघ्नी कथमग्रे ॥ २९ ॥

अर्थ—थोड़ेसे भी धनरूपी कीचड़ संवातर्न समा हुआ गुणवान् पुरुष भी इस जगत् में लम्बा लम्बा राशि दोबोसे कलित होता है । भावार्थ—थोड़ेसे भी धनसे घालिमा लगती है ॥ २९ ॥

सन्पस्तसर्पसगेभ्यो गुरुभ्योऽप्यतिशयते ।

धनिभिर्धनरक्षार्थं रात्रावपि न सुष्यते ॥ ३० ॥

अर्थ—धनाढ्य पुरुष समस्त परिग्रहके त्यागनेवाले अपने गुरुसे भी शकायुक्त रहता है तथा धनी रक्षाके लिये रात्रिको सोता भी नहीं । भावार्थ—कोई मेरा धन न ले जाय ऐसी रात्रि उसे निरंतर रहती है ॥ ३० ॥

सुनस्वजनभूपात् दुष्टचौरारिविद्वरात् ।

यन्धुमित्रकलत्रेभ्यो धनिभिः शङ्कयते भृश ॥ ३१ ॥

अर्थ—जो धनवान् होने है वे पुत्र, स्वजन, राजा, दुष्ट, चौर, बरी, यन्धु, स्त्री, मित्र अपना परपक्व आदिसे निरंतर शङ्कित रहते हैं ॥ ३१ ॥

कर्म घ्नान्ति यज्जीघो घनाशाकश्मलीकृत ।

तस्य शान्तिर्यदि क्लेशाद्बहुभिर्जन्मकोटिभिः ॥ ३२ ॥

अर्थ—यह जीव धनकी आशासे मलिन होकर जो कर्म बाधता है उस कर्मकी शान्ति बहुत ही कठिन जन्मसे और बड़े बड़े होती है क्योंकि, एक जन्मका बाधा हुआ कर्म अनेक जन्मों में ऐसा भोगनेपर ही छूटता है ॥ ३२ ॥

सर्पसगविनिर्मुक्तः सपृताक्षः सिराशयः ।

धत्ते ध्यानधुरा धीरः सयमी धीरवर्णिता ॥ ३३ ॥

—समस्त परिग्रहोंसे तो रहित हो और इन्द्रियोंको सरूप करनेवाला हो ऐसा सयमी मुनि ही धीरर्षिमान भगवानकी कही हुई ध्यानकी धुराको धारण करत क्योंकि ऐसा हुए बिना ध्यानकी निद्रि नहीं होती ॥ ३३ ॥

सगपङ्कात्समुत्तीर्णो निराशयमवलम्बते ।

ततो नात्र गम्यते दुःखं पारतक्यैः कचिन्मुनिः ॥ ३४ ॥

—जो मुनि परिग्रहरूपी बद्धमसे निकल गया हो वही निराशताका (निगृह अवलम्बन कर सकता है और उस निराशताके होनेपर वह मुनि परतब स्वरूप इन्द्रियों नहीं घेरा वा दबाया जाता सो दीव ही है, आश्वरहित होनेपर फिर का दुःख क्यों होय ? ॥ ३४ ॥

विजने जनसर्काणो सुस्थिते दुःस्थितेऽपि वा ।

सर्वप्राप्रतिषेद्धः स्यात्सयमी सगवर्जितः ॥ ३५ ॥

तो धीन है तथा समस्त पापोंका मूल है और नरकनगरकी धजा है । तो ऐसे अनर्थकागि धनको छोड़कर संतोषको अंगीकार कर, जिसमें सन्तारका फल बढ़ता है ॥ ४० ॥

तार्क्ष्यविधीकृतम् ।

एनं किं न धनप्रसक्तमनसा नामादि हिंसादिना

कस्तत्पार्जनरक्षणक्षयकृतेर्नादाति दुःस्वान्तैः ।

तत्प्रागेव विचार्य धर्जय धर व्यामूढ वित्तस्पृहा

येनैकास्पदता न यासि विषयै पापस्य मापस्य च ॥ ४१ ॥

अर्थ—हे व्यामूढ आत्मन् ! जिसका मन धनमें लगीन है उन्होंने क्या रिगादिक कार्योंसे पापार्जन नहीं किया ? तथा उस धनके उपाजन, रक्षा वा व्यय करनेमें दुःस्वप्नी अग्निसे कौन नहीं जला ? इस कारण पहिले ही विचार कर इस धनकी रक्षाको (इच्छाको) छोड़, जिससे तू नियमोंसहित पापसापरी एवताको प्राप्त न हो । अथवा नियमों और पापतापोंका संगी न हो ॥ ४१ ॥

पुनश्च ।

एव तावद्दृष्टमेव विभय रक्षेयमेव तत

स्तद्वृद्धिं गमयेयमेवमनिश भुञ्जीय वैष पुनः ।

द्रव्याशारसकृद्भ्रमानस भृषा नात्मानमुत्पदपसि

कुक्षरत्नूरकृतान्तदन्तपटलीपद्मान्तरालस्थितम् ॥ ४२ ॥

अर्थ—हे आत्मन् ! धनकी आशारूपी रमते मन एक जगहमें तू ऐसा विचरता है कि—‘प्रथम तो मैं धनोपार्जन कर सम्पदाको प्राप्त होऊंगा, फिर ऐसे उमरमें रक्षा करूँगा, इस प्रकार उसकी वृद्धि करूँगा तथा अमुक प्रकारसे उमरको भोग कर व्यय करूँगा’ इत्यादि विचार करता रहता है, परन्तु बोधावधान इसके दोनोंही दोषों से तू अपनी दृष्टि वीचमें अपनेकी भाया हुआ नहीं देखता, तो यह तेरा बड़ा अज्ञान है ॥ ४२ ॥

इसप्रकार परिभ्रमणा महाप्रसक्तके बर्जित परिभ्रम दोष बता सिद्धे—

वेदा ।

सर्वपापको मूल यह, ब्रह्म परिभ्रम ज्ञानि ।

स्वामी तो मुनि ध्याजमें, धिरता पाई ज्ञानि ॥ ११ ॥

इति श्रीज्ञानार्णवे योगप्रदीपधिकारे शुभप्रदायाध्यायसिद्धिरे वेदा प्रवक्तव्यम् ॥ ११ ॥

अर्थ—जो परिग्रहणित मंगली है तो पाते तो निरा नाम रहो, पाते बमतान र पाते मुगसे रहो, चाहे दु मंग रहो, उमको कभी भी प्रतिपद्धा नहीं है अपात् सत्र जगह सम्बन्धरहित निर्मोही रहता है ॥ ३५ ॥

दुःखमेव धन-पालत्रिपत्रिष्वस्तनेनमां ।

अर्जने रक्षणे नाशे पुंमां तस्य परिक्षयं ॥ ३६ ॥

अर्थ—धनरूपी मर्षके निम्ने जिम्मा तित त्रिगण गया है उन पुरुषां धनोर्ग-रक्षा करनेम अपना नाश होने या व्यय (नष्ट) करनेम सत्र दु रा ही होता है ॥ ३६ ॥

स्वजातीयैरपि प्राणी मन्गोऽभिद्रुयन्ते धनी ।

यथात्र सामिपं पक्षी पक्षिभिर्भक्ष्यमण्डलै ॥ ३७ ॥

अर्थ—जिमप्रकार किसी पक्षीके पास मामरा सड़ हो तो वह अन्यान्य मामरभी पक्षी से पीडित वा दु खित किया जाता है, उसी प्रकार धनादय पुरुष भी अपनी जतिन लोंसे दु खित वा पीडित निया जाता है ॥ ३७ ॥

आरम्भो जन्तुघातश्च कषायाश्च परिग्रहात् ।

जायन्तेऽत्र ततः पात प्राणिना श्वभ्रसागरे ॥ ३८ ॥

अर्थ—जीवोंके परिग्रहसे इस लोकमें तौ आरम्भ होता है, हिंसा होती है, जे कषाय होते हैं उससे फिर नरकोंमें पतन होता है ॥ ३८ ॥

न स्याद्द्व्यातु प्रवृत्तस्य चेत् स्वप्नेऽपि निश्चल ।

मुने परिग्रहग्राहैर्भियमानमनेकधा ॥ ३९ ॥

अर्थ—जिस मुनिका चित्त परिग्रहरूपी पिशाचोंसे अनेक प्रकार पीडित है उसका चित्त ध्यान करते समय कदापि स्वप्ने भी स्थिर (निश्चल) नहि रह सकता ॥ ३९ ॥

माळिनी ।

सकलविषयबीज सर्वसावधमूल

नरकनगरकेतु वित्तजात विहाय ।

अनुसर मुनिवृन्दानन्दि सन्तोपराज्य—

मभिलपसि यदि त्व जन्मबन्धव्यपायम् ॥ ४० ॥

अर्थ—अब आचार्य महाराज उपदेश करते हैं कि हे आत्मन् ! यदि तू ससारके बंधन नाश करना चाहता है तो धनने समूहको छोड़कर मुनियोंके समूहको आद देनेवाला सन्तोपरूपी राज्यको अगीकार कर । क्योंकि, धनका समूह समस्त इन्द्रियोंके विषय

तो धीज है तथा समस्त पापोंका मूल है और नरकागरी धना है । सो ऐसे अनर्थकारी धनको छोड़कर सतोषको अंगीकार कर, जिससे समारका फट कटता है ॥ ४० ॥

साधुसुखविभीषितम् ।

एनं किं न धनप्रसक्तमनसा नासादि हिंसादिना

कस्तस्यार्जनरक्षणक्षयकृतैर्नादादि दुःखानलै ।

तत्प्रागेव विचार्य धर्जय धर ध्यामूढ वित्तस्पृहा

येनैकास्पदता न यासि विषयैः पापस्य तापस्य च ॥ ४१ ॥

अर्थ—हे ध्यामूढ आत्मन् । जिसका मन धनमें लव्धनीय है उठोने क्या हिंसादिक कार्यसे पापार्जन नहीं किया ? तथा उस धनके उपार्जन, रक्षा वा व्यय करनेसे दुःख रूपी अग्निसे कौन नहीं जला । इस कारण पहिले ही विचार कर इस धनकी स्पृहाको (इच्छाको) छोड़, जिससे तू निरदोषहित पापतापकी एकताको प्राप्त न हो । अथात् विषयों और पापतापोंका साथी न हो ॥ ४१ ॥

पुनश्च ।

एव तावद्दृग् लभेय विभवे रक्षेयमेव तत्त

स्तद्वृद्धिं गमयेयमेवमनिश भुञ्जीय चैव पुन ।

द्रव्याशारसरुद्धमानस भृश नात्मानमुत्पश्यति

क्रुद्धयत्क्रूरकृतान्नदन्तपटलीयघ्नान्तरालस्थितम् ॥ ४२ ॥

अर्थ—हे आत्मन् ! धनकी आहाररूपी समये मन रक्क जानेसे तू ऐसा विचारता है कि—‘प्रथम तो मैं धनोपार्जन कर सम्पदाको प्राप्त होऊँगा, फिर ऐसे उमकी रक्षा करूँगा, इस प्रकार उसकी वृद्धि करूँगा तथा अनुकूल प्रकारसे उसको भोग कर व्यय करूँगा’ इत्यादि विचार करता रहता है, परन्तु जोधायमान धनके दातोंकी दोनो पक्षिरूपी पक्षीके बीचमें अपनेको आया हुआ नहीं देखता, सो यह तेरा बड़ा अज्ञान है ॥ ४२ ॥

इसप्रकार परिग्रहत्याग महान्तके बन्धनों परिमह दोष वर्तन किये—

रोहा ।

सर्वपापको मूल यह, ग्रहण परिग्रह जानि ।

स्थाने सो मुनि ध्यानमें, धिरता पाये जानि ॥ १६ ॥

इति श्रीज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे शुभचन्द्राचार्यविरचिते षोडश प्रकरणम् ॥ १६ ॥

अथ सप्तदश प्रकरणम् ।

आगे हम परिग्रहके वर्णनम आशाके निषेधका वर्णन करते हैं,—

८ वाह्यान्तर्भूतनिःशेषसगसन्याससिद्धये ।

आशा सङ्घिर्निराकृत्य नैराश्यमवलम्ब्यते ॥ १ ॥

अर्थ—जो सत्पुरुष है वे वाह्यान्त्यान्तरके समस्त परिग्रहोंके त्यागकी सिद्धिके लिये प्रथम ही आशाको छोड़कर निराशताका आलम्बन करते हैं क्योंकि, आशाके छूटनेसे ही परिग्रहका त्याग होता है ॥ १ ॥

११ याचयाचच्छरीराशा घनाशा वा विसर्पति ।

तावत्तावन्मनुष्याणा मोहग्रन्थिर्दृढीभवेत् ॥ २ ॥

अर्थ—मनुष्योंके जैसे जैसे शरीर तथा धनमें आशा फैलती है तैसे तैसे उनके मोहकमयी गांठ बढ़ जाती है ॥ २ ॥

अनिरुद्धा सती शश्वदाशा विन्व प्रसर्पति ।

ततो निषद्धमूलाऽसौ पुनश्छेत्तु न शक्यते ॥ ३ ॥

अर्थ—इस आशाको रोकना नहीं जाय तो यह निरन्तर समस्त लोभपयत्त निम्नरी रहती है और उससे हमका मूल बढ़ होता जाता है फिर हमका कान्ता अशक्त हो जाता है । इसकारण इसका रोकना श्रेष्ठ है ॥ ३ ॥

यस्याशा शान्तिमायाता तथा सिद्ध समीक्षितम् ।

अन्यथा भयसम्भूतो दुःखमार्थिर्दुरुत्तरः ॥ ४ ॥

अर्थ—यदि आशा शान्तिको प्राप्त हो जाती है तो फिर उसी समय सब मोहोंकी तर्की मिट्टि होजाती है, यदि शांत नहीं हुई तो फिर समारम्भ उत्पन्न हुआ दुःखरूपी मन्द दुस्तर हो जाता है । भावार्थ—फिर सत्तारका दुःख नहीं मिटैगा ॥ ४ ॥

यमप्रशमराज्यस्य महोपाकोदयस्य च ।

विवेकस्यापि लोकानामाशौच प्रतिषेधिका ॥ ५ ॥

अर्थ—लोगोंके यम, नियम या प्रशम भावोंके राज्यका तथा सम्यग्शास्त्री मृत्युके उदयका प्रतिषेध (निषेध) करनेवाली और विवेकको रोकनेवाली एक मात्र यह आशा ही है । अन्त्याके नष्ट होनेसे ही सब मिट्टि है ॥ ५ ॥

आशामपि न सर्पन्ती य भ्रमण रक्षितुं क्षमः ।

तस्यापयवर्गमिद्वयं कृथा मन्त्रे परिश्रमम् ॥ ६ ॥

अर्थ—आगत्य महाराज बहने है वि—जो पुरुष बन्नी हुई आशाको क्षणभर भी रोबनेसे अगमर्थ है उसका मोक्षही निद्रिके लिये परिधम करना प्य है, ऐसा न मानता है ॥ ६ ॥

आशीष मदिराऽक्षणांमाशीष विषमञ्जरी ।

आद्यामृतानि दृग्गानि प्रभयन्तीह देहिनाम् ॥ ७ ॥

अर्थ—संगीती कीबोह आगा ही तो इन्द्रियोंको उन्मत्त करनेवाली मदिरा है और आगा ही विषको घननेवाली मेजरी है तथा समारम जितने दु ख होते हैं उनही एकमात्र यह आशा ही मृतवाण है ॥ ७ ॥

त एव सुखिनो धीरा पैराक्षाराक्षसी कृता ।

महाप्यसनसर्काण्योत्तीर्णं क्लेशसागर ॥ ८ ॥

अर्थ—जिन पुरुषोंने आगारूपी राक्षसीको नष्ट दिया वे ही पुरुष धीर, वीर और सुखी है तथा वे ही अनेक आग या कष्टोंक मरे हुए दु खरूपी संसारसमुद्रसे पार हुए है ॥ ८ ॥

पेयामाशा कुतस्तेषा मनःशुद्धि शरीरिणाम् ।

अतो नैराश्यमालम्ब्य शिषीभूता मनीषिण ॥ ९ ॥

अर्थ—जिन पुरुषोंके आशा लगी है उनके मनकी शुद्धि कैसे हो, इसकारण जो बुद्धिमान् पुरुष हैं उन्होंने निरागताका अलम्बन करके ही अपना कल्याण साधन किया है। भाषार्थ—जो जो निराश हुए उन्होंने ही अपना कल्याण किया है ॥ ९ ॥

मर्याणा यो निराकृत्य नैराश्यमवलम्बते ।

तस्य क्वचिदपि ग्यान्त समपट्टैर्न लिप्यते ॥ १० ॥

अर्थ—जो पुरुष समस्त आगाओंका निराकरण करके निराशाका अलम्बन करता है, उसका मन किसी कालमें भी परिग्रहरूपी कदमसे नहि लिपता। भाषार्थ—जो आशा छोड़ उसको परिग्रहरूपी मल काहेको लगे ? ॥ १० ॥

तस्य सत्यं शुभं वृत्त विवेकस्तत्त्वनिश्चय ।

निर्ममस्य च यस्याशापिशाची निधन गता ॥ ११ ॥

अर्थ—जिम पुरुषने आगारूपी पिशाची नष्टताको प्राप्त हुई उसका ही शास्त्राध्यय करना, धारित्र पालना, विवेक, सत्त्वोंका निश्चय और निममता आदि सत्याय (सच्चे) है वा साधक है ॥ ११ ॥

यावदाज्ञानलक्षिते जाज्वलीति विशङ्कल ।

तावत्तव महादु खदाहयान्ति कुतस्तनी ॥ १२ ॥

अर्थ—हे आमन्! जयन्त तं तित्तं आगच्छी अग्निं यमपायं निन्दन् प्रच्छ
होरहा हे तयन्त तं मगदु गच्छी गच्छी गच्छि कर्हि हो ॥ १२ ॥

निराशनासुधापुर्ण्यं येन परित्रितम् ।

तमालिङ्गनि मोक्कण्ड शमश्रीर्षजमौहदा ॥ १३ ॥

अर्थ—जिमका तित्त निगगाच्छी अमनके प्रगागेमे परित्र हो मुहा है, या दु
पको प्रीतिम क्षीया हुइ उपामभाच्छी लक्ष्मी चर्यापूर आग्निन कण है ।
भावार्थ—आशामे मने हुण तित्तं उपामभा नहि आ मन्ने ॥ १३ ॥

न मज्जति मनो येषामाशांभमि दुग्धारे ।

नेयामेय जगद्यस्मिन्फलितो ज्ञानपादप ॥ १४ ॥

अर्थ—इम जगतम जिआ मन दुग्ध आगच्छी जलम नहि इतना जलक है
ज्ञानरूपी वृक्ष फलता है । भावार्थ—आशारूपी दुग्ध जलम ज्ञानरूपी वृक्ष गल जा
है, इसकारण फल नहि लगता ॥ १४ ॥

शक्रोऽपि न सुग्रीं व्यग स्यादाज्ञानलदीपित ।

विध्याप्याज्ञानलज्वाला श्रयन्ति यमिन शिवम् ॥ १५ ॥

अर्थ—स्वर्गरा इन्द्र भी आशारूपी अग्निमे जलता हुआ सुखी नहीं है, और सुनि
तो आशारूपी अग्निकी ज्वालाको उझार मोभरा आश्रय करलेते हैं । अथ सुनि
निराशताका अवलम्बन करके मर्या मुखी हो जाते हैं ॥ १५ ॥

चरस्थिरार्जजातेषु यस्याशा प्रलय गता ।

किं किं न तस्य लोकेऽस्मिन्मन्ये सिद्ध समीहित ॥ १६ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि—जिम पुष्पकी चराचर (चित् अचित्) पद्म
योंम आगा नष्ट हो गई है, उसके इमलोकम क्या क्या मनोवाञ्छित सिद्ध नहि हुए, अथ
सर्व मनोवाञ्छित सिद्ध हुए, ऐसा मैं मानता हूँ ॥ १६ ॥

चापल त्यजति स्वान्त विक्रियाश्चाक्षदन्तिन ।

प्रशाम्यति कपायाग्निरैराश्याधिष्ठितात्मनाम् ॥ १७ ॥

अर्थ—जिनकी आत्माने निराशताको स्वीकृत किया है, उनका मन तो चरलनसी
छोड़ देता है और इन्द्रियरूपी हमी निययविरारताको छोड़ देते हैं तथा कपाय
अग्नि शांत हो जाती है ॥ १७ ॥

किमत्र बहुनोक्तेन यस्याशा निघन गता ।

स ण्व महता सेन्यो लोकद्वयविशुद्धये ॥ १८ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि बहुत कहातक कहें, इतना ही बहुत है

मिदकी आगा नष्ट हो गई वही पुरुष उभयलोकी की विगुदनाके लिये महापुरुषके द्वारा सेवा करनेयोग्य है । भाषार्थ—आगा रहित मुनिको घट २ सपुत्र सत्ता करते हैं ॥ १८ ॥

आदा जन्मोमपद्माय शिष्यायाशाविपर्यय ।

इति मन्व्यरसमालोक्य यद्वित नत्समाधर ॥ १९ ॥

अर्थ—आगा है सो संसारकी बदमम पयानेवाली है और उसका विपर्यय अर्थात् आगाका अन्त मोक्षका करनेवाला है । अब नू हा दोनोंका भलेप्रकार निवार कर, निमम अर्थात् हित समते उनीका आपरण कर । या उपदेश है ॥ १९ ॥

न व्याटिसितपिसाना स्पष्टसिद्धि कबिसृणाम् ।

कथं प्रभीणविक्षेपा भयन्त्याशाग्रक्षता ॥ २० ॥

अर्थ—जो आगाकी पिरावने का अर्थात् पीडित है वे विभिन्नचित्त है । सो ज्ञाका पित विभित है उन मुण्डोकी इष्टमिद्धि करी जी नहीं है । उनरी विभिन्नता कम यह होनी सो महि कहा जा सकता ॥ २० ॥

अथ इम प्रवरणको पूरा करते हुए करते हैं,—

वाग्मी ।

विदपयिपिनपीधीसकटे पर्यटन्तो

प्रटिनि यटिल्लुद्धि कापि लब्धायकाशा ।

अपि निगमिनोन्द्रानाकुल्य नयन्ती

उलपनि वल क वा नेषमाशाविशाची ॥ २१ ॥

अर्थ—विदपकी बनकी गलियोंमें फिरती हुई, लम्बाळ घन्ती बन्ती छिपती, जहा तदा स्वतन्त्र (बेरोकटोक) विवरनेवाली सयनी मुनियोंको आपुलित करनेवाली यद् आशाकी पिशाची विम २ को महि उलती ? । अर्थात् सबको उलती फिरती है ॥ २१ ॥

इसप्रकार आशापिशाचीका वणन किया—

हाहा ।

आदा माता कमकी, आत्मसो अनिकुल ।

जग घट करने यह, प्यान न गियसुखमूड ॥ १७ ॥

इति श्रीज्ञानार्णवे गुभर द्वाचायविरचिते योग्यनीपाधिसारे आगापिशाचीवणन नाम सप्तम प्रवरणम् ॥ १७ ॥

अथाष्टादश प्रकरणम् ।

उक्तप्रकारसे सम्यक्चारित्र्यके वर्णन पांच महान्तोंका वर्णन किया गया अब महान् गुणका अर्थ कहकर इनके दृढ करनेवाली पचीस भावनाओंका तथा पात्र समिति, व क गुप्तियोंको सन्निपतासे कहकर रत्नत्रयके प्रकरणको पूरण करेंगे, अतएव प्रथम हा महान् शब्दका अभ्यर्थ कहते हैं,—

उपेन्द्रवज्रा ।

महत्त्वहेतोर्युणिभिः श्रितानि महान्ति मत्वा त्रिदशैर्नुतानि ।

महासुखज्ञाननियन्धनानि महाव्रतानीति सता मतानि ॥ १ ॥

अर्थ—प्रथम तो ये महान्त महत्ताके कारण हैं, इस कारण इनका गुणी पुरुषों आश्रय किया है अथात् धारण करते हैं । दूसरे—ये स्वयं महान् हैं इसकारण देवताओंने भी इहे नमस्कार किया है । तीसरे—महान् अतीन्द्रिय सुख और ज्ञानके कारण हैं इसकारण ही सत्पुरुषोंने इनको महान्त माना है ॥ १ ॥

इह च प्रथमान्तरे ।

आय ।

“आचरितानि महद्भिर्यच्च महान्त प्रसाधयन्त्यर्थम् ।

स्यपमपि महान्ति यस्मान्महाव्रतानीत्यतस्तानि ॥ १ ॥

अर्थ—अन्य प्रथम भी कहा है कि इन पांच महामुक्तियों महापुरुषोंने आपस किया है, तथा महान् पदार्थ कहिये मोक्षको साधते हैं, तथा स्वयं भी बड़े हैं अपर निर्दोष हैं इसकारण इनका महाव्रत ऐसा नाम कहा गया है ॥ १ ॥”

महाव्रतविशुद्धयर्थं भायना पञ्चविंशति ।

परमासाद्य निर्वेदपदवीं भव्य भाधय ॥ २ ॥

अर्थ—आचार्यमहाराज कहते हैं कि—हे भव्य ! त पांच महान्त बड़े उनकी पुत्र ताके लिये (निमलनाश लिये) पचीस भावना कही हैं, उक्त अंगीकार करके वेगमदारी भावना कर ॥ २ ॥

इन २५ भावनाओंके नाम सत्त्वार्थगूत्रादिकी टीकामें प्रसिद्ध हैं, इसकारण यहाँ नहीं बड़े ॥ अब पात्र समितिवर्णन कहते हैं,—

इत्यां मापेयणादाननिक्षेपोऽत्ममर्गसञ्जका ।

महिं समितय पञ्च निर्दिष्टा मयतात्ममिति ॥ ३ ॥

अर्थ—संनमनमयित है आया त्रिवका जेम सत्पुरुषोंने इत्या, माया, ज्यणा, भावना निमित्त और उमग दे है नाम त्रिवके जेगी पांच समितिय कही हैं ॥ ३ ॥

धाकापचित्तजानेकसावगप्रतिषेधक ।

त्रिपोगरोधन वा स्थाप्यत्तदुसिन्नय मतम् ॥ ४ ॥

अर्थ—मन वचन वायसे उत्पन्न अनेक पापमरित प्रवृत्तियोंका प्रतिषेध करनेवाला प्रवर्तन, अथवा तीनों योग (मनवचनकायकी त्रिया) का रोकना ये तीन गुणियाँ कही गई हैं ॥ ४ ॥

अथ इन पाप मनिनि और तीन गुणियोंका भिन्न २ स्वरूप कहने हैं—

४ सिद्धक्षेत्राणि सिद्धानि जिनयिम्भानि चन्द्रितुम् ।

गुर्याचार्यतपोवृद्धान्सेवितुं प्रजतोऽथवा ॥ ५ ॥

११ दिवा सूर्यकरैः स्पष्टं भागं लोकानिवाहितम् ।

दयार्द्रस्यादिरक्षाथ शनैः सञ्चयतो मुनेः ॥ ६ ॥

१२ प्रागेवाल्लोप्य यत्नेन युगमात्रातिरेक्षिण ।

प्रमादरहितस्यास्य सन्नितीर्या प्रकीर्तिता ॥ ७ ॥

अर्थ—जो मुनि प्रसिद्ध निरक्षेत्रोंको तथा जिनप्रतिमाओंको बन्धन रूपे तथा गुरु, आचार्य या जो तपसे बड़े हों उनकी सेवा करनेके लिये गमन करता हो उसके ५ ॥ तथा दिनमें सूर्यकी किरणोंसे स्पष्ट दीखनेवाले, बहुत लोग जिनमें गमन करने हों ऐसे मागने दयासे आद्रक्षित होकर जीवोंकी रक्षा करता हुआ धीरे-धीरे गमन करे उस मुनि ६ ॥ तथा चलनेसे परिते ही निम्ने दुः (जूड़े) परिमाण (चार हाथ) मापको भजे प्रकार देखलिया हो और प्रमादरहित हो ऐसे मुनि ७ ॥

४ धूर्तकामुकप्रव्याधयोरचार्याकसेविता ।

शङ्कासङ्केतपापादगत्याज्या भाषा मनीषिभिः ॥ ८ ॥

१३ दशदोषयिनिर्मुक्ता मृदोक्ता साधुसम्मताम् ।

गदतोऽस्य मुनेर्भाषा स्याद्भाषासमिति परा ॥ ९ ॥

अर्थ—धूर्त (मायावी), बामी, नाममभा, धीर, नालिन्दमनी चरित्रानि चरित्र में लाई हुई भाषा तथा संदेह उपनानेवाली, व सामान्य हो ऐसी भाषा बुद्धिमत् लोगों द्वारा पाहिये ॥ ८ ॥ तथा दशदोषरहित मृदानुसार साधुपुरवर्ग के मान्य हो ऐसी भाषाको करनेवाले मुनि ९ ॥

१४ कर्कशा परया कट्टी निमुरा परबोपिनी ।

उप्याहुरा मध्यकृशाऽनिमानिनी भयवती ॥ १० ॥

११ भूतहिसाकरी चेति दुर्मापा दशधा त्यजेत् ।
हित मितमसदिग्ध स्याद्भाषासमितिर्मुने ॥ २ ॥

अर्थ—वर्कश, पम्प, कटु, निष्ठुर, परकोपी, छेद्यासुरा, मयकुरा, अतिमानिनी, भयकरी, और जीर्णोष्णी हिमा करानेवाली, ये दश दुर्मापा हैं इनको छोटे तथा हितकारी, मयात्माहित असदिग्ध वचन बोले उमी मुनिके भाषाममिति होती है ॥ ११२ ॥

७ उद्गमोत्पादमज्ञैस्मैर्धृमाद्वारादिगैस्तथा ।
दोषैर्मलैर्विनिर्मुक्त विघ्नशङ्कादिवर्जितम् ॥ १० ॥

११ शुद्ध काले परैर्दत्तमनुदिष्टमयाचितम् ।
अदतोऽन्न मुनेज्या प्यणासमिति परा ॥ ११ ॥

अर्थ—जो उद्गमदोष १६, उत्पादनदोष १६, प्यणादोष १०, धुआ अगार प्रमाण तयोजन ये ४ चार मिलाकर ४६ दोषरहित तथा मामादिक १४ मल्लोप और अन्त राय शान्तिसे रहित, शुद्ध, फालग परने द्वारा दिया हुआ, निरा उद्देश्य हुआ और याचना रहित आहार करे उस मुनिके उत्तम प्यणा समिति कही गई है ॥ १० ॥ ११ ॥ १२ ॥
पैपोन्निर्मा स्वल्प (आचारवृत्ति) आन्तिक ग्रन्थोमे जानना ॥

१२ शय्यासनोपधानानि शान्त्रोपकरणानि च ।
पूर्वे सम्यक्समालोच्य प्रतिलिख्य पुन पुन ॥ १२ ॥

११ गृह्यतोऽस्य प्रयत्नेन क्षिपतो वा घरातले ।
भयत्यविकला साधोरादानसमिति स्फुट ॥ १३ ॥

अर्थ—जो मुनि शय्या आसन, उपधान, शय्य और उपकरण आदिको पहिले भले प्रकार देखकर फिर उठकर अथवा स्वयं उमरे तथा घटे यत्रसे ग्रहण करते हुए तत्पश्चात् पृथिवीपर धरने हुए साधुके अविफल (पूर्ण) आठार निषेपणममिति स्पष्टतया पढ़ती है ॥ १२ ॥ १३ ॥

१३ विजन्तुकधरापृष्ठे मय्यशेषममलादिकम् ।
क्षिपतोऽग्निप्रयत्नेन व्युत्सर्गसमितिर्भवेत् ॥ १४ ॥

अर्थ—जीरहित पृथिवीपर मल, मूत्र शेषान्त्रिको घड़े यत्र (प्रमादरहिततया) भक्षण करनेवाले मुनिके उत्सर्गममिति होती है ॥ १४ ॥

१४ विहाय सर्वमकल्पान् रागदेषादलम्बितान् ।
स्वार्थान् कुरुते चेत् समन्ये सुप्रतिष्ठितम् ॥ १५ ॥

१५ मिद्वान्तमृत्रविषामे शश्वत्प्रेरयतोऽपवा ।
भयत्यविकला नाम मनोऽनुमिर्मनीषिण ॥ १६ ॥

अर्थ—रागद्वेषमे अलक्षित ममत्वं संनृत्पाको छोड़ कर जो गुण अपने मनको स्पर्धन करता है और ममताभावोंम स्थिर करता है तथा—सिद्धान्तकं सुप्रकी रपताम निरन्तर प्रेरणारूप करता है उस पुद्दिमान गुणकं सम्पूर्ण मनोगुप्ती होती है ॥ १५ ॥ १६ ॥

त भाधुमपृतयागृत्तैर्मानारूढस्य वा मुने ।

स्वज्ञादिपरिहारेण चागुप्तिर्यान्महामुने ॥ १७ ॥

अर्थ—भग्न प्रकार संनृत्तरूप (वग) करी है वचनोंकी प्रवृत्ति जिसने ऐसे मुनिके तथा ममत्वादिवा त्याग कर मानारूढ होनेवाले महामुनिने वचागुप्ति होती है ॥ १७ ॥

न ग्मिरीकृतशरीरस्य पर्यङ्कसंस्थितस्य वा ।

परीपद्मपातेऽपि कायगुप्तिर्भता मुने ॥ १८ ॥

अर्थ—ग्निर किया है शरीर निम्ने तथा परिपद्म आज्ञाय तो भी अपन पदमासनसे हा स्थिर रहे, विनु डिगं नहीं उस मुनिक ही कायगुप्ति मानी गई है अथात् कही गई है ॥ १८ ॥

न जनन्यो यमिनायष्टौ रत्नप्रययिगुब्दिदा ।

एतामी रक्षित दोषैर्मुनिगुन्द न लिप्यते ॥ १९ ॥

अर्थ—याव तमिति और तान गुप्ति ये आगे सयमा पुरपारी रक्षा करनेवाला माता है तथा रत्नप्रयको निगुदता देवोर्गा है इनमे रक्षा किया हुआ मुनिपाका समूह दोषोंम लिप्त नहीं होता ॥ १९ ॥

अथ मम्मभूपारित्रकं वचनरो पृण करते हुए कहते हैं —

आलिनी ।

इति कनिषपयणैश्चरित विधरूप

धरणमनघमुर्ध्वेतसा शुद्धिधाम ।

अचिदितपरमार्थैर्यत्र साध्य विपक्षै

स्तदिदमनुसरन्तु ज्ञानिनः शान्तदोषा ॥ २० ॥

अर्थ—उक्त प्रकारसे वितने ही अपरोद्धारा वचन किया जो अनेकरूप निदाप चारित्र मो अतिशय उचे वित्तशालोंको तो गुदताश मरि है और नहि जाना है परमाथ मिहोने ऐसे निषिधियोंद्वारा जो असाध्य है अथात् धारण नहि किया जा सकता ऐसे इस चारित्रको शान्तदोषी ज्ञानी पुरुष धारण करो ऐसा उपन्य है ॥ २० ॥

अथ सम्पदशान-ज्ञान-चारित्र-रूप रत्नप्रयके वचन (जो अवतर हुआ उत्तरों) को पृण करते हुए कहते हैं,—

सम्पदेतत्समासाद्य त्रयं त्रिमुषनार्चितम् ।

द्रव्यक्षेत्रादिसामग्र्या भव्य सपदि मुच्यते ॥ २१ ॥

अर्थ—इस त्रिभुवनत्रयके पूजित सम्बन्धरत्नत्रयको द्रव्यक्षेत्र फल भावक्य सामग्री के अनुसार अंगीकार करके भव्य पुस्त्य गीत ही कमोमें ठूठता है। अर्थात् मुक्त होता है ॥ २१ ॥

एतत्समयसर्वम् मुक्तेश्चैतान्निवन्तनम् ।

हितमेतद्धि जीवानामेनदेयाग्रिम पदम् ॥ २२ ॥

अर्थ—यह रत्नत्रय ही निद्वान्तका सर्वम् है और यही मुक्तिका कारण है तथा यह जीवोंका हित और प्रधान पद है ॥ २२ ॥

ये याना यान्ति यास्यन्ति यमिन' पदमन्ययम् ।

समाराध्यैष ते नृन रत्नत्रयमम्बण्डितम् ॥ २३ ॥

अर्थ—निश्चयकरके इस रत्नत्रयको अस्वडित (परिपूर्ण) आराध करके ही सद्गुरु मुनि आजतक पूर्वकालमें मोष गये हैं और वर्तमानमें जाते हैं तथा भविष्यत्में जायगे ॥ २३ ॥

साक्षादिदमनासाद्य जन्मकोटिशतैरपि ।

दृश्यते न हि केनापि मुक्तिश्रीमुखपद्मजम् ॥ २४ ॥

अर्थ—इस रत्नत्रयको प्राप्त न होकर करोड़ों जन्म धारण करनेपर भी कोई मुक्ति रूपी लक्ष्मीने मुखरूपी कमलको साधना नहि देय सक्ता ॥ २४ ॥

अन अध्यात्मभाषना करने पुद्ध निश्चयनयनी प्रधानतामें रत्नत्रयका वणा करते हैं—

॥ दृग्बोधचरणान्यान् स्वमेवाध्यात्मयेदिनः ।

यतस्तन्मय एवासी शरीरी यस्तुतः स्थितः ॥ २५ ॥

अर्थ—जो अध्यात्ममें नानेराते हैं वे दर्शन, ज्ञान और धारित्र तीनोंको एक आत्मा ही कहते हैं क्योंकि परमाधदृष्टिसे देखा जाय तो यह शरीरी आत्मा उत तीनोंमें तन्मय ही है, कुछ भी दृश्य अर्थान् अय नहीं है। यद्यपि भावमानिके भेदसे तीन भेद पिये गये हैं, तथापि वास्तवमें एक ही है ॥ २५ ॥

॥ निर्णीनेऽस्मिन्मय साक्षाद्भाषणं कोऽपि मृग्यते ।

यतो रत्नत्रयस्यैव प्रसूनेरग्रिम पदम् ॥ २६ ॥

अर्थ—दम आत्माको स्वयं व्यापहीने साधना निगय करनेमें और कोई भी अन्य मार्ग पाया जाता। केवल मात्र यद् आत्मा ही रत्नत्रयका उत्पत्तिरा मुख्य पद है ॥ २६ ॥

॥ जानानि यं स्वयं स्थस्मिन्मयस्यैव गगनध्रमः ।

तदेव तस्य विज्ञानं तदृष्टा तस्य दर्शनम् ॥ २७ ॥

अर्थ—जो पुण्य अपनेमें अयोहीमें अपने विज्ञानको भ्रमादित होकर जानता है,

यही उसके विज्ञानविशिष्ट ज्ञा है और वही सम्यक्चारित्र तथा सम्यग्गुण है, अन्य कुछ भी नहीं है ॥ २७ ॥

१) स्वज्ञानादेव मुक्ति स्याज्जन्मबन्धस्ततोऽन्यथा ।

एतदेव जिनोदिष्ट सर्वस्य बन्धमोक्षयो ॥ २८ ॥

अर्थ—आत्मज्ञानसे ही मोक्ष होता है, आत्मज्ञानके बिना अन्यप्रकारसे समारका बन्ध होता है, यही जिने द्रमगवानका कराहुआ बन्ध मोक्षका सर्वस्य है ॥ २८ ॥

१) आत्मैव मम विज्ञान दृग्बृत्त धेनि निश्चय ।

मत्त सर्वेऽप्यमी भाषा पाषा सयोगलक्षणा ॥ २९ ॥

अर्थ—मेरे आत्मा ही विज्ञान है, आत्मा ही दर्शन और चारित्र है ऐसा निश्चय है । इससे अन्य सब ही पदार्थ मुझसे बाह्य और संयोगस्वरूप हैं । इसप्रकार अनुमान करनेसे रजःप्रयमे और आत्माने कुछ भी भेद नहीं रहता ॥ २९ ॥

१) अयमात्मैव सिद्धात्मा रजशक्त्याऽपेक्षया स्वयम् ।

व्यक्तीभयति सद्ज्ञानपहिनाऽत्यन्तसाधित ॥ ३० ॥

अर्थ—यह आत्मा संसारबन्धनामें भी अपनी शक्तिही अपेक्षासे सिद्धस्वरूप है और समीचीन ध्यानरूपी अभिसे अत्यन्त साधनेसे व्यक्तरूप सिद्ध होता है । अर्थात् अष्टवक्त्रका नाश होनेपर सिद्धस्वरूप व्यक्त (प्रकट) होता है ॥ ३० ॥

१) एतदेव पर तस्य ज्ञानमेतद्धि शाश्वतम् ।

अतोऽन्यो य क्षुतस्कन्ध स तदर्थ प्रपञ्चित ॥ ३१ ॥

अर्थ—यह आत्माही परम तत्त्व है और यही शाश्वत ज्ञान है । अतएव अन्य क्षुतस्कन्ध द्वादशगुण शाश्वतरूप रचना इस आत्माहीको जाननेके लिये विस्तृत हुआ है ॥ ३१ ॥

१) अपास्य कल्पनाजाल विद्वानन्दमये स्वयम् ।

य स्वरूपे लय प्राप्त स स्याद्रजःप्रयासपदम् ॥ ३२ ॥

अर्थ—जो मुनि कल्पनाके जालको दूर करके अपने चैतन्य और आनन्दमय स्वरूपमें लयको प्राप्त हो, वही निश्चय रजःप्रयका स्थान (पाप) होता है ॥ ३२ ॥

१) सुसेष्यक्षेपु जागर्ति पश्यत्यात्मानमात्मनि ।

धीतविश्वविस्वरूपोऽसौ स स्वदर्शी धुर्धर्मत ॥ ३३ ॥

अर्थ—जो मुनि इन्द्रियोंके सोने हुए लो जागता है तथा आत्माने ही आत्माको देखता है और समस्त विश्वमें रहित है वही ज्ञानेश्वरके आत्मदर्शी माना गया है ॥ ३३ ॥

१) निःशेषहेतुनिर्मुक्तममूर्त्त परमाक्षरम् ।

निष्पञ्च व्यतीताहं पश्य स्वं स्यात्मनि स्थितम् ॥ ३४ ॥

अर्थ—हे आत्मन् ! तू अपने आत्मही रहता हुआ अपनेको समस्त हेतुओं से, अमूर्ती, परम उत्कृष्ट, अप्रिनामी, निरुत्पत्तसे आर इन्द्रियोंसे रहित तथा अविनाश स्वरूप देख ॥ ३४ ॥

११ नित्यानन्दमय शुद्ध चित्स्वरूप सनातनम् ।

पठ्यात्मनि पर ज्योतिरद्वितीयमनव्ययम् ॥ ३५ ॥

अर्थ—फिर भी कहते हैं कि तू अपने आत्मही अपनेको इसप्रकार कि हूँ देख—कि—मैं नित्य आनन्दमय हूँ, शुद्ध हूँ, चैतन्यस्वरूप हूँ और सनातन हूँ, अविनाश हूँ, परमज्योति ज्ञानप्रकाशरूप हूँ, अद्वितीय हूँ और अनव्यय कल्पे व्ययविनाशी हूँ । अर्थात् पूर्णपर्यायसे व्ययसहित हूँ ॥ ३५ ॥

~ यस्या निशि जगत्सुप्त तस्या जागर्ति सयमी ।

निष्पन्न कल्पनातीत स चेत्यात्मानमात्मनि ॥ ३६ ॥

अर्थ—जिम रात्रिम जगत् सोता है उस रात्रिमे सयमी मुनि जागता है और अपने आत्माने ही अपनेको निष्पन्न, स्वयमिदं तथा कल्पतारहित जानता है । भावार्थ—अज्ञानात्मी रात्रिम सोता है और सयमी ज्ञानरूप सूर्यके उदय होनेमे जागता है ॥ ३६ ॥

११ या निशा सर्वभूतेषु तस्या जागर्ति सयमी ।

यस्या जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥ ३७ ॥

अर्थ—जो समस्त प्राणियोंमें रात्रि मानी जाती है उसमे तो सयमी जागता है और जिम रात्रिमें समस्त प्राणी जागते हैं वह अपने स्वरूपारोहण करनेवाला मुनिही रात्रि है । भावार्थ—जगत्मे जीवोंको अपने स्वरूपका प्रतिभास नहीं है इस कारण इनको नींद रहती है । इसमे सब जाग्रत होते हैं और सयमी मुनिजनोंको अपने स्वरूपका प्रतिभास है इसकारण वे इसमे जागृत हैं । और जगत्में प्राणी भूतानाम जागते हैं । यह भूत ही मुनिही रात्रि है । तात्पर्य यह कि मुनियोंके अज्ञान है ही नहीं ॥ ३७ ॥

११ यस्य हेतु न वाऽऽदेय नि ज्ञेय मुयनप्रयम् ।

उन्मील्यपि विज्ञानं तस्य ह्यन्यप्रकाशकम् ॥ ३८ ॥

अर्थ—जिम मुनिमें समस्त विभुता हेतु अथवा आदेय नहीं हैं उस मुनि का प्रकाश उन्मील्य ही है । क्योंकि प्रकाश हेतु आदेय मुक्तिमें ही लब्ध होता है निमित्तक प्रकाश ही है (अर्थ) ॥ ३८ ॥

अर्थ—उन्मील्य ही है ।

उदगन्ते मुनि किं न लेशमस्यैव सर्वज्ञाद्यर्थाभाधिरम

ये स्यान्ता परमंदिना निरतिशयस्तन्वन्ति पारिम परम् ।

त साक्षादनुभूय नित्यपरमानन्दाम्बुरारिणि पुन-

ये जन्मभ्रममुत्सृजन्ति सहसा धन्यास्तु ते दुर्लभा ॥ ३९ ॥

अर्थ—जो पुरुष अपने वचनोंसे केवल परमेश्वरी बहुत काल पयन्त लीला गुणा मुपादका विस्तार करते हैं ऐसे अन्यमती समारम क्या प्राय सख्यारहित देखनेम नहि आते ? अथात् ऐसे जीव असंख्य हैं । परन्तु जो पुरुष नित्य परमानन्दके समुद्रमें साप्मान् अनुभवगोचर करके ससारके भ्रमको तत्काल ही दूर करदेते हैं वे महाभाग्य इस पृथ्वीपर दुलभ हैं ॥ ३९ ॥

इसप्रकार रत्नत्रयका वणन किया । यह तात्पर्य ऐसा है कि जो सम्यग्दर्शन ज्ञान धारित्रको निश्चय व्यवहाररूप भलेप्रकार जानकर अगीकार करता है उसने ही मोक्ष कारण अपने स्वरूपके ध्यानकी सिद्धि होती है । अन्यमती अन्यथा अनेकप्रकारसे ध्यानका तथा ध्यानकी सामग्रीका स्वरूप स्थापन करते हैं । उनके किंचिन्मात्र लीनिय भ्रमरारसी सिद्धि कदापि न हो तो हो सकती है किन्तु मोक्षमार्ग वा मोक्षकी सिद्धि कदापि नहि हो सकती ॥

श्लोक ।

सम्यक्दर्शनं ज्ञानं यत्, शिष्यमग्न्यात्मनः ।

तीन भेदं व्यवहारते, निश्चयं भातमग्न्यात्मनः ॥

रत्नत्रयं धारेयिना, भातमग्न्यात्मनः न सारः ।

जे उर्मग्नं नरं करारो, कृथा नदं निरधारः ॥

उपपन्नः ।

अतएव सादृशं तस्य द्रव्यं परकारं नु सोढे ।

उपादेयं निरूप्य ज्ञानं अन्तरं अयरोदे ॥

वादिहं देयं विस्तारि धारि सरथा ददं करनी ।

हुहुंकी रीति अनेकं वाणि जिनकी मधि करनी ॥

नय निश्चयं अयं व्यवहारो, एवमग्न्यात्मनः व्यवहारो दे ।

एतत्तु द्रव्यदृष्टिं निश्चयं भले, विमयं निरूप्य यदं सारं दे ॥

श्लोक ।

चेतनके परिणामं निजं, दे अखण्डं भुतं भातं ।

ददं भूतं एवमग्न्यात्मनः, दोषं निनेभ्यः साधं ॥ ४० ॥

इति श्रीज्ञानाणवे योगप्रदीपाधिकारे गुणध्वजाध्यायपरिचये रत्नत्रयवर्णनं नाम

अष्टादश प्रकरणम् ॥ १८ ॥

अथ एकोनविंश प्रकरणम् ।

आगे क्रोधादिक कषाय और इन्द्रियोंके विषय चारित्र्य और ध्यानसे घातक हैं, इन कारण उनका वर्णन करते हैं । निम्नसे प्रथम ही क्रोधकषायका वर्णन करते हैं —

१ सत्सयममहाराम यमप्रशमजीवितम् ।

देहिना निर्दहत्येव क्रोधवह्निः समुत्थितः ॥ १ ॥

अर्थ—जीवोंके यम, नियम तथा प्रशम (शान्तभाव) ही है जीवन निम्नका पतकष्ट सयमरूपी उपवन (बाग) को प्रज्वलित हुई क्रोधरूपी अग्नि मन्त्र का देती है ॥ १ ॥

दृग्गोधादिगुणानर्घ्यरत्नप्रचयसंचितम् ।

भाण्डागार दहत्येव क्रोधवह्निः समुत्थितः ॥ २ ॥

अर्थ—तथा यह क्रोधरूपी अग्नि प्रगट होनेपर सम्यग्दर्शन ज्ञानादि अमूल्य रत्नों समूहोंके संचित विषये गुणरूपी भंडारको भी दग्ध कर देती है ॥ २ ॥

सयमोत्तमपीयूष सर्वाभिमतसिद्धिदम् ।

कषायविपसेकोऽयं नि सारीकुरुते क्षणात् ॥ ३ ॥

अर्थ—इस कषायरूपी विषका सिंचन करना सर्वे मनोराहित निद्रिकी देनेका सयमरूपी उत्तम अमृतको भी क्षणमात्रम नि सार कर देता है ॥ ३ ॥

तपःश्रुतयमाधार वृत्तविज्ञानवर्धितम् ।

भस्मीभवति रोपेण पुस्त धर्मात्मक वपु ॥ ४ ॥

अर्थ—चारित्र्य और निश्चित ज्ञानसे बढाया हुआ तथा तप, स्वाध्याय और सयमका आधार जो पुरुषोंका धर्मरूपी शरीर है सो क्रोधरूपी अग्निसे मन्त्र हो जाता है ॥ ४ ॥

अयं समुत्थित क्रोधो धर्मसार सुरक्षितम् ।

निर्दहत्येव निःशङ्क शुष्कारण्यमिवानल ॥ ५ ॥

अर्थ—प्रगट हुआ यह क्रोध सर्वे धर्मोंके अग्निके समान सुरक्षित धर्मरूपी मन्त्र कहिये जल अथवा धर्मको नि सदेह दग्ध कर देता है ॥ ५ ॥

पूर्वमात्मानमेवासौ क्रोधान्धो दहति ध्रुवम् ।

पद्मादन्यत्र या लोको विवेकविकलाशयः ॥ ६ ॥

अर्थ—क्रोधसे अंधा हुआ निरंतरहित यह लोक प्रथम तो अपनेको निश्चय करके जला देता है, तत्पश्चात् दूसरोंको जलाये अथवा नहीं जलाये, पहिने अपने समीपपर परिणामोंका ध्यान तो कर ही लेता है ॥ ६ ॥

वुर्धन्ति यतपोऽप्यथ वृद्धास्तत्कर्म निन्दितम् ।

एत्था लोकद्वय येन विशन्ति धरणीतलम् ॥ ७ ॥

अर्थ—बोधित हुए मुनिभी इस जगतमें ऐसा निन्दित कार्य करते हैं कि जिससे दोनों लोक नष्ट करके तलमें पड़जाते हैं फिर अन्य सामान्य जन्मा तो कहनारी क्या ? ॥ ७ ॥

त्रोधादीपायनेनापि कून कर्मातिगर्हितम् ।

दग्ध्वा द्वारावती नाम पुं स्वर्गनगरीनिभा ॥ ८ ॥

अर्थ—देखो ! दीपायन नामके मुनिने बोधसे ऐसा निन्द्य कार्य किया कि स्वर्गके समान सुन्दर द्वारावती भूल बरदी ॥ ८ ॥

लोकद्वयविनाशाय पापाय नरकाय च ।

स्थपरस्यापकाराय क्रोधः शत्रुः शरीरिणाम् ॥ ९ ॥

अर्थ—जीर्णके क्रोधरूपी शत्रु इस लोक और परलोकको नष्ट करनेवाला है तथा नरकमें ले जानेवाला और पापको करनेवाला एवं निरपर अर्थात् दोनोंका अपकार करने वाला है ॥ ९ ॥

अनादिकालसंभूतः कषायविषमग्रहः ।

स एवानन्तदुर्धारदुःखसपादनक्षमः ॥ १० ॥

अर्थ—यह कषयरूपी विषमग्रह अनादिकालसे इस प्राणीके पीछे लगा हुआ है और यदि अनन्त दुर्निवार दुःखोंको प्राप्त करनेमें समर्थ है ॥ १० ॥

तस्मात्प्रशममात्मन्य क्रोधचैरी निवार्यताम् ।

जिनागममहाग्भोधिरेयमाहश्च सेव्यताम् ॥ ११ ॥

अर्थ—आपण महातान उपदेश करते हैं कि हे आत्मन् ! शांतभावना अवलम्बन करके क्रोधरूपी बैरीको निवारण कर और जिनागमरूपी महासमुद्रका भयगाहन कर । क्योंकि क्रोधनिवारण करनेका यही एक उपाय है ॥ ११ ॥

क्रोधवहे क्षमैकेय प्रशान्तौ जलघाहिनी ।

उद्दामसयमारामवृत्तिर्याऽत्यन्तनिर्भरा ॥ १२ ॥

अर्थ—क्रोधरूपी अग्निको शांत करनेके लिये क्षमा ही अद्वितीय नदी है । क्षमा हीसे क्रोधाग्नि बुझती है तथा क्षमा ही उत्कृष्टसयमरूपी घामरी रत्ना करनेके लिये अनिष्टपट्ट धाड़ है ॥ १२ ॥

जयन्ति यमिनः क्रोधः लोकद्वयविरोधकः ।

तस्मिन्नेऽपि सप्राप्ते भजन्तो भावनामिमा ॥ १३ ॥

अर्थ—इस लोक और परलोकके त्रिगाडनेवाले श्रोयत्तो मुनिगण ही जीतने हैं। क्यों कि वे शोधके कारण प्राप्त होनेपर इस प्रकार भावना करते हैं, जो नि आगे कहते हैं ॥ १३ ॥

यत्रापि कुरुते कोऽपि मा म्वस्थ कर्मपीडितम् ।

चिकित्सित्वा स्फुट दोष स पचाकृत्रिमं सुहृत् ॥ १४ ॥

अर्थ—मुनिमहाराज ऐसी भावना करते हैं कि मैं कमसे पीडित हूँ, कमान्यसे मुझे कोई दोष उत्पन्न हुआ है सो उस दोषको अभी कोइ प्रगट करे और मुझे आत्मानुभवसे स्थापित करके स्वस्थ करे वही मेरा अट्टरिम मित्र (हितैषी) है। भावार्थ—जो मेरे किसी कमके उदयमे दोष आया हो तो उसे काटकर जो मुझे सावधान करता है वही मेरा परम मित्र है। क्योंकि उसने प्रगट करनेसे मैं उस दोषको छोट दूंगा, अतएव उससे मुक्त हो जाऊंगा। इस प्रकार भावना करनेसे दोष करनेवालेमें शोध नहीं उपनता ॥ १३ ॥

हत्वा स्वपुण्यसन्तानं मद्दोषं यो निरुन्तति ।

तस्मै यदिह कृप्यामि मदन्यः कोऽधमस्तदा ॥ १५ ॥

अर्थ—पुन ऐसी भावना करते हैं कि जो कोई अपने पुण्यका क्षय करके मेरे दोषोंको काटता है (कहता है) उससे यदि मैं रोष करूँ तो इस जगत्तम मेरी समान नीच वा पापी कौन है? भावार्थ—जैसे कोई अपना धनादिक व्यय करके परका उपकार करता है उसी प्रकार जो अपने पुण्यरूपी परिणामोंको त्रिगाडकर मेरे दोष कहे अर्थात् मुझे सावधान करके मेरे दोष काटे तो ऐसे उपकारीपर शोध करना कृतघ्नताही है ॥ १५ ॥

आकृष्टोऽहं हतो नैव हतो वा न विधाकृतः ।

मारितो न हतो धर्मा मदीयोऽनेन बन्धुना ॥ १६ ॥

अर्थ—जो कोई अपनेको दुर्वचन कहे तो मुनि महाराज ऐसा विचार करते हैं कि—इसने दुर्वचनही तो कहे है, मेरा घात तो नहीं किया और कोई घात भी करे (अर्थात् लाठी वगैरहसे मारे) तो ऐसा विचारते हैं कि—इसने मुझे बैरल माराही तो, काटकर दो खंड तो गिरि नियो? यदि कोई काटनेही लगे तो मुनिमहाराज विचारते हैं कि यह मुझे मारता है (काटता है) परंतु मेरा धर्म तो गट नहीं करता? मेरा धर्म तो मेरे साथ ही रहेगा। अथवा ऐसा विचार करते हैं कि यह मेरा बड़ा हितैषी है, क्योंकि चतन्यव्यय उदरमा इस शरीररूपी कारागारम रद्ध है (केद है) सो यह इस शरीरको (कारागारको) तोड़कर मुझे कैदखानेसे छुटाता है, अतः यह मेरा बड़ा उपकार कर रहा है। इत्यादि विचारनेसे किसीमेंभी शोध नहीं होता ॥ १६ ॥

समयन्ति महायिमा इह नि श्रेयसार्थिनाम् ।

ते येन किल समायाताः समन्व सश्रयाम्यतः ॥ १७ ॥

अर्थ—जो मोक्षप्रियापी हैं उनके इस लोकमें बड़े २ विघ्न होने समझ हैं, यह प्रसिद्ध है। वेही विघ्न यदि मेरे आँवें तो इसमें आश्रय क्या हुआ? इसकारण अब मैं मम भावका आश्रय करता हूँ, मेरा किसीपर भी राग द्वेष नहीं है ॥ १७ ॥

चेन्मासुद्दिश्य भ्रष्टयन्ति शीलशैलात्तपस्विनः ।

अमी अतोऽथ मज्जन्म परहेजाय केवलम् ॥ १८ ॥

अर्थ—फिर ऐसा विचार करते हैं कि यदि मैं मोक्ष करूँ तो मुझे जगह अ न्यान्य तपस्वी मुनि अपने शीलस्वभावसे प्युक्त हो जायें (भ्रष्ट हो जायें) तो फिर इस लोकमें मेरा जन्म केवल परहे अपकारार्थ या हेराज लिये ही हुआ, इसकारण मुझे मोक्ष करना निमीप्रकार भी उचित नहीं है ॥ १८ ॥

। प्राडनया यत्कृतं कर्म तन्मयैवोपभुज्यते ।

मन्ये निमित्तमाधोऽन्य सुखदुःखोद्यतो जनः ॥ १९ ॥

अर्थ—फिर ऐसा विचारते हैं कि—मेरे पूर्वजन्ममें जो कुछ सुख भोग वम विधे हैं उनका फल मुझेही भोगना पड़ेगा, तो जो बौद्ध सुख दुःख उनके लिये तत्पर हैं वे तो केवल मात्र धास्य निमित्त हैं, ऐसा मैं मानता हूँ तब इनके बोध क्यों करना चाहिए ॥ १९ ॥

मदीयमपि चेद्येतन्मोधाद्यैर्विप्रलुप्यते ।

अज्ञातज्ञाततत्त्वानां को विशेषस्तदा भवेत् ॥ २० ॥

अर्थ—फिर ऐसा विचार करते हैं कि मैं मुनि हूँ तत्त्वज्ञानी हूँ यदि मोक्ष करने मेरा भी विल बिगड़ जायगा तो फिर अज्ञानी तथा तत्त्वज्ञानीमें भिन्न (भेद) ही क्या रहा? मैं भी अज्ञानीके समान हुआ। इसप्रकार विचार करके मोक्षोपधि रूपमें नहीं कर सकते ॥ २० ॥

न्यायमार्गं प्रपद्येऽस्मिन्वर्मपाके पुरा म्यते ।

विवेकी कस्तदास्माकं मोधादीनां वश मयेत् ॥ २१ ॥

अर्थ—फिर ऐसा विचारते हैं कि—यह जो बर्मोका उदय है तो न्यायमार्गसे जान है। इसके निवृत्त होनेपर (आगे जानेपर) ऐसा बौद्ध विवेकी है जो अपजबो बर्मोके वशमें होने दे। आचार्य—जो कोई अपना दिग्ग करता है तो उसे पूर्वजन्मके बर्मोंके उदयके अनुसार करता है। बर्म बोधने हैं, तो उपाय उपाय आता न्यायमार्ग है। इसकारण बर्मोदयके होनेपर मोक्ष करना सुख नहीं है मोक्ष करनेपर फिर भी नये बर्मोंका उत्पत्ति होती है और आगेको स्मृति बर्तनी है ॥ २१ ॥

सहस्रं प्राणानासातपस स्वयमेव येनमा ।

निष्पत्तीकारमात्मोक्तं भविष्यदुत्पत्तिः ॥ २२ ॥

यं दामं प्राक्समभ्यस्तो विवेकज्ञानपूर्वकं ।

मन्येनेऽथ परीक्षार्थं प्रयत्नीकां समुत्थिता ॥ २७ ॥

अर्थ—जो ये दुःखा करनेवाले या कष्टधादि करनेवाले शत्रु उत्पन्न हुए हैं वे माने मैंने भेदज्ञानपूर्वक शमभाववा अभ्यास किया है उन्हीं आज परीक्षा करनेकोही आए हैं, सो देखते हैं कि इसमें शमभाव अब है कि नहीं? ऐसा विचार करना किंतु क्रोधरूप में होता ॥ २७ ॥

यदि प्रशममर्षादा भित्त्वा नृप्यामि शत्रवे ।

उपयोगं कदाऽस्य स्यात्तदा मे ज्ञानचक्षुषः ॥ २८ ॥

अर्थ—जो मैं प्रशमभारती मचासरा उत्तपन करके कष्टधादि करनेवाले शत्रुसे क्रोध करूँगा तो इस शास्त्री नेत्ररा उपयोग कौनसे कालमें होगा? अर्थात् यह ज्ञानभ्यास ऐसेही कालके लिये किया था, सो अब शमभावमें रहनारी योग्य है । इसमें क्या विचारते हैं ॥ २८ ॥

अयतोनापि सैवेय सजाता कर्मनिर्जरा ।

चित्रोपायैर्ममानेन यत्कृता भर्त्स्यपातना ॥ २९ ॥

अर्थ—चिर गुणि महाराज ऐसा विचार करते हैं कि इस शत्रुने मेरे अनेक प्रकारके उपायोंसे निम्नवार करके जो तीन पातना (पीड़ा) करी इससे यह बड़ा भारी छाम हुआ कि बिना यत्न किये ही मेरे पाँचमोंकी निजरा सहजही होगई । यह उपकारही मानना, क्रोध क्यों करना? ॥ २९ ॥

इत्थं च ग्रन्थान्तरे वक्ष्यामः ।

“ममापि चेद्गोहसुपैति मानस परेषु सद्यः प्रतिकूलचर्त्सिषु ।

अपारससारपरायणात्मना किमस्ति तेषां मम वा विशेषणम् ॥१॥

अर्थ—जो प्रतिकूल (बतोंवाले) उपसर्ग करनेवाले शत्रु हैं उनमें मेरा मन तत्काल जो गोहको प्राप्त होता है तो इस अपारससारम त्रिनका आत्मा सत्वर है उन शत्रुओंमें और मुझमें क्या भेद रहा? अर्थात् मैं उनमें भिन्न मोपार्थी कहलाताहूँ, सो उनसे मेरी समानताही हुई अर्थात् मैं भी उनके समान सनारस भ्रमूँगा ॥ १ ॥

अपारयन्मोघयितुं पृथग्जनानसत्प्रवृत्तेष्वपि नाऽसदाचरेत् ।

अद्राक्षन्पीतविष चिकित्सितुं पिबेद्विषकं स्वयमप्यमात्तिशः ॥ ३० ॥

अर्थ—असमीचीन कारणोंसे प्रवृत्तनेवाले अन्य पुरुषोंको उपदेश करके रोकनेको भय मय हो तो क्या वह पंडित पुरुष भी असदाचरण करने लग जाय? नहीं कदापि नहीं जैमे—कोई पुरुष विष पीजाव और उसकी चिकित्सा करनेमें वैष भ्रममर्थ हो जाय तो ऐसा वैष पंडित

भाषार्थ—उपसर्ग करनेवाला अपना प्राण नाश करे तोभी मुनिको क्षमाहा करनी चाहिये, सत्पुरुषाने इसका इत्ताज यह कहा है किन्तु क्रोध करना समीचीन नहीं है ॥३४॥

इयं निकपभूरद्य सम्पन्ना पुण्ययोगत ।

शमत्य किं प्रपन्नोऽस्मि न चेत्यद्य परीक्ष्यते ॥ ३५ ॥

अर्थ—यह क्षमा है सो इसमय मेरी परीक्षा करनेकी जगह है और पुण्ययोगमें मुझे प्राप्त हुई है—मो मेरी परीक्षा करके देखती है कि मैं शांतमानकी प्राप्त हुआ की नहीं। **भाषार्थ—**जो उपसर्ग आनेपर क्षमा करदे तो जानना कि इसका शांत भाव है, जो क्षमा नहीं करे तो शान्तभाव नहीं। इसप्रकार परीक्षा समासेही होती है। क्षमा इसकी कर्माणी है ॥ ३५ ॥

स एव प्रशम श्लाघ्य स च श्रेयोनिबन्धनम् ।

अदयैर्हन्तुकामैर्या न पुसा कश्मलीकृत ॥ ३६ ॥

अर्थ—पुरुषोंने वही प्रशम भाव प्रशमनीय है और यही कल्याणका कारण है, जो मारनेकी इच्छा करके निंदय पुरुषों मलिन रह गया। **भाषार्थ—**उपसर्ग आनेपर क्रोधरूपी भैलमें मलिन न हो चरी प्रशमभाव सराहने योग्य है ॥ ३६ ॥

चिराभ्यस्तं किं तेन शमेनाग्नेण वा कलम् ।

व्यर्थो भवति यत्काय समुत्पत्ते शरीरिणाम् ॥ ३७ ॥

अर्थ—जीवोंके चिरकालसे अभ्यास किये हुए शमभाव और शम चलानेका अभ्यास काम पड़नेपर व्यर्थ हो जाय तो उस शमभाव या शमविद्या नीखलेने क्या फल। **भाषार्थ—**उपसर्ग आनेपर क्षमा रहि की और शत्रुका सम्मुख आनेपर शत्रुविद्याका प्रयोग नहीं किया तो उनका अभ्यास करना व्यर्थही हुआ ॥ ३७ ॥

प्रत्यनीके समुत्पत्ते यदैर्य तद्धि शस्यते ।

स्यात्सर्वोऽपि जन स्वस्थ सत्यशीघ्रक्षमास्पद ॥ ३८ ॥

अर्थ—स्वस्थ चित्तवाले तो सबही प्रायः सत्य शाब क्षमादि युक्त होने हैं परन्तु उपसर्ग करनेवाले शत्रुने आनेपर धैर्य रखना ही धैर्यगुण प्रशंगा करन योग्य है ॥ ३८ ॥

घासीचन्दनतुल्यान्तर्दृष्टिमात्मन्य वेयलम् ।

आरब्ध सिद्धिमातीत प्रार्थनैर्मुनिमसाम् ॥ ३९ ॥

अर्थ—प्राचीन बड़े २ मुनि महाराजोंने प्रारम्भ किया हुए मोक्षकायकी साधन किया है तो वेयल चमूले और चद्राक गन्धान अन्तर्दृष्टिको (आत्मभावस्थ दृष्टिको) आत्मन्य करके ही साधना किया है। **भाषार्थ—**कुत्रामे चन्दन बनाया जाय ता वह चन्दनवृक्ष जिनप्रकार कुत्राकी धारकी सुगन्धित करता है अथवा बाइनेरागकी सुगन्ध प्रदानसे प्रमत्त करता है—उसी प्रकार मुनि महाराज बोझी उपसर्ग करता है तो उसका

हितही चाहते हैं, अहित कदापि नहि चाहते, इस वृत्तिसे ही रहनेमें मुक्तिही होती है ॥ ३९ ॥

कृतैर्वान्यैः स्वयं जातैरुपसर्गैः कलङ्कितम् ।

येषां चेत् कदाचित्तैर्न प्राप्ताः खेष्टसम्पदः ॥ ४० ॥

अर्थ—जिनका चित्त अन्यके किये उपसर्गसे तथा अचेतन पदार्थोंमें स्थित हुए उपसर्ग वा परीपहसे कलङ्कित (दूषित) हुआ उन्होंने अपने इष्टकार्यकी प्राप्ति कदापि नहा की । **भावार्थ**—यह प्रसिद्ध है कि जो उपसर्ग वा आनेपर मुनिमार्गसे च्युत होगये उनके कभी मिद्धि नहि हुई ॥ ४० ॥

प्राकृताय न कृष्यन्ति कर्मणे निविवेकिनः ।

तस्मिन्नपि च कुक्ष्यन्ति यस्तदेव चिकित्सति ॥ ४१ ॥

अर्थ—निवेरारहित अज्ञानी पुरुष पूरे जन्ममें किये हुए कर्मोंके (पापोंके) निरोप करते नहीं और जो पुरुष मोक्षके निमित्त मिलाकर उन पापकर्मोंकी निर्जरा करा है अर्थात् वैद्यके समान चिकित्सा करता है उसके ऊपर मोक्ष करता है सो यह किसी प्रकार भी युक्त नहीं है । क्योंकि अपने कर्मकी निर्जरा कराये वह तो वैद्यके समान उपकारी है उसका तो उपकार ही मानना चाहिये । उसपर मोक्ष करना बड़ी भारी भूल का प्रता है ॥ ४१ ॥

यः श्वध्रान्मा समाकृष्य क्षिप्यत्यात्मानमस्तथा ।

यद्ययमनिमित्तेऽपि कस्तस्मै विप्रियं शरेत् ॥ ४२ ॥

अर्थ—जो कोई निर्गुद्धि बध्मवादि उपसर्गका निमित्त मिलाकर मुक्त तो बन जानेमें बचाता है अर्थात् पूरे कर्मोंकी निर्जरा करानेका निमित्त बनता है और अनेको नरकमें डालता है, उसका लिये कौन बुरा आचरण करे ? उसका तो उपकार मानना उचित है ॥ ४२ ॥

यस्यैव कर्मणो नाशान्मदाम् प्रशाम्यति ।

तथैव हि सममायात मिद्धं तर्क्य चाछितम् ॥ ४३ ॥

अर्थ—जिस कर्मके नाश होनेमें समानता आताप नष्ट हो उस कर्मका उद्धार कालमें भोगनम आया तो यह चाछित काय मिद्ध हुआ ऐसा समझना चाहिए क्योंकि कर्मका नाश तो कर्मही या, मन्त्रही उपसर्ग आनेमें और उसका मद्दत ही निर्गुण हुए तो वह चाछित मिद्ध क्यों न हुई ? ॥ ४३ ॥

अनन्तक्रेद्वात्मभारिप्रदीप्तेषु नचाटवी ।

नम्रोऽप्यनेन किं मराम्भदुग्धो न्यमनोम्बरः ॥ ४४ ॥

अर्थ—यह समारूपी अटगी है जो अनन्तप्रकार के हेतुरूपी अग्नित जलती है सो उसमें उत्पन्न होनेवाले जीव क्या उस समारूप धनम उत्पन्न हुए दुखोंके समूहको नहिं सरते हैं ? अर्थात् नरतेही है तब मैं जो उपसगनित अल्प दुखको सहलगा तो फिर समारके अनन्तदुःख नहिं होंगे ऐसा विचार करना चाहिये ॥ ४४ ॥

धामूखविहीनितम् ।

**सम्यग्ज्ञानविषेकशून्यमनस सिद्धान्तसूत्रद्विपो
निर्मिशा परलोकनष्टमतपो मोहानलोद्दीपिता ।**

**दौर्जन्यादिकल्हिता यदि नरा न स्युर्जगत्या तदा
कस्मात्सीद्गतपोभिर्गन्तधिय काङ्क्षन्ति मोक्षधियम् ॥ ४५ ॥**

अर्थ—यदि इस जातम सम्यग्ज्ञान और निवेरसे शून्य चित्तवाले, सिद्धान्तशास्त्रके द्वेषी, निन्द्य, परलोकको नहिं माननेवाले नास्तिक, मोहरूपी अग्निते जलनेवाले दुर्जनादि बलकसे कलवित मनुष्य नहिं होते तौ उत्ततुद्विगले मुनिगण तीन तपस्यादिक करके मोक्षरूप छद्मीको क्यों चाहते ? **भाषार्थ—**उत्तप्रकारके दुष्ट पुरुष अनेक है, तप करनेसे वे उपमग करेंगे, उस उपमगको जाँतेंगे तबही हम मोक्षकी सिद्धि होगी ऐसा विचार करकेही मानों मुनिगण मोक्षके अथ तीन तपस्या करते हैं ॥ ४५ ॥

मात्रिणी ।

**ययमिह परमात्मध्यानदत्तायधाना
परिकल्पितपदार्थास्त्यक्तससारमार्गा ।
यदि निक्पपरीक्षासुक्षमा नो तदानीं
भजति विफलभाव सर्वधैय प्रयास ॥ ४६ ॥**

अर्थ—मुनिमहाराज विचार करते हैं कि—इस जगत्तम हम परमात्माके ध्यानम चित्त लगानेवाले हैं, पदार्थोंके स्वरूपको जाननेवाले और ससारमागके त्यागी हैं । यदि हम ऐसे होकर भी उपसग परीषहोंकी कमोटीमे परीणाम असमर्थ हो जावें अर्थात् इससमय जो हम अपने उपशम भावोंकी परीणा नहिं करैं तो हमारा मुनिधर्मके धारण करनेका समस्त प्रयास व्यर्थ हो जाय—। क्योंकि जब उपमग आनेपर शमभाव रूँ तबही उपशम भावकी प्रशमा होती है ॥ ४६ ॥

गितिरिची ।

**अहो कैश्चित्कर्मानुदयगतमानीष रभसा
दशेध निर्दूत प्रथलतपसा जन्मचकितै ।
खय यथायात तदिह मुदमालम्ब्य मनसा
न किं सहा धीरैरतुल्यगुणसिद्धैर्व्ययमितै ॥ ४७ ॥**

अर्थ—अहो तेजो ! ओर मुनिगणनि मंगारसे भयभीत होकर प्रसन्न (नीच) बन
 दिग्गजे उत्तम लामर ममम कर्माको शीघ्र हो गट करनिया वे मम यति न्यमगात्र
 निमित्तम अपनी स्थिति पूरी करके स्वय उत्तम आये है तो अमूल्य मोक्षमुक्ती निर्दिष्ट
 लिये उद्यम करनेवाले धीरपुरुषाको मनोमिलापपूर्ण क्या उपमगात्रि नहीं महन चाहिये
 अर्थात् अत्रय ही सहने चाहिये । क्यात्रि जिन कर्माको तीव्र तप करके नष्ट करग
 स्वय स्थिति पूरी करके उद्यम आये तो उनका फल मर लेनेमे सहजहीम उनकीतिराह
 जाती है—तो यह तो उत्तम लाम है । तो हर्षपूर्ण सहनी चाहिये । यहा मोक्षनिर्दिष्ट
 उद्यम मफल होमत्ता है ॥ ४७ ॥ ॥

इसप्रकार क्रोधरूपायका वणन करके उमरे निमित्त आनेपर ऐसी भावना करना ब
 दिया गया ॥

श्लोक ।

उपसगादिव क्रोधके, निमित्त मये मुनिरान ।

क्षमा धरे क्रोध न करे, तिनके ध्यानसमाज ॥

इति क्रोधरूपायवर्णनम् ।

अन मानरूपायका वणन करते हैं,—

ब कुलजातीश्वरत्वादिमदविध्वस्तबुद्धिभिः ।

सद्यः सचीयते कर्म नीचैर्गतिनियन्धनम् ॥ ४८ ॥

अर्थ—उल, जाति, ऐश्वर्य, रूप, तप, तप, उल, निचा ओर धन इन जाठ मने
 जिनकी बुद्धि विगट गइ है अर्थात् मान करते हैं वे तत्काल नीच गतिके कारण कम
 सचय करते हैं । अर्थात् कोई ऐसा समझै कि मान करनेसे मैं ऊचा पहलाऊगा सो
 इस लोकम मानी पुरुष ऊचे तो नहि होते निन्तु नीच गतिको प्राप्त होते हैं—॥ ४८ ॥

मानग्रन्थिर्मनस्पृचैर्यावदास्ते दृढस्तदा ।

तावद्विवेकमाणिक्य प्राप्तमप्यपसर्पति ॥ ४९ ॥

अर्थ—हे मुने ! जबतक तेरे मनम मानकी गाठ अतिशय दृढ़ है तबतक तेरा वि
 वेकरूपी रत्न प्राप्त हुआ भी चला जायगा । क्योंकि मानरूपायके सामने हेय उपादेयका
 ज्ञान नहि रहता ॥ ४९ ॥

प्रोचुद्गमानशैलाग्रवर्तिभिर्लुप्तबुद्धिभिः ।

क्रियते मार्गमुल्लङ्घ्य पूज्यपूजाव्यतिक्रम ॥ ५० ॥

अर्थ—जो पुरुष अति ऊँचे मानपत्रके अग्रभागमे (चोटीपर) रहते हैं वे नष्टबुद्धि हैं
 ऐमे मानी सर्माचीनमार्गका उल्लघन करके पूज्यपुरुषोंकी पूजाका (प्रतिष्ठाका) लोप क
 देते हैं । **भावार्थ—**मानी पुरुष पूज्यपुरुषोंकाभी अपमान करनेम शक्ति नहि होने॥५०॥

लुप्यते मानतः पुसा विवेकामल्लोचनम् ।

प्रच्यवन्ते ततः शीघ्रं शीलशैलाग्रसमभात् ॥ ५१ ॥

अर्थ—इस मानकषादने पुरषोंके भेदज्ञानरूप निमल लोचन (नेत्र) लोप हो जाने हैं, जिससे शीघ्रही शीलरूपी पर्वतके शिखरके सममने (चलनेसे) टिग जाने हैं । क्योंकि विवेक जब नाहि रहा तो शील कहा ॥ ५१ ॥

ज्ञानरसमपाकृत्य गृह्णात्यज्ञानपद्मम् ।

शुरूनपि जनो मानी विमानयति गर्वतः ॥ ५२ ॥

अर्थ—मानी पुरुष गर्वसे अपने गुरुको भी अपमानित करता है सो मानो ज्ञानरसी रसको दूर करके अज्ञारूपी सपको ग्रहण करता है ॥ ५२ ॥

करोत्युद्धतधीर्मानाद्विनयाचारलघनम् ।

विराध्याराध्यसन्तानं स्वेच्छाचारैर्ण धर्मेते ॥ ५३ ॥

अर्थ—मानने उद्धतबुद्धि पुरुष गर्वसे विनयाचारका उत्पन्न करता है और पूज्य गुरुमोक्षी परिपाटी (पद्धति)को छोड़कर स्वेच्छाधारसे प्रवृत्तने लग जाता है ॥ ५३ ॥

मानमालम्ब्य मुदात्मा विधत्ते कर्म निन्दितम् ।

कलङ्कयति पादोपचरणं चन्द्रनिर्मलम् ॥ ५४ ॥

अर्थ—इस मानको अवलम्बन कर मुदात्मा निन्दित कायको करता है तथा चन्द्र माधी सनान निमल अपने समस्त मङ्गलपरणोंको कलङ्कित करता है ॥ ५४ ॥

गुणरहितं किं तेन मानेनार्थं प्रसिद्धानि ।

तन्मन्ये मानिना मानं पद्मोद्वयशुद्धिदम् ॥ ५५ ॥

अर्थ—गुणरहित रीति मानने का कर्म अर्थही सिद्धि है । याम्बवन् गङ्गापुत्रोंका कभी मान कहा जा सक्ता है जो इस लोच और परलोचरी बुद्धि देनेवाला हो । भावार्थ—यद्यपि मानकषाय दुर्गतिका कारण है, तथापि मान दो प्रकारका है एक तो प्रमाण ज्ञान और एक अप्रमाण मान । जिस मानने बशीभूत होकर नीबडापोंको छोड़ उधे बादमें प्रवृत्ति हो वह तो प्रमासनीय प्रमाणजन्य है और जिस मानने नीबडापोंमें प्रवृत्ति हो और जो परको हानिकारक हो वह अप्रमाणमान है—। और क्या सिद्धि का उद्धारका भाग हो और कोई असहायारी का धातव्य पुरुष उम दिशम् का मङ्गलका और सकारक मनमें अपने धाड़े घमड़में उमे हलबा समर्प तो उमह दम कर्मणि सिद्धि का हन धारिदोंको नहि जाना चाहिये । क्योंकि उमह दम ज्ञान का उमही हाँ में हाँ निम्नान उम ज्ञान और आचरणका (धर्मका) अभाव होना है । पर सिद्धि का उद्धारक राहों के लिये है, मुनिदोह लिये ही है ॥ ५५ ॥

अपमानकर कर्म येन दूरान्निषिध्यते ।

स उचैश्चेतसा मानः परः स्वपरघातकः ॥ ५६ ॥

अर्थ—जिससे अपमान करनेवाले कार्य दूरहीसे छोड़ दिये जाय वही उच्चासनालोके प्रशस्त मान है। इसके अतिरिक्त जो अन्यमान है वे स्वपरके घातक अर्थात् अप्रगत है।

क मानो नाम समारे जन्तुत्रजविडम्बके ।

यत्र प्राणी नृपो भूत्वा विष्ठामध्ये कृमिर्भवेत् ॥ ५७ ॥

अर्थ—जीवमानको विडम्बना करनेवाले इस समारम मान नामका पदार्थ है ही स्तः। क्योंकि जिस समारमे राजा भी मरकर तत्काल विष्ठाम क्रिभि आदि कीट हो जाता है। और प्रत्यक्ष भी देखा जाता है कि जो आज राजगद्दीपर विराचमान है वही कृत्र राज्यरहित होकर रक्त हो जाता है ॥ ५७ ॥

इसप्रकार मानरूपायका वर्णन किया। अब मायारूपायका वर्णन करते हैं,—

२। जन्मभूमिरविद्यानामकीर्तयोरसमेन्द्रिणम् ।

पापपङ्कमतागतौ निरुक्तिः कीर्तिता बुधैः ॥ ५८ ॥

अर्थ—मायारूपाय अविद्याकी भूमि है, अपयशका धरा है और पापरूपी करमका घटा भारी गड्ढा है, इसप्रकार निष्ठानोंने मायारा कीर्तन (कथन) किया है ॥ ५८ ॥

अर्गलेपापवर्गस्य पदवी बभ्रवेदमनः ।

शीलशालयने वहिर्मायेयमवगम्यताम् ॥ ५९ ॥

अर्थ—यह माया मोक्ष रोडनेको अर्गला है। क्योंकि जनक मायात्वर रक्षा है तबतक मोक्षमागका आवरण नहीं आता। और पापरूपी घरमें प्रवेश करनेकी पदवी (द्वार) है। तथा शीलरूपी शालग्रामने वनको दग्ध करनेके लिये अग्निमान है। स्त्री मदीरीकी प्रवृत्ति सदा दाहक रह करती है ॥ ५९ ॥

वृद्धयमिवामार ममराज्यमिवामिवफलम् ।

अनुष्ठाने मनुष्याणां मन्ये मायावलम्बिनाम् ॥ ६० ॥

अर्थ—आपाय मतागत करने है कि मैं मायावलम्बी पुरुषोंके अनुष्ठाने आपका वृद्धयके समान (विमलवृद्धयके समान) अमार ममशता ह। अथवा मममेन राज्यवर्द्धि मममेन निष्पन्न समस्तता ह। क्यों कि मायारूपाय आवरण मन्वाध तर्हि होता किं तु मममेन होता है ॥ ६० ॥

लोकद्वयद्विषयैर्विषयोमि कर्तुमुद्यता ।

निवृत्त्या यत्कामानाम्ने हन्त जीना न लज्जिता ॥ ६१ ॥

अर्थ—दोनों पुरुष लज्जा उभय ॥ ६१ ॥ अथवा निवृत्त्यापराध मदीरी लज्जा

परन्तु खेद है कि वे मायाचारसरित् रहते हैं सो बड़े नीच हैं और निन्द्य हैं ऐसा नहि विचारते कि हम तपस्वी होकर जो मायाचार रक्खेंगे तो लोग हम क्या कहेंगे ? ॥६१॥

मुक्तेरपि मुनेष्वोक्ता गतिर्नञ्जी जिनेश्वरे ।

तत्र मायाविना स्थातु न स्वप्नेऽप्यस्ति योग्यता ॥ ६२ ॥

अर्थ—बोतराग सर्वज्ञ भगवान् ने मुक्तिमागकी गति सरल कही है उसमें मायावी जनोके स्थिर रहनेकी योग्यता स्वप्नमें भी नहीं है ॥ ६२ ॥

व्रती निःशल्प एव स्यात्सशल्पो व्रतघातक ।

मायाशल्प मत साक्षात्सुरिभिर्भूरिभीनिदम् ॥ ६३ ॥

अर्थ—व्रती तो निःशल्पही होता है। शल्पसरित् सो व्रतका घातक होता है। और भाषार्थ—मायाको सापात्—शल्प कहा है। क्योंकि माया अनिशय भयापक है। भाषार्थ—मायावीके अपने मायाचारके प्रगट होनेका भय घनाही रहता है, अतएव उसका (कपटीका) व्रत सत्यार्थ नहीं होता ॥ ६३ ॥

इहाकीर्ति समादत्ते मृतो यात्येय दुर्गतिम् ।

मायाप्रपञ्चदोषेण जनोऽय जिघ्रिताशय ॥ ६४ ॥

अर्थ—इस मायाप्रपञ्चके दोषसे यह कुटिलाशय मनुष्य इस लोकमें तो अपदग्रको प्राप्त होता है और मृत्यु होनेपर दुर्गतिम ही जाता है ॥ ६४ ॥

छायमानमपि प्रायः फुकर्म स्फुटति स्वयम् ।

अल् मायाप्रपञ्चेन लोकद्वयविरोधिना ॥ ६५ ॥

अर्थ—जुबन टकते हुए भी प्राय अपने आप ही प्राण हो जाता है इसकारण दोनो लोकोंको बिगाडनेवाले इस मायाप्रपञ्चसे अल (बम) है। भाषार्थ—मायाचा रसे निघ काय विद्या जाय और छिगया जाय तो भी प्रगट हुए निरा नहि रहता। प्राण होनेपर वह लमपलोनको बिगाडता है, इस मायाचारीसे अलग रहना ही चाहिये ॥ ६५ ॥

फ भावाचरण हीन फ सन्मार्गपरिमह ।

नापवर्गपथि भ्रान्त सचरन्तीय यञ्चका ॥ ६६ ॥

अर्थ—मायारूप हीनचरण तो क्या ? और सनाचान माका ग्रहण करना क्या ? इनमें बड़ी निश्चयता है इसकारण आचार्य महाराज कहते हैं कि हे नारद ! नापानीटा इस मोषमान कयापि नहि विचर मरते ॥ ६६ ॥

यकृत्ति समात्मन्य धञ्चकैर्यञ्चित जगत् ।

कौटिल्यकुदालै पापै प्रस्तप्त वदमलाशयै ॥ ६७ ॥

१ माया सिद्धा और मिथ्या के लीन शल्प है। निःशल्पो व्रती एव तपस्वीहोकर निन्द्य है।

इसप्रकार लोभकषायका वर्णन किया । अब सामान्यरूपसे चारों कषायोंके त्याग करना उपदेश करते हैं,—

वगस्थ ।

शमाम्बुभिः क्रोधशिखी निवार्यताम्
नियम्यता मानमुदारमार्दवे ।

इयं च मायाऽऽर्जवत् प्रतिक्षण

निरीहता चाश्रय लोभशान्तये ॥ ७२ ॥

अर्थ—हे आत्मन् ! शान्तभावरूपी जलसे तो क्रोधरूपी अग्नि निवारण कर और उदार भाइन अथवा कोमल परिणामोंसे मानस (मानरूप हाथीको) नियन्त्रित कर (यश कर) तथा मायाको निरंतर आक्रमण दूर कर और लोभकी शांतिके लिये निर्लोभताका आश्रय कर । इसप्रकार चारों कषायोंको दूर करनेका उपदेश है ॥ ७२ ॥

यत्र यत्र प्रसूयन्ते तत्र क्रोधादयो छिप ।

तत्तत्प्रागेव मोक्तव्यं यस्तु तत्प्रतिशान्तये ॥ ७३ ॥

अर्थ—हे आत्मन् ! तेरे जिम जिम पदार्थमें क्रोधादिक शत्रु उत्पन्न होते हैं वही वही यस्तु उन क्रोधादिकी शांतिके लिये प्रथमहीसे त्याग देनी चाहिये । इसप्रकार कषायोंका प्राग्व कारणोंके त्यागका उपदेश है ॥ ७३ ॥

येन येन निवार्यन्ते क्रोधाद्याः परिपन्थिनः ।

स्वीकार्यमप्रमत्तेन तत्तत्कर्म मनीषिणा ॥ ७४ ॥

अर्थ—तथा जिम जिम कार्यके करनेसे क्रोधादिक शत्रुओंका निवारण हो, बुद्धिमानको वह वह कार्य निरालम्ब हो स्वीकार करना चाहिये ॥ ७४ ॥

गुणाधिकतया मन्ये स योगी गुणिना गुरु ।

तन्निमित्तेऽपि नाक्षिप्त क्रोधाद्यैर्यस्य मानसः ॥ ७५ ॥

अर्थ—जिम गुणिना मन क्रोधादिक कषायोंके निमित्त मिलनेपर क्रोधादिकम भी विक्षिप्त न हो अथवा जिमक क्रोधादिक उत्पन्न न हो वही योगी गुणाधिकतासे गुणी जनोंका गुरु है, ऐसा मैं मानता हूँ । यहां क्रोधादिकका कारण मिलनेपर भी जिनके क्रोधादिक न हो उनकी प्रशंसा कीगई ॥ ७५ ॥

यदि क्रोधादय क्षीणास्तदा किं विच्यते कृथा ।

तपोभिरथ तिष्ठन्ति तपस्तप्राप्यपार्थक्यम् ॥ ७६ ॥

अर्थ—हे मुने ! यदि क्रोधादिक कषाय क्षीण हो गये तो तप करने से द फलना व्यर्थ है, क्योंकि क्रोधादिकका जीतना ही तप है । और यदि क्रोधादिक तेरे तिष्ठते हैं तो भी तप करना व्यर्थ है, क्योंकि कषायोंका तप करना व्यर्थ ही होता है ॥ ७६ ॥

चित्तके जीतनेका सभी अयाम नहीं किया और न सभी वेगग्रही प्राप्त हुए हों।
कभी आमात्रों तुम्ही ही समझा और तृया ही मोक्षप्राप्तिके लिये ध्यानमात्रमें प्रवृत्त
गये, उन्होंने अपने आमात्रों टगलिया और वे डमगोर और फटोके देनोद्व
हो गये । भावार्थ—जो इन्द्रिय और मनको जीने विना तथा ज्ञानवेगग्रही प्राप्त
विना ही मोक्षके लिये ध्यानका अन्याय करते हैं, वे मूल अन्न देना मत रि
है ॥ २१ ॥ २२ ॥

अब कहते हैं कि योगियोंका मुख्य इन्द्रियांक विना ऐसा है —

अध्यात्मज यदत्यक्ष न्यस्तनेद्यमनन्धरम् ।

आत्माधीन निरायाद्यमनन्त योगिना मतम् ॥ २३ ॥

अर्थ—योगियोंका अध्यात्मसे उत्पन्न अतीन्द्रिय मुख आमात्रों ही (अपनेही) क
है अथात् स्वय ही उत्पन्न हुआ है, किन्तु इन्द्रियोंके द्वारा नियंत्रित नहीं हुआ है । तथा
आत्माहीसे जानने (भोगने) योग्य है अर्थात् श्वानुभवगम्य है, और अनिनाशी है, अ
इन्द्रियजनित मुखकी समान विनाशी नहीं है, स्वाधीन है, न बाधारहित है अथात् कि
कुछ भी बिगाड़ वा विन्न नहीं होता तथा अनन्त अर्थात् अन्तरहित है । जो कोइ
समझते हैं कि इन्द्रियोंके विना मुख कैसा ? उनको यह अनिन्द्रिय मुखका स्वरूप ब
गया है ॥ २३ ॥

अपास्य करणग्राम यदात्मन्यात्मना न्ययम् ।

सेव्यते योगिभिस्तदि सुखमाध्यात्मिक मतम् ॥ २४ ॥

अर्थ—जो इन्द्रियोंके नियंत्रित विना ही अपने आत्मान आत्मासे ही सेवन क
आता है उसको ही योगीश्वरोंने आध्यात्मिक मुख कहा है ॥ २४ ॥

आपातमाध्वरम्याणि विषयोत्थानि देहिनाम् ।

विषयाकानि पर्यन्ते विद्धि सौरयानि सर्वथा ॥ २५ ॥

अर्थ—हे आत्मन् ! जीयोंके विषयजनित मुख कैसे हैं कि सेवनके आगममात्रों के
कुछ रम्य मागते हैं परन्तु निपातममयमें सर्वथा विषयी समान ही जानिये ॥ २५ ॥

दृष्टीकृतस्करानीक चित्तदुर्गान्तराश्रितम् ।

पुसा विवेकमाणिक्य हरत्येवानिचारितम् ॥ २६ ॥

अर्थ—यह इन्द्रियरूपी चोरोकी सेना (फौज) चित्तरूपी दुर्ग (मिले) के आश्रित
रहती है, जो पुरषोंके विवेकरूपी रत्नको हरती है अर्थात् चुराती है और रोकी भी नहीं
रखती है ॥ २६ ॥

त्वामेव वञ्चितु मन्ये प्रवृत्ता विषया इमे ।

म्यिरीकुरु तत्रा चित्त योनैर्न कलङ्कयते ॥ २७ ॥

अर्थ—हे भगवन् ! ये इन्द्रियोरे नियम नुसखोरी टगोके लिये प्रवृत्त हुए हैं
ऐसा ही जाता है इगवारण बित्तरो ऐसा स्थिर घर कि भिमप्रसार उन नियमोसे फल
दिग न तो ॥ २७ ॥

मालिनी ।

उदधिद्वन्द्वपरिनिधनं धिप्रभानु

येदि बधमपि दैवास्तृप्तिमासादयेताम् ।

न पुनरिह क्षरीरी कामभोगैर्विमर्ग्यै

धिरनरमपि भुपैस्तृप्तिमापानि कैश्चित् ॥ २८ ॥

अर्थ—एक जगत्में मनुष्य तो जलर प्रगरोमें (नदियोंके मिलनेसे) तृप्त नहि होता
और भक्ति इन्धनों की तृप्त नहि होती, तो बन्धविन् दैवयोगम किसी प्रकार ये दोनों तृप्त हो
भी जायें परन्तु यह जीव विरहालम्बित तात्प्रकारक काम भोगादिक भोगनेपर भी कभी
तृप्त नहि होता ॥ २८ ॥

आषा ।

यद्यपि दुर्गतिधीज तृष्णासन्तापपापसकलितम् ।

तदपि न सुखमप्राप्य विषयसुखं याञ्छित नृणाम् ॥ २९ ॥

अर्थ—यद्यपि विषयजित सुख दुर्गतिका धीजभूत कारण है और तृष्णा-सन्तापादि-
सहित है तथापि यह सुख प्राप्त करके इष्टानुसार मनुष्योंको प्राप्त होता कठिन है ॥ २९ ॥

अपि सकलितता कामाः सभयन्ति यथा यथा ।

तथा तथा मनुष्याणां तृष्णा विश्वं विमर्षयति ॥ ३० ॥

अर्थ—मनुष्यों में जेमे जेमे इष्टानुसार संरक्षित भोगोंकी प्राप्ति होती है तैसों २ ही
इनरी तृष्णा उत्तरोत्तर बन्ती हुई समस्त लोभपर्यन्त विस्तारताको प्राप्त होती है ॥ ३० ॥

अनिषिष्याक्षमदोह य माक्षान्मोक्षमिच्छति ।

विदारयति दुर्बुद्धिः शिरसा स महीधरम् ॥ ३१ ॥

अर्थ—जो पुरुष इन्द्रियगमूहको बंध नहि करके साक्षात् मोक्ष (कर्मरहित) होना
चाहता है यह दुर्बुद्धि अपने मस्तककी टखर लगाकर परतको तोड़ता चाहता है ऐसी
अभ्यास उत्सवा मन्त्रकही पड़ेगा, परत तो किसी प्रकार हटैगा ही नहीं ॥ ३१ ॥

मालिनी ।

इदमिह विषयोत्थं यत्सुखं तच्छि दुःखं

व्यसनविपिनधीज सीमसतापविद्धम् ।

बहुतरपरिपाकं निन्दितं ज्ञानवृद्धे

परिहर किमिहान्यैर्भूत्तयाचा प्रपञ्चे ॥ ३२ ॥

अर्थ—हे आत्मन्! इस जगतमें विषयजनित जो सुख है सो वास्तवमें दुःख ही है क्योंकि—यह कष्ट अर्थात् आपदारूपी वृक्षोंका तो बीज है और तीव्र सतायेन वि-
हुआ है तथा जिसका परिपाक (फल) अनिश्चय कटु है और ज्ञानसे वृद्ध विद्वानोंके ब्र-
हिदनीय है, इसकारण हे भाद! इसको छोड़ धूर्तोंके प्रपञ्चान्ध्योंके माननेमें क्या लाभ! ॥३१॥

गाढूलविहीडितम् ।

तत्तत्कारकपारतन्त्र्यमचिराद्वाशं सत्पृष्णान्वयै
स्तेरेभिर्निरुपाधिसयमभृतो बाधानिदानैः परैः ।
शर्मभ्य स्पृहयन्ति हन्त विषयानाश्रित्य यद्देहिना
स्तत्क्रुध्यत्फणिनायकाग्रदशनैः कण्डूविमोदं स्फुटम् ॥३२॥

अर्थ—यद्यपि विषयजनित पूर्वोक्त सुखको दुःख ही कहा है सो ठीक भी है, क्योंकि व-
सुखको फारकोंकी पराधीनता है अर्थात् वह सुख अन्यके द्वारा होता है और सत्काल नष्ट
वान् भी है तथापि ये संमारी जीव उपाधिरहित सयममें धारक होनेपर भी पृष्णोंके सा-
सम्यग्ध करते हुए बाधाके कारण ऐसे, अन्य धनादिकोंसे द्वारा सुखके लिये निरपेक्ष
इच्छा करते हैं सो क्या करते हैं नि मानो क्रोधायमान नागेन्द्रके अगले दाँतोंसे (नि-
दाँतोंसे) पुनलानेका साक्षात् निमोद ही करते हैं । भावार्थ—सापके जहरीले दाँतों
पुनलाना मृत्युका वा दुःखका ही कारण है ॥ ३२ ॥

पुन ।

नि शोषाभिमतैर्द्रव्यार्थरचनासौन्दर्यसदानित
प्रीतिप्रस्तुतलोभलक्षितमनाः को नाम निर्ययताम् ।
अस्माकं तु नितान्तघोरनरकज्वालाकलापः पुर
मोदस्य कथमित्यसौ तु महती चिन्ता मनः कृन्तति ॥ ३३ ॥

अर्थ—अहो! वेद है कि—समस्त मनोमोहित इन्द्रियां विषयोंकी रक्षा के लिये
त्रिमका मन बैसा हुआ है तथा प्रीतिके प्रत्यायम (धर्म) आगे लोभमें शक्ति
ग्या है मन त्रिमका ऐसे जीरोममें कैसा ऐसा है जो निरर्थके उदासीन होनेके लिये तन्म-
हो? । यद्वा आचार्य महाराज कहते हैं कि—ये संमारी जीव विषयोंमें निरत तो नहीं हैं
परन्तु इन विषयोंमें उत्पन्न हुए अविशेष रूप तीव्र तरङ्गाग्निकी ज्वाला के समानकी अस्थिर
वेद महेंगे । यही महाविषय हमारे माको दुःखित कर रहा है ॥ ३३ ॥

सम्पत्ता ।

मीना मय्यु प्रयाता रमनयशमिता दन्तिनं स्पर्शमन्दा
बद्धान्ते वाग्निषन्धे उपगन्तमुपगताः ॥ ३४ ॥

भृङ्गा गन्धोद्धताशा* प्रलयमुपगता गीतलोला* कुरङ्गा*

कालव्यालेन दष्टास्तदपि तनुमृतामिन्द्रियार्थेषु राग* ॥ ३५ ॥

अर्थ—अरे तेगो ! रसना इन्द्रियके वग तो मत्स्य (मछलिये) हैं वे अपने गलेको उड़ाकर मृत्युको प्राप्त हुए और हस्ती स्था इन्द्रियके बन्दीभूत हो गडेमें बांधे गये तथा नेत्र इन्द्रियके विषयदोषसे पतम (छोटे २ जीव) दीपकादिक ज्वालात्म जलकर मरणको प्राप्त हुए हैं । और भ्रमर नासिका इन्द्रियके बन्दीभूत होकर सुगन्धसे सुगन्ध हो नाशको प्राप्त हुए । इसी प्रकार हरिण भी गीतन (रागके) लोलुप हो कण इन्द्रियके विषयसे कालरूप सपने मारे गये ऐसे एक एक इन्द्रियके विषयमें उच्च जीव नष्ट होते देखते हैं तौ भी समस्त जीवोंने इन्द्रियविषयोंमें प्रीति (अनुराग) होती है तो यह क्या खेद अधरा आश्चर्य है ॥ ३५ ॥

आर्षा ।

एकैककरणपरयशमपि मृत्यु याति जन्तुजातमिदम् ।

सकलाक्षविषयलोला* कथमिह कुशली जनोऽन्य स्यात् ॥ ३६ ॥

अर्थ—जो यह पूर्वोक्त एक एक इन्द्रियके वग हुआ जीवोंका समूह मरणको प्राप्त हुआ तो जो अन्य प्राणी समस्त इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्त है उसका भला किसप्रकार हो सकता है, अर्थात् वह निराश्रय सुखी हो सकता है ? ॥ ३६ ॥

सवृणोऽप्यक्षसैन्यं य कृमोऽङ्गानीव सपथी ।

स लोके दोषपङ्कटोऽथ रक्षपि न लिप्यते ॥ ३७ ॥

अर्थ—जितप्रकार कृत्रुभा अपने अर्गोंको संकोचता है उसप्रकार जो सपथी मुनि इन्द्रियोंके सेनासमूहको संस्वरूप करता है अर्थात् संकोचता था बन्दीभूत करता है वही मुनि दोषरूपी कृमम भरे इस लोकमें विचरता हुआ भी दोषोंसे लिप्त नहीं होता । भावार्थ—जलमें कमलकी समान अलिप्त रहता है ॥ ३७ ॥

अयतोनापि जायन्ते तस्यैता दिव्यसिद्धयः ।

विषयैर्न मनो यस्य मनागपि कलङ्कितम् ॥ ३८ ॥

अर्थ—जित मुनिका मन इन्द्रियोंके विषयोंसे विविधमात्र भी कलङ्कित नहीं होता उस मुनिके आगे जो दिव्य सिद्धियें करी जायेंगी वे बिना यत्नके ही उत्पन्न होती हैं ॥ ३८ ॥

इस प्रकार ध्यानके पातक कषाय और विषयोंका ध्यान विद्या, इमते निर्जीन हुआ कि कषायी तथा विषयी पुरुषके प्रशस्त ध्यानकी सिद्धि कहाँ ही होती है ॥

अवाहरी वक्षित ।

बोध क्षमार्ते विशारि मात्र मुमुक्षार्ते मारि

माया ऋतुगार्ते लोभ तोषर्ते मिटावना ।

निष्कषाय भय इद्री मन वशि ह्येयं तत्रै,
 ध्यानयोग्य भाव जग जोग धिर थायना ॥
 अयमती यहै रीति जात नाहि जनि ताके,
 सदा एकांत पन्न एव रूप भायना ।
 एकमे गनेन भाव नित्य वा अनित्य आदि,
 शुद्ध औ अशुद्ध मान निजरूप पायना ॥ २१ ॥

इति श्रीगुमचन्द्राचार्यनिरचिते ज्ञानाणने योगप्रणीपाधिकारे अतनिपदनिरोधो
 नाम त्रिंश प्रकरणम् ॥ २० ॥

अथ एकविंश प्रकरणम् ।

आगे तीन तत्त्वोके प्रकरणरा प्रारम्भ हे, जिनका आशय यह है कि अत्यमनी ता
 तत्त्वोंकी कल्पना करके उनका ध्यान करते हैं और उस ध्यानसे सब सिद्धि होने
 कहते हैं, इसकारण उनका भ्रम दूर करनेके लिये आचार्य महागज तीन तत्त्वों
 व्याख्यानद्वारा कहते हैं कि ये तत्त्व एक आत्माहीकी सामर्थ्यरूप हैं । यह आत्मा ध्यान
 बलसे अचित्त सामर्थ्यरूप हो चेष्टा करता है । इस आत्माके अनिरिक्त अन्य बलसे
 है सो सब मिथ्या है, इस कारण आत्माका सामर्थ्य वर्णन करते हैं ॥

अयमात्मा स्वय साक्षाद्गुणरत्नमहार्णव ।

सर्वज्ञ सर्वदृक् सार्व परमेष्ठी निरञ्जनः ॥ १ ॥

अर्थ—यह आत्मा स्वय साक्षात् गुणरूपी रत्नोत्तम भरा हुआ समुद्र है तथा
 यही आत्मा सर्वज्ञ है, सर्वदर्शी है, सबके हितरूप समस्त वस्तुधर्म व्याप्त है, परमेष्ठी
 (परमपद्म स्थित) है और निरञ्जन है अर्थात् जिनके किसी प्रकारकी कालिमा नहीं
 है । शुद्ध नयन निपयभूत आत्मा ऐसा ही है ॥ १ ॥

तत्स्वरूपमजानानो जनोऽयं विधिवञ्चितः ।

विषयेषु सुगम वेत्ति यत्स्यात्पाके विपाकवत् ॥ २ ॥

अर्थ—उस आत्माके स्वरूपको नहीं जानता हुआ यह मनुष्य कर्मोंसे वञ्चित हो
 इन्द्रियोंके निषेधोंसे सुख जानता है सो बड़ी भूल है । क्योंकि, इन्द्रियोंका निषेध निरा
 वसमयम निषेधित अन्त समाप्त होता है ॥ २ ॥

यत्सुगम यमिरागस्य मुने प्रशमपृथक्कम् ।

न तस्यानन्तभागोऽपि प्राप्यते त्रिदशेश्वरैः ॥ ३ ॥

अर्थ—जो एक हीतराग गुनिर प्रथमरूप (मन्त्ररूप) विगुदतापुनर है
एकवा अतः तब भाग भी इन्द्रको प्राप्त नहीं है ॥ ३ ॥

अनन्तपापपीयोदिनिर्मला गुणिभिर्गुणा ।

रन्मिमेव स्य सृष्ट्या अपास्य करणान्तरम् ॥ ४ ॥

अर्थ—भावात् तब आत दीक्षा, गुण गुणी पुरुषोंके द्वारा अपने आत्मान ही अन्य
निद्रादिनी मरणात्वात् छोड़ अपने आत ही होने पादिये ॥ ४ ॥

अतो अनन्तपापपापमात्मा पित्रप्रकाशक ।

प्रिलोक्य चाल्पयस्य प्यानशक्तिप्रभायत ॥ ५ ॥

अर्थ—अतो तब आता आतसयस्य है तथा समस्त यन्त्रभावी प्रकाशित
करनेवाला है तथा ध्यानादि प्रभायत तीतो लोकसो भी पलायमान कर सरता है ।
भावार्थ—हुनि तब एता करते हैं तब तीतो लोकोंके इन्द्रादे आसन बन्धायमान होते
हैं अपना ध्यान कर करने जो बोध जीव कीर्षकत्व प्राप्त करता है उसका जन्म होनेके
बाद तीतो लोकोंको छोड़ होता है ॥ ५ ॥

अथ श्रीरामा मन्ये योगिनामप्यगोचरम् ।

यत्तन्माधिप्रयोगेण स्फुरत्यप्यत क्षणे ॥ ६ ॥

अर्थ—आपस महाराज कहते हैं कि इस आत्माकी शक्तिसे मैं ऐसा समझता हूँ
कि वह योगियोंके भी अगोचर है । क्योंकि समाधि ध्यान तब स्वरूप प्रयोगोंसे क्षण
भंग । अगोचर प्रकाश होती है । भावार्थ—आत पदार्थोंके देनेसे जाननेकी शक्ति
प्रगट होती है ॥ ६ ॥

अपमात्मा स्य साक्षात्परमात्मेति निश्चय ।

विशुद्धध्याननिर्धृत कर्मन्धासमुत्कर ॥ ७ ॥

अर्थ—जिस समय विगुद ध्यान करत वमरूपी इन्द्रादि भक्त कर देता है
उन समय यह आत्मा ही स्य साक्षात्परमात्मा हो जाता है, यह निश्चय है ॥ ७ ॥

ध्यानादेव गुणग्राममस्याशेष स्फुटी भवेत् ।

क्षीयते च तथानादिमभया कर्मसन्तति ॥ ८ ॥

अर्थ—इस आत्माके गुणोंका समस्त समूह ध्यानसे ही प्रगट होता है तथा ध्यान
में ही अनादिवाली सचित की हुई कर्मसन्तति गट होता है ॥ ८ ॥

शिष्योऽप्यधनेष्वस्मरध्यामैव कीर्तित ।

अणिमादिगुणानर्घ्यरत्नवाधिर्धर्मन ॥ ९ ॥

अर्थ—विद्वानोंके द्वा आत्माको ही गिर, गरुड और काम कहा है । क्योंकि यह

आत्मा ही अणिमा महिमादि अनर्थ (अमूल्य) गुणरूपी स्वरूप सन्तुष्ट है। मात्राव शिरतत्त्व, गरुडतत्त्व और कामतत्त्व जो अन्यमयी ध्याने लिये म्यापन करते हैं। आचार्य महाराज कहते हैं कि यह आत्मा ही की चेष्टा है, आत्मा में भिन्न अन्य का पदार्थ नहीं है ॥ ९ ॥

इह च प्रत्याम्तर ।

“आत्यन्तिकस्वभावोत्थानन्तज्ञानसुखं पुमान् ।

परमात्मा विष. कन्तुरहो मायात्म्यमात्मन ॥ १ ॥

अर्थ—अहो! आत्माका माहात्म्य कैसा है कि—आत्यन्तिक कहिये अन्तरहित अनन्तर स्वरूपसे उत्पन्न हुए अनन्तज्ञान अनन्तमुखाला ऐसा परमात्मा स्वरूप विष तथा गरुड और काम यह आत्मा ही है ॥ १ ॥

अब इन तीनों तत्त्वोंको आचार्य महाराज गद्यद्वारा स्पष्ट करते हैं ॥ १ ॥

यथान्तर्बहिर्भूतनिजनिजानन्दसन्दोहसपाद्यमानद्रव्यादिचतुष्कस कलसामग्रीस्वभावप्रभावात्परिस्फुरितरत्नत्रयातिशयसमुल्लासितस्वशक्तिनिराकृतसकलतदाधरणप्रादुर्भूतशुक्लध्यानानलबहुलज्वालाकलापकवलितगहनान्तरालादिसकलजीवप्रदेशधनघटितससारकारणज्ञानावरणादिद्रव्यभावयन्धनविश्लेषस्ततो युगपत्प्रादुर्भूतानन्तचतुष्टयो घनपटलधिगमे सवितु प्रतापप्रकाशाभिष्यक्तिवत् स खल्वयमात्मैव परमात्मव्यपदेशभागभवति ॥ १० ॥

अर्थ—यथा—जैसी चाहिये वैसी, अन्तरग और बहिर्भूत, तथा निज (अपनी) निजानन्दसन्दोह—(अपने आनन्द स्वरूप विशुद्धता सहित परिणामोत्प्रे समूहस) सपाद्यमान—अर्थात् उत्पन्न की हुई वा प्राप्त की हुई द्रव्य क्षेत्रकालमानके चतुष्क स्वरूप समस्त सामग्रीरूप स्वभावसे प्रभावसे प्रगट हुआ जो सम्यक् दर्शन—ज्ञान—परिग्रह रत्नत्रय उससे अतिशयसे (प्रकर्ष) उल्लासरूप हुई (उदयरूप हुई) अपनी शक्ति निराकरण किया हुआ तदावरण—मोहकर्मका उदय, उससे प्रगट हुई शुक्लध्यानरूप अग्निसी ज्वालाके पृथक् वितर विचार आदि भेदरूप विशुद्धताके समूहसे ग्रामीभूत किये हैं सघन, और अन्तरालवर्ती अनादिकालके जीवके प्रदेशोम समूहरूप ठहरे हुए समारोह कारणस्वरूप ज्ञानावरणादि द्रव्यकम भावकर्मके बधनके विशेष निमने एसा, तत्पश्चात् प्रगट हुआ है युगपत् (एकही कालमें) अनन्त ज्ञान—दर्शन—मुख—वीर्यरूप चतुष्टय निमने ऐसा, जैसे मेषपटलों में दूर होनेसे सूर्यका प्रताप और प्रकाश युगपत् (एक साथ) प्रगट होता है उसी प्रकार प्रगट हुआ आत्मा ही निश्चय करके परमात्मा के व्यपदेश (व्यापक) भावक होता है। भावार्थ—यह आत्म्य भाव—अवस्थाम् जीवार्थमा कहाता

है और जब यही आत्मा अक्षरग तथा धारास्वरूप द्रव्य-क्षेत्र-वाल-भावरूप ममज्ञान प्रीको प्राप्त होता है तब इससे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र्यके अनिज्जन्तकी प्राप्ति होती है। उसके साधनमें मोहरा प्रमत्तमसे अमात्र होनेपर गुरुध्यान प्रगट होता है। उस गुरुध्यानके प्रमाणसे धानिया कमोरा नाश होनेपर अनन्तचतुष्टय प्राप्त होता है, इस प्रकार आत्मा परमात्मा नाम पाता है और इसीको गिब वा दिव्यतत्त्व कहने हैं। यह शिवतत्त्वका स्वरूप कहा गया ॥ १० ॥

अब गरुडतत्त्वको कहते हैं, सो अन्यमनी गरुडतत्त्वरी ऐसी कल्पना करने है कि— गरुडपक्षीरा सा तो मुख, और दूसरे गध अग मनुष्यके समान विन्नु दोनों तरफ पोट्ट ओतक (गोडोंतर) लटकती हुई दोनों पाँखें और उगमें (घोंघन) दो सगौंठी टारी (पंज) उनमेंसे एक सगौं सौ मस्तरपर होकर पीन्वी तरफ लटकता हुआ और दूसरा पेटकी तरफ लटकता हुआ तथा पोट्टुओंके नीचे नीचे सौ शृषिरीतत्त्वरी रचना और पोट्टुओंसे उपरि नाभिपर्यंत अपूर्तत्त्वरी (जलतत्त्वरी) रचना और उमर उपरि हृदय पर्यन्त अग्नितत्त्वरी रचना और उसके उपरि मुगम पद्मातत्त्वरी रचना, इन्द्रवर आकाशतत्त्वमें गरुडकी कल्पना करके ध्यान करते हैं और उगे मगम उपद्रव देने वाला कहते हैं। उसका स्वरूप सरकृत गद्य (वर्णन) द्वारा आपस महाज्ञान करने है। उसमें प्रथम शृषिरी तत्त्वका स्वरूप कहते हैं,—

अधिरत्नमरीचिमञ्जरीपुञ्जपिञ्जरितभासुरतरशिरोमणिमण्डलीगाह
रमण्डितविकटतरफूत्कारमागतपरपरोत्पातमेहोलितकुल्लालममि
तशिगिशिग्यासन्तापद्रव्यत्काधनकान्तिकपिञ्जनिजबायबान्तिच्छटा
पटलजटिलितदिग्यलयक्षत्रियभुजङ्गपुङ्गवक्षितपपरिक्षिताक्षिनिर्षीजधि
सृष्टप्रकटपयिपञ्जरपिनरुसयनगिरिचतुरखमेदिनीमण्डलावलम्बनगज
पतिपृष्ठप्रतिष्ठितपरिकल्पितबुलिशाकरशपीप्रमुखदिलाभिर्नीराहारदण्ड
नौद्वसितलोचनसहस्रभीप्रिदशपतिमुद्रालम्बनसमस्तभुजनावलम्बितगु
नासीरपरिकल्पितजानुद्वय इति पृथ्वीतत्त्वम् ॥ ११ ॥

अर्थ—प्रभुर अधिरत्नरूप विरत्नोंकी लताओंके समस्त पीन्वी देरीपदन (पद्म) बने हुए) महारमणियोंकी कटलीके सहस्रद्वारा मंडित, और अल्प विरट विरटने हुए इत्वाररूप पत्तरी परता (वलिरूप परिपरी) के पद्मात करने हुए सुल्लोका बालक समान करिण (पीतरत्नस्वरूप), अपो रगीरकी बाजिरी टलक के पद्मात लम्ब अटिलित विजा है दिग्यओबा बन्द विरटने देने, दे विरटल्लुच रनेर का है

सर्पोंमें प्रमान तो सर्पोंमें (जिनमें ताम वायुनी और शम्भुगन है) दक्षित ऐसा वृद्धि मडल है सो क्षितिमें बीजाक्षरों सहित है तथा वज्रपञ्चरत्ने (पञ्चमण्डित गेमात्रे) सुन्दर बंधा हुआ और सप्तगिरि (मेरुपर्वत) सहित चौमोन, (इसप्रकार पात्र गिरा प्रम मडलके हैं) ऐसा पृथ्वी मडल है आधार जिमका (यह इन्द्रका विशेषा है) और ऐरावत हस्तीमें स्कन्धपर चढ़ा हुआ, हायम वज्र है, शशी आग्नि मुन्दर देवानागण शृंगार देखनेमें प्रफुल्लित है हजार नेत्र जिममें ऐसी देवेंद्रजी मुद्रामें गोमायमान है, ऐसे समस्तभुवनका आलम्बन करनेवाले मुनाधीर (इन्द्र) के द्वारा रचनारूप किये हैं दोनो जानु जिसने ऐसा गरड है । यहातक पृथिवीतत्त्वमहित गरटका विशेषण है ॥११॥

आगे जलतत्त्वका स्वरूप कहते हैं—

तदुपरि पुनरानाभिधिपुलतरसुधासमुद्रसन्निभसमुद्रसन्निजशरीर प्रभापटलव्याप्तसकलगगनान्तरालवैड्यादीविषयरायनद्वारारणीना क्षरमण्डनपुण्डरीकलक्ष्मोपलक्षितपारागारमयप्रण्डेन्दुमण्डलाकारवर णपुरप्रतिष्ठितधिपुलतरप्रचण्डमुद्राग्रहेति त्रिकीर्णशिशिरतरपय कणका न्तिकर्बुरितसकलककुपथककरिमकरमारुदप्रशस्तपाशपाणिवरुणासृज मुद्राबन्धविधुरितनिःशेषविपानलसतानभगवद्वरुणनिर्गुणोत्सगप्रदेश इति अप्तत्त्वम् ॥ १२ ॥

अर्थ—तथा उस जानुद्वये उपरि नाभिपर्यन्त अप्तत्त्व है, वहा अतिमिनीज ज सुधासमुद्र (क्षीरसमुद्र) समान शुक्लवर्ण उल्लासको प्राप्त होते अपने शरीरकी प्रमाके प लसे (तेजसमूहसे) व्याप्त किया है समस्त आकाशका मध्यभाग जिहोंन ऐसे बैर जानिने फर्कोट और पद्म है नाम जिनमें ऐसे दो आशीन्धि सर्पोंसे घेदित अप्मण्ड है और वारण धीजोंसे (जलने बीजाक्षरोंसे) गोभित ओर पुढरीक अर्थात् पचपत्रोपलक्षित श्वेत कमलके चिह्नेसे चिह्नित और पारागारमय कहिये क्षीरसमुद्रमय, खडेन्दु करिये बद्ध चद्राक्षरके मडलके समान, वरुणपुरम तिष्ठता अतिमिनीज प्रचण्ड मुद्रावाला और अग्र हेति कहिये मुख्य निर्णोंसे बखेरे हुए अतिशीतल जलके कणोंकी आकृतिम (व्याप्तिसे) कर्बुरित (नानावर्णवाला) किया है समस्त दिशाओंका समूह जिसने एन और करिमकर कहिये—जलहस्तीपर चढ़ा हुआ सुन्दर नागपाश है हाथमें धिक्क ऐसा जो वरुण दिव्यपाल उसने अमृतकी मुद्रामें बंधमे दूर किया है सम्पूर्ण निरा अग्निश समूह जिसने ऐसे समर्थ वरुण दिव्यपालने द्वारा रचित है उत्सग (कल्पित) स्थान जिसका ऐसा यह गरडका दूसरा विशेषण है ॥ १२ ॥

आगे गरुडने तीमरे विशेषण अगितत्त्वका रूप कहते हैं,—

विस्फुरितनिजयपुष्पलज्वालायलीपरिकलितसकलदिग्दलपत्रिज

न्दशकरक्षिताशुशुक्षणिरचर्णधिस्फुरितविस्तीर्णस्वस्तिकोपपन्नत्रिकोण
मेजोमयपुरमध्यपद्मसतिवस्ताधिरूढज्वलदलातहस्तानलमुद्रोद्दीपित-
सफल्लोषचट्टिपिरचितोरप्रदेश इति यहितत्वम् ॥ १३ ॥

अर्थ—जब पत्नी हुई अपने शरीरकी जालासी पक्षिसे व्याप्त किया है समस्त
दिशाओंका वलय (गण्डल) जिहोंने ऐसे अनन्त ओर कुबलिक नाम धारक ब्राह्मण
जातिरे दो सप्तिसे रचित और खाररूप धीजापरसे स्फुरायमान विलीन तीन कूटोंपर
तीन स्थित (साधिया) सदित ऐसा त्रिकोण तेजोमय देदीप्यमान पुर अग्निम
हर उमके धीषम धापी है वसी जिसने ऐमा, तथा वस्ताधिरूढ कहिये चकरेपर
पद्म हुआ, प्रज्वलित आलात कहिये जलता हुआ काष्ठ है हाथम जिसके ऐसी
अग्निवी मुद्रात समान लोचको उद्योत करनेवाले बहि दिक्पालसे रचित है उरप्रदेश
जिमरा ऐसा तीसरा गरडका विशेषण हुआ । यह अमितत्वका स्वरूप है ॥ १३ ॥

आगे वायुतत्त्वका रूप कहते हैं, —

अधिरतपरिस्फुरितपृष्कारमारुनान्दोलितसकलभुवनभोगपरिभूत
पद्मचरणचमपालकालिमानिजतनुसमुच्छलद्दलकान्तिपटलपिहितनि
गिलनभस्तलशूद्रकाद्रवेपथ्वलपितमरुमुद्रोपपन्नविन्दुसन्दोहसुन्दरम
हामारुनयलपत्रितपात्मकसकलभुवनभोगवायुपरिमण्डलनभस्तपुरा
न्तर्गतपातनकुरद्गपेगधिरणदुर्ललितकरतलकलितचलचिटपकोटिकि
शल्यशालशालिमरुमुद्रोच्छलितसकलभुवनपवनमपयदनारविन्द
इति वायुतत्त्वम् ॥ १४ ॥

अर्थ—जिततर स्फुरायमान होता जो फूलारसे बहता हुआ पवन, उसके द्वारा
परायमान किया जो सरल भुवनका आभोग (मध्य) उसके द्वारा उदाये हुए भम
रोंन समूहकी कालिमान समान, तथा उनमे मिली अपने शरीरकी उछलती हुई प्रचुर
कातिन पटल (समूह)से आच्छादित किया है समस्त आकाशमण्डल जिहोंने ऐसे तपन
और महापद्म नामक दृष्ट जानिके दो सप्तिसे वेष्टित, और गरु मुद्रामे मण्डित और
विन्दुओंक (जलवर्णोंके) समूहसे सुन्दर महामारुत प्रचड पवनके बलयके त्रितय (त्रिक)
स्वरूपसकलभुवनके मध्यम वायुके परिमण्डल स्वरूप नभस्तलपुटके अन्तर्गत निष्ठा हुआ
ऐसा, और वाहन जो वातप्रणी जानिवा हिरण उसके वेगसे विज्ञा करनेमें दुर्लभित
(सीलायुक्त) नाथोंसे परटे हुए चलायमान शाखाओंन अप्रभागमें विशल्य (कोपल)
जिमने ऐसे शालवृक्षी शोभासहित गरुमुद्रासे उत्पन्न हुआ सकलभुवनमें पवन
उममय है गुणकमल विमला ऐसा यह गरडका चौथा विशेषण हुआ और वायुत
त्वका स्वरूप कहा गया ॥ १४ ॥

अथ इन चारोंही तत्त्वोंसहित गरुडका स्वरूप कहते हैं—

गगनगोचरामूर्त्तजयत्रिजयभुजङ्गभूषणोऽनन्ताकृतिपरमविभुर्नभमलानिलीनसमस्ततत्त्वात्मक' समस्तज्वररोगविषरोगद्वामरटाकिनीप्रलयक्षकिन्नरनरेन्द्रारिमारिपरयन्त्रतन्त्रमुद्रामण्डलज्वलनहरिशरभगार्दूलविषदैत्यदुष्टप्रभृतिसमस्तोपसर्गनिर्मूलनकारिसामर्थ्य. परिकलितसमस्तगारुडमुद्राटम्यरममस्ततत्त्वात्मक भजात्मैव गारुडगीर्गाचारत्वमधगाहते । इति विपतत्त्वम् ॥ १७ ॥

अर्थ—आकाशगोचरही है मूर्ति जिनकी ऐमे त्रिजय नामके दो सर्प हैं भूषण जिनके तथा अनन्ताकृति परमविभु अथात् आकाशकी आकृतिस्वरूप सर्वव्यापक, तथा आकाशमण्डलम लीन है पृथ्वी वरुण वहि वायुनामा समस्त तत्त्व त्रिममें, तथा समस्त, वायु पित्त श्लेष्मसे उत्पन्न ज्वर आदिरोग, अनेक जानिके सर्प आदि विषधर जीव, महामय, डाकिनी, कुस्ति (खोटे) मन्त्रर्तृक तथा पिशाच, यम्, भैरवादि किन्नर, अश्वमुख, बर, नरेन्द्र (राजा), शत्रु, महामारी, तथा परके किये यन्त्र, तन्त्र, मुद्रामण्डल, तथा अग्नि, सिंह, शरभ, अष्टापद, शादूल, व्याघ्र, हस्ती, दैत्य, व्यन्तरात्रिक दुष्टदुर्जनादिक सबके किये हुए उपसर्गको निर्मूलन करनेवाला है सामर्थ्य जिसका, ऐसा तथा रचा है समस्त गारुड मुद्रामण्डलका आङ्गुर जिनने ऐमा, तथा पृथ्वीआदि तत्त्वस्वरूप हुआ है आत्मा जिसका ऐसा गारुडगी'के नामको अवगाहन करनेवाला गारुड ऐमा नाम आलाए पाता है । भावार्थ—पहिले चार तत्त्वोंके रूप कहे सो गरुडतत्त्वके विशेषरूप बने गये, उन चारों तत्त्वोंसहित यह गरुडतत्त्व है सो यह आत्माही ही सामर्थ्यका वर्णन है । यह आत्मा ध्यानके बलसे अनेकसामर्थ्यसहित होता है । उसमें देहका रूप है वह सो सब पुद्गलका रूप है और आत्मा है सो अमूर्त्तीक ज्ञान आदि गुणोंकी शक्ति स्वरूप है उसके ध्यानके प्रमाणसे अनेक व्यक्तिरूप चेष्टा होती है, इसप्रकार जानना ॥ १५ ॥

आगे कामतत्त्वका रूप कहते हैं,—

यदि पुनरसौ सकलजगद्यमत्कारिकार्मुकास्पदनिवेशितमण्डलीकृतसरसेक्षुकाण्डम्यरसहितकुसुममायकविधिलक्ष्मीकृतदुर्लभमोक्षलक्ष्मीसमागमोत्कण्ठितकठोरतरमुनिमना । स्फुरन्मरुरकेतु । कमनीयसकलललनाधृन्दयन्दितसौन्दर्यरतिकेलिकलापदुर्ललितचेताश्चतुरश्रेष्ठितन्त्रमहामाघवर्गीकृतजगत्प्रपञ्चैणमाघनो दुरधिगमागाधगहनरागमागान्तर्दोलितसुरासुरनरभृजगद्यक्षमिडगन्धर्वविद्याधरादिवग । स्त्रीपुरुष

[illegible]

अर्थ—पुनः यदि कामतत्त्व विलम्ब भूयात् जाय वा विपरात्राय तो जेता है—
‘अर्थात् कतिपय स्वर्गद्वारापर सावकजातको बगनार बरोसा’ धनुषर ‘बाम’ त्रिने
विद्या और श्रीबन्धर बुद्धावधार विद्यातुभा समर्पित इगुबाइर समान स्वरसहित
एकान्त, शीत, मत्त, धावन, भावन इत्यादि पाँचबाणोकी विधि (आरोपणसे)
लक्षण (विद्या १०५) विद्या है। पुनः परोक्ष मोक्षदमीकं ममागम होनेक लिये उत्तर
विद्या अर्थात् श्रुतिपाँचा यात्रिगते जगत्काम है। तथा—श्रुतारम्भात् मन्त्राकार विहित
भूयात् (जिगर्षा), और बर्माय मुद्रा मन्त्र विधौक मन्त्रद्वारा वदनीय है मुद्राता जिगर्षी
जगत् रत्नागा कामर्षी श्रीगदित ओ वलि (वीणा) उसक बलाप (समूह) दुल्लित
है (अर्थात् है) विल जिगर्षा जगत् है। तथा—धनुर्वादी चेष्टारूप भूभगमात्रसे वशी-
भूत विद्या वि पाँचा समूह है। साथ मना जिगर्ष जेगा है। पुनः दुर्धिमम, अगाध
(गदा) है मध्यभाग जिगर्षा ७५ विमृत रागमय समुद्रम डुलाये है मुर (कल्पवृक्षी देव),
अमुर (भुवनागामी त्रय ज्योतिषी देव), रर (राजादि लोक), पुनः धरणीद्र (क्षोपागा
वि), प (धनार्थक), विद्र (जिगर्ष अत्रागुत्पि रसायनादि विद्या सिद्ध हो),
रोष (व्यापार करनार्थ मध्य (मानव अधिकारी नैर्वादि), विद्यापर (आकाशम
विमानाद्वारा चलनार्थ) दूरिदरसादिबन्ध समूह जिगर्षे जेगा, तथा श्रीपुरुषके भेदस

नवी कत्तना करके अन्यथनी जो ध्यान करते हैं, सो यह आत्मा ही कामची उक्ति कहिये नाम वा सज्ञाको धारण करनेवाला है ॥ १६ ॥

अर उक्त प्रकारकी तीन तत्त्वरूपी समस्त चेष्टायें इस आत्माहीकी हैं ऐसा कहते हैं—
तदेव यदिह जगति शरीरविशेषसमवेत किमपि सामर्थ्यमुपलभा
महे तत्सकलमात्मन एवेति विनिश्चय* । आत्मप्रवृत्तिपरपरोत्पादित
त्वादिग्रहग्रहणस्येति ॥ १७ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज करते हैं कि—इस कारणसे पूर्वोक्त प्रकार शिवतत्त्व-
शुद्धतत्त्व—कामतत्त्वमें इस जातमें शरीरविशेषसे भिन्न हुई जो कुछ सामर्थ्य हम
देखते हैं सो सब आत्माहीकी है । यह हमको मले प्रकार निश्चय है । क्योंकि, शरीरके
ग्रहण करनेमें आत्माकी प्रवृत्तिकी परपरा (परिपाटी) को उत्पत्तिहेतुता है । भावार्थ—यह
आत्मा जैसी शुभ तथा अशुभ तथा अशुद्ध ध्यानादिरूप प्रवृत्ति करता है वैसेही निधि
रूप शरीर धारण करता है । और वैसीही अपने सामर्थ्यरूप अनेक चेष्टायें करना
उत्सव फल होता है ॥ १७ ॥

आगे आत्माका बान पद्यसे करते हैं ।

भाकिनी ।

यदिह जगति किञ्चिद्विस्मयोत्पत्तिपीज
ध्रुजगमनुजदेवेष्वस्ति सामर्थ्यमुचै ।

तदविलम्बमपि मत्या नूनमात्मैकनिष्ठ

भजत नियतचित्ता* शम्भदात्मानमेव ॥ १८ ॥

अर्थ—हे भव्य जीवो ! इस जगत्तम जो कुछ अभोलीरुमें नवनवासी देवीकी, मध्य
लोकमें मनुष्योकी और ऊपलोकमें देवीकी सामर्थ्य विन्य उत्पत्ति करनेका कारण है
सो सरही सामर्थ्य निश्चय करके इस एक आत्माहीमें है । इस कारण हम उपदेश
करते हैं कि निश्चलचित्त होकर, तुम एक आत्माहीको तिरन्तर भजो । भावार्थ—
आत्मा अनन्त शक्ति धारक है, सो इसको निम प्रकार वा निम रीतिसे प्रगट किया
जावे उसी प्रकारसे यह आत्मा व्यक्तरूप (प्राण) होता है ॥ १८ ॥

अचिन्त्यमस्य सामर्थ्यं प्रवक्षु कं प्रभुर्भवेत् ।

तच्च नानाविधध्यानपदवीमधिनिष्ठति ॥ १९ ॥

अर्थ—इस आत्माकी शक्ति अचिन्त्य है । उसको प्रगट करनेको कोई समर्थ
नहीं है । यह शक्ति (सामर्थ्य) नानाप्रकारके ध्यानकी पदवीके आधरमें होता है ।
अर्थात् नानाप्रकारके ध्यानसे ही आत्माकी अचिन्त्य शक्तियें प्रगट होती हैं ॥ १९ ॥

इन्द्रयज्ञा ।

तदस्य कर्तुं जगदहिलीन निरोहिताऽऽस्ते सहजैव शक्तिः ।

प्रयोधितस्ता समभिव्यनक्ति प्रसह्य विज्ञानमय प्रदीप ॥ २० ॥

अर्थ—पूर्वोक्त आत्माकी सामर्थ्य इस जगत्को अपने पदम (प्रभाम) कीन क नेको स्वभावरूपही है, परन्तु वह कर्मोंसे आच्छादित है । निज्ञानरूप उत्कृष्ट दीपको प्रज्वलित करनेसे वह उस शक्तिको प्रगट (स्थानुभंगोवरूप) करता है । भावार्थ आत्माकी शक्तिय सत्र स्वाभाविक हैं । सो अनादिकालसे कर्मोंके द्वारा ढई हुई है । ध्यानादिक करनेसे प्रगट होती हैं । सब नई उत्पन्न हुई दीपकी हैं । सो इन रूपी दीपको प्रकाश होनेपर प्रगट होती हैं । परकी की हुई वस्तुमें कोई भी शक्ति नही होती, अन्यनिमित्तमें उत्पन्न होनेपर जो अन्यमें हुई मानते हैं सो भ्रम है । वे पता नुद्धि है । जब वस्तुका स्वरूप द्रव्यपर्यायस्वरूप जानै तब भ्रम नहि रहता ॥ २० ॥

अथान् अन्यपक्ष है नि—

अथ त्रिजगतीभर्ता विश्वजोऽनन्तशक्तिमान् ।

नात्मानमपि जानाति स्वस्वरूपात्परिच्युत ॥ २१ ॥

अर्थ—यह आत्मा तीन जगत्को भर्ता (स्वामी) है, समस्त पदार्थोंका शासक अनन्तशक्तिमान् है, परन्तु अनादिकालसे अपने स्वरूपसे च्युत होकर अपने आपसे नही जानता । भावार्थ—यह अपनीही भूल है । अर्थात् कर्मोंसे पक्षसे यह दूता अज्ञान का यत्नाया गया है ॥ २१ ॥

अनादिकालसम्भूतैः कलङ्कैः कदमलीकृतः ।

श्लेच्छपार्थान्ममादत्ते स्वतोऽन्यन्तविलक्षणान् ॥ २२ ॥

अर्थ—यह आत्मा आदिमें उत्पन्न हुए कलङ्कोंसे मलिन किया हुआ अन्य विलक्षण अन्तमें मित पदार्थोंको श्लेच्छाने ग्रहण करता है । भावार्थ—पदार्थोंमें से द्वेष मोहमें अहंकार ममकार इष्ट अहिष्ट आदि युद्धि करता है ॥ २२ ॥

हृन्प्रयोधनयनं मोऽयमज्ञानतिमिराहत ।

जानन्नपि न जानाति पश्यन्नपि न पश्यति ॥ २३ ॥

अर्थ—यह आत्मा दृग्जित्ता अज्ञान है, परन्तु अज्ञानकी अन्धकारा अज्ञान है इस कारण जानता हुआ भी नहि जानता और देखता हुआ भी कुछ न देखता ॥ २३ ॥

अविशोऽहंकारादिगर्वाग्रहीकृतान्नाय ।

पश्यन्नपि न जानाति पश्यन्नपि न पश्यति ॥ २४ ॥

अर्थ—अविद्यामे (मोहमे) उत्पन्न रागादिवरूपी विचित्र विकारसे ब्रह्म चित्त होनेमे
२४ आत्मा दुःखरूपी भक्तिमे जलतेहुए दुःख संग्राममें पड़ता है ॥ २४ ॥

स्नोष्टेऽप्यपि यथोन्मत्तः स्वर्णयुद्धा प्रयत्नते ।

अर्थ—अप्यनात्ममूलेषु स्नेहयाऽप्य तथा भ्रमात् ॥ २५ ॥

अर्थ—जैसे पन्ना गायक उन्नत पुरष पत्थरादिकमें गुणानुद्धिसे प्रवृत्ति करता है
उसी प्रकार यह आत्मा अज्ञानमे अपने स्वरूपसे चित्त अन्य वस्तुओंमें स्वेच्छाधाररूप
प्रवृत्ति करता है । भावार्थ—उत्तम राग द्वेष मोह करता है ॥ २५ ॥

यामनाजनिनान्येषु सुखदुःखानि देहिनाम् ।

अनिष्टमपि येनायमिष्टमित्यभिमान्यते ॥ २६ ॥

अर्थ—जीवों जो सुखदुःख हैं वे अनादि अविद्याकी बाधनासे उत्पन्न हुए हैं इसी
कारण ही यह आत्मा अनिष्टको भी इष्ट मानता है । भावार्थ—संसारसम्बन्धी सुख दुःख हैं
। ब्रह्मजनित होनेके कारण अनिष्ट ही है तथापि यह आत्मा उनको इष्ट मानता है ॥ २६ ॥

अयिथ्रान्तममौ जीवो यथा कामार्थलालसः ।

यिद्यतेऽथ यदि स्वार्थे तथा किं न विमुच्यते ॥ २७ ॥

अर्थ—यह आत्मा जिस प्रकार काम और अर्थके लिये अविभक्त परिश्रम करता
है उस प्रकार यदि अपने स्वार्थ अथवा मोक्ष वा मोक्षमागमें लाजसासहित प्रवृत्ति करे
तो क्या यह बर्तित मुक्त न हो ? अवश्य ही हो ॥ २७ ॥

इसप्रकार इस त्रितत्त्वके प्रकरणमें तात्पर्य यह है कि—इन तीन तत्त्वोंकी जो चेष्टा
बड़ी गई तो सब इस आत्माहीकी चेष्टा है । और वे सब ध्यान करनेमे प्रगट होती है इस
कारण आत्माके ध्यान करनेका विधान है । तो ऐनाही करना चाहिये । मिथ्याकल्पना
विरत लिये करनी ? । मिथ्याकल्पनाभोज कुछ लौकिक वस्तुत्वार हो तो हो सत्ता है
परन्तु उससे मोक्षका साधन नहीं होता । इस कारण ऐसा ध्यानही करना उत्तम है
जिससे मोक्ष और सामारिक अभ्युदय प्रगट, इस प्रकार उपदेश है ।

कविच-बनाछरी ।

निय काम विषयतत्त्वध्यानं चापि अभ्यस्यती, तर्हि हम् स्वर्गं मोहं सारथे ह्ये विधानतः ।

निय ब्रह्म काम कौन विषय ब्रह्म यह भ्रम, जानै नाहिं यायातप्य भ्रमं ते भ्रमजतं ॥

जैनवानी स्याद्वाद परतुरूप सत्य ब्रह्म, सत्य रूप आत्माके शक्तिव्यक्तिमानतः ।

पुत्रलसयोगतः अनादि भूलि ब्रह्मपति, दधी शक्ति ध्यान सोलै आपापर जानतः ॥

इति श्रीगुणचन्द्राचार्यविरचिते ज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिनारे

त्रितत्त्ववर्णना नाम एकविंश प्रकरणम् ॥ २१ ॥

अथ द्वाविंश प्रकरणम् ।

आगे अन्यमती ध्यानरी सिद्धि यमनियमात्मिक योगमाधनमे कहते हैं और आन महाराज कहते हैं कि यमनियमात्मिक तो पूराचायेने अन्य वस्तुम व्यापार स्वरूपमें लीन करनेके लिये कहे हैं । अन्यमती जिम प्रकार कहते हैं वैसे स्थिति नहि होती ऐमा वर्णन करते हैं । सो अयमनिर्याका सम्प्रतसूत्र जिमप्रकार है वद आन महाराज कहते हैं ।

अथ कैश्चिद्यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयः ।
लघ्वावधानि योगस्य स्थानानि ॥ १ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि कई अन्यमती “यम १, नियम २, आस ३, प्राणायाम ४, प्रत्याहार ५, धारणा ६, ध्यान ७, और समाधि ८, इस प्रकार अलग योगके स्थान हैं” ऐसा कहते हैं ॥ १ ॥

इसी प्रकार अन्यने भी कहा है, जैसे —

तथान्यैर्यमनियमावपास्यासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधय इति पट् ॥ २ ॥

अर्थ—वैसे ही अन्य कई अन्यमनियोंने यम नियमको छोड़कर आसन १, प्राणायाम २, प्रत्याहार ३, धारणा ४, ध्यान ५ और समाधि ६ ये छह ही कहे हैं ॥ २ ॥

तथान्यैः,—

इसी प्रकार फिर अन्यने अन्य प्रकार कहा है । उसका पाठ —

उत्साहाग्निश्चपादैर्यात्सन्तोपात्तत्त्वदर्शनात् ।

मुनेर्जनपदत्यागात् पद्धिर्योगः प्रसिद्ध्यति ॥ १ ॥

अर्थ—उत्साहसे, निश्चयसे, धैर्यसे, सन्तोपसे, तत्त्वदर्शनसे, देशके त्यागसे योग सिद्धि होती है ॥ १ ॥

फिर कोई एक इस प्रकार कहता है—

एतान्येवाहुः केचिच्च मन स्थैर्याय शुद्धये ।

तस्मिन्स्थिरीकृते साक्षात्स्वार्थसिद्धिर्भुव भवेत् ॥ २ ॥

अर्थ—कोई ऐसे कहते हैं कि—ये यमादिक कहे हैं सो मनको स्थिर करनेके लिये तथा मनकी शुद्धताके लिये कहे हैं क्योंकि, मनके स्थिर होनेमे साक्षात्स्वार्थ सिद्धि होती है ॥ २ ॥

तथा फिर भी कहते हैं—

यमादिषु कृताभ्यासो निःसंगो निर्ममो मुनिः ।

रागादिक्लेशनिर्मुक्त करोति स्ववश मनः ॥ ३ ॥

अर्थ—जितने यमादिकमें अभ्यास किया है, परिग्रह और ममतासे रहित है ऐसा मुनिही अपने मनको रागादिकसे निमुक्त तथा अपने वशमें करता है ॥ ३ ॥

अथ पूर्वाचार्योकी उक्ति कहते हैं कि—

अष्टावद्भानि योगस्य यान्युक्तान्यार्यसूरिभिः ।

चित्तप्रमत्तिमार्गेण धीजः स्फुस्तानि मुक्तये ॥ ४ ॥

अर्थ—योगके जो आठ अंग पूर्वाचार्योंने कहे हैं व चित्तकी प्रमत्तताके मार्गसे मुक्तिके लिये धीव्रभूत (कारण) होते हैं, अन्यप्रकारसे नहीं होते इन प्रकार पूरा चार्योंने कहा है ॥ ४ ॥

अङ्गान्यष्टायपि प्रायः प्रयोजनयशात्कचित् ।

उक्तान्यष्टैव तान्युच्येदिदाङ्गुर्वन्तु योगिनः ॥ ५ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि ये आठों अंग भी प्रयोजनानुसार प्रायः इसी प्रन्थमें कहे गये हैं, उन्हें अलगप्रकार सबको जानना चाहिये ॥ ५ ॥

अथ मनोरोधका बान कहते हैं—

- मनोरोधे भवेद्बुद्ध विश्वमेव शरीरिभिः ।

प्रापोऽसृष्टतचित्तानां शेषरोधोऽप्यपार्थक्यः ॥ ६ ॥

अर्थ—जितने मनका रोध किया उसने सबही रोका, अर्थात् जितने अपने मनको बंध किया उसने सबको बंध किया और जितने अपने मनको बन्धनमें नहीं किया उसका अन्य इन्द्रियादिकका रोचना व्यर्थ ही है ॥ ६ ॥

अथ मनके व्यापारका बान करते हैं—

कलङ्कविलसः साक्षान्मनःशुद्धैव देहिनाम् ।

तस्मिन्नपि समीचृते स्यात्सिद्धिर्दाहता ॥ ७ ॥

अर्थ—मनकी शुद्धतामें ही साक्षात् कलबका विलस होता है और जीवोंके उनका समभावस्वरूप होनेपर सार्यकी निदि बरी है। क्योंकि जब मन साद्वैतरूप नहीं स्वर्तता तब ही अपने स्वरूपमें हीन होता है, वही सार्यकी निदि है ॥ ७ ॥

चित्तप्रपञ्चजानेकविकारप्रतिपन्धका ।

प्राप्नुवन्ति नरा नून मुक्तिकान्ताकरग्रहम् ॥ ८ ॥

अर्थ—जो पुरुष चित्तके प्रपञ्चन उत्पन्न हुए अनेक प्रकारके विकारोंको रोकने—

हैं वे ही निश्चय मुक्तिरूपी मीरे कर्मफलको प्राप्त होते हैं । भाग्य—यस
ही मुक्तिरूपी मी निरादित होती है ॥ ८ ॥

अनमोदेव संरूप्य श्रुत गान्धीनमगमा ।

यदि चेष्टु समुद्युक्तस्य कर्मनिगद दाम ॥ ९ ॥

अर्थ—भाग्य मनागत क्यों है कि भाग्य है भगवान् ! यह नू कर्त्तृ है
येदियोंको कर्मनेके तिम उद्यमी हुआ है तो उग भाग्य ही मगन निहन्नों तेका
नीम ही अपने नाम कर ॥ ९ ॥

सम्यगस्मिन्मम नीने दोषा जन्मग्रमोदया ।

जन्मिना गलु जीर्णने ज्ञानश्रीप्रतिपन्नाका ॥ १० ॥

अर्थ—इस मनको मन्त्रकार समभावस्य प्राप्त कर्मने जीर्णने ज्ञानरूपी स्त्री
प्रतिपन्नक, समाके धमणने उद्यम हुए दोष निश्चय करके नष्ट हो जाने हैं ॥ १० ॥

एक एव मनोदेव्यजय' सर्वार्थसिद्धिद ।

अन्यत्र विफल हेतुं यमिना मज्जय विना ॥ ११ ॥

अर्थ—सयमी मुनियोंको एक मात्र मनरूपी देवका जीतना ही समस्त अर्थोंकी नि
द्विधा देनेवाला है, क्योंकि इस मनको जीते विना अन्य प्रत नियम तब व गन्नादिसे
हेतु करना व्यर्थ ही है ॥ ११ ॥

एक एव मनोरोध. सर्वाम्पुदयसाधक ।

यमेवालम्य सप्राप्ता योगिनस्तत्त्वनिश्चयम् ॥ १२ ॥

अर्थ—एक मनका रोकना ही समस्त अम्पुदयोंका साधनेवाला है क्योंकि मनो
धका आलस्यन करके ही योगीश्वर तत्त्वनिश्चयताको प्राप्त हुए हैं ॥ १२ ॥

पृथक्करोति यो धीर स्वपरावेकता गतौ ।

स चापल निगृह्णाति पूर्वमेवान्तरात्मन ॥ १३ ॥

अर्थ—जो धीरवीर पुरुष एकताको प्राप्त हुए आत्मा और शरीरादि परबलुके
पृथक् २ करके अनुमन करते हैं वे सनसे पहिले अन्तरात्मासी अपात् मनकी चंचलताको
रोक लेते हैं ॥ १३ ॥

मन शुद्धैव शुद्धि स्यादेहिना नात्र सशय ।

वृथा तद्व्यतिरेकेण कायस्यैव कदर्थनम् ॥ १४ ॥

अर्थ—नि सदेह मनकी शुद्धिसे ही जीवोंके शुद्धता होती है, मनकी शुद्धिके बिना
केवल कायको क्षीण करना वृथा है ॥ १४ ॥

ध्यानशुद्धिं मन शुद्धि' करोत्येव न केवल ।

विच्छिन्नरूपपि नि शङ्क कर्मजालानि देहिनाम् ॥ १५ ॥

अर्थ—गारी शुद्धता केवल ध्यानही शुद्धताको ही गढ़िं करती है विन्तु जीवोंके मनजातको (बमोंके समूहको) भी नि संरेह काटती है । भावार्थ—मनकी शुद्धतासे ध्यानही निरालता भी होती है और बमोंकी निर्जरा भी होती है ॥ १५ ॥

पादपङ्कजमलीन तस्यैतन्नुचनघ्नयम् ।

यस्य चित्त स्थिरीभूय स्वस्वरूपे लय गतम् ॥ १६ ॥

अर्थ—जिन मुनिका मन स्थिर होकर आत्मस्वरूपमें लीन हो गया उसके धरणक मलोमें दूर हीनो जगत् भले प्रकार लीन हुए समझने चाहिये ॥ १६ ॥

मन कृत्वाशु नि सद् नि शेषविषयक्युतम् ।

मुनिभूद्द समासीद मुक्तेर्यदनपङ्कजम् ॥ १७ ॥

अर्थ—जिन मुनिरूपी भ्रमरोंने अपने मनको नि सगताने शीघ्र ही समस्तविषयोंसे छुड़ाया उन्होंने ही मुक्तिरूपी रीके मुक्तरूपी कमलको आलिंगन किया ॥ १७ ॥

पथा पथा मन शुद्धिर्मुने साक्षात्प्रजायते ।

तथा तथा पियेकभीर्हृदि घत्ते स्थिर पदम् ॥ १८ ॥

अर्थ—मुनिके जैसे २ मनकी शुद्धता सागान् होती जाय तैसे २ विवेक अपात् भेद ज्ञानरूप स्थानी अपने हृदयम स्थिरपदको धारण करती है । भावार्थ—मनकी शुद्धतासे उत्तरोत्तर विवेक बढ़ता है ॥ १८ ॥

चित्तशुद्धिमनासाद्य मोक्ष य सम्पनिच्छति ।

मृगतृष्णातरङ्गिण्या स पियत्यमु केवलम् ॥ १९ ॥

अर्थ—जो पुरय चित्तकी शुद्धताको न पाकर भले प्रकार मुक्त होना चाहता है वह केवल मृगतृष्णाकी नदीमें जल पीता है । भावार्थ—मृगतृष्णामें जल कहासे आया? उनी प्रकार चित्तकी शुद्धताके बिना मुक्ति कहासे हो? ॥ १९ ॥

तद्ध्यान तद्वि विज्ञान तद्धोय तत्त्वमेव वा ।

येनाविद्यामतिप्रम्य मनस्तत्त्वे स्थिरी भवेत् ॥ २० ॥

अर्थ—वही तो ध्यान है, वही विज्ञान है और वही ध्येय तत्त्व है कि—जितके प्रमाणमें अधिदाको उल्लेखकर मन निजस्वरूपमें स्थिर हो जाय ॥ २० ॥

विषयग्रासलुब्धेन चित्तदैत्येन सर्वथा ।

वित्रम्य खेच्छयाजस्र जीयलोक कदर्थित ॥ २१ ॥

अर्थ—विषय ग्रहण करनेन लुब्ध ऐसे इस चित्तरूपी दैत्यने (राभसने) सब प्रकार विनिया करके त्रिकाररूप हो अपनी इच्छानुसार इस जगतको पीडित किया है ॥ २१ ॥

अवार्पवित्रम सोऽय चित्तदन्ती निवार्पताम् ।

न पायर्दिसपत्येय सत्सयमनिकेतनम् ॥ २२ ॥

अर्थ—हे मुने! यह चित्तरूपी हृत्ती ऐसा प्रबल है कि इसका पराक्रम अनिर्वाणी
सो जगतक यह सभीजीनसयमरूपी घरको नष्ट करता, उसमें पहिले २ तू इसका निवारण
कर। यह चित्त निर्गल (स्वच्छन्द) रहेगा तो सयमको मिगाड़ेगा ॥ २२ ॥

विभ्रमद्विपयारण्ये चलचेतोवलीमुखः ।

येन रुद्धो ध्रुव सिद्ध फल तम्यैव वाञ्छितम् ॥ २३ ॥

अर्थ—यह चंचलचित्तरूपी बदर निययरूपी बनर्म भ्रमता रहता है सो किम पु
पने इसको रोका, बन्ध किया, उसीके वाञ्छित फलकी सिद्धि है ॥ २३ ॥

चित्तमेक न शक्नोति जेतु स्वातन्त्र्यवर्त्ति यः ।

ध्यानवार्त्ता ध्रुवन्मूढः स किं लोके न लज्जते ॥ २४ ॥

अर्थ—जो पुरुष स्वतन्त्रतासे वर्त्तनेवाले एक मात्र चित्तको जीतनेमें समर्थ नहीं।
वह मूर्ख ध्यानकी चर्चा करता हुआ लोभमें लज्जित नहि होता ? । भावार्थ—विना
तो जीत नहीं सक्ता और लोकमें ध्यानकी चर्चायाता करे कि मैं ध्यानी हूँ, ध्यान कर
रहता हूँ सो वह बड़ा निर्लज्ज है ॥ २४ ॥

यदसाध्य तपोनिष्ठैर्मुनिभिर्वीतमत्सरैः ।

तत्पद प्राप्यते धीरैश्चित्तप्रसरयन्धकैः ॥ २५ ॥

अर्थ—जो पद निमत्सर तपोनिष्ठ मुनियों द्वारा भी असाध्य है वह पर किन्हे
मसरको रोकनेवाले धीर पुरुषोंने द्वारा ही प्राप्त किया जाता है । भावार्थ—यस
बाध्यतपसे उत्तम पद पाना असम्भव है ॥ २५ ॥

अनन्तजन्मजानेककर्मबन्धस्थितिर्ददा ।

भायशुद्धिं प्रपन्नस्य मुनेः प्रक्षीयते क्षणात् ॥ २६ ॥

अर्थ—जो अनन्त जन्मसे उत्पन्न हुई दृढ कर्मबन्धी स्थिति है सो भायशुद्धि
प्राप्त होनेवाले मुनिसे क्षणमरमें नष्ट हो जाती है क्योंकि कर्मसय करनेमें भावोंकी दृढ
ता ही प्रपन्न कारण है ॥ २६ ॥

यस्य चित्त स्थिरीभूत प्रसन्न ज्ञानयासितम् ।

सिद्धमेव मुनेस्तस्य साध्य किं कायदण्डनैः ॥ २७ ॥

अर्थ—जिस मुनिका चित्त स्थिरीभूत है, प्रसन्न है, रागादिककी कटुता जितने से
हैं और ज्ञानकी यामनामहित है उस मुनिके साध्य अथवा अपने स्वरूपदिककी प्राप्ति में
सब कार्य मिटही हैं । अतएव उस मुनिको बाध्यतादिकमें कायको दण्डने कुछ लाभ
है ॥ २७ ॥

तपश्श्रुतमयज्ञान-तनुकेशादिसश्रयम् ।

अनियन्त्रितचित्तस्य स्यान्मुनेस्तुपगण्डनम् ॥ २८ ॥

अर्थ—जिम मुनिने अपने चित्तको बड़ा नहि किया उसका सप, शाराध्ययन, व्रत धारण, शान, वायपेय इत्यादि सब तुल्यवहनक समान निस्तार (व्यर्थ) हैं । क्यावि मनके बसीभूत हुए बिना ध्यानकी सिद्धि नहि होती ॥ २८ ॥

एकं हि मनः शुद्धिर्लोकप्रपददीपिका ।

संगलित बहुभिस्तत्र तामनासांग निर्मलाम् ॥ २९ ॥

अर्थ—भारी शुद्धता ही एक मोक्षमार्ग प्रकाश करनेवाली दीपिका (चिराग) है सो उसको निमल न पानेसे अनेक मोक्षमार्गों धुत हो गये ॥ २९ ॥

असन्तोऽपि गुणा सन्ति यस्य यस्या शरीरिणाम् ।

सन्तोऽपि वा यिना यान्ति सा मनःशुद्धिं प्राप्स्यते ॥ ३० ॥

अर्थ—जिम मनकी शुद्धताके होते हुए अविद्यमान गुण भी विद्यमान हो जाते हैं और जिमके न होते विद्यमान गुण भी जाते रहें वही मनकी शुद्धि प्रशस्त करने योग्य है ॥ ३० ॥

अपि लोकत्रयैश्च सर्वलक्ष्मीणनक्षमम् ।

भजत्यचिन्त्यवीर्योऽयं चित्तदैत्यो निरकुशः ॥ ३१ ॥

अर्थ—यह चित्तरूपी दैत्य अचिन्त्यपराक्रमी है सो निरकुश हो कर समस्त इन्द्रियोंको तृप्त करनेमें समर्थ ऐसे तीन लोकके ऐश्वर्यको भोगता है । भावार्थ—जबतक यह मन रुकता नहीं तबतक अपने सख्तोंमें यह इन्द्रियसे सुख भोगता है जिससे कि अनेक कर्म बँधते हैं ॥ ३१ ॥

शमश्रुतयमोपेता जिताक्षा शसितव्रता ।

विद्वन्त्यनिर्जितम्यान्ता स्वस्वरूपं न योगिन ॥ ३२ ॥

अर्थ—जो योगी शमभाव, शाराध्ययन और यम नियमादिमें युक्त हैं और जितेन्द्रिय हैं, तथा जिनके व्रत प्रशस्त करने योग्य हैं वे भी यदि मनको नहि जीते हुए हों तो अपने स्वरूपको नहि जान सकते । भावार्थ—मनके जीते बिना आत्माका अनुभव नहि होता ॥ ३२ ॥

विलीनविषय शान्त निःसङ्ग त्यक्तविक्रियम् ।

स्वस्य कृत्वा मनः प्राप्त मुनिभिः पदमध्ययम् ॥ ३३ ॥

अर्थ—मुनिगणोंने अपने मनको विलीनविषय, शान्त, निःसङ्ग (परिग्रहके भग्न रहित), विचाररहित स्थिति करके ही अव्ययपदको (मोक्षपदको) पाया है । भावार्थ—जब मनको अन्य विषयों से रहित करके आत्मस्वरूपमें स्थिर कर सव ही मोक्षकी प्राप्ति होती है ॥ ३३ ॥

गाम्गा ।

दिरुचक्रं दैत्यधिप्य त्रिदशपतिपुराण्यमुसागान्तरालं
 द्वीपाम्भोधिप्रकाण्ड गचरनरसुगाहीन्द्रासममप्रम् ।
 गतत्रैलोरुयनीद पवनचयचित चापलेन क्षणार्ध

नाथान्त चित्तदैत्यो भ्रमति तनुमता दुर्निचिन्त्यप्रभाव ॥ ३१ ॥

अर्थ—जीरोने मनरूपी दैत्यका प्रभाव दुर्निचिन्त्य है । निर्माक चिन्तनमें तब
 आ सकता । क्योंकि यह अपनी चंचलतासे प्रभावमें अपने विगाओंमें दैत्यके मनमें,
 इन्द्रके पुरोंमें, आकाशमें तथा द्वीपममुद्रामें विचार मनुष्य देर धरणी इन्द्रादिके निवास
 स्थानोंमें तथा वातजलयोगहित तीन लोररूपी धर्म सर्वत्र आगे सगनें हा भ्रमन का
 आता है । इसका रोचना अनिष्टाय कठिन है । जो योगीश्वर इसे रोखते हैं वे धन्य हैं ॥ ३१ ॥

मात्रिणी ।

प्रशमयमममाधिध्यानविज्ञानहेतो-
 र्विनयनययियेकोदारचारिप्रशुद्धौ ।

य इह जयति चेत पद्मग दुर्निवार

स बलु जगति योगिवातवन्द्यो मुनीन्द्र ॥ ३२ ॥

अर्थ—इस जगतमें जो मुनि प्रशम (कपायोंका अभाव), यम (त्याग), सनाति
 (स्वरूपमें लय), ध्यान (एकाग्रचित्त), विज्ञानने (निश्चितज्ञानक) अथात् भेदज्ञानक
 लिये तथा विनय नयके (स्वरूपकी प्राप्तिके), निरोधके और उदारचारिप्रकी शुद्धिक
 लिये चित्तरूपी दुर्निवार सर्पको जीतते हैं वे योगियोंके समूहकरके बन्नीय हैं और मुनि
 योंमें इन्द्र हैं ॥ ३२ ॥

इस प्रकार मनके व्यापारका वर्णन किया । यहा अभिप्राय ऐसा है कि—मनको बंध
 किये बिना ध्यानकी सिद्धि नाहि होती और इमने बंध करनेसे सब सिद्धि होनी है ।

दोहा ।

पवनयोगहृत्तं प्रबल, मन भरमै सय ठौर ।

याको बंध करि निज रमै, ते मुनि सय शिरमौर ॥ ३३ ॥

इति श्रीगुमचद्राचायनिरचिते ज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिशरे मनोव्यापार

प्रतिपादनम्बुरूप द्वाविंश प्रकरण समाप्तम् ॥ २२ ॥

अथ त्रयोविंश प्रकरणम् ।

अब ऐसा कहते हैं कि—यदि मनने व्यापारको सजोबसर एकाग्र भी करे तो रागा

दिक ऐसे प्रयत्न है कि वे मनमें विचार उत्पन्न करके विगाड़ देने हैं, इस कारण प्रप
मही रागादिकके दूर करनेका यत्न करता चाहिये,—

निःशेषविषयोत्तीर्ण विकल्पजघर्जितम् ।

स्वतत्त्वंकपर धत्ते मनीषी नियम मन ॥ १ ॥

त्रियमाणमपि स्वस्थ मनः सद्योऽभिप्रायते ।

अनाद्युत्पत्तसयद्धं रागादिरिषुभिर्षयात् ॥ २ ॥

अर्थ—मनीषी (बुद्धिमान्) मुनि यदि अपने मनको समस्त विषयोंमें स्थिति और
ज्ञेयोंमें धर्म या संशयरूप विकल्पोसे वर्जित, अपने स्वरूपमें ही एकाग्र रहकर बैठे, तब
आत्मस्वरूपके सन्मुख स्वस्थ किया हुआ मन भी अनादिकालमें उत्पन्न हुए या दूरे हुए
रागादि शयुओंसे जनरदस्ती पीड़ित किया जाता है । भाषार्थ—मनको रागादि शयु
शुद्धकरके निष्काररूप कर देते हैं ॥ १ ॥ २ ॥

स्वतत्त्वानुगत चेत करोति यदि सयमी ।

रागादयस्तथाप्येते क्षिपन्ति भ्रममागरे ॥ ३ ॥

अर्थ—यद्यपि सयमी मुनि निजस्वरूपमें अनुगत भावा जय कराना है तब
रागादिक भाव उसको फिर भी भ्रमरूपी समुद्रमें डाल देते हैं ॥ ३ ॥

आत्माधीनमपि स्वान्तं सद्यो रागं कलङ्कयते ।

अस्ततन्मैरतः पूर्वमद्य यतो विधीयताम् ॥ ४ ॥

अर्थ—आपादमहाराज उपदेश करते हैं कि—अपने आधीन (पर) किया हुआ
मन भी रागादिक भावोंसे तबाल कलङ्कित (मलिन) किया जाता है इस कारण
मुनिगणोंका यह कर्तव्य है कि इस निषेध के प्रमादरहित हो रागमें बहिर रह रागादिक
॥ करनेमें यत्न करें ॥ ४ ॥

अपमेनापि जायते विस्तभूमां दारारिणाम् ।

रागादयः स्वभावोत्पन्नानराजपाङ्गणतया ॥ ५ ॥

अर्थ—जीवोंके स्वभावित स्वभावकी रागादिक भावोंसे ध्यान करके रागादिक भाव
विस्तारकी पृथिवीमेंसे किता दमके ही स्वयमेव उत्पन्न होते हैं ॥ ५ ॥

इन्द्रियार्थानपाशृत्य स्वतत्त्वमवलम्बने ।

यदि योगी तथाप्येते उत्पन्नि मुहुर्मनः ॥ ६ ॥

अर्थ—जो योगी मुनि इन्द्रियोंके विषयोंके दूर कर निजस्वरूपका अवलम्बन करे
भी रागादिक भाव मनको बाधकर उत्पन्न हैं अर्थात् फिर उत्पन्न करते हैं ॥ ६ ॥

वसिष्ठो वसिष्ठस्त वसिष्ठान वसिष्ठम् ।

राहित्ये च वसिष्ठोऽपि रागाद्यं विषये मनः ॥ ७ ॥

अर्थ—ये रागादिक भाव मनको कभी तो मूढ करते हैं, कभी भ्रमरूप करते हैं कभी भयभीत करते हैं, कभी रोगाग्नि चलायमान करते हैं, कभी शक्ति करते हैं, कभी शैश्वर्य करते हैं। इत्यादि प्रकारसे भ्रिस्ताने डिगा देते हैं ॥ ७ ॥

अजस्र रूध्यमानेऽपि चिराम्भ्यासाद्दृढीकृता ।

चरन्ति हृदि नि शङ्का नृणा रागादिराक्षसा ॥ ८ ॥

अर्थ—मनुष्योंके निरन्तर वग विषये हुए मनमें भी चिरकालसे अन्यत्र किये रात दिक् राक्षस नि गर हो प्रवृत्तते हैं। भावार्थ—रागादिकका सम्कार ऐसा प्रबल है कि एकाग्र मन करे तो भी चलायमान कर देते हैं ॥ ८ ॥

प्रयासे फल्गुभिर्मूढ किमात्मा दण्ड्यतेऽधिकम् ।

शक्यते न हि चेचेत कर्तुं रागादियर्जितम् ॥ ९ ॥

अर्थ—हे मूढ प्राणी! जो अपने चित्तको रागादिकसे रहित करनेको समर्थ नहीं है ठे व्यर्थ ही अन्य क्लेशोंसे आत्माको ढढ क्यों देता है? क्योंकि रागादिकके मिटे बिना भव वेद करना निष्फल है ॥ ९ ॥

क्षीणराग च्युतद्वेषं ध्वस्तमोहं सुसघृतम् ।

यदि चेत् समापन्न तदा सिद्धं समीरितम् ॥ १० ॥

अर्थ—क्षीण हुआ है राग जिसमें ओर च्युत हुआ है द्वेष जिसमें तथा नष्ट हुआ है मोह जिसमें ऐसा जो मन सन्नताको प्राप्त है तो बाटित सिद्धि है। भावार्थ—चित्तमेंसे द्वेष और मोह तो नष्ट हों और रागादिक क्षीण हों तथा अपना स्वरूप साधने राग रह तो सर्व प्रकारसे मनोवाटित सिद्ध होते हैं ॥ १० ॥

मोहपङ्के परिक्षीणे प्रशान्ते रागविभ्रमे ।

पदयन्ति यमिनं स्वस्मिन्स्वरूप परमात्मन ॥ ११ ॥

अर्थ—मोहरूपी बदमने क्षीण होनेपर तथा रागादिक परिणामोंने प्रशान्त होनेपर योगीश्वर अपनेमें ही परमात्माके स्वरूपको अवलोकन करते हैं वा अनुभव करते हैं ॥ ११ ॥

महाप्रशमनप्रामे शिष्यश्रीमगमोत्सुकैः ।

योगिभिर्ज्ञानशस्त्रेण रागमहो निपातित ॥ १२ ॥

अर्थ—मुक्तिरूपी लक्ष्मीने संगी वाद्य करनेवाले योगीश्वरोंने महाप्रशमनरूपी शस्त्र मने ज्ञानरूपी शस्त्रसे रागरूपी महोको निशान्त किया। क्योंकि हमने इसे बिना शस्त्र लक्ष्मी प्राप्ति नहीं है ॥ १२ ॥

अमङ्गलमविघ्नान्मविघ्नमनादृष्टम् ।

स्वयं न च मन शृत्वा यस्तु न च निरूपय ॥ १३ ॥

अर्थ—हे आत्मा! अपने मावो सहेग, भ्रान्ति और रागादि विकारोंने रहित करके अपने मावो वशीभूत कर तथा बहुतके यथार्थ स्वरूपको अवलोकन कर ॥ १३॥

रागाद्यभिहत चेत् स्वमत्त्वविमुक्त भवेत् ।

तत्र ग्रन्थवन्ते क्षिप्रं ज्ञानरसाद्रिमस्तकात् ॥ १४ ॥

अर्थ—जो पित रागादिकसे पीडित होता है वह स्वतत्त्वमे विमुक्त हो जाता है इसी कारण ही मनुष्य ज्ञानरूपी स्वमत्त्व परवर्तने श्रुत हो जाता है ॥ १४ ॥

रागद्वेषभ्रमाभावे मुक्तिमार्गे स्थिरीभयेत् ।

सयमी जन्मकान्तारसत्रमशेषशुद्धिः ॥ १५ ॥

अर्थ—संसाररूपी भ्रमणक प्रशोन मयमीव सयमी मुनि रागद्वेष मोह भ्रम होनेसे ही मोक्षमार्गमे स्थिर होता है । भाषार्थ—रागद्वेषमोहके विद्वान् रहते मोहभ्रम स्थिरता नहि होती ॥ १५ ॥

रागादिभिरपि भ्रान्तं पश्यमानं मुहुर्मनः ।

न पश्यति परं ज्योतिं पुण्यपापेभ्यः नानलम् ॥ १६ ॥

अर्थ—यह मन है जो रागादिकमे निरंतर वारवार बधिन हुआ मुहुर्मन नही भगिदे समान ऐसी परमज्योति को अवलोकन नहि कर सक्त । भाषार्थ—रागद्वेष मनमे रागद्वेष रहता है तबतक परमात्माका स्वरूप नहीं मानता । अतएव रागद्वेष ही गुमागुभवमोहोंको मष्ट करनेवाले परमात्माका स्वरूप नहीं देखे ॥ १६ ॥

रागादिपङ्कविश्लेषात्प्रसंगे चित्तवार्तिः ।

परिस्पृष्टरति निःशेष मुनेर्बुद्धिस्तु कन्दरम् ॥ १७ ॥

अर्थ—रागद्वेषमोहरूपी बर्द्धमके अभावसे प्रसंगे चित्तवार्ति निःशेष मुनेर्बुद्धिस्तु कन्दरम् वस्तुभीव समूह स्पष्ट स्फुरावमान होने हैं अर्थात् प्रसंगे ही ॥ १७ ॥

स कोऽपि परमानन्दो बीजगन्धर्वः ।

येन लोकत्रयैश्वर्यमप्यबिन्द ॥ १८ ॥

अर्थ—तथा जो कोई एक परमानन्दस्वरूप कन्दरम् बीजगन्धर्व है जो तीन लोकका अधिकार ऐश्वर्य भी तृप्ति करके देता है । अतएव लोकत्रय ऐश्वर्य भी कुछ नहीं है ॥ १८ ॥

प्रशाम्प्यति विरागः स्वकामं च निन्दति ।

एष चर्द्धनेऽनन्तं कर्मफलं च निन्दति ॥ १९ ॥

अर्थ—विराग प्रशाम्प्यति विरागः स्वकामं च निन्दति । एष चर्द्धनेऽनन्तं कर्मफलं च निन्दति । अतएव विराग प्रशाम्प्यति विरागः स्वकामं च निन्दति । एष चर्द्धनेऽनन्तं कर्मफलं च निन्दति ॥ १९ ॥

अर्थ—इस ममार्थमें रागरहित जीवके अमानस्य निम्न आत्म शान्त हो जाता^१ और रागसे पीड़ितक वही अज्ञान बढ़ता है घटता नहीं है ॥ १० ॥

म्यमात्रमनानङ्क वीतरागस्य यन्मुग्धम् ।

न तस्मानन्तभागोऽपि प्राप्यते त्रिदशेश्वरैः ॥ १० ॥

अर्थ—म्यमात्रमे उत्पन्न हुआ आतंक रहित जो मुग्ध वीतरागके होना उससे अनन्तमें भाग भी इन्द्रों^२ नहीं होता । भावार्थ—निर्मलज्ञान और स्वामिक मुग्ध ये दोनों वीतरागके ही होते हैं ॥ २० ॥

गताचनादि समूहौ रागद्वेषौ महामहौ ।

अनन्तदुःखसन्तानप्रसूने प्रथमाङ्कुरौ ॥ २१ ॥

अर्थ—ये अमान्तिमे उत्पन्न रागद्वेषरूपी महा पिशाच वा ग्रह हैं जो अनन्तदुःखों^३ सन्तानकी प्रसूतिके प्रथम अङ्कुर ही हैं । भावार्थ—दुःखकी परिपाटी इनमे ही चलती है ॥ २१ ॥

इह च ग्रन्थान्तरे ।

रागी यध्नाति कर्माणि वीतरागो विमुच्यते ।

जीवो जिनोपदेशोऽथ समासाहन्धमोक्षयोः ॥ १ ॥

अर्थ—रागी जीव तो कर्मोंको बाधता है और वीतरागी कर्मोंसे छूटता है यथ और मोक्ष इन दोनोंका सत्त्व उपदेश जिनेन्द्र सर्वज्ञ भगवान् का है ॥ १ ॥

इस कारण आचार्य महाराज कहते हैं कि—

तद्विवेच्य ध्रुव धीर ज्ञानार्कालोकमाश्रय ।

विशुष्यति च यः प्राप्य रागकलोलमालिनी ॥ २२ ॥

अर्थ—पूर्वोक्त अर्थोंका निचार करके हे धीरवीर^४ निश्चयसे ज्ञानरूपी सूर्यके प्रकाशका आश्रय कर, क्वाणि जिनको प्राप्त होकर रागरूपी नदी सूख जाती है ॥ २२ ॥

चिदचिद्रूपभावेपु सूक्ष्मस्थूलेष्वपि क्षणम् ।

राग स्याद्यदि वा द्वेषः क तदाध्यात्मनिश्चयः ॥ २३ ॥

अर्थ—सूक्ष्म तथा स्थूल चेतन अचेतन पदार्थोंमें क्षणभर भी राग अथवा द्वेष होता तो फिर अध्यात्मका निश्चय कहा^५ ॥ २३ ॥

नित्यानन्दमयीं साध्वीं शाम्भवीं चात्मसम्भवाम् ।

वृणोति धीतसरभो धीतराग शिवश्रियम् ॥ २४ ॥

अर्थ—जिसका सरभ रागादिमयी निरुत्पन्न उद्यम धीत गय है ऐसा धीतराग मुनि नित्यानन्दमयी सनीचीन, साध्वी, आत्मासे उत्पन्न मोक्षरूपी लक्ष्मीको वरता है ।
भावार्थ—मोक्षका स्वामी होता है ॥ २४ ॥

यत्र राग पद घटे द्वेपस्तत्रैति निश्चयः ।

उभावेतौ समालम्ब्य विक्राम्यत्यधिक मनः ॥ २५ ॥

अर्थ—जहापर राग पद घटे अर्थात् प्रवर्तित तहा द्वेय भी प्रवृत्तता है यह निश्चय है और इन दोनोंको अवलम्बन करके मन भी अधिकतर विकाररूप होता है ॥ २५ ॥

सकलज्ञानसाम्राज्य स्वीकर्तुं यः समीप्सति ।

स घन्य शमशस्त्रेण रागशत्रुं निहन्ति ॥ २६ ॥

अर्थ—जो पुरुष समस्त ज्ञानरूप साम्राज्यके अंगीकार करनेकी इच्छा रखता है वह घन्य महाभाग उपशमभाररूप शस्त्रसे रागरूप शत्रुको काटता है ॥ २६ ॥

यथोत्पाताक्षम पक्षी लूनपक्ष प्रजायते ।

रागद्वेपच्छदच्छेदे म्रान्तपप्ररथस्तथा ॥ २७ ॥

अर्थ—जिस प्रकार कटीहुद् पाखोंका पक्षी उड़नेमें अक्षम होता है तैसे मनरूप पक्षी है सो रागद्वेपरूप पाखोंका कट जानेसे निरुत्पन्न भ्रमममे रहित हो जाता है ॥ २७ ॥

चित्तह्वयद्रुर्ध्वस स हि नूनं विजेष्यति ।

यो रागद्वेपसतानतममूलं निहन्ति ॥ २८ ॥

अर्थ—जो पुरुष रागद्वेपके सतानरूप वृषकी जड़को काटता है वह पुरुष बिलरूप पदरक दुर्ध्वविकाररूप भ्रमणको अवश्य ही जीतेगा ॥ २८ ॥

इस प्रकार रागद्वेपका वृणन किया अब इनका मूल कारण मोह है सो उसका वृणन करते हैं,—

अय मोहवशाज्जन्तु कृष्यन्ति द्वेष्टि रजयते ।

अर्पेप्यन्यस्वभावेषु तस्मान्मोहो जगज्जयी ॥ २९ ॥

अर्थ—यह प्राणी मोहके वशसे अन्य स्वरूप वस्तुओंमें मोह्य करता है, द्वेष्ट करता है, तथा राग भी करता है इस कारण मोह ही जगत्को जीतनेवाला है ॥ २९ ॥

रागद्वेपविषोपानं मोहधीज जिनेर्मनम् ।

अतः स एष निशेषदोषसेनानरेश्वर ॥ ३० ॥

अर्थ—इस रागद्वेषरूप निषे के वनका बीज मोह ही है ऐसा भगवान्ने कहा है इन कारण यह मोह ही समस्त दोषों की सेनाका राजा है ॥ ३० ॥

असायेव भवोद्धृतदावबहिः शरीरिणाम् ।

तथा दृढतरानन्तरुर्भवन्धनियन्धनम् ॥ ३१ ॥

अर्थ—यह मोह ही जीवाके ससारसे उत्पन्न हुआ दावानल है तथा अतिशय ही अनन्त कर्म बन्धनका कारण है ॥ ३१ ॥

रागादिगहने त्विह मोहनिद्रावशीकृतम् ।

जगन्मिथ्याग्रहाविष्ट जन्मपङ्के निमज्जति ॥ ३२ ॥

अर्थ—यह जगत रागादिके गहन वनमें खेदखिन्न हुआ मोहरूप निद्राके बशी हो मिथ्यात्वरूपी पिशाचसहित होनेसे ससाररूपी कीचड़में डूबता है । यहां सेइ नि पिशाच ये तीनों ही ये स्वप्न होनेके कारण है यह आत्मा इन कारणोंसे अपनेको भूल ज्ञानरूप समारग्न दुब जाता है ॥ ३२ ॥

स पश्यति मुनिः साक्षाद्विश्वमध्यक्षमञ्जसा ।

य स्फोटयति मोहाख्य पटल ज्ञानचक्षुषा ॥ ३३ ॥

अर्थ—जो मुनि मोहरूपी पटलको दूर फेरता है वह मुनि शीघ्र ही समस्त सार ज्ञानरूपी नेत्रोंमें साक्षात् प्रत्यक्ष (प्रगट) देखता है ॥ ३३ ॥

इय मोहमहाज्वाला जगत्प्रपविसर्पिणी ।

क्षणादेव क्षय यानि ह्लाव्यमाना शमाम्बुभिः ॥ ३४ ॥

अर्थ—यह मोहरूप महा अग्निकी ज्वाला तीन जगत्में फैलनेवाली है इस अन्तर्मात्ररूप जलमें तैयन किया जाय तो यह क्षणमात्रमें क्षय हो जाती है ॥ ३४ ॥

यस्मिन्मत्येव ससारी यद्विषो गे शिखीभयेत् ।

जीय स गय पापात्मा मोहमहो निवार्यताम् ॥ ३५ ॥

अर्थ—हे आत्मन् ! जिस मोह महने होनेमें यह जीव संसारी है और जिसमें दोष होनेमें मोहान्वय होता है वही यह पापी मोहमह है सो इसे विनाशकर ॥ ३५ ॥

यन्ससारस्य वैविध्यं नानात्वं यच्छरीरिणाम् ।

यदाग्नीषोण्यानाम्माया तन्मोहस्यैव चरितम् ॥ ३६ ॥

अर्थ—जीवके जो संसारकी विविधता, अनेकप्रकारता, तथा अनेक भावोंमें अनेक प्रकारकी आत्मा है सो ये सब मोहने ही चरितम् है अर्थात् मोहकी ही प्रेरणा है ॥ ३६ ॥

रागादिवैरिणः श्रान्तमोहमूषेन्द्रयालितारः ।

निवृत्त्य शमनाश्रमे मोक्षमार्गं निरूपय ॥ ३७ ॥

अर्थ—हे आत्मन्! मोहरूपी राजाके पालेहुए पूर रागादि शत्रुओंको शातभावरूप शरसे छेदन करके मोक्षमार्गका अवलोकन कर ॥ ३७ ॥

आर्या।

इति मोहवीरघृत्त रागादिवरूथिनीसमाकीर्णम् ।

सुनिरूप्य भावशुद्ध्या यतस्व तद्वन्धमोक्षाय ॥ ३८ ॥

अर्थ—हे आत्मन्! इस प्रकार मोहरूपी सुभटका वृत्तान्त है सो यह रागादिरूपी सेनाके सहित है इसकारण इसे भले प्रकार निचार करके इसके बधसे छूटनेके लिये यत्नकर ॥ ३८ ॥

इस प्रकार राग द्वेष मोहका बान विद्या और इनके नष्ट करनेका उपदेश दिया । यदा अभिप्राय यह है कि अन्यमती यमनियमादि योगके साधनोंसे मनको बंध करते हैं तथापि उनके मनम रागद्वेषमोहका यथाय स्वरूप तथा उनके जीतनेका वणन स त्पार्य नहीं है और इन रागादिकके जीते बिना मोक्षके कारणभूत ध्यानकी निद्रि नहीं है, इसकारण रागद्वेष मोहका बान विद्या इनका यथार्थ स्वरूप तथा जीतनेका निधान जैनशास्त्रोंमें ही है उसी रीतिसे ही साधन करके ध्यान करनेसे मोक्षकी प्राप्ति होती है ॥

कविव (३१ वर्ग)

सिध्या बर्म उद् होय, राग द्वेष मोह जोय,

बन्ध हेतु गाढे ते जु भयमें भ्रमायते ।

सिध्याभाय भीते रहैं चारितके घातक जे,

बन्ध करै मुच्छभाय निजरा बढायते ॥

सम्यक् इन्द्रा धारि राग द्वेष मोह टारि,

चारित सर्वारि मुनि प्यानको धरायते ।

निजरूप लय लय धातिया नशाय ज्ञान

बेधलको पाय धाय भासमें रमायते ॥ २३ ॥

इति श्रीगुमचन्द्राचार्यविरचिते ज्ञानागवे योगप्रदीपधिकारे रागद्वेष

वणनो नाम त्रयोविंश प्रकरण समाप्तम् ॥ २३ ॥

अथ चतुर्विंश प्रकरणम् ।

अब रागद्वेष मोहके अभावसे साम्य अध्यान् समताभाव होते हैं जिससे हि, तृण कपन, शत्रु मित्र, निन्दा प्रशंसा, वन नगर, सुख दुःख, जीवन मरण इत्यादि पदार्थोंमें इष्ट

साम्यमीमानमालम्ब्य कृत्वात्मन्यात्मनिष्ठयम् ।

पृथक् करोति विज्ञानी समिश्रिते जीवरुमणी ॥ ६ ॥

अर्थ—भेद विज्ञानी पुरुष है सो समभावकी सीमाको अवलम्बन करके तथा अपने में ही अपने आत्माको निष्ठय करके मिलेहुए जीव और ब्रह्मको पृथक् २ करता है ॥ ६ ॥

साम्यवारिणि शुद्धाना सता ज्ञानैक्यधुपाम् ।

इहैवानन्तपोधादिराज्यलक्ष्मीं समी भवेत् ॥ ७ ॥

अर्थ—जो समभावरूपी जलस गुद्ध हुये है और बिनके ज्ञानही नेत्र हैं ऐस सत्पुरुषोंके इस ही जन्मन अनन्त ज्ञानादिक लक्ष्मी समी होती है। भाषार्थ—कहा यह जान कि समभावका फल परलोकन होता है सो यह एवान्त नहीं है किन्तु हमरी जन्मन केवल ज्ञानादिककी प्राप्ति होती है ॥ ७ ॥

भावयस्व तथात्मान समत्येनातिनिर्भरम् ।

न यथा द्वेषरागाभ्यां गृहात्यर्थकदम्पकम् ॥ ८ ॥

अर्थ—हे आत्मान् अपने आत्माको तू समभावसे अति निर्भररूप इस प्रकार भावयित्वा प्रकारसे यह आत्मा रागद्वेषादिकने पदार्थोंके समूहको ग्रहण न करे। भाषार्थ—आत्मान ऐसा हीन हो कि नहा रागद्वेषादिक अवकाश न पावे ॥ ८ ॥

रागादियिषिनिं भीम मोहशार्दूलपालितम् ।

दग्ध मुनिमहावीरै साम्यधूमध्वजार्षिणा ॥ ९ ॥

अर्थ—यह रागादिरूप भयानक बा है सो मोहरूपी मिहक द्वारा रक्षित है, उन ब्रह्मको मुनिरूपी भरापुत्रोंने समभावरूप अग्निही ज्वालाय दग्ध करदिया है ॥ ९ ॥

मोहपट्टे परिक्षीणे शीर्ण रागादियन्धने ।

नृणां हृदि पद धत्ते साम्यश्रीर्धिश्वयन्दिता ॥ १० ॥

अर्थ—पुरुषोंके हृदयने मोहरूपी ब्रह्मके स्रवनेसे तथा रागदि बन्धनोंके दूर होने पर जगत्पूज्या समभावरूप लक्ष्मी निवास करती है। भाषार्थ—अतिन परने और ब्रह्म सहित परने उत्तम स्त्री प्रवेश नहि करती, इसी प्रकार समभावरूप लक्ष्मी भी रागद्वेषसे रहितहित हृदयने प्रवेश नहि करती ॥ १० ॥

आज्ञां सखो विपद्यन्ते घान्तपयिथां क्षय क्षणात् ।

म्रियन्ते बिभ्रभोगान्द्रो यस्य सा साम्यभाषना ॥ ११ ॥

अर्थ—जो पुरुषके समभावकी आज्ञा है उसके आदेश को लक्ष्य न करे जो जानी है, अविद्या क्षणभरमें क्षय हो जाती है उती प्रकार बिभ्ररूपी सा भी सा क्षण है अपान् भ्रमन्ते रहित हो जाता है दहा समभावका बन है ॥ ११ ॥

साम्यकोटिं समारूढो यमी जयति कर्म यत् ।
निमिषान्तेन तच्चन्मकोटिभिस्तपसेनर ॥ १० ॥

अर्थ—समभाषी हृदको आरूढ़ हुआ सयमी मुनि जो नेत्रों में निहार मात्र मनो जीतता है अथान् कर्माको शय करता है, उतना इतर पुण्य समभाषीरहित तपोंके करनेपर भी नहीं कर सकता, यह साम्यभाषका मात्रात्म्य है ॥ १० ॥

साम्यमेव पर ध्यान प्रणीत विश्वदर्शिभिः ।
तस्यैव व्यक्तये नून मन्येऽयं शास्त्रविस्तरः ॥ ११ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि—सब भगवानने साम्यभाषी ही उत ध्यान कहा है और यह शास्त्रों में निहार है सो निश्चयत उम साम्यभाषी प्रगट होनेके लिये ही है ऐसा मैं मानता हूँ। भावार्थ—शास्त्रों में जितने व्याख्यान हैं वे साम्यवाद करते हैं ॥ ११ ॥

साम्यभावितभावाना स्यात्सुख यन्मनीषिणाम् ।
तन्मन्ये ज्ञानसाम्राज्यसमत्त्वमवलम्ब्यते ॥ १२ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि—साम्य भावोंसे पदार्थोंके निहार करने बुद्धिमान् पुरुषोंके जो सुख होता है सो मैं ऐसा मानता हूँ कि वह ज्ञानमानात्म्य (केवलज्ञानकी) समताको अवलम्बन करता है। भावार्थ—समभावोंमें केवल उत्पन्न होता है उससे पहिले ही समभावमें ऐसा सुख है कि उसे केवल ज्ञानके समान माना जाता है क्योंकि दुःख तो रागादिकसे है उनके बिना केवल मात्र सुख ही मु है ॥ १२ ॥

य स्वभावोत्थिता साध्वी विशुद्धिं स्वस्य वाञ्छति ।
स धारयति पुण्यात्मा समत्वाधिष्ठित मनः ॥ १३ ॥

अर्थ—जो पुरुष अपने स्वभावसे उत्पन्न हुई समीचीन विशुद्धताको चाहते हैं सो उ अपने मनको समभावोंसे रहित धारता है वही पुण्यात्मा है महाभाग्य है ॥ १३ ॥

तनुत्रयविनिर्मुक्त दोषत्रयविवर्जितम् ।
यदा चेत्पात्मनात्मानं तदा साम्ये स्थितिर्भवेत् ॥ १४ ॥

अर्थ—जिम समय यह आत्मा अपने आत्माको औदारिक, सैजम और धार्मिक तीन गरीबोंसे तथा रागद्वेषभयोंसे रहित जानता है तब ही समभावमें स्थिति (स्थिरता) होती है ॥ १४ ॥

अशेषपरपर्यायैरन्यद्वयैर्विलक्षणम् ।
निश्चिनोति यदात्मानं तदा साम्यं प्रसूयते ॥ १५ ॥

अर्थ—जिग समय यह आमा अपनेको समस्त परद्रव्योंके पर्यायोक्ते तथा परद्रव्योंसे विलक्षण भिन्नस्वरूप निश्चय करता है उसी काल साम्यभाज उत्पन्न होता है ॥१७॥

तस्यैवाविचल सौरय तस्यैव पदमन्ययम् ।

तस्यैव षण्यविशेष समत्त्व यस्य योगिन ॥१८॥

अर्थ—जिन योगीश्वरके समभाव है उसके ही तो अनिचल सुख है और उसके ही अविनाशी पद और षण्यध्वनी निग्राह है ॥ १८ ॥

यस्य हेय न चादेय जगद्विष्व चराचरम् ।

स्यात्तस्यैव मुने साक्षाच्छुभाशुभमलक्षय ॥ १९ ॥

अर्थ—जिस मुनिके पराचररूप समस्त जगतमेंसे न तो कोई हेय है न उपादेय है, उस मुनिके ही गुमागुभरूप कमन्वी मेलका साक्षात् क्षय है ॥ १९ ॥

अथ साम्यप्रभाज करते हैं,—

शान्यन्ति जन्मव जूरा षड्वैरा परस्परम् ।

अपि स्वार्थं प्रवृत्तस्य मुने साम्यप्रभावत ॥ २० ॥

अर्थ—इस साम्यके प्रभावसे अपने स्वार्थमें प्रवृत्त मुनिके निरुद्ध परस्पर वैर करने वाल जूर जीव भी साम्यभाजको प्रवृत्त हो जाते हैं। भावार्थ—मुनि तो अपने स्वरूपके साधनाथ साम्यभावोंमें प्रवृत्तते हैं किन्तु उनकी साम्यमूर्ति अवलोकन करके उनके निरुद्ध रहनेवाले जूर निरादिष भी परस्पर वैरभाज छोड़ समताका आश्रय कर लेते हैं ऐसा ही साम्यभावका माहात्म्य है ॥ २० ॥

भजन्ति जन्तवो मैत्रीमन्योऽन्य त्यक्तमत्सरा ।

समत्वालम्बिना प्राप्य पादपद्मार्थिता क्षतिम् ॥ २१ ॥

अर्थ—समभावके अवलंबन करनेवाले मुनियोंके चरणकमलोंक प्रभावसे पूजनीय पृथिवीको प्राप्त होनेपर प्राणीजन परस्परका इषाभाज छोड़कर मित्रताको प्राप्त हो जाते हैं ॥ २१ ॥

शान्यन्ते योगिभि जूरा जन्तयो नेति दाहयते ।

दाघदीप्तमिवारण्य यथा वृष्टैर्यत्नाकै ॥ २२ ॥

अर्थ—योगिगण जूर जीवोंको उपाय करक शान्तरूप करते हैं ऐसी शक्ति कदापि नहीं करनी चाहिये। क्योंकि, जैसे दावानलसे जलताहुआ घन स्वयमेव मेघ बरसनेसे शान्त हो जाता है उसी प्रकार मुनियोंके उनके प्रभावसे स्वय ही जूर जीव समतारूप प्रवृत्तमें लग जाते हैं योगीश्वर उनके प्रेरणा कदापि नहीं करते ॥ २२ ॥

भवन्त्यतिप्रसन्नानि कश्मलान्यपि देहिनाम् ।

चेतासि योगिससर्गेऽगस्त्ययोगे जलानिवत् ॥ २३ ॥

अर्थ—जिम प्रकार शरद ऋतुर्ष अगस्त्य ताराके समर्प होनेमे जल निमल हो जाता है उसी प्रकार ममतायुक्त योगीश्वरोंकी संगणिते जीवोंके मलिन चित्त भी प्रमन अर्थात् निर्मल हो जाते हैं ॥ २३ ॥

शास्त्रविनीहितम् ।

धुम्यन्ति ग्रहयक्षकिन्नरनरास्तुप्यन्ति नाकेश्वराः ।

मुञ्चन्ति द्विपदैत्यसिंहशरमण्डपादयः क्रूरताम् ।

स्वधैरप्रतिबन्धविभ्रमभयघ्नष्ट जगज्जायते

स्याद्योगीन्द्रसमत्प्रसाध्यमथवा किं किं न सद्यो शुचि ॥ २४ ॥

अर्थ—सममानयुक्त योगीश्वरोंके प्रसारमे प्रद यत्त निन्नर मनुष्य ये सोमको प्राप्त होने में और ताक्षर अथान् इन्द्रगण हर्षित होते हैं । तथा शत्रु दैत्य मित्र भक्षारद सर्प इत्यादि क्रूर प्राणी अपनी क्रूरताको छोड़ देने हैं और पर जगत् रोग वैर प्रतिबन्ध विभ्रम भयान्किमे रक्षित हो जाता है । इस पृथिवीमे ऐसा कौणा का है, जो योगीश्वरके समभावोंमे साध्य न हो अर्थात् समताभावसे सर्व मनोसंगी सपने हैं ॥ २४ ॥

सम्प्रदायान् ।

चन्द्रः सान्द्रैर्धिकिरति सुधामशुभिर्जीयलोके

भार्यानुमै किरणपटलैरुच्छिनत्पन्धकारम् ।

धार्त्र्या धरो भुवनमन्विल विश्वमेतथ यायु

यैरमाभ्याच्छमयति तथा जन्तुजान यतीन्द्र ॥ २५ ॥

अर्थ—जिम प्रकार चन्द्रमा जगन्मे तिरणोंमे सपन शरता हुआ अष्टम वर्तन है और सूर्य सौर तिरणोंके समूहमे अन्यकारका नाश करता है तथा पृथिवी समस्त भुवनको धारण करता है तथा धरत है सो इस समस्त लोकको धारण करता है उसी प्रकार युद्ध शत्रुसंग्रह भी सम्प्रसारणमे जीवन समूहको शांतमनस्क करने हैं ॥ २५ ॥

साम्प्रदाय ।

२ सागृही मिहशायं गृहानि सुमधिया मदिनी दयाप्रयोगं

माज्जीं हम्बुषाण प्रणयपरवशा कंठिकाना सुगद्वम् ।

वैष्णवाश्च सक्ताना यति मल्लिमदा जगत्प्राप्तये स्वपत्नि

श्रित्वा साधैककन्द प्रणामिनकन्दं योगिन् क्षितिमोक्षम् ॥ २६ ॥

अर्थ—शीघ्र होगया है मोह जिसका और शान्त होगया है कटुव कषायरूप मेल जिसका ऐसे समभावोंमें आरुढ़ हुए योगीश्वरको आश्रय करने हरिणी तो निद्रक बालकको अपने पुत्रकी बुद्धिसे स्पर्श करती वा प्यार करती है और गड है तो व्याघ्रके बच्चेको पुत्रकी बुद्धिसे प्यार करती है, माजारी हंमके बच्चेको खेहकी दृष्टिसे बड़ीभूत हो स्पर्शती है तथा मयूरी सपके बच्चेको प्यार करती है इसी प्रकार अन्य प्राणी भी जन्ममे जो पैर है उसको मदरहित हो छोड़ देने हैं । यह साम्यमारका ही प्रमाण है ॥२६॥

मन्वाद्यन्ता ।

११ एक पूजां रचयति नरं पारिजातप्रमूनें

बुद्धं कण्ठे क्षिपति भुजगं हन्तुकामस्ततोऽन्य ।

तुल्या वृत्तिर्भवति च तयोर्ग्रन्थे नित्यं न योगी

साम्याराम विधाति परमज्ञानदसाधकाशम् ॥ २७ ॥

अर्थ—जिस मुनिकी ऐसी वृत्ति हो कि—कोई तो नगीभूत होकर परिजानके पुष्पोंसे पूजा करता है और कोई मनुष्य बुद्ध होकर मारनेकी इच्छासे गलमें गपकी माला पहनाता है, इन दोनोंमें ही जिसकी सदा रागद्वेषरहित समभाववृत्ति हो, वही योगीश्वर समभावरूपी आरामम (श्रीदावनम) प्रवेश करता है और एम समभावरूप श्रीदावनमें ही केवल ज्ञाके प्रमाण होनेका अवकाश है ॥ २७ ॥

शार्ङ्गलक्षिकितम् ।

११ नोऽरण्यासगर न मिश्रमलिताश्लोष्टास्र जाम्बूनद

न स्रग्दाम भुजङ्गमास्र हृषदस्तल्प दाशाङ्गाश्लेषम् ।

यत्पान्त करणे विभर्ति बलया नोत्पृष्टतामीषद

प्यार्पास्तं परमोपशान्तपदधीमारुदमाश्रयते ॥ २८ ॥

अर्थ—जिस मुनिक मनमें मनसे नगर, शत्रुसे मित्र, श्लोष्टे बांधन (गुह्य) रम्य है सपसे पुष्पमाला, पाषाणगिलासे चन्द्रमासमान उज्ज्वल शय्या, श्लोष्टिब दशार्थ अल्प दशार्थ कल्पनासे विपिमात्र भी उत्पृष्ट नहीं दीखने उस मुनिको भाव सपुत्रव सम उत्पन्न रूप पदवीको प्राप्त हुआ करते हैं । आशार्थ—बाणद्विषसे नृपति, बने हुए ही उत्पन्न मता मदी माने बड़ी मुनि रागद्वेषरहित साम्यमारपुत्र है ॥ २८ ॥

अपहरा ।

११ सौधोत्सङ्गे समशाने स्तुतिपापनयिषौ बर्द्धमे बुद्धिमे वा

पल्पङ्गे कण्ठकाशे हृषदि दाशिमणौ धर्मधीनाश्रयेषु ।

शीर्णाङ्गे दिव्यनार्यामसमशामवशाद्यस्य विस्ते विषयं

मालीढं सोऽपमेव बल्पनि कुशला साम्यस्तीलादिलासः ॥

अर्थ—जिसे मुनिता का मतलब है गिराव, और अज्ञान तथा मुने में फाट गये विधान, धर्म, और वेदों में पूर्णरूप से और कानों के अग्रभाग, ज्ञान और धर्म के मत में, या और नीचरीय वेदों में, और नीचरीय १ मुने की अनुसंधान शास्त्रों के प्रमाणों के विचारों में स्थिति १ हो, वही एक प्रतीति मुने के मावही सीला के निम्नको अनुमान करता है अर्थात् तन्मय ममता के मुने के ज्ञान ॥ २० ॥

१) चलन्त्यचलमालेग कदाचिद्वैययोगिनः ।

नोपसर्गैरपि स्यान्न मुने साम्यप्रतिष्ठितम् ॥ ३० ॥

अर्थ—यह प्रत्यक्ष अल परतांती श्रेणी काचित् चलायमान भी हो तब तो आर्थ नहीं किन्तु साम्यभाव में प्रतिष्ठित मुनि का चित्त उपगमन काचित् नहीं होता ऐसा ही हो जाता है ॥ ३० ॥

१) उन्मत्तामय विभ्रान्त दिग्मूढ सुप्तमेव वा ।

साम्यस्यस्य जगत्सर्वं योगिनः प्रतिभासते ॥ ३१ ॥

अर्थ—साम्यभाव में स्थित मुनि को यह जगत् ऐसा भासता है कि मानों वह जगत् उन्मत्त है वा विभ्रमरूप है अथवा दिग्भ्रम है अथवा सोता है ॥ ३१ ॥

याचस्पतिरपि नृते यद्यजस्र समाहित ।

यस्तु तथापि शक्रोति न हि साम्यस्य वैभवं ॥ ३२ ॥

अर्थ—इस साम्य के निम्नको यदि बृहस्पति भी स्मरित होकर निरन्तर पढ़े तो भी कहनेको समर्थ नहीं होता ॥ ३२ ॥

गार्ग्यविहीनितम् ।

दुष्प्रज्ञायललुप्तवस्तुनिचया विज्ञानशून्याशया

विद्यन्ते प्रतिमन्दिर निजनिजस्वार्थोदिते देहिना ।

आनन्दाभृतसिन्धुशीकरचयैर्निर्वाप्य जन्मानल

ये मुक्तेर्वदनेन्दुवीक्षणपरास्ते सन्ति द्वित्रा यदि ॥ ३३ ॥

अर्थ—जिन्होंने अपनी दुर्बुद्धि के बल से समस्त वस्तु के समस्त लोप कर दिया और जिनका चित्त विज्ञान से शून्य है ऐसे पुरुष तो घर २ में विद्यमान हैं और अपने २ प्रयोगों को साधने में तत्पर हैं किन्तु जो समभावजनित आनन्दाभृतसमुद्र के जलकों के समूह से सत्कारण अग्नि को बुझाकर मुक्तिरूपी स्त्री के वदनचन्द्रमा को देखने में तत्पर हैं ऐसे महापुरुष यदि हैं तो दो वा तीन ही हैं । भावार्थ—इस निष्कण्ड १५म काल में

मेरुमाग्य प्रवसनेवालोंकी निरुत्ता है अर्थात् जो साम्बन रहकर मोक्षमार्गको साथे लेते योगीधरोंका तो प्रायः अभाव ही है, किसी दूर क्षेत्र कालमें हो तो दो तीनही होंगे बहुतसाका तो अभाव ही है ॥ ३३ ॥

इस प्रकार साम्बधा बनान किया यह ध्यानका प्रधान अंग है इसके बिना लौकिक प्रयोजनारिष लिये जो अन्यमनी ध्यान करते हैं सो निष्फल है, मोक्षका साधन तो साम्ब गारित ध्यानही है ॥

श्लोक

मोक्ष राग रज पीतलं, समना धरै जु कोय ।

सुख दुःख जीवित मरण सय, समल्लि ध्यानी होय ॥२४॥

इति श्रीगुप्तपन्नाचायविरचिते ज्ञानाणवे योगप्रदीपाधिकारे साम्बवर्णन नाम
धनुर्विंश प्रकरण समाप्तम् ॥ २४ ॥

अथ पञ्चविंश प्रकरणम् ।

आगे ध्यानका वर्णन करते हैं,—

नाम्यश्रीर्नातिनि शङ्क सतामपि हृदि स्थितिम् ।

यत्ते सुनिश्चलध्यानसुधासम्बन्धवर्जिते ॥ १ ॥

अर्थ—सत्सुरसोंका हृदय यदि भले प्रकार निश्चल ध्यानरूप अमृतके सम्बन्धसे रहित हो तो उसमें यह साम्बरूप लक्ष्मी अतिनिश्चकतासे अपनी स्थिति धारण नहीं करती । भावार्थ—समभाव ध्यानसे निश्चल टहरता है इस कारण ध्यानका उपदेश है ॥१॥

यस्य ध्यान सुनिष्कम्प समत्य तस्य निश्चलम् ।

नानयोर्विद्वदधिष्ठानमन्योऽन्य स्यादभिभेदत ॥ २ ॥

अर्थ—जिम पुरुषके ध्यान निश्चल है उसके समभाव भी निश्चल है इन दोनोंके अधिष्ठान (आधार) परस्पर भेदसे नहीं हैं अर्थात् ध्यानका आधार समभाव है और समभावका आधार ध्यान है ॥ २ ॥

साम्बमेव न सद्भूतानात्स्थिरीभयति केवलम् ।

शुद्धत्वपि च कर्मोपकल्प्नी यज्ञयाहक ॥ ३ ॥

अर्थ—समीचीन प्रचल ध्यानसे केवल साम्ब ही स्थिर नहीं होता किन्तु बन्नेके सम्बन्धसे मलिन यह यज्ञयाहक जीव भी शुद्ध होता है अर्थात् ध्याने कर्मोंका शय भी होता है ॥ ३ ॥

अर्थ—यह बड़ा खेद है कि जहां अमृत तो निषेके लिये हो और ज्ञान मोहके लिये हो और ध्यान नरकके लिये होता है सो जीवोंकी यह विपरीत चेष्टा आश्चर्य उत्पन्न करती है । भाषार्थ—जहां प्रशस्त वस्तु भी अप्रशस्त हो जाती है उसका यहां आश्चर्य किया है ॥ १० ॥

अभिचारपरै कैश्चित्कामप्रोधादिवञ्चितै ।

भोगार्थमरिधातार्थं क्रियते ध्यानमुद्धतैः ॥ ११ ॥

ख्यातिपूजाभिमानात्तै कैश्चिद्योक्तानि सूरिभि ।

पापाभिचारकर्माणि शूरशास्त्राण्यनेकधा ॥ १२ ॥

अनासा यश्चका पापा दीना मार्गद्वयच्युता ।

दिशत्यज्ञेप्यनात्मज्ञा ध्यानमत्यन्तभीतिदम् ॥ १३ ॥

अर्थ—अभिचार कहिये वश्याजनादिक व्यापार हो है आशय जिनके ऐसे तथा कई एक कामप्रोधादिकसे वचित हुए उद्धत पुरुषोंके द्वारा भोगोंके लिये और शत्रुभोंके पातके लिये ध्यान किया जाता है ॥ ११ ॥ तथा कितनेक अन्यमनी आचार्योंने क्यारि पूजा अभिमानसे पीड़ित होकर पापकार्योंकी विधिवाले अनेक शास्त्र रचे हैं सो वे पापी हैं, अनाम हैं, शुभागको चलानेवाले हैं, ठग हैं, दीन हैं, दोनो लोकके मार्गसे भट हैं, अनात्मज्ञ हैं अपात जिनको अपनी आत्माका ज्ञान नहीं है वे मूर्खोंम ही अत्यन्त मदके दनेवाले ध्यानका उपदेश करें, (ज्ञानी) विषेकी पुरख सो उनका उपदेश बदारी अगीसार न्नी करते ॥ १२ ॥ १३ ॥

इस कारण कहते हैं कि,—

संसारसंभ्रमभ्रान्तो य शिवाय विचेष्टते ।

स युक्त्यागमनिर्णीते विचेष्ट्य पथि वर्तते ॥ १४ ॥

अर्थ—जो पुरुष संसारके भ्रमणसे खेदवित होकर मोहके लिये चेष्टा करता है वह तो विचार कर सुवि और आगमसे नियम किये हुए मार्गसे ही प्रवृत्तता है उन टोनेक प्ररूपण किये मार्गमें बड़ापि नहीं प्रवृत्तता ॥ १४ ॥

अब यहां ध्यानका स्वरूप करने है,—

उत्कृष्टकायबन्धस्य साधोरन्मूर्तस्य ।

ध्यानमाहुरपैकाग्रचिन्तारोधो युथोलमा ॥ १५ ॥

अर्थ—उत्कृष्ट है कायका बंध कहिये संहनन जिसके ऐसे रूपका अन्तर्हित पर्यन्त एकाग्र चिन्ताके रोधेशो पठित जब ध्यान करने हैं वही उकास्तनी माहुरदे परशर्य सुचने कहा है कि—“उत्तमगीहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यायका उत्कृष्टम् ॥”

अर्थात् उत्तम सहननगाले पुरुषके एकाग्र चिन्ताका रोध ही ध्यान है सो यह अन्तर्द्वैत पर्यन्त ही रहता है इस प्रकार पूर्वाचार्योंने ध्यानका लक्षण कहा है ॥ १५ ॥

एकचिन्तानिरोधो यस्तद्ध्यानभावना परा ।

अनुप्रेक्षार्थचिन्ता वा तज्जैरभ्युपगम्यते ॥ १६ ॥

अर्थ—जो एक चिन्ताका निरोध है एक ज्ञेयमें ठहरा हुआ है वह तो ध्यान और इससे भिन्न है सो भावना है उसे ध्यानके और भावनाके जाननेगाले विद्वान् अनुप्रेक्षा अथवा अर्थचिन्ता भी कहते हैं ॥ १६ ॥

प्रशस्तेतरसकल्पवशात्तद्विच्यते द्विधा ।

इष्टानिष्टफलप्राप्तेर्याजभूत शरीरिणाम् ॥ १७ ॥

अर्थ—यह पूर्वोक्त ध्यान प्रशस्त और अप्रशस्त भेदसे दो प्रकारका है, सो जीवोंके इष्ट अनिष्ट रूप फलकी प्राप्तिका योजभूत (कारण स्वरूप) है। **भावार्थ**—प्रशस्त ध्यानसे उत्तम फल होता है और अप्रशस्त ध्यानसे बुरा फल होता है ॥ १७ ॥

अस्तरागो मुनिर्यत्र वस्तुतत्त्व विचिन्तयेत् ।

तत्प्रशस्त मत ध्यान सूरिभि क्षीणकल्मषै ॥ १८ ॥

अर्थ—जिस ध्यानमें मुनि अस्तराग (रागरहित) हो जाय और वस्तुतत्त्व विचिन्तन करे उसको निष्पाप आचार्योंने प्रशस्त ध्यान माना है ॥ १८ ॥

अज्ञातवस्तुतत्त्वस्य रागागुपहृतात्मनः ।

स्वातन्त्र्यवृत्तिर्या जन्तोस्तदसद्ध्यानमुच्यते ॥ १९ ॥

अर्थ—जिसने वस्तुका यथार्थ स्वरूप नहीं जाना तथा जिसका आत्मा रागद्वेष मोहने पीडित है ऐसे जीवकी स्वाधीन प्रवृत्तिको अप्रशस्त ध्यान कहा जाता है। **भावार्थ**—अप्रशस्त ध्यान जीवोंके निम्न उपदेशके स्वयमेव होता है क्योंकि यह आदि कामना है ॥ १९ ॥

अब ध्यानके भेद कहते हैं,—

आर्त्तरौद्रविकल्पेन दुर्ध्यानं देहिना द्विधा ।

द्विधा प्रशस्तमभ्युक्त धर्मशुक्लविकल्पतः ॥ २० ॥

अर्थ—जीवोंके अप्रशस्त ध्यान आर्त्तरौद्र भेदमें दो प्रकारका है तथा प्रशस्त ध्यान भी धर्म और शुक्ल भेदमें दो प्रकारका कहा गया है ॥ २० ॥

म्याता तत्रार्त्तरौद्रे के दुर्ध्यानेऽत्यन्तदुःखदे ।

धर्मशुक्ले ततोऽन्ये के कर्मनिर्मूलनक्षामे ॥ २१ ॥

अर्थ—एक ध्यानमें आत्त रौद्र नामगाने दो जो अप्रशस्त ध्यान हैं वे तो अत्यन्त

दुःख दोनो-हैं और दूसरे धन गुण मानके दो प्रश्न प्पान हैं सो कर्मोंका निमूल
करनेमें समर्थ हैं ॥ २१ ॥

प्रत्येक च चतुर्भेदैर्भुष्टयमिदं मनम् ।

अनेकयरतुसाधर्म्यवैधर्म्याल्म्यन यत्न ॥ २२ ॥

अर्थ—इस भाव शीघ्र धर्म गुण दोनोंका चतुष्टय है सो प्रत्येक प्पान भिन्न २
बार बार जेदोसाला माना गया है कहेके, यह चतुष्टय अनेक वस्तुओंके साधर्म्य वैधर्म्य
के अलम्बन करनेवाला है अर्थात् परस्पर मिलता है ॥ २२ ॥

इनमेंसे प्रथम ही आत्मध्यानका स्वरूप और भेद कहते हैं,—

जाते भवमपार्थ स्यादसंख्यान शरीरिणाम् ।

दि-मोहान्मसतातुल्यमविद्यायासनायशात् ॥ २३ ॥

अर्थ—कल कहिये दीहा दुःखमें उपजै सो आर्तध्यान है, सो यह प्पान अप्रयत्न है
जैसे किसी प्रार्थनेके दिव्यलोक भूत जानेके उन्नतता होगी है उनके समान है और यह
प्पान अविद्या अर्थात् निष्कारणकी वासनाके जाते उत्पन्न होता है ॥ २३ ॥

अब इसके ४ भेद कहते हैं,—

अनिष्टयोगजन्माद्य तथेष्टार्थात्ययात्परम् ।

इष्टप्रकोपाश्रुतीय स्यात्तिदानाद्युपमद्विनाम् ॥ २४ ॥

अर्थ—यहिला आर्तध्यान ती जीवोंके अनिष्ट पदार्थोंके संयोगसे होता है, दूसरा
आर्तध्यान इष्ट पदार्थके वियोगसे होता है तीसरा आर्तध्यान रोगके प्रकोपकी पीडासे
रोग है और चौथा आर्तध्यान निदान कहिये आगामी कालमें मोगोंकी बाडाके
होनेमें होता है, इन प्रकार ४ भेद आर्तध्यानके हैं ॥ २४ ॥

अब अनिष्ट संयोग नामा आर्तध्यानका स्वरूप कहते हैं,—

माहिनी ।

उचलनयनविपात्रव्याल्लक्षार्द्रलक्षै

स्थलजलपिलसत्त्वंर्जुनारतिभूषे ।

स्वजनघनशरीरध्वसिभिस्तैरनिष्टै-

र्भवति यदिह योगादायमास तदेतत् ॥ २५ ॥

अर्थ—इस जातमें अपना स्वन घन शरीर इनके नाश करनेवाले भग्नि जल निच
रुख सर निह दैत्य तथा स्थलके जीव जलके जीव तथा दुष्टजन्म वैरी राजा इत्यादि
अनिष्ट पदार्थोंके संयोगसे जो हो सो पहिला आर्तध्यान है ॥ २५ ॥

फिर भी कहते हैं,—

तथा चरस्थिरैर्भावैरनेकैः समुपस्थितै ।

अनिष्टैर्यन्मनः क्षिप्तं स्यादात्तं तत्प्रकीर्तितम् ॥ २६ ॥

अर्थ—तथा चर और स्थिर अनेक अनिष्ट पदार्थोंके प्राप्त होनेपर जो मन हेरफेर हो उसको भी आर्त्तध्यान कहा है ॥ २६ ॥

श्रुतैर्दृष्टं स्मृतैर्ज्ञातैः प्रत्यासत्तिं च ससृजै ।

योऽनिष्टार्थैर्मनः क्लेशः पूर्यमात्तं तदिष्यते ॥ २७ ॥

अर्थ—तथा जो सुने देखे झरणमें आये जाने हुए तथा निकट प्राप्त हुए भविष्यत्पदार्थोंमें मनको क्लेश हो उसे पहिला आर्त्तध्यान कहते हैं ॥ २७ ॥

अशेषानिष्टसयोगे तद्वियोगानुचिन्तनम् ।

यत्स्यात्तदपि तत्त्वज्ञैः पूर्यमात्तं प्रकीर्तितम् ॥ २८ ॥

अर्थ—जो समस्त प्रकारके अनिष्ट पदार्थोंके संयोग होनेपर उनके वियोग होनेका धारदार चिन्तन हो उसे भी तत्त्वज्ञे जाननेवालोंने पहिला अनिष्ट संयोग नामा आर्त्तध्यान कहा है ॥ २८ ॥

अत्र दूम्भरे-इष्टवियोग नामा आर्त्तध्यानस्य वर्णन करते हैं,—

गाढविक्रीडितम् ।

राज्यैर्धनैर्कलत्रपान्धवसुहृत्सौभाग्यभोगालये

चित्ताप्रीतिकरप्रमदविषयप्रध्वस्तभावेऽप्यवा ।

सप्रासभ्रमशोकमोहवियवशैर्यत्किञ्चित्पतेऽहर्निशम्

तत्स्याद्विष्टवियोगजं तनुमता ध्यानं कलङ्कास्पदम् ॥ २९ ॥

अर्थ—जो राज्य धन स्त्री कुटुम्ब मित्र सौभाग्य भोगादिक नाश होनेपर व चित्तको प्रीति उत्पन्न करनेवाले सुन्दर इन्द्रियोंके वियोगका प्रथममात्र होने हुए सौभाग्य पीडा भ्रम शोक मोहके कारण निरंतर येन रूप होना सो जीवोंके इष्टवियोगके आर्त्तध्यान है और यह ध्यान पावन ध्यान है ॥ २९ ॥

दृष्टश्रुतानुभूतैर्मै पदार्थैश्चित्तरञ्जकैः ।

वियोगे यन्मनः गिर्यं स्यादात्तं तद्वितीयकम् ॥ ३० ॥

अर्थ—जो सुने अनुभव मनको रञ्जयमान करनेवाले पदार्थोंके वियोग होने पर जो मनको भेद हो वह भी दृग्मात्र आर्त्तध्यान है ॥ ३० ॥

मनोऽक्षयस्तु विध्यसे मनमन्त्रसगमार्थिभिः ।

क्रिदयने यथादेवस्याद्वितीयापार्ष्ण्यं लक्षणम् ॥ ३१ ॥

अर्थ—अपने मनकी प्यारी वस्तुके निश्चय होनेपर पुन उसकी प्राप्तिके लिये जो हेतु रूप होना सो दूसरे आर्तध्यानका लक्षण है । इस प्रकार दूसरा आर्तध्यान कहा ॥ ३१ ॥
अब तीसरे आर्तध्यानका वर्णन करते हैं,—

सादृशविशेषितम् ।

कासश्वासभगन्दरोदरजराकुष्ठप्रतिसारज्वरैः
पित्तश्लेष्ममरुतप्रकोपजनितैरोगैः शरीरान्तकैः ।

स्यात्सत्त्वप्रयत्नैः प्रतिक्षणभवेयं व्याकुलत्वं नृणाम्
तद्भोगार्समनिन्दितैः प्रकटित दुर्वारदुःखाकर ॥ ३२ ॥

अर्थ—वातचित्तकफके प्रकोपसे उत्पन्न हुए शरीरकी नाश करनेवाले बीयने प्रबल और सा २ में उत्पन्न होनेवाले काम भ्रात भाइर जलोदर जरा कोष्ठ अनिमार ज्वर दिक् रोगोंसे मनुष्योंके जो व्याकुलता होनी है उसे अनिन्दित पुरखोंने रोगपीडाचिन्तननामा आर्तध्यान कहा है यह ध्यान दुर्निवार और दुःखीका आकर है जो कि आगामी कालमें पापधरा कारण है ॥ ३२ ॥

व्यल्पानामपि रोगाणां माभूत्समेऽपि स भव ।

ममेति या नृणां चिन्ता स्यादात्तं तत्पृथगीयकम् ॥ ३३ ॥

अर्थ—जीवोंके ऐसी चिन्ता हो कि मेरे विविध भी रोगी उत्पत्ति लगने भी न हो ऐसा चिन्तना सो तीसरा आर्तध्यान है ॥ ३३ ॥

अब चौथे आर्तध्यानको कहते हैं,—

साधना ।

भोगा भोगीन्द्रसेन्वास्त्रिभुवनजयिनी रूपसाम्राज्यलक्ष्मी
राज्य क्षीणारिचक्रं विजितसुरबधूलास्पलीलासुवस्य ।

अन्यध्यानन्दमृग कथमिह भवतीत्यादि चिन्तासुभाजान्
पक्षद्भोगार्थमुक्त परमगुणधरैर्जन्मसन्तानमूल ॥ ३४ ॥

अर्थ—परणीन्द्रके सेने की रीति से भोग और तीन भुवनकी जीतनेवाली रूप राजा ज्यलक्ष्मी, तथा क्षीण हो गये है शुभोंके समूह जितने ऐसी राज्य, और देशान्ताओंके तुलसी लीलाको जीतनेवाली स्त्री इत्यादि और भी आनन्दरूप वस्तुओंको बँधे हो, इस प्रकारसे चिन्तनाको परम गुणोंकी धारण करनेवालोंने योगत यना चौथा आर्तध्यान कहा है और यह ध्यान सत्कारकी परिपाकीमें हुआ है और सत्कारका मूल कारण भी है ॥ ३४ ॥

रहता है निम्न छे प्रकृतसत्त्व गुणस्थानने निदानरहित तीन ही प्रकारका उत्पन्न होता है ॥ ३९ ॥

मृत्पणनीलाघनहृदपायलेन प्रविजृम्भते ।

इदं दुरितदायाधिप्रसूनेरिन्धनोपम ॥ ४० ॥

अर्थ—यह आत्तध्यान कृष्ण नील कागज इन अगुम लेश्याओंके चलते प्रगट होता है सो पत्थरी दागधिके उत्पन्न करनेको इधनके समान है ॥ ४० ॥

एतद्विनापि यत्नेन स्वयमेव प्रसूयते ।

अनाद्यसत्समुद्भूतसत्कारादेश देहिनाम् ॥ ४१ ॥

अर्थ—यह आत्तध्यान जीवोंके अनादि कालके अप्रगतरूप सत्कारसे विना यत्नके स्वयमेव उत्पन्न होता है अथात्—विना उपदेशके स्फुरावद्यत अपने आप प्रगट होता है ॥ ४१ ॥

अनन्तदुःखसर्कीर्णमस्य तिर्यग्गते फलम् ।

क्षायोपशमिको भाव कालध्वान्तमुत्कर्त्तक ॥ ४२ ॥

अर्थ—इस आत्तध्यानका फल अनन्त दुःखोंसे व्याप्त निपत्तन है और यह भाव क्षायेरहित है और इसका काल अन्तर्मुक्त भाव है एक क्षेपण अन्तर्मुक्तपर्यन्त ही रहता है, तत्पश्चात् क्षेपान्तर होता है ॥ ४२ ॥

साम्बन्धिर्योऽपि ।

शङ्काशोकमयप्रमादकलरश्मिस्तन्मोहान्तयः

उन्मादो विषयोत्सुकत्वमसकृत्तिद्राह्मजाद्वयभ्रमा ।

मूर्च्छादीनि शरीरिणामविरत लिङ्गानि पाषाण्यल

मार्त्ताधिष्ठितचेतसा श्रुतपरैर्व्यापयितानि स्फुटम् ॥ ४३ ॥

अर्थ—इस आत्तध्यानने आश्रित चित्तवाले पुरखोंक बाह्यविह शक्तियोंके पारगामी निदानोंने इस प्रकार बहे हैं कि—प्रथम तो शङ्का होती है अथात् हर बातमें सदेह होता है, फिर शोक होता है, भय होता है, प्रमाद होता है, सावधानी नहीं होती, कलह करता है, चित्तभ्रम हो जाता है, उद्भ्रान्ति हो जाती है, चित्त एक जगह नहीं टहरता, विषयतेजनने उत्कण्ठ रहती है, निरन्तर निद्रागमन होता है, अन्धे जड़ता (लिपिलता) होती है, सेद होता है, मूर्च्छा होती है इत्यादि विह आर्च शक्तियोंके प्रगट होने हैं ॥ ४३ ॥

इस प्रकार आत्तध्यानका वान विषय यह अप्रगुण ध्यान स्वयमेव विना उपदेश व सत्कारके उत्पन्न होता है, सो त्यागने योग्य है ॥

दोहा

दुःखके कारण आवतैं, दुःखरूप परिणाम ।

भोग चाहि यह ध्यान दुर, आर्त्त तजो अघघाम ॥ २५ ॥

इति श्रीशुभचन्द्राचार्यनिरचिते योगप्रदीपाधिकारे ज्ञानार्णवे आतध्यान

वर्णन नाम पञ्चविंश प्रकरण समाप्त ॥ २५ ॥

अथ पद्धिग प्रकरण लिख्यते ।

आगे रौद्रध्यानका वर्णन करते हैं,—

रुद्राशयभय भीममपि रौद्र चतुर्विधम् ।

कीर्त्यमान विदन्त्वार्या, सर्वसत्त्वाभयप्रदा ॥ १ ॥

अर्थ—हे समस्त जीवोंको अमयदान देनेवाले आर्य पुरुषो! रुद्र आशयसे उत्पन्न हुआ मयानरु रौद्रध्यान भी चार प्रकारका कहा है, उसे जानो ॥ १ ॥

रुद्रः पूराशयः प्राणी प्रणीतस्तत्त्वदर्शिभिः ।

रुद्रस्य कर्मभावो वा रौद्रमित्यभिधीयते ॥ २ ॥

अर्थ—तत्त्वदर्शी पुरुषोंने पूरा आशयवाले प्राणीको रुद्र कहा है उस रुद्र प्राणीके कार्य अपना उसके मानको (परिणामको) रौद्र कहते हैं ॥ २ ॥

हिंसानन्दान्मृषानन्दाद्यौर्यात्सरक्षणाराधा ।

प्रमथयद्विना शब्दपि रौद्र चतुर्विधम् ॥ ३ ॥

अर्थ—हिंसामें आनन्द माननेसे, तथा मृषाम (असत्य कहनेमें) आनन्द मानाने, चोरीने आनन्द माननेसे, और निषेधकी रक्षा करनेमें आनन्द माननेसे जीवोंके रौद्र ध्यान भी निरंतर चार प्रकारका होता है अर्थात् हिमानन्द मृषानन्द चौरानन्द और संभ्रानन्द ये ४ भेद रौद्रध्यानके हैं ॥ ३ ॥

प्रथम ही हिमानन्नामा रौद्रध्यानको कहते हैं,—

हृत्तं निष्प्राहिते ध्यस्ते जन्तुजाते कदर्शिते ।

म्येन चान्येन यो हर्षस्तर्जिमारौद्रमुच्यते ॥ ४ ॥

अर्थ—जीवोंके समूहको अपनेसे तथा अपने द्वारा मारे जानेपर तथा पीड़ित होने पर तब ध्यान करनेपर और घातनेके सम्बन्ध निहाये जानेपर जो हर्ष माना, अथवा उसे हिमानन्द नामा रौद्रध्यान कहते हैं ॥ ४ ॥

अपमृजय ।

अनारत निष्कलणस्वभाव स्वभावतः बोधकपापदीप्तः ।

मदोद्धतः पापमणिः कुशीलः स्यात्तास्तिको यः सति रौद्रधाम्ना ॥ २ ॥

अर्थ—जो पुरतः निरन्तर निद्रा स्वभावत्वात् हो, तथा स्वभावसे ही बोधकपापसे प्रकटित हो तथा मदसे उद्धत हो, जिसकी बुद्धि पापरूप हो, तथा कुशीली हो, व्यक्ति धारी हो, नास्तिक हो वह रौद्रधाम्ना घर है अर्थात् ऐसे पुरुषन यह रौद्रध्यान धमता है ॥ ५ ॥

वर्गुलविधीहितम् ।

हिंसाकर्मणि वीर्यात् निपुणता पापोपदेशे भृशम्
दाक्ष्य नास्तिकशासने प्रतिदिन प्राणातिपाते रतिः ।

सधासाः सह निर्दयैरधिरत नैसर्गिकी क्रूरता

यत्स्यादेतभृता तदध गदित रौद्र प्रशान्ताशयै ॥ ६ ॥

अर्थ—जीवोंके हिंसाकर्मने प्रवीणता हो, पापोपदेशने निपुणता हो, नास्तिक मतमें चानुर्य हो, जीवपातनेमें निरन्तर प्रीति हो तथा निर्दयी पुरुषोंकी निरन्तर सगति हो, स्वभावसे ही क्रूरता हो, दुष्टभाव हो, उसको प्रशान्तचित्तवाले महापुरुषोंने रौद्रध्यान कहा है ॥ ६ ॥

सम्पत्तयः ॥

केनोपायेन घातो भयति तनुमता कः प्रवीणोऽत्र हन्ता

हन्तु कस्यानुरागः कतिभिरिह दिनैर्हन्त्यते जन्तुजातः ।

हत्वा पूजा करिष्ये द्विजगुरुमग्ना कीर्तिशान्त्यर्थमित्थम्

यत्स्यादिसाभिन्न्दो जगति तनुभृता तद्धि रौद्र प्रणीतम् ॥ ७ ॥

अर्थ—इस जात जीवोंका पात किस उपायसे हो, यहा पात करनेमें कौन चतुर है, पात करनेमें किसके अनुराग है, यह जीवोंका समूह कितने दिनोंमें मारा जायगा, इन जीवोंको मारकर बलि देकर शिव और शान्तिके लिये ब्राह्मण गुरु देवोंकी पूजा करूंगा, इत्यादि प्रकारसे जीवोंकी हिंसा करनेमें जो आनन्द हो, उसको निश्चय करके रौद्रध्यान कहते हैं ॥ ७ ॥

मालिनी ।

गगनवनधरित्रीधारिणा देहभाजाम्

दलनदहनपन्धच्छेदघातेषु यत्नम् ।

हतिनष्टकरनेत्रोत्पाटने कौतुकं यत्

तद्विह गदितमुच्येतसा रौद्रमित्थम् ॥ ८ ॥

अर्थ—नमश्चर पशू, जलचर माय्यात्रिक और स्थलचर पशु इन जीवाका नष्ट करने दग्ध करने बाधने क्रैदन करने घाने आग्नि यत्र करना तथा इनके मन मन हर्ष नेत्रात्रिकके नष्ट करने (उग्राडने)म जो कानूल्छरूप (कीडारूप) परिणाम हो वर्ग पशु रौद्रध्यान है, ऐसे ऊंचे चित्तवाले पुण्यादि उचन है ॥ ८ ॥

अस्य घानो जयोऽन्यस्य समरे जायनामिति ।

स्मरत्यङ्गी तदप्याह रौद्रमध्यात्मवेदिनः ॥ ९ ॥

अर्थ—युद्धम इमरा घात हो और उमरी जीन हो उमप्रकार मरण करे (विजय) उसे भी अध्यात्मके जाननेवालोंने रौद्रध्यान कहा है ॥ ९ ॥

श्रुते दृष्टे स्मृतं जन्तुवधागुरुपरामर्चे ।

यो हर्षस्तद्वि विज्ञेय रौद्रं दुःखानलेन्यनम् ॥ १० ॥

अर्थ—जीनोंके वध वधनादि तीव्र दुःख वा अपमानके सुनने देखने वा सरण करने जो हर्ष होता है उसे भी दुःखरूपी अग्निको इधनकी समान रौद्रध्यान जानना ॥ १० ॥

अहं कदा करिष्यामि पूर्वयैरस्य निष्क्रियम् ।

अस्य चित्रैर्यच्चैश्चेति चिन्ता रौद्राय कल्पिता ॥ ११ ॥

अर्थ—इस पूर्वकालके वैरीना अनेक प्रकारके घातसे मैं निम समय बन्हा दूँ ऐसी चिन्ता भी रौद्रध्यानके लिये कही गई है ॥ ११ ॥

किं कर्म शक्तिवैकल्याज्जीवन्यव्यापि विद्विषः ।

तर्ह्यमुद्य एनिष्याम प्राप्य कालं तथा बलम् ॥ १२ ॥

अर्थ—फिर ऐसा विचारै कि—हम क्या करें ? शक्ति न होनेके कारण शत्रु अभी तक जीते हैं नहीं तो कभीके मार डालते अस्तु, इस समय नहीं तो न सही परलोकने शक्तिको प्राप्त होकर किसी समय अवश्य मारेंगे, इसप्रकार संन्य करना भी रौद्र ध्यान है ॥ १२ ॥

आलिनी छन्द ।

अभिलषति नितान्त यत्परस्यापकार

व्यसनविशिष्यन्नित्त धीक्ष्य यस्तोषमेति ।

यदिह गुणगरिष्ठं देष्टि दृष्ट्वान्यभृतिं

भवति हृदि सशल्यस्तद्वि रौद्रस्य लिङ्गम् ॥ १३ ॥

अर्थ—जो अन्यका दुष्ट चाहै तथा परसो कष्ट आपदारूप प्राणोंसे भेदा हुआ उसी देखकर सन्तुष्ट हो तथा गुणोंसे गरमा देख अपना अन्यके सपदा देखकर द्वेषरूप हो अपने हृदयम शल्यसहित हो सो निश्चय करके रौद्रध्यानका बिह है ॥ १३ ॥

हिंसानन्दोद्भव रौद्र यस्तु कस्यास्ति कौशलम् ।

जगज्जन्तुसमुद्भूतविकल्पशतसम्भवम् ॥ १४ ॥

अर्थ—इस हिंसानन्दसे उत्पन्न हुए रौद्र ध्यानके कहनेसे जिसके कुशलता (विद्वत्ता) है? क्योंकि यह जगत्के जीवोंके उत्पन्न हुए सैकड़ों विकल्पोंसे उत्पन्न होता है इसके परिणाम अनेक प्राणियोंके अनेक प्रकारके हैं सो कहनेमें नहिं आ सकते ॥ १४ ॥

हिंसोपकरणादान क्रूरसत्त्वेऽनुग्रह ।

निस्त्रिंशत्तादिलिङ्गानि रौद्रे पाठानि देहिन् ॥ १५ ॥

अर्थ—हिंसाके उपकरण शस्त्रादिकका समग्र करना, क्रूर (दुष्ट) जीवोंपर अनुग्रह करना और निर्दयतादिक भाव रौद्र ध्याके देहधारियोंके बाह्य विद् हैं ॥ १५ ॥

इस प्रकार हिंसानन्दनामा प्रथम रौद्र ध्यानका वर्णन किया । अब दूसरे शृणानन्दनामा रौद्रध्यानका वर्णन करते हैं,—

असत्यकरणनाजालकदमलीकृतमानसः ।

चेष्टते यज्जनस्तद्धि शृणारीर्द्रं प्रकीर्तितम् ॥ १६ ॥

अर्थ—जो मनुष्य असत्य सृष्टी कल्पनाओंके समूहसे पापकृषी फैलते मलिनचित्त होकर जो कुछ चेष्टा करे उसे निश्चय करके शृणानन्दनामा रौद्रध्याना कहा है ॥ १६ ॥

विधाय यश्चक शस्त्राग्र मार्गमुद्दिश्य निर्दयम् ।

प्रपात्य व्यसने लोक भोक्ष्येऽहं पाण्डितं तुल्यम् ॥ १७ ॥

व्यवृत्तिः ।

असत्यचातुर्यवलेन लोकादिषु घटीष्यामि बहुप्रकारं ।

तथाश्चमातङ्गपुराकाराणि कन्यादिरत्नानि च यथुराणि ॥ १८ ॥

असत्ययान्यजनना नितान्त प्रवर्त्तयत्यथ जने पराक्रमम् ।

सख्यममार्गादतिपर्शनेन मदोद्धतो यः स हि रौद्रधामा ॥ १९ ॥

अर्थ—जो पुण्य इस जगत्में समीचीन सत्य धर्मके मार्गको छोड़कर प्रवर्त्तित और मदसे उद्धत हो इस प्रकार विन्तव्य करे वि-ठगार्द्व शस्त्रोंको रखकर अमन्य दत्त रहित मार्गको बलावर जगत्को उस मार्गमें तथा कष्टभावदाओंपर डालकर अपने अपने पाण्डित मुक्त में ही भोग तथा इस प्रकार विचार वि-असत्य चातुर्यके प्रभावसे लोगोंके बहुत प्रकारसे धन ग्रहण करेगा तथा छोटे हल्की मगर रत्नोंके समूह मुद्रा कन्यादिक रत्न ग्रहण करेगा । इस प्रकार जो सद्धर्ममार्गसे प्युक्त होकर अत्यन्त बदनोष्ठी उद्विग्नमे अत्यन्त भोले जीवोंको प्रवर्त्तित करे वह मदोद्धत पुण्य रौद्र ध्यानका अंगि (धर) है अर्थात् उसमें शृणानन्दनामा रौद्रध्यान रहता है ॥ १७ ॥ १८ ॥ १९ ॥

आख्यानकी ।

अमत्यसामर्थ्यप्रशादगतीन्

नृपेण वान्येन च घातयामि ।

अदोषिणा दोषचय विधाय

चिन्तेति रौद्राय मता मुनीन्द्रै ॥ २० ॥

अर्थ—मैं अनेपिषोंन दोषममूढको सिद्ध करके अपने अमत्य सामर्थ्यके प्रभाव अपने दुश्मनोंको राजाके द्वारा वा अन्य किसीके द्वारा घात करूंगा इसप्रकार चिन्त करनेको भी मुनीन्द्रोंने रौद्रध्यान माना है ॥ २० ॥

पातयामि जन मूढ व्यसनेऽनर्थसकटे ।

वाक्छौशत्यप्रयोगेण चाग्निउतार्थप्रसिद्धये ॥ २१ ॥

अर्थ—तथा जो इसप्रकार विचार करे कि मैं बचनही प्रवीणताके प्रयोगोंसे वाक्छौ प्रयोजनकी सिद्धिके लिये मूढ जनोंको अनर्थके सङ्कटमें डाल दूँ ऐसा चतुर हूँ । इस प्रकारका विचार भी रौद्रध्यान है ॥ २१ ॥

वशास्यम् ।

इमान् जडान् षोडशविचारविच्युतान्

प्रतारयाम्यथ वचोभिरुन्नतैः ।

अमी प्रवर्त्तन्ति मदीयकौशला-

दकार्यवर्षेष्वाविति नात्र सशय ॥ २२ ॥

अर्थ—किर इस प्रकार विचार करे कि—ये ज्ञानरहित मूर्ख प्राणी हैं, इनको जो षोडशविचारके वचनोंसे अभी टग लेता हूँ मैं ऐसा चतुर हूँ । तथा ये प्राणी मेरी प्रवीणताके अकार्यमें प्रवर्त्तगा ही इसमें कुछ संदेह नहीं है, ऐसे विचारको भी रौद्रध्यान कहते हैं ॥ २२ ॥

अनेकामत्यसकटपैर्य, प्रमोद, प्रजायते ।

मृपानन्दान्मक रौद्र तत्प्रणीत पुरातनैः ॥ २३ ॥

अर्थ—इस प्रकार अथ भी अनेक प्रकारके असत्य संकल्पानि जो प्रमोद (हस्य) द्वारा ही उसे पुगलन पुष्पोंने रौद्रध्यान कहा है ॥ २३ ॥

इस प्रकार रौद्रध्यानसे दूसरे भेद मृपानन्दका वर्णन किया । अब चौपावनन्द कावर्षे के भेदका वर्णन करते हैं,—

शौर्योपदेशायाऽन्य चातुर्य शौर्यकर्मणि ।

यश्चाप्येकपरं चेतस्त्वशौर्यान्न्द इगमे ॥ २४ ॥

अर्थ—जो चोरीके बाणोंके उपदेशही अधिकार तथा चौकर्ममें घनुरता तथा चोरोके बाणोंमें ही तजसवि हो उसे चौवानदनामा रौद्रध्यान माना है ॥ २४ ॥

धारुणविधीकृतम् ।

चचौर्याय शरीरिणामहरहभिन्ता समुत्पद्यते
शृत्वा चौर्यमपि प्रमादमतुलं कुर्वन्ति यत्सततम् ।

चौर्येणापि हने परं परधने यच्चापते सन्नम

स्तचौर्यप्रभयं चदन्ति निपुणा रौद्र सुनिन्दास्पदम् ॥ २५ ॥

अर्थ—चोरीके चौकर्मके लिये निरंतर चित्त उत्पन्न हो तथा चोरीक्रम करके भी निरंतर अतुल रूप मात्र आनंदित हो तथा अन्य कोई चोरीके द्वारा परधनको हरि उत्तम रूप मानें उसे निपुण पुरुष चौक बनसे उत्पन्न हुआ रौद्रध्यान कहते हैं यह ध्यान अतिरूप निंदाका कारण है ॥ २५ ॥

उपक्रान्ति ।

शृत्वा महाय परधीरसैन्यं तथाभ्युपायाश्च बहुप्रकारान् ।

धनान्यलभ्यानि चिरार्जिनानि सद्यो हरिष्यामि जनस्य धात्र्याम् ॥ २६ ॥

अर्थ—इत धरित्रीमें (पृथिवीमें) लोगोंके धन अलभ्य हैं तथा बहुत कालके स चित्त विषे हुए हैं तो भी मैं यद्ये २ सुभ्रोंकी सेनाकी सहायतासे तथा अनेक उपायोंसे तन्नालही हर लाउगा ऐसा चोर हू ॥ २६ ॥

आर्षा ।

द्विपदचतुष्पदसारं धनधान्यपराङ्मनासमाकीर्णम् ।

यस्तु परकीयमपि मे स्वाधीनं चौर्यसामर्थ्यात् ॥ २७ ॥

उपक्रान्ति ।

इत्थं शुराणां विविधप्रकारं शरीरिभिर्धनं विधत्तेऽभिलाषः ।

अपारदुःखार्णवरेतुभूतं रौद्रं तृतीयं तदिह प्रणीतम् ॥ २८ ॥

अर्थ—तथा परके द्विपद चौपदोम जो सार हैं अधान् उत्तम है तथा धन धान्य भ्रेष्ट स्त्री सदित अन्यकी जो वस्तुय हैं तो मेरी चोरी कमकी सामर्थ्यमे मेरे ही स्वाधीन है ऐसा निचार करे ॥ २७ ॥ इस प्रकार चोरीम जीवोंकरके जो अनेक प्रकारकी बाँझ खीपी जाय तो रौद्र ध्यान है यह रौद्रध्यान अपार दुःखरूपी समुद्रमं पत्तनेका कारणभूत है ॥ २८ ॥

इस प्रकार रौद्रध्यानके तीसरे भेद चौवानदनामा ध्यानका वर्णन किया । आगे दिव्य पराङ्मना नामा रौद्रध्यानके चौथे भेदका वर्णन करते हैं,—

धारुणविधीकृतम् ।

बह्वारम्भपरिग्रहेषु नियतं रक्षां

यत्सकल्पपरम्परा चित्तनुते ।

यद्यालम्ब्य महत्प्रभुमतमना राजेत्या मन्यते

तच्चर्यं प्रयदन्ति निर्मलपियो रौद्र भयाशमिनाम् ॥ ३१ ॥

अर्थ—यह प्राणी रौद्र (रूर) पित्त होकर बहुत आरम परिग्रहों रक्षण कि उद्यम करे और उमम ही संस्त्वती पम्पराको निगारे तथा रौद्रपित्त होकर ही मन्त्र अग्रलंबा करके उन्नतचित्त हो, ऐसा माने कि मैं राजा हूँ ऐसे परिग्रामको सुदिवाले महापुरुष संसारकी बाँडा करनेवाले जीवोंके चौथा रौद्रध्यान कहते हैं ॥ ३१ ॥

इतिश्रुति ।

आरोप्य चाप निशिनैः शरौपैर्निहृत्य वैरिजमुद्धताशम् ।

दग्ध्या पुरग्रामवराकराणि प्राप्स्येऽहमैश्वर्यमनन्यसाध्यम् ॥ ३२ ॥

इन्द्रवज्रा ।

आरोप्य गृह्णन्ति घरा मदीया कन्यादिरत्नानि च दिव्यनारी ।
यः शयः सम्प्रति लुब्धचित्तास्तेषां करिष्ये कुलकक्षदाहम् ॥ ३१ ॥

मालिनी ।

सकलमुचनपूज्य धीरवर्गोपसेव्यम्

स्वजनघनसमृद्धं रत्नरामाभिरामम् ।

अमितविभवसार विश्वभोगाधिपत्यम्

प्रयत्नरिपुकुलान्त हन्त कृत्वा मयासम् ॥ ३२ ॥

उपपाति ।

विधा भुव जन्तुकुलानि हत्वा प्रविश्य दुर्गाण्युदधिं विलङ्घय ।

पद मूर्ध्नि मदोद्धताना मयाधिपत्य कृतमत्युदारम् ॥ ३३ ॥

१०५ १५ २२२

प्रणधिप्रपञ्चै ।

१ निःशेषम् ।

प्रयत्नप्रतापः ॥ ३४ ॥

२ सरक्षणसहि ।

मनुष्यै ।

३ अनन्दभवत् ।

॥

४ आ ।

को विरा

५ त् ।

तीक्ष्ण

६ उपव ।

४१५

७ आकर ।

८ को प्राप्त हो

९ वेरी इस समय

१० ऐसे हैं उनके

तथा—अहो! देखो जो समस्त भुवनोंके जीवोंके पूजनीय, समूहोंके समूहसे सेवने योग्य, स्वजन धनादिकसे पूर्ण, रत्न और क्रियोंसे सुंदर, अमयादिक विभवके सार ऐसे समस्त भोगोंका स्वामित्व अपने शत्रुओंके समूहको नाश करके मैने पाया है ॥ ३२ ॥

तथा—पृथिवीको भेदकर जीवोंके समूहको मारकर दुग् (गर्भों)में प्रवेश करके, समुद्रको उत्पन्न करके बड़े गर्भसे उद्भूत शत्रुओंके मस्तकपर पाव देकर मैने उदार स्वामीपना ज्ञा राज्य किया है ॥ ३३ ॥

तथा—जल अग्नि सर्प विषादिकके प्रयोगोंसे निश्वास दिलाना, भेद करना, दूतभेद करना इत्यादि प्रयत्नोंसे शत्रुओंके समस्त समूहोंका नाश करके यह मरा प्रथम प्रताप है सो स्फुरायमान है (प्रगट है) मैं ऐसा ही प्रतापी हूँ ॥ ३४ ॥ इत्यादिक मनुष्योंके विषय सारभणके सतिषय कारणोंका जो चितवन करना उसको ही जिनेन्द्र मगधानने पीपा रौद्र ध्यान कहा है ॥ ३५ ॥

इसप्रकार रौद्रध्यानका वर्णन किया । अब इसमें लेइया तथा पिहादिकका वर्णन करते हैं—

कृष्णलेइयायलोपेत स्वप्नपातफलाकृतम् ।

रौद्रमेतद्वि जीवानां स्वात्पञ्चगुणभूमिकम् ॥ ३६ ॥

अर्थ—यह रौद्रध्यान कृष्ण लेइयाके बल कर सो संयुक्त है और नरकपातके फलमें विहित है तथा पंचम गुणस्थानपर्यन्त कहा गया है ॥ ३६ ॥

प्रश्न—यहां कोई प्रश्न करे कि रौद्रध्यान पांचवें गुणस्थानमें कहा सो सिद्धान्तमें पांचवें गुणस्थानमें लेइया तो गुप्त कही है और नरक आपुन पांच भी नहीं है तो पंचम गुणस्थानमें रौद्रध्यान कैसे हो ?

उत्तर—यह रौद्रध्यानका बाल प्रधानतासे निध्यासवरी अपेक्षा है । पांचवें गुणस्थान सम्पत्त्वकी सामर्थ्यसे ऐसे रौद्र परिणाम नहि होने । कुछ गृहकार्य संस्कारसे विविध लेशमात्र होता है उसकी अपेक्षा कहा है सो यह नरकगतिका कारण नहीं है ॥

धूरता दण्डपातप्य घञ्चकत्व कठोरता ।

निर्लिङ्गिशास्त्रं च लिङ्गानि रौद्रस्योक्तानि सूरिभिः ॥ ३७ ॥

अर्थ—तथा धूरता (दुष्टता), दहरी समान पर्यता, दण्डकता, कठोरता, निर्दिष्टता ये रौद्रध्यानके चिह्न आचार्योंने कहे हैं ॥ ३७ ॥

विस्फुलिङ्गानिमे नेत्रे भूषणा भीषणावृत्तिः ।

कम्प स्वदादिलिङ्गानि रौद्रे चाद्यानि देहिनाम् ॥ ३८ ॥

यद्यालम्ब्य महत्त्वमुन्नतमना राजेत्यहं मन्यते

तत्तुयं प्रवदन्ति निर्मलघियो रौद्र भवाठासिनाम् ॥ १९ ॥

अर्थ—यह प्राणी रौद्र (क्रूर) चित्त होकर बहुत आरम परिग्रहों रक्षाय निम्न उद्यम करे और उसमें ही सन्तुष्टि परंपराको निम्नार तथा रौद्रचित्त होकर ही मृत्यु अग्रवर्ण करके उन्नतचित्त हो, ऐसा माने कि मैं राजा हूँ ऐसे परिणामको निम्न बुद्धिवाले महापुरुष ससारकी यात्रा करनेवाले जीवोंके चौथा रौद्रध्यान कहते हैं ॥ १९ ॥

उपजाति ।

आरोप्य चाप निशितैः शरौघैर्निहृत्य वैरित्रजमुद्रताशम् ।

दग्ध्वा पुरग्रामवराकराणि प्राप्स्येऽहमैश्वर्यमनन्यसाध्यम् ॥ २० ॥

इन्द्रवज्र ।

आच्छिद्य गृह्णन्ति धरा मदीया कन्यादिरत्नानि च दिव्यनारी ।

ये शश्वः सम्प्रति लुब्धचित्तास्तेषां करिष्ये कुलकक्षदाहम् ॥ २१ ॥

मालिनी ।

सकलभुवनपूज्य धीरवर्गोपसेव्यम्

स्वजनघनसमृद्धं रत्नरामाभिरामम् ।

अमितविभवसार विश्वभोगाधिपत्यम्

प्रपलरिपुकुलान्तं हन्त कृत्वा मयासम् ॥ २२ ॥

उपजाति ।

मिया भुय जन्तुकुलानि हत्वा प्रविश्य दुर्गाण्युदधिं विलङ्घ्य ।

कृत्वा पद मूर्ध्नि मदोद्धताना मयाधिपत्यं कृतमत्युदारम् ॥ २३ ॥

जललव्यालविषप्रयोगैर्दिग्ध्वास्तमेदप्रणाधिप्रपञ्चे ।

उत्सृज्य नि शेषमरातिचक्रं स्फुरत्यय मे प्रपलप्रताप ॥ २४ ॥

इत्यासरक्षणसत्रियन्ध सचिन्तनं यत्क्रियते मनुष्यैः ।

सरक्षानन्दभयं तदेनद्रौद्रं प्रणीतं जगदेकनाथैः ॥ २५ ॥

अर्थ—जगत् अद्वितीय नाथ सवश देवने मनुष्योंके आगे छिपे रिपारोको निम्न सत्प्राप्त आनन्दमे लक्ष्य हुआ रौद्र ध्यान कहा है। जैसे मनुष्य रिपारो कि—यै लक्ष्य बाणोंके समूहोंमें नुपको आरोपण करके उद्धताशय वैरियोंके समूहको उद्धताशय उनके पुष्पमंथन आकर (खानि) आदिको दग्ध करके सारनेने १ और ऐसे उद्धताशय निष्कटक राक्षस प्राप्त होऊंगा ॥ २० ॥

उपार्थ—इस समय मेरी शरीरी कया आदि रत्न और सुंदर मीनो दुर्गाणि रूप छिपे हैं उनके बुल्लार्या वनको मैं दग्ध करूंगा ॥ २१ ॥

तथा—अहो! देखो लो गमग भुजोंके जीयोंकरके पूजनीय, सुभटोंके समूहसे सेवने कोय, मन्त्रेण ध्यादिब्रह्म पूजा, रक्त और मिथामे उदर, भ्रमपादिक विभवके सार ऐसे समस्त मे लोका श्यामिन अन्वये द्रुमोंके समूहको नाग करके मैं पाया है ॥ ३२ ॥

तथा—दृष्टिपीषो भेदकर जीवोंके समूहको भारवर दुग (गडों)भ प्रवेश करके, समुद्रको लण्ड करके दूरे गरसे उद्भूत द्रुमोंके मस्तकपर पाँव देकर मैंने उदार स्थायीपना का राज्य विद्या है ॥ ३३ ॥

तथा—जल अग्नि सार विषादिकके प्रयोगोंसे निष्ठास दिलाना, भेद करना, दूतभेद करना इत्यादि प्रयत्नोंसे द्रुमोंके समस्त समूहोंका नाग करके यह मेरा प्रबल प्रताप है सो स्तुतायमान है (प्रशंसा है) मे ऐमाही प्रतापी हूँ ॥ ३४ ॥ इत्यादिक मनुष्योंके विषय सरलपणे सत्तिषध बारणोंका जो चित्रण करता उसकोही विनेन्द्र भगवानने भीषा रौद्र ध्यान करा है ॥ ३५ ॥

इमप्रकार रौद्रध्यानका वर्णन किया । अब इसने देखा तथा चिह्नादिकका वर्णन करते हैं—

शृष्णलेदयायलोपेत स्रग्भपातफलाद्रितम् ।

रौद्रमेनद्रि जीवाना स्यात्पञ्चगुणभूमिकम् ॥ ३६ ॥

अर्थ—यह रौद्रध्यान शृष्ण लेदयाके कल कर तो सयुक्त है और नरकपातके फलसे विहित है तथा पचम गुणस्थानपर्यन्त कहा गया है ॥ ३६ ॥

प्रश्न—यहां कोह प्र । करें कि रौद्रध्यान पाँचवें गुणस्थानमें कहा सो सिद्धान्तन पाँचवें गुणस्थानमें लेदया तो गुम बही है और नरक आयुक्त अब भी नहीं है तो पचम गुणस्थानमें रौद्रध्यान कैसे हो ?

उत्तर—यह रौद्रध्यानका वर्णन प्रधानतासे निष्पावरी अपेक्षा है । पाँचवें गुणस्थान सम्पत्त्वरी सामध्यमे ऐसे रौद्र परिणाम नष्ट होते । कुछ गृहकापके सस्फारसे किंचित् लेशमात्र होता है उसकी अपेक्षा कहा है तो यह नरकगनिका कारण नहीं है ॥

श्रुता दण्डपारुष्य घञ्जकत्व कठोरता ।

निर्लिङ्गतास्य च लिङ्गानि रौद्रस्योक्तानि स्रिभिः ॥ ३७ ॥

अर्थ—तथा श्रुता (दुष्टता), दहरी समाज पम्पता, वधकता, कठोरता, निद्रयता ये रौद्रध्यानके बिह लक्षणोंके होते हैं ॥ ३७ ॥

विस्फुल्लिङ्गनिभे नेत्रे ध्रुवका भीषणाकृति ।

कम्प स्वदादिलिङ्गानि रौद्रे पाणानि देहिनाम् ॥ ३८ ॥

अर्थ—अग्निने फुल्लिग समान लाल नेत्र हों, मोह टेढ़ी हां, मयानक आहूति हो, देहमें कपन वा पमेराका होना इत्यादि रौद्रध्यानने बाह्य चिह्न हैं ॥ ३८ ॥

क्षायोपशमिको भावः कालश्चान्तर्मुहूर्त्तरुः ।

दुष्टाशयप्रशादेतदप्रशस्तावलम्बनम् ॥ ३९ ॥

अर्थ—यह रौद्रध्यान क्षायोपशमिक भाव है, इसका काल अन्तर्मुहूर्त्तपर्यन्त है और यह दुष्टाशयने वशने अप्रशस्त वस्तुका अवलम्बन करनेगला है अर्थात् यह ध्या छोटी वस्तुपर ही होता है ॥ ३९ ॥

दहत्येव क्षणार्द्धेन देहिनामिदमुत्थितम् ।

असङ्ख्यान त्रिलोकश्रीप्रसव धर्मपादपम् ॥ ४० ॥

अर्थ—यह अप्रशस्त ध्यान जीर्णोके होता है तब तीन लोककी लक्ष्माके उत्पन्न करनेवाले धर्मरूपी वृक्षको क्षणाद्धम जला देता है ॥ ४० ॥

अत्र आत्तरौद्र ध्यानोक्तं सक्षेपं कहते हैं,—

उपजाति ।

इत्यार्त्तरौद्रे गृहिणामजस्र ध्याने मुनिन्ये भवतः स्वतोऽपि ।

परिग्रहारम्भकपायदोषैः कलङ्कितेऽन्तःकरणे विशङ्कम् ॥ ४१ ॥

अर्थ—इस प्रकार ये आर्त्त और रौद्रध्यान गृहस्थियोंके परिग्रह आरम्भ और कप यादि दोषोंसे मलिन अन्तःकरणमें स्वयमेव निरन्तर होते हैं इसमें कुछ भी शङ्का ना है, ये दोनों ध्यान निन्दनीय हैं ॥ ४१ ॥

फचित्कचिदमी भावा प्रवर्त्तन्ते मुनेरपि ।

प्राक्कर्मगौरवाच्चित्र प्रायः सत्सारकारणम् ॥ ४२ ॥

अर्थ—ये भाव किसी २ समय पूर्वकर्मने गौरवमें मुनिके भी होते हैं सो व पूर्वकर्मके उदयकी विचिन्ता है, बाहुल्यसे ये सत्सारके कारण हैं ॥ ४२ ॥

स्वयमेव प्रजायन्ते विना यत्नेन देहिनाम् ।

अनादिदृढसत्कारादुर्ध्यानानि प्रतिक्षणम् ॥ ४३ ॥

अर्थ—ये दुध्यान हैं सो जीर्णोके अनादि कालके सत्कारसे विना ही यत्नके स्वयमेव निरन्तर उत्पन्न होते हैं, धर्मका उदय प्रगल्भ है ॥ ४३ ॥

मालिनी ।

इति विगतकलङ्कैर्वर्णितं चित्ररूपं

दुरितविषिर्नपीज निन्यदुर्ध्यानयुग्मम् ।

कटुकतरफलाद्य सम्यगालोच्य धीर

त्यज सपदि यदि त्व मोक्षमार्गे प्रवृत्त ॥ ४४ ॥

अर्थ—आचार्य उपदेश करते हैं कि हे धार पुत्र्य ! तू तू मोक्षमार्गमें प्रवर्त्ता है तो उपयुक्त प्रकार अनेकरूप निन्दनीय दुष्प्रधानका सुम्भवन बन्द कर जिनका दूर होना ऐसे महापुरुषोंने बर्णन किया है उसको भले प्रकार विचार करके शीघ्र ही छोड़ क्योंकि यह दुष्प्रधानका सुम्भ है तो पापरूपी धनका बीज है नितने पाप है वे इनमें ही उपजते हैं अतिसय कठिन फलसंयुक्त है तीन दुःख ही इसका फल है ॥ ४४ ॥

इस प्रकार आक्षरौद्र दोनों ध्यानका बर्णन किया यह सात्विक यह है कि इन दोनों अमराल ध्यानोंको त्यागनेसे प्रसन्न ध्यान धन ध्यात गुरुप्रधानकी प्रवृत्ति होती है ॥
तोहा ।

पच पापमें हर्ष जो, रौद्रध्यान अधस्त्वानि ।

आर्त्त कष्टो दुःखमगमता, दोऊ तज निजजानि ॥ २६ ॥

इति श्रीगुम्भचन्द्राचार्यविरचिते श्रीमदीपाधिकारे ज्ञानार्णवे आक्षराद्र
ध्याननाम षड्विंश प्रकरण ॥ २६ ॥

अथ सप्तविंश प्रकरणम् ।

आगे धनध्यानका स्वरूप करते हैं,—

अथ प्रशममालम्ब्य विधाय स्ववश मनः ।

विरज्य कामभोगेषु धर्मध्यान निरूपय ॥ १ ॥

अर्थ—हे आत्मन् ! तू प्रशमताका (मन्द कदाचरुत विपुल भारोंका) अवलम्बन करके अपने मनको अपने वश कर और कामभोगोंकी इच्छाने अधीन विरज्यसेनादिज्ञाने निरक्त होकर धन ध्यानकी विचारपूर्वक देख ॥ १ ॥

तदेव प्रजमायातं सचिक्त्व समासतः ।

आरम्भफलपर्यन्त प्रोच्यमान विमुष्यताम् ॥ २ ॥

अर्थ—यही धनध्यान आचार्योंकी परिपाटीत (पुर-अवधाने) बला आका देशों सहित संभरसे बड़ा हुआ आरम्भ फलपर्यन्त ज्ञानका चर्हिदे ॥ २ ॥

ज्ञानवैराग्यसंपन्नं सद्गतात्मा स्थिराशयः ।

सुसुधुरयमी ज्ञानतो धाता धीरः प्रशस्यते ॥ ३ ॥

अर्थ—इस धनध्यानका करनेवाला ध्याता यद्यपि समुदा ज्ञान और स्थिर दैवत्व

करके सहित हो, इन्द्रिय मन जिसके वश हो, स्थिरचित्त आर मुक्तिरा इच्छक हो, तथा आलस्यरहित उद्यमी और शान्तपरिणामी हो, तथा धैर्यवान् हो, वहा प्रथम नीय है ॥ ३ ॥

चतस्रो भावना धन्या पुराणपुरुषाश्रिताः ।

मैत्र्यादयश्चिर चित्ते ध्येया धर्मस्य सिद्धये ॥ ४ ॥

अर्थ—तथा मैत्री प्रमोद कारण्य और माध्यम्य इन चार भावनाओंको पुराणपुराणोंने (तीर्थकरादिकोंने) आश्रित किया है इस कारण धन्य हैं, (प्रशसनीय हैं) सो धन्यावत हैं सिद्धिके लिये इन चारों भावनाओंको चित्तमें ध्याना चाहिये ॥ ४ ॥

अन प्रथम ही मैत्री भावनाको कहते हैं,—

क्षुब्धेतरविकल्पेषु चरस्थिरशरीरिषु ।

सुगन्धुःखाद्यवस्थासु समुत्तेषु यथायथम् ॥ ५ ॥

नानागोनिगतेष्वेव समत्वेनाधिराधिका ।

साध्या महत्यभापन्ना मतिर्मैत्रीति पठ्यते ॥ ६ ॥

अर्थ—शुद्ध (सूक्ष्म) इतर वादर भेदरूप व्रत स्थानर प्राणी सुगन्धु खादि भोग्य ओम जैमे तैमे निष्ठे हा—तथा नानाभेदरूप योनियोंम प्राप्त होनेवाले जीवोंमें समानतासे विरापनेवाली नहीं ऐसी महत्ताको प्राप्त हुई समिचीनबुद्धि मैत्री भावना कही जाती है ॥ ५ ॥ ६ ॥

जीवन्तु जन्तय मयं क्लेशव्यसनवर्जिताः ।

प्राप्तुयन्तु सुख त्यक्त्या वैर पाप पराभयम् ॥ ७ ॥

अर्थ—इम मैत्रीभावनाम ऐसी भावना रहे कि—ये सब जीव कष्ट आशुभो वशित हो जाओ, तथा वैर पाप अपमानको छोड़कर सुखको प्राप्त होओ इसप्रकार ही भावनाको मैत्रीभावनना कहते हैं ॥ ७ ॥

दैन्यशोकममुत्रासे रोगपीडादितात्मसु ।

यद्यप्यनन्देयु याचमानेषु जीयितम् ॥ ८ ॥

शुभ्रदुःखमाभिभूतेषु जीताद्यैर्व्यथितेषु च ।

अस्मिन्नेषु निश्चिन्तायाम्मानेषु निर्दयम् ॥ ९ ॥

मरणाक्षेषु जीयेषु यन्मर्माकारवाञ्छया ।

अनुग्रहमणि मेव करुणामि प्रकीर्तिता ॥ १० ॥

अर्थ—जन्म मरण, शोक तथा शोक मय रोगादिपीडादि तात्मसु, यद्यप्यनन्देयु याचमानेषु जीयितम्, शुभ्रदुःखमाभिभूतेषु जीताद्यैर्व्यथितेषु च, अस्मिन्नेषु निश्चिन्तायाम्मानेषु निर्दयम्, मरणाक्षेषु जीयेषु यन्मर्माकारवाञ्छया, अनुग्रहमणि मेव करुणामि प्रकीर्तिता ॥ १० ॥

हृदय में जोर लगाने का भाव होने हीन प्राप्ति करनेवाले हैं, तथा कुछ दृष्टि रोद
अद्वितीय दीर्घ हो, तथा हीन ज्ञानादिक पीडित हो तथा निद्रा गुणादी निद्रा
गुणों से वृद्ध (दीर्घा विवेक) मरण के दुःखों का भाव हो, इस प्रकार दुःखी जीवों को
उपशान्ति प्राप्त हो एक दुःख दूर करने के उपाय करने की बुद्धि हो उसे बरुणा
भावना करने है ॥ ८ ॥ ० ॥ १० ॥

अथ प्रमोदभावना करने है,—

नयःश्रुतयमोयुक्तचेतसा ज्ञानचक्षुषाम् ।

विजिताक्षरपायाणां स्वतन्त्राभ्यासशास्त्रिणाम् ॥ ११ ॥

जगत्प्रपञ्चमत्कारिचरणाधिष्ठितात्मनाम् ।

तद्गुणेषु प्रमोदो यः सङ्गि सा मुदिता मता ॥ १२ ॥

अर्थ—जो पुरुष तप आश्वासन और दम विद्यादिकों से उपमयुक्त चित्तवाले हैं
तथा शास्त्री जिनके नेत्र हैं हृदय, मन और वशों को जीतनेवाले हैं तथा स्वतन्त्राभ्यास
बानर्ष भगुर हैं जगत्को समस्त करनेवाले पारिव्रजे जिनका आत्मा अधिष्ठित (आ
धिष्ठित) है ऐसे पुरुषों के गुणों प्रमोद (हर्ष) होना सो मुदिता कहिये प्रमोद
भावना है ॥ ११ ॥ १२ ॥

अथ माध्यम्य भावना करने है,—

शोषयिष्ये मयवेपु निर्गुणशत्रुर्मनु ।

मधुमामसुरा पद्मालुब्धेष्वत्यन्तपापिषु ॥ १३ ॥

देषागमयनिघातनिन्दकेष्व्वात्मशसिषु ।

नास्तिष्वेषु य माध्यस्थ्य यस्मोपेक्षा प्रकीर्तिता ॥ १४ ॥

अर्थ—जो प्राणी शोषी हो, निद्रा व शत्रुर्मी हो, तथा मधु मांस मद्य और पर-
श्रीम हृदय (हृदय) तथा आतल व्यसनी हो, और अत्यन्त पापी हो तथा देव
गण गुरुओं के समूहों निद्रा करनेवाले और अपनी प्रशंसा करनेवाले हो तथा नास्तिक
हो, ऐसे जीवों में रागद्वेषरहित मध्यम्यभाव होना सो उपेक्षा कही है । उपेक्षा नाम
उदासीनता (वीतरागता) का है सो यही मध्यम्यभावना है ॥ १३ ॥ १४ ॥

गता मुनिजनानन्दसुधास्य दैकचन्द्रिका ।

व्यस्तरामाशुग्लेशा लोकाग्रपथदीपिका ॥ १५ ॥

अर्थ—इस प्रकार ये ४ भावनायें कहीं सो मुनिजन कि आनन्दरूप अमृत के हरने से
यद्मार्गी चान्नीक समान है क्योंकि इनमें रागादिक का घटा ज्ञेय ध्वस्त हो जाता है
अथान् जा इन भावनाओं में सुख हो उससे कषायरूप परिणाम नहीं होते तथा ये भावनायें
लोकाग्रपथको (मोक्षमार्ग) प्रकाश करने के लिये दीपिका (चिराग) हैं ॥ १५ ॥

ण्ताभिरनिश योगी क्रीडन्नत्यन्तनिर्भरम् ।

सुखमात्मोत्थमत्यक्षमिहैवास्कन्दति ध्रुवम् ॥ १६ ॥

अर्थ—इन भावनाओंमें रमता हुआ योगी अत्यन्त मातिशय आत्मानमें उत्पन्न हुए अतीन्द्रिय सुखको इसी लोकमें निश्चय करने प्राप्त होता है ॥ १६ ॥

भावनास्वाप्तु सलीनं करोत्यध्यात्मनिश्चयम् ।

अवगम्य जगद्भूत विषयेषु न मुह्यति ॥ १७ ॥

अर्थ—तथा इन भावनाओंमें लीन हुआ मुनि जगत्के वृत्तातन्त्री अध्यात्मका निश्चय करता है, जगत्के प्रवर्तनमें तथा इन्द्रियोंके निषेधोंमें मोहको प्राप्त नहीं होता अर्थात् स्वकीय स्वरूपके सम्मुख रहता है ॥ १७ ॥

योगनिद्रा स्थितिं घत्ते मोहनिद्रापसर्पति ।

आप्तु सम्यक्प्रणीतासु स्यान्मुनेस्तत्त्वनिश्चयः ॥ १८ ॥

अर्थ—इन भावनाओंको मले प्रकार गोचरीभूत (अभ्यस्त) करनेपर मुनिके मोह निद्रा तो नष्ट हो जाती है और योगी (ध्यानकी) निद्रा स्थितिको धारण करती है और उसी मुनिके तत्त्वोंका निश्चय होता है ॥ १८ ॥

आभिर्घटानिश्च विश्व भावयत्यखिलं वशी ।

तदौदासीन्यमापन्नश्चरत्यत्रैव मुक्तवत् ॥ १९ ॥

अर्थ—जिस समय मुनि इन भावनाओंसे वशी होकर समस्त जगत्को मानता है तब वह मुनि उदासीनताको प्राप्त होकर इसी लोकमें मुक्तने समान प्रवर्तता है अर्थात् मुक्तिमें सुखानुभूति प्राप्त होता है ॥ १९ ॥

इस प्रकार शुभ ध्यानकी सामग्री स्वरूप चार भावनाओंका वर्णन किया, इनको मात्र मेरा लेके ध्यानकी सिद्धि होती है। अब ध्यानने योग्य स्थान तथा उसके अयोग्य स्थान का वर्णन करते हैं,—

रागादिवायुराजाल निहृत्याचिन्त्यविक्रम ।

स्थानमाश्रयते धन्यो विविक्त ध्यानसिद्धये ॥ २० ॥

अर्थ—जो मुनि धन्य है (महामाग्य है) वह रागादिकरूप फासीके जालको काटकर अपिन्त्य पराश्रमवाला होकर ध्यानकी सिद्धिने लिये निर्जन (एकान्त) स्थानको आश्रय करता है क्योंकि एकांत स्थानमें रहे बिना ध्यानकी सिद्धि नहीं होती ॥ २० ॥

कानिचिरात्र शस्यन्ते दूष्यन्ते कानिचित्तु न ।

ध्यानाध्ययनसिद्धयर्थं स्थानानि मुनिसारमः ॥ २१ ॥

अर्थ—ध्यानकी और शास्त्राध्ययनकी सिद्धिके लिये आचार्योंने वद स्थान साधने और वद स्थान देने भी हैं कदाचित्—॥ २१ ॥

विकीर्यते मन सद्यः स्थानदोषेण देहिनाम् ।

तदेव स्थिता घत्ते स्थानमासाद्य बन्धुरम् ॥ २० ॥

अर्थ—जीवों का चित स्थानके दोषसे तत्काल विकारताको प्राप्त होता है और वही मन मनोऽं स्थानको पाकर स्थिताको (निश्चलताको) प्राप्त होता है ॥ २२ ॥
उन्ही दूषित स्थानोंको कहते हैं,—

स्नेच्छाघमजनैर्जुष्ट दुष्टमृपाल्पालितम् ।

पापण्डिमण्डलाक्रान्त महाभिध्यात्ववासितम् ॥ २३ ॥

कौलिकापालिकावास कङ्क्षुद्रादिमन्दिरम् ।

उद्भ्रान्तभूतवेताल चण्डिकाभवनाजिरम् ॥ २४ ॥

पण्यस्त्रीकृतसकेत मन्दचारित्रमन्दिरम् ।

क्रूरकर्माभिचाराद्य कुशास्त्राभ्यासयक्षितम् ॥ २५ ॥

क्षेत्रजातिकुलोत्पन्नशक्तिस्वीकारदर्पितम् ।

मिलितानेकदुःशीलकल्पिताचिन्त्यसारसम् ॥ २६ ॥

भूतकारसुरापानविटवन्दित्रजान्वितम् ।

पापिसरयसमाक्रान्त नास्तिकासारसेवितम् ॥ २७ ॥

ब्रह्मादकामुकाकीर्ण व्याधविष्वस्तद्व्यापद ।

शिल्पिकारुकविक्षिप्तमग्निजीवजनाश्रितम् ॥ २८ ॥

प्रतिपक्षशिरःशूलं प्रत्यनीकावलम्बितम् ।

आग्नेयीवण्डितव्यघ्नससृत च परित्यजेत् ॥ २९ ॥

अर्थ—प्यान करनेवाला मुनि आगे लिखे स्थानोंको छोड़े । स्नेच्छा पानी जनोके रहनेका स्थान, दुष्ट राजाके (जर्नदारके) अधिकारका स्थान, पासडी भेदिनोंके समूह का स्थान, तथा महाभिध्यात्वका स्थान, कुलदेवता क्षेत्रिनीका स्थान, रक्त नील देवादिदेवा मंदिर जिसमें उद्धत भूत वेताल नाचने हों, तथा चण्डिका देवीके भवन का प्राण (चौक) तथा अभिचारिणी गिरीको सकेत स्थान, बुधारीस्त्री पाख दिनोंका मंदिर तथा क्रूर कर्म करनेवालोंका निवास संचार हो, जिसमें सुराग्रोंका अभ्यास होना हो ऐसा स्थान, तथा जर्नीन्गरी जानि और कुलसे उत्पन्न हुए शक्तिसे अधिकारने आ जानने गरिष्ठ अध्यान् यह हमारा निशान है अन्यको प्रवर्त नहि करने दें ऐसा स्थान, तथा जिसमें अनेक दुःशील खोटे पुरखों मिलकर कोई अधिक साहित्य कार्य रचा हो । अथवा घतकीडाका जूआरी मद्यपान, अभिचारी बशीबल इत्यादिके समूह सन्नि स्थान, तथा पापी प्राणियोंके स्थान हुआ, तथा नष्टियों द्वारा सेवित हो,

तथा राक्षस कामी पुरुषोंसे व्याप्त, व्याध शिकारियोंने जहापर जीववध किया हो, व शिल्पी, (शिलाभट्ट कारीगर) कारक (मोची आदि) का निश्चित स्थान (छोडा हुआ) हो, व अगिजीवी (लुहार ठठरे आदि) में युक्त हो, तथा शत्रुके मलरूपर शूलनी समान शत्रु सेनाका स्थान तथा रजस्वला अष्ट चारित्री नपुंसक अगहीनोंके रहनेका स्थान, इत्यादि स्थानोंको ध्यान करनेवाला छोड़े अर्थात् इन स्थानोंसे बचकर अन्य योग्य स्थानमें ध्यान करना चाहिये ॥ २३ ॥ २४ ॥ २५ ॥ २६ ॥ २७ ॥ २८ ॥ २९ ॥

चिद्रयन्ति जना पापाः सञ्चरन्त्यभिसारिकाः ।

क्षोभयन्तीहिताकारैर्यत्र नार्योपशङ्किताः ॥ ३० ॥

अर्थ—तथा जहापर पापीजन उपद्रव करते हैं, जहा अभिसारिका स्त्रियों विचरती हैं, तथा स्त्रियों निशङ्कित होकर जहा कटाक्ष इगिताभारान्तरिकमें क्षोभ उत्पन्न करा हो ऐसे स्थानका ध्यानी मुनि त्याग करे ॥ ३० ॥

अथ पुनः विशेष कहते हैं—

किं च क्षोभाय मोहाय यद्विकाराय जायते ।

स्थान तदपि मोक्षस्य ध्यानविध्यसशङ्कितैः ॥ ३१ ॥

अर्थ—जो मुनि ध्याविध्यसके मयसे मयभीत हैं उनको क्षोभकारक, मोहक तथा विचार करनेवाला स्थान भी छोड़ देना चाहिये ॥ ३१ ॥

तृणकण्टकवल्मीकविषमोपलकर्हमै ।

भस्मोच्छिष्टास्थिरक्ताचैर्दूषिता मन्त्रजेषुयम् ॥ ३२ ॥

अर्थ—तथा जो जगह तृण, कण्टक, वल्मीक, (बारी), विषम पाषाण, कदम, मम, उच्छिष्ट, दाढ़, रधिरादिक निम्न वस्तुओंमें दूषित हो उसको ध्यान करनेवाला छोड़े ॥ ३२ ॥

काककौशिकमार्जारगरगोमायुमण्डलैः ।

अथपुष्ट हि विघ्नाय ध्यानुकामस्य योगिनः ॥ ३३ ॥

अर्थ—तथा जो स्थान काक उरूव बिलार गर्दम शृगाल आनादिजन्तु भक्षु हो अथवा जहां वे शब्द करने हो व स्थान योगी मुनिगणोंके ध्यानोंके विघ्नकारक है ॥ ३३ ॥

ध्यानध्वस्तनिमिषानि तथाग्यान्त्यपि श्रूतले ।

न हि श्रेष्ठेऽपि मेघ्यानि स्थानानि मुनिगणमैः ॥ ३४ ॥

अर्थ—जो जगह ध्यान करने उनी प्रकार अव्यवस्था भी जो स्थानके निम्नकारक हो वे स्थान ध्यान करने योगी मुनिगणोंको छोड़ देना चाहिये, ये स्थान श्रेष्ठ भी नहीं हैं ॥ ३४ ॥

इसप्रकार ध्यानके विभिन्न कारण स्थानोंका वर्णन किया—

दोहा

जहा शोभ मन ऊपरन महा ध्यान नहि होय ।

येमे ध्यान विरह है ध्यानी त्याग साय ॥ २७ ॥

इति श्रीगुम्बदाचार्यनिरचिते योगप्रदीपाधिराजे शास्त्राय ध्यान विम्ब

स्थानभणना नाम समविंश प्रकरण समाप्तम् ॥ २७ ॥

अथ अष्टाविंश प्रकरण लिख्यते ।

अब ध्यानके योग्य स्थानोंको बहुतकर आमतार स्थान कहने हैं तादा प्रथम योग्य स्थान कहते हैं,—

सिद्धक्षेत्रे महातीर्थे पुराणपुण्याश्रिते ।

कल्याणकलिते पुण्ये ध्यानसिद्धिं प्रप्तायमे ॥ १ ॥

अर्थ—सिद्धक्षेत्र, जहाँ वि सहे २ प्रसिद्ध पुराण ध्यानकरसिद्धि प्राप्त है। महा पुण्य पुराण अर्थात् तीर्थकरादिकोने जिसका आश्रय दिया हो ऐसी महातीर्थ जो कल्याणक स्थान हों ऐसे स्थानोंमें ध्यानी सिद्धि होती है ॥ १ ॥

सागरान्ते वनान्ते वा दौलशृङ्गान्तरेऽथवा ।

पुलिने पद्मजण्डान्ते प्राकारे शालग्रहूटे ॥ २ ॥

सरिता सहमे द्वीपे प्रक्षारणे तरबोदरे ।

जीर्णोद्याने स्मशाने वा शुभागर्भे विजन्तुरे ॥ ३ ॥

सिद्धकूटे जिनागारे कृत्रिमेऽनृत्रिमेऽपि वा ।

महर्द्धिमहाधीरयोगिससिद्धयाजिने ॥ ४ ॥

मनःप्रातिप्रदे शस्ते शङ्खाकोलाहलपुणे ।

सर्पकुसुमादे रम्ये सख्योपद्रवदर्जिने ॥ ५ ॥

शून्यवेदमयप ग्रामे शृंगर्भे बहलीरुदे ।

पुरोपवनवेद्यते मण्डपे दीपपादपे ॥ ६ ॥

वर्षातपनुपारादिपबनासारवर्जिने ।

स्थाने लागर्तविधानं पमी ज्ञानसिद्ध्यन्तरे ॥ ७ ॥

अर्थ—सयमी मुनि सप्ताहकी पीडाको शान्त करनेके लिये आगे लिखे स्थाने निरतर साधन होकर रह—समुद्रके किनारेपर-वनम्, पर्वतके शिखरपर नदी किनारे, कमलवनमें, प्राकार (कोट), शालवृक्षोंके समूहमें, नदियोंका जहा समग्र हुआ, जलके मध्य जो द्वीप हो उसमें, प्रसन्न (उज्ज्वल) वृक्षके कोटरमें, पुराने वनमें, श्मशानमें, पत्तकी गुफामें, जीवरहित स्थानमें, मिट्टाट्ट तथा कृत्रिम अकृत्रिम चैत्यालयोंमें जगत् महाशक्तिके धारक महावीर वीर योगीश्वर मिट्टीकी बाड़ा करते हैं, मनको प्रीति देनेवाला प्रशसनीय, तथा जहापर शक्रा कोलाहलशब्द न हो ऐसे स्थानमें, तथा समस्त ऋतुओंमें सुखके देनेवाले रमणीक सर्व उपद्रव रहित स्थानमें, तथा शून्यघर तथा शून्य ग्राम पृथिवीके नीचे ऊँचे प्रदेशमें, तथा कदली गृहमें (नेलोंके कुजोंमें) तथा नगरसी उपवनसी (रागसी) वन अतम तथा बेटीपरसे भद्रपथ वा चैत्यवृक्षके ममीष, तथा वर्षा आताप हिम नीतादिक तथा प्रचण्ड पयसादिसे वजित स्थानमें निरतर निष्ठ ॥ २-३ ४ ५ ६ ७ ॥

यत्र रागादयो दोषा अजम्ब यान्ति लाघवम् ।

तत्रैव वसति. साध्वी ध्यानकाले विशेषतः ॥ ८ ॥

अर्थ—जिम स्थानमें रागादि दोष निरन्तर लघुताको प्राप्त हो उमही स्थानमें मुनिजी वसना चाहिये तथा ध्यानके कालमें तो अरुण ही योग्य स्थानको ग्रहण करना चाहिये ॥ ८ ॥

अत्र आमनसा निधान कहते हैं,—

दारुपट्टे शिलापट्टे भूमौ वा सिकतास्थले ।

समाधिसिद्धये धीरो विदध्यात्सुस्थिरासनम् ॥ ९ ॥

अर्थ—धीर वीर पुरुष समाधि की सिद्धिके लिये बाछने तखतेशर तथा गिरा अथवा भूमिपर वा यात्रेयके स्थानमें भले प्रकार स्थिर आसन करें ॥ ९ ॥

पर्यङ्कमर्द्धपर्यङ्क यत्र धीरासन तथा ।

सुगारविन्दपत्र वा कायोत्सर्गश्च सम्मत ॥ १० ॥

अर्थ—पर्यङ्क आगता, अर्द्धपर्यङ्क आगता, वज्रासना, योगासना, सुमासना, कमलासना आदि कायोत्सर्ग ये ध्यानके योग्य आसन माने गये हैं ॥ १० ॥

येन येन सुग्रासीना विदध्यात्सुस्थिरासनम् ।

तत्रादेय विधेय म्यान्मुनिभिर्वन्दुरासनम् ॥ ११ ॥

अर्थ—जिम जिम आसनामें सुखरूप उपस्थित मुनि अनेक मासों विधायक रहते हैं, सुग्रासीना आसन करनेवाले आसना चाहिये ॥ ११ ॥

कायोत्सर्गश्च पर्यङ्क प्रशस्त कैथिदीरित ।

देहिना धीर्यैकल्यात्कालदोषेण सप्रति ॥ १२ ॥

अर्थ—तथा इस समय कालदोषसे जीवोंके चौर्यही मित्रलता है अर्थात् सामर्थ्यकी रीतिता है इस कारण कई आचार्योंने पर्यङ्कामन (पदासना) और कायोत्सर्ग ये दो आसन ही प्रशस्त कहे हैं ॥ १२ ॥

वज्रकाया महासत्त्वा नि कम्पा सुस्थिरासना ।

सर्वाङ्गस्थाम्बल ज्ञात्वा गता प्राग्योगिन शिवम् ॥ १३ ॥

अर्थ—तथा जो वज्रकाय कहिये वज्रवृषभ सहननाले बड़े पराक्रमी नि कम्प (धीर) स्थिर—आसन थे, वे ही योगी सवाङ्गस्थायोंन ध्यान करके पूर्णनात्म मोक्षको प्राप्त हुए हैं ॥ १३ ॥

उपसर्गैरपि स्फीतैर्दयदैत्यारिकल्पितैः ।

स्वरूपालम्बित धेयां न चेतश्चात्पन्ते कश्चित् ॥ १४ ॥

अर्थ—जो पूर्वकालमें महापराक्रमी थे उनके स्वरूपमें अवलम्बित चित्त देव दैत्य वीरोंद्वारा घड़ेहुये उपसर्गोंसे कदापि चलायमान नहीं होता ॥ १४ ॥

श्रूयन्ते सघृतस्यान्ता स्वतत्त्वकृतनिश्चया ।

यिसत्त्वोपसर्गाग्निं ध्यानसिद्धिं समाश्रिता ॥ १५ ॥

अर्थ—जिन्होंने अपने मनको स्वरूपमें लिया तथा जिन्होंने स्वतत्त्वमें निश्चय किया है वे ही पूर्वपुरुष तीक्ष्ण उपसर्गरूप अग्निको सत्त्व ध्यानकी निद्रिको आश्रित हुए मुने जाने हैं ॥ १५ ॥

प्राप्तता ।

केचिज्ज्वालायलीला हरिशरभगजव्यालविध्यस्तदेता

केचित्कूरादिदैत्यैरदयमतिहताश्चक्रशालासिद्धयै ।

भूकम्पोत्पातवातप्रचलपविधनघातस्त्रास्तथान्ये ।

कृत्वा स्थैर्यं समाधौ सपदि शिवपदं नि प्रपञ्च प्रपन्ना ॥ १६ ॥

अर्थ—कि भी मुता जाता है कि पूर्वकालमें अनेक महामुनि तो अग्निकी ज्वालाकी पतितसे जलकर समाधिमें दृढ़ रहनेसे तत्काल मोक्षको प्राप्त हुए, कितनेक मुनि मिट अष्टा पद हली सपादिक द्वारा देहसे विभक्त हो समाधिमें स्थिरता धारण कर तत्काल मोक्षको गये, तथा कितनेक मुनि बुर वीर दैत्यादिके द्वारा चक्र शूल तरवार दहादिकमें निर्दयताके साथ हते हुए समाधिमें लीन रहनेसे तत्काल मोक्षको गये तथा कितने ही मुनि भूमि कपनके उत्पात, प्रचंड पवन, प्रबल वज्रपात वा प्रबल मेघादिकके उपसर्गों जीतके

मोक्षको गये तथा अन्य भी अनेक मुनि नानाप्रकारके उपनगाँको सङ्कर ममानि (ध्याने) दृढ होकर प्रवर्तित शिष्यको प्राप्त हुए सो ऐसे उत्तम सदनगलकि मान्य नियम नहीं है ॥ १६ ॥

तदर्थं यमिना मन्ये न सप्रति पुरातनम् ।

अथ स्वप्नेऽपि नामास्था प्राचीना कर्तुमक्षमा ॥ १७ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि पूजालके मुनियोंका पुरातन धैर्य वा बलवत् इस वर्तमानकालमें नहीं है इसी कारण पहिलीसीमी आग्या (गिरता) वर्तमानकालके मुनि स्वप्न भी करनेमें असमर्थ हैं और जो इस समय करते हैं वे धन्य हैं ॥ १७ ॥

निःशेषविषयोत्तीर्णा निर्विण्णो जन्मसक्रमात् ।

आत्माग्नीनमना शब्दत्सर्यदा ध्यातुमर्हति ॥ १८ ॥

अर्थ—जो पुरुष इन्द्रियोंके समस्त विषयोंसे रहित है, ससारके परिभ्रमामें निष्ठ होगया है तथा अपने आधीन है मन विमला, ऐसा निरन्तर हो वह पुरुष ही ध्यान योग्य होता है । भावार्थ—यह साधारण ध्यानकी योग्यता है ॥ १८ ॥

अविक्षिप्त यदा चेत स्वतत्त्वाभिमुख भवेत् ।

मुनेस्तदैव निर्विघ्ना ध्यानसिद्धिर्नृदाहता ॥ १९ ॥

अर्थ—जिम समय मुनिका चित्त क्षोभरहित हो आत्मस्वरूपके सम्मुख होता है उस काल ही ध्यानकी सिद्धि निर्विघ्न होती है ॥ १९ ॥

स्थानासनविधानानि ध्यानसिद्धेर्नियन्धनम् ।

नैक मुक्त्वा मुने साक्षाद्विक्षेपरहित मनः ॥ २० ॥

अर्थ—ध्यानकी सिद्धिका कारण स्थान और आसनका विधान है सो इनमेंसे एक भी न हो तो मुनिका (ध्यानीका) चित्त विषेपरहित नहीं होता । भावार्थ—स्थान और आसन ध्यानके कारण हैं, इनमेंसे जो एक भी न हो तो मन नहीं धैर्यता अथवा ऐतरेय टीका होनेसे ही मन धैर्यता है ॥ २० ॥

सविग्रह सधृतो धीर स्थिरात्मा निर्मलाशय ।

सर्वावस्थासु सर्वत्र सर्वदा ध्यातुमर्हति ॥ २१ ॥

अर्थ—तथा जो मुनि सवेगविराग्ययुक्त हो, सरस्वरूप हो, धीर हो, जिमका आना विषय हो, चित्त निर्मल हो वह मुनि सर्व अवस्थासर्व क्षेत्र और सर्व कालमें ध्यान करने योग्य है ॥ २१ ॥

यिजने जनसकीर्णं सुस्थिते दुःस्थितेऽपि वा ।

यदि धत्ते स्थिर चित्तं न तदास्ति निषेधनम् ॥ २२ ॥

अर्थ—जनरहित क्षेत्र हो अथवा जनसहित प्रदेश हो, तथा सुस्थित हो अथवा

हु स्थित हो जिसका ल मुनि का चित स्थिर स्वरूपको धारे तब ही ध्यानकी योग्यता है, निषेध नहीं है । परिते स्थान और आसनका विधान कहा उसके सिवाय जिस समय मुनि का चित स्थिरता धारे उस समय सब अवस्था सर्व क्षेत्रमें ध्यानकी योग्यता है, निषेध नहीं है ॥ २२ ॥

पूर्वाशाभिमुखं साक्षादुत्तराभिमुखोऽपि वा ।

प्रसन्नवदनो ध्याता ध्यानकाले प्रशस्यते ॥ २३ ॥

अर्थ—ध्यानी मुनि जो ध्यानके समय प्रसन्नमुख होकर साक्षात् पूर्व दिशाम मुख करके अपना उत्तर दिशामें भी मुख करके ध्यान करे, सो प्रशसनीय कहा है ॥ २३ ॥

चरणज्ञानसम्पन्ना जिताक्षा चीतमंत्सरा ।

प्राग्नेकास्त्रयस्यासु समासा यमिनं शिषम् ॥ २४ ॥

अर्थ—तथा ऐसा भी है कि चारित्र और ज्ञानमें समुक्त, जितेन्द्रिय, मत्सररहित जो मुनिगण पूजकालमें अनेक अग्र्याओंसे मोपको प्राप्त होगये हैं उनके दिशाकी सम्मुखताका कुछ निषेध नहीं था ॥ २४ ॥

मुत्पोपचारभेदेन द्वौ मुनी स्वामिनौ मतौ ।

अग्रमत्तममत्तारयौ धर्मस्थैतौ यथायथम् ॥ २५ ॥

अर्थ—इस धर्मध्यानके यथायोग्य अधिकारी मुख्य और उपचारके भेदसे प्रमत्तगुणस्थानी और अग्रमत्तगुणस्थानी ये दो मुनि ही होते हैं ॥ २५ ॥

अग्रमत्तं सुसत्थानो वज्रकायो वशी स्थिरः ।

पूर्ववित्सृष्टो धीरो ध्याता सपूर्णलक्षणः ॥ २६ ॥

अर्थ—उक्त दोनों गुणस्थानियोंमें जो अग्रमत्तगुणस्थानी मुनि समवतुरलसत्थान और वज्ररूपमनाराचसदनशाला, तथा जितेन्द्रिय हो, स्थिर हो, पूजकाशानी हो, सबरवान् और धीर हो अर्थात् परिपक्व और उपमर्गादिकसे चलित न हो, वही सपूर्ण लक्षणका धारक धर्मध्यानके ध्यावनेवाला होता है क्योंकि ऐसा मुनि ही किमी समय सातिशय अग्रमत्त होकर धेणीका आरम्भ करता है ॥ २६ ॥

तथा ध—

श्रुतेन विकलेनापि स्वामी सन्ने प्रकीर्तितः ।

अधःश्रेण्या प्रवृत्तात्मा धर्मध्यानस्य सुश्रुतः ॥ २७ ॥

अर्थ—सिद्धातम नीचेकी श्रेणीमें प्रवृत्ता है आत्मा जिसका ऐसा विकल्भुत अर्थात् पूजानरहित भावश्रुतवान् भी धर्मध्यानका स्थानी करा है ॥ २७ ॥

किं च कैश्चिन् धर्मस्य चत्वारः स्वामिनः स्मृताः ।

मदृष्ट्याग्रप्रमत्तान्ता यथायोग्येन हेतुना ॥ २८ ॥

अर्थ—तथा यह विशेष है कि कितनेही आचार्यों ने धर्म ध्यान के स्वामी (भरिहारी) चार भी कहे हैं वे मध्यगृष्टा अनिरतमे तेरु देगनिरत, प्रमत्त, अप्रमत्त परन्तु धर्म हेतुने कहे हैं ॥ २८ ॥

ध्यातारस्त्रिविधा ज्ञेयास्तेषा ध्यानान्यपि त्रिधा ।

तेऽयायिषुद्धियोगेन फलमिद्विरुद्धाहता ॥ २९ ॥

अर्थ—इस धर्म ध्यान के ध्याता तीन प्रकार के भी रहे हैं और उनके ध्यान भी तीन प्रकार के होते हैं, क्योंकि तेऽयासी विगुद्धतामे फलमिद्वि कही है। भाषार्थ—ध्याता नहीं, अर्थात् जगन्मय मयम उरगृष्ट भेदमे ध्याता तीन प्रकार के हैं, जगन् जैसी विगुद्ध हो बैसा ही हीनाधिक ध्यात के मात्र होने हैं बैसा ही हीनाधिक फल होगा है ॥ २९ ॥

अथ आचार्य के जीतोरा विधाका उपदेश करते हैं,—

अथारनजय योगी करोतु विजिनेन्द्रिय ।

मनागपि न गिरान्ते ममाधी सुस्थिरामनाः ॥ ३० ॥

अर्थ—अथ यह कहे हैं कि जो योगी मुनि विशेषकर के त्रिनेन्द्रिय के वे आचार्य कर का कर के विनया भागा भवेप्रकार स्थिर है वे मनागपि स्थिरमात्र भी नहीं होतें ॥ भाषार्थ—आचार्य जीने तो ममाधिमे (ध्यानमे) आचार्यमात्र ही रहे ॥ ३० ॥

आमनाभ्यामवैकल्याकृणु स्थैर्यं न विनये ।

विनये स्वद्वयैक्यागममाधिमतमे ध्रुवम् ॥ ३१ ॥

अर्थ—आमने अन्धता की विद्वत्तामे शरीर की ध्याता नहीं रहनी और धर्म विनये मय विनया विद्वत्तामे भी विनय कर के मोक्षमे होना है ॥ ३१ ॥

यानावगन्तुपागमौ जन्तुजानेनैकदा ।

ननामनजयो योगी नादिनोऽपि न विनये ॥ ३२ ॥

अर्थ—हैं दोन आमनावगन्तु पागमौ जन्तुजानेनैकदा और ननामनजयो योगी नादिनोऽपि न विनये ॥ ३२ ॥

आमनागानिमत रस्य स्थाने विनयप्रतिनिधम् ।

इतिश्रुत्वा श्रीमन्मार्गद्वयमिति ॥ ३३ ॥

अर्थ—आमनागानिमत रस्य स्थाने विनयप्रतिनिधम् इतिश्रुत्वा श्रीमन्मार्गद्वयमिति ॥ ३३ ॥

प्रस होकर उत्सव हुआ है हर्ष आनन्दका सौगाथ जिनके संगे श्रीमान् उत्सव मुनि पर
झासन (पद्मासन) करके प्यान करें ॥ ३३ ॥

पर्यङ्कदेशमध्यस्थे प्रोक्तानि करकुसुमते ।

करोत्युत्फुल्लराजीयसभिभे च्युतपापमे ॥ ३४ ॥

अर्थ—पर्यङ्क देश मध्यभाग में पित उत्सव दोनों राजा मुकुल (बालकमल)
निकलित कमलके सहस्र फलताराविव करें । भाषार्थ—दोनों राजा अपनी गेदरिने
विकलित कमलसहस्र कर निधत्त धारै ॥ ३४ ॥

नाशाग्रदेशाविन्यस्ते घस्ते नेत्रेऽनिनिधत्ते ।

प्रसमे सौम्यतापमे निष्पन्दे मन्दतारके ॥ ३५ ॥

अर्थ—अनि निधत्त, सौम्यताके लिये मन्दतरित है मन्द सारे जिनमें ऐसे दोने नेत्रों
मामिकाके अग्रभागन धारण करें अपांन् तरां ॥ ३५ ॥

भूपद्मीविजिपातीन मुक्षिष्टापरपद्मम् ।

सुसमस्तस्पर्शदमाय पिदध्यान्मुचपद्मजम् ॥ ३६ ॥

अर्थ—तथा मुकुल इमप्रकार करें वि-भागे सौ विभारतरित है अग्रभाग मध्य
दोनों होठ न सौ पटुत मुने और न अनिमित्त हो ऐसे सोने हुए मन्द तरां मन्द
मुकुलको करें ॥ ३६ ॥

अगाधकर्णाम्भोधी मग्नं सविप्रमानसं ।

वाज्यापत यपुर्धरो प्रदास्य पुस्तमूर्तिवत् ॥ ३७ ॥

अर्थ—दोनी गुनिको पारि वि-भागे तरारको अग्रभाग मध्य
सवेगमदित मग्न जिनका ऐसा सीधा और संसार रक्त, जैव वि दीरगार विमान् जैव हो
सामकार बनावै ॥ ३७ ॥

विषेक्यार्द्धिर्वाहोर्निर्मलीभूतमानसं ।

ज्ञानमस्रोद्धताशेषरागादिविषमसह ॥ ३८ ॥

रसावर इषागाध सुराद्विरिष निधत्तं ।

प्रदानविश्वविरपन्दमण्डसकलधम ॥ ३९ ॥

किमप्यं लोष्ठनिष्पत्तं किंवा पुनःप्रवर्त्तिष्य ॥

समीपपरिपरि प्राप्यं प्राज्ञेऽर्पनीनि लक्ष्यमे ॥ ४० ॥

अर्थ—मुनि जब ध्यान कर कर कर दे लक्ष्य हो कर कर दे लक्ष्य
सो विवेक-भेदरा-रूप सगुणकी बल्यो ने जिनका विदुआ है मग्न जिनका ऐसा हो लक्ष्य
ज्ञानरूप मग्नते विदुआ विदे है मग्नरा-रूप विदुआ मग्न विदुआ विदे है लक्ष्य
तथा सगुणको समान अर्थ हो, कर कर कर लक्ष्य विदुआ हो अर्थ विदुआ अर्थ

किमीप्रकार भी चलायमान न हो तथा जिसके बेगोंका सकल्य शान्त होगया हो, सन्म भ्रम जिसके नष्ट होगये हों, ऐसा निश्चल हो कि समीपस्थ प्राश पुरुष भी ऐसा भ्रम करने लगजायें कि यह क्या पापाणकी मूर्ति है वा चित्रामकी मूर्ति है इसप्रकार आसन जीतनेका निधान कहा ॥ ३८ ॥ ३९ ॥ ४० ॥

दोहा

आसन दिदते ध्यानमे, मन लागै इकतान ।

तार्ते आसनयोगरू, मुनि कर धारै ध्यान ॥ ३८ ॥

इति श्रीशुभचन्द्राचार्यनिरचिते योगप्रदीपाधिकारे ज्ञानार्णवे आसनत्रयो

नाम अष्टाविंश प्रकरण समाप्त ॥ २८ ॥

अथैकोनत्रिंशं प्रकरणम् ।

अथ प्राणायामका वर्णन करते हैं—

सुनिर्णीतसुसिद्धान्तैः प्राणायाम प्रशस्यते ।

सुनिर्मिध्यानसिद्ध्यर्थं स्थैयार्थं चान्तरात्मन ॥ १ ॥

अर्थ—मन्त्रप्रकार निर्णयरूप लिया है सत्यायसिद्धान्त जिन्होंने ऐसे सुनियोगे ध्यानकी सिद्धि के तथा मनकी एकामताके लिये प्राणायाम प्रशसनीय कहा है । भावार्थ—अन्तरात्मनी भी प्राणायामका साधन करते हैं, किन्तु उनका प्रयोजन तथा स्वरूप स्थायै नहीं है जैनाचार्यों मन्त्रप्रमाणित आगम तथा व्याख्यायकस्य सिद्धान्तमें निर्णय करके निदि और मनकी एकामतासे आत्मस्वरूपमें टहराना हा दोनों प्रयोजनोंके लिये प्राणायामको सग्राह है—इसमें रष्ट प्रयोजनकी सिद्धि होती है उक्त वर्णन गौण लिया है और ध्यानकी सिद्धिमें आत्मस्वरूपमें स्थान होना सुख होती है ऐसा प्रयोजन प्रमाण है ॥ १ ॥

अतः साक्षात्सर्वविज्ञेयं तृयमेव मर्त्यापिभि ।

मनागप्यन्यथा शक्यो न कर्तुं चित्तनिर्जय ॥ २ ॥

अर्थ—भावार्थ मन्त्रप्रमाण कहते हैं कि—ध्यानकी सिद्धि के लिये मनको एकामता में रक्ख लिये पूर्वस्थिति प्राणायामकी प्रणाम कीकी है इसकारण ध्यान करनेका पूर्वस्थिति पूर्वस्थिति प्रकरणमें ही प्राणायामकी विधिप्रकार से जानना चाहिये क्योंकि इसके जो विधि अन्यत्र विहित हैं वे मनकी जीतनेको समझ नहीं होगये । भावार्थ—यदि प्राणायाम करनेका साधन है तो ध्यान और ध्यान प्रमाण है वह सुखनिर्जय है

आगोष्ठात् द्वारा प्रगट जाता जाता है इस पवनके कारण मन भी चंचल रहता है जब पवन बरीभूत होताता है तब मन भी बगमे होजाता है ॥ २ ॥

अथ इस पवनका स्तभा कैसे होता है सोही कहते हैं ।

त्रिधा लक्षणभेदेन मस्मृतं पूर्वसुरिभिः ।

पूरकं कुम्भकश्चैव रेचकस्तदनन्तरम् ॥ ३ ॥

अर्थ—पूर्वोक्ताने इस पवनके सम्भन्धरूप प्राणायामको लक्षणभेदसे तीन प्रकारका कहा है, एकका नाम पूरक है दूसरेका कुम्भक और तीसरेका रेचक है ॥ ३ ॥

अथ इन तीनोंका स्वरूप करते हैं,—

द्वादशान्तात्समाहृत्य यं समीरं प्रपूर्पते ।

स पूरक इति ज्ञेयो वायुविज्ञानकोविदैः ॥ ४ ॥

अर्थ—द्वादशान्त कहिये सातुर्वेके छिद्रसे अथवा द्वादश अंगुलपर्यन्तसे खेंचकर पव नको अपनी इच्छानुसार अपने शरीरमें पूर्य कर उसको वायुविज्ञानी पंडितोंने पूरक पवन कहा है ॥ ४ ॥

निरुणद्धि स्थिरीकृत्य श्वसन नाभिपङ्कजे ।

कुम्भकश्चिर्भरं सौम्यं कुम्भकं परिकीर्तितं ॥ ५ ॥

अर्थ—तथा उस पूरक पवनको स्थिर करके नाभिकमल्लमें जैसे घटेको भरै तेसों रोकै (धार्य) नाभिते अन्य जाँह चलने न दे सो कुम्भक कहा है ॥ ५ ॥

निःसार्यतेऽतियत्नेन घटकोष्ठाच्छ्वसन शनैः ।

स रेचक इति प्राज्ञैः प्रणीतं पचनागमे ॥ ६ ॥

अर्थ—जो अपने जोष्टमे पवनको अनियन्तसे मदमद बाहर निकालै उसको पचना-म्यामके शान्तोमें विद्वानोंने रेचक ऐसा नाम कहा है ॥ ६ ॥

नाभिपङ्कधादिनिष्क्रान्तं हृत्पद्मादरमध्यगम् ।

द्वादशान्ते सुविश्रान्तं तज्ज्ञेयं परमेश्वरम् ॥ ७ ॥

अर्थ—जो नाभिपङ्कधसे निकाला हुआ तथा हृदयकमलमें होकर द्वादशान्त (सातुर्ग)में विश्रान्त हुआ (रहता हुआ) पवन है उसे परमेश्वर जानो क्योंकि यह पवनका स्वामा है ॥ ७ ॥

तस्य चारं गतिं धृष्ट्वा सम्या चैवात्मनः सदा ।

चिन्तयेत्कालमायुश्च शुभाशुभफलोदयम् ॥ ८ ॥

अर्थ—पवन श्वर जो सातुर्गमें विश्रान्त हुआ उसका चार कहिये चलना अर्थात् भ्रमण और गति कहिये मन तथा आत्माही (जीवकी) सत्था अर्थात् देहमें सदा रहन

इनको जानकर और कालका प्रमाण आयुल शुभ तथा अशुभ फलके उक्त
विचार करे ॥ ८ ॥

अत्राभ्यासं प्रयत्नेन प्रास्तनन्द्रः प्रतिक्षणम् ।

कुर्वन् योगी विजानाति यन्त्रनाथस्य चेष्टितम् ॥ ९ ॥

अर्थ—इस पत्रना अभ्यास बटे यत्ने निष्प्रमादी होकर निरंतर, करता हुआ योगी
जीवकी समस्त चेष्टाओंको जानता है ॥ ९ ॥

उक्त च श्लोकद्वयम् ।

समाकूप्य यदा प्राणधारणं स तु पूरकः ।

नाभिमध्ये स्थिरीकृत्य रोधनं स तु कुम्भकः ॥ १ ॥

यत्कोष्ठादतियत्नेन नासात्रह्यपुरातनैः ।

यत्प्रिः प्रक्षेपणं वायोः स रेचक इति स्मृतः ॥ २ ॥

अर्थ—जिससमय पत्रनको तालुग्रसे ले खेचकर प्राणको धारण करे, शरीरमें पूर्ण
तथा धामै सो तो पूरक है और नाभिके मध्य स्थिर करने रोकै सो कुम्भक है तथा जो
पवनके कोठेमें बटे यत्नेसे बाहर प्रक्षेपण करे सो रेचक है इस प्रकार नामिकात्रहके
जाननेवाले पुरातन पुरोने कहा है ॥ १-२ ॥

शनैः शनैर्मनोऽजस्रं वितन्द्रं सह वायुना ।

प्रवेश्य हृदयाम्भोजकर्णिकाया नियन्त्रयेत् ॥ १० ॥

अर्थ—इस पवनका अभ्यास करनेवाला योगी निष्प्रमादी होकर बटे यत्ने मन
मनको वायुके साथ मदमद निरन्तर हृदयमलकी कर्णिकामें प्रवेश कराकर बहा है
नियन्त्रण करे (धामै), उस जगहसे चलने न दे ॥ १० ॥

विकल्पा न प्रसृयन्ते विषयाशा निवर्त्तते ।

अन्तः स्फुरति विज्ञानं तत्र चित्ते स्थिरीकृते ॥ ११ ॥

अर्थ—उस हृदयमलकी कर्णिकामें पत्रनसे साथ चित्तको स्थिर करनेपर मनमें
निरल्प नहि उठते और विषयोंकी आशा भी नष्ट होजाती है तथा अन्तरागम निराग
ज्ञानका प्रकाश होता है इस पत्रनसे साधनसे मनको वश करना ही फल है ॥ ११ ॥

एवं भावयत स्वान्ते याल्याविद्याक्षयक्षणात् ।

विमदी स्युस्तथाक्षाणि कपापरिपुभिः समम् ॥ १२ ॥

अर्थ—इसप्रकार मनको वश करके भावना करने हुए पुरयके अविद्या सो क्षणमा
श्रम क्षय होजाती है और इन्द्रिय मदरहित होजाती है उनके साथ ही साथ कपाय भी
क्षीण होजाते हैं । इस पत्रनको साधन करके मनको वश करनेका प्रयोजन है ॥ १२ ॥

पुत्र श्वसनविश्राम का नाह्य सक्रम कथम् ।

का मण्डलगतिं केय प्रवृत्तिरिति बुद्ध्यते ॥ १३ ॥

अर्थ—तथा इस पवनके साधनसे एसा जाना जाता है कि इस श्वासरूप पवनका कौन सा विभाग है और नाडिय वित्तनी और कौन २ हैं, उन नाडियोंकी पलटना किस प्रकार होती है तथा इसकी मण्डलगति कौनसी है इसकी प्रवृत्ति कहाँ है ॥ १३ ॥

स्मिरी भयन्नि चेतासि प्राणायामावलम्बिनाम् ।

जगद्भुक्त य नि शेष प्रत्यक्षमिव जायते ॥ १४ ॥

अर्थ—जो प्राणायामसे भक्त्या करनेवाले पुत्र हैं उनके चित्त स्थिर होजाते हैं, वित्तके स्थिर होनेसे ज्ञान विधेय होता है, उसके द्वारा जगतके समान वृषात (प्रवर्तन) प्रत्यक्ष समान जाने जाते हैं ॥ १४ ॥

य प्राणायाममप्यास्ते स मण्डलचतुष्टयम् ।

निधिनोतु यत साध्वी ध्यानसिद्धिं प्रजापते ॥ १५ ॥

अर्थ—जो योगी प्राणायामको स्थापित करने करके रहता है अर्थात् इसका साधन करता है सो पुनि पवनमण्डलके चतुष्टयको निश्चय करो, जिससे समीचीन ध्यानकी सिद्धि होना है ॥ १५ ॥

इस मण्डलचतुष्टयका स्वरूप कहते हैं,—

घोणाधिवरमप्यास्य स्थित पुरचतुष्टयम् ।

पृथक् पवनसंवीत लक्षणलक्षणभेदतः ॥ १६ ॥

अर्थ—नासिकाके छिद्रको आश्रित होकर चतुष्टय जो पृथ्वीमण्डल, अग्निमण्डल, तेजोमण्डल और वायुमण्डल पर चतुष्टय है सो लक्षणलक्षण भेदसे पवन भिन्न २ वेष्टित है इन मण्डलोंके पवनकी रीति लक्षणभेदसे भिन्न २ है ॥ १६ ॥

अचिन्त्यमतिदुर्लभ्य तन्मण्डलचतुष्टयम् ।

स्वसंश्लेष प्रजापते महाभ्यासात्कथंचन ॥ १७ ॥

अर्थ—यह मण्डलका चतुष्टय है सो अचिन्त्य है अर्थात् चित्त करने नहि आता तथा दुर्लभ्य है अर्थात् देखने नहि आता सो इस प्राणायामके बड़े महान् अभ्याससे बड़े बड़े को प्रसार स्वसंश्लेष (अग्नि अनुभवसे) होता है ॥ १७ ॥

तत्रादौ पार्थिव श्लेष चाम्बुज तदनन्तरम् ।

मरुत्पुर तत स्फीत पर्यन्ते वह्निमण्डलम् ॥ १८ ॥

अर्थ—उन चारोंमेंसे प्रथम सौ पार्थिवको (पृथ्वीमण्डलको) जानना तत्पश्चात् अग्निमण्डल (अग्निमण्डल) जानना तत्पश्चात् पवनमण्डल जानना और अन्तमें बड़े हुए वह्निमण्डलको जानना इन प्रकार चारोंके नाम और अनुक्रम है ॥ १८ ॥

अथ इनका स्वरूप कहते हैं,—

क्षितिपीजसमाक्रान्त द्रुतहेमममप्रभम् ।

स्याद्वज्रलाञ्छनोपेत चतुरस्र धरापुरम् ॥ १० ॥

अर्थ—क्षितिपीज जो पृथ्वी बीजाक्षरसहित गालेटुण मुष्णकी ममान पीतरक प्रभा जिमनी और वज्रके चिह्नसयुक्त चौफेर धरापुर है अर्थात् पृथिवीमण्डल है ॥ १० ॥

अर्द्धचन्द्रसमाकार घाम्णाक्षरलक्षितम् ।

स्फुरत्सुधाग्निसंक्षिप्त चन्द्रार्ध वारुण पुरम् ॥ २० ॥

अर्थ—आकार तो आधे चन्द्रमाके समान, वारुण बीजाक्षरसे चिह्नित और स्फुरापमान अमृतस्वरूप जलसे सींचा हुआ ऐसा चन्द्रमामरीखा शुक्लवर्ण वरुणपुर है । यह अमृत लका स्वरूप कहा ॥ २० ॥

सुवृत्त त्रिदुसकीर्ण नीलाञ्जनघनप्रभम् ।

चञ्चल पवनोपेत दुर्लक्ष्य वायुमण्डलम् ॥ २१ ॥

अर्थ—सुवृत्त कहिये गोलाकार तथा त्रिदुओंसहित नीलाञ्जन घनके समान है वन जिसका, तथा चञ्चल (घट्ताहुआ) पवन बीजाक्षरसहित दुर्लक्ष्य (देखनेमें न आवे) ऐसा वायुमण्डल है । यह पवनमण्डलका स्वरूप कहा ॥ २१ ॥

स्फुलिङ्गपिङ्गल भीममूर्ध्वज्वालाशतार्चितम् ।

त्रिकोण स्वस्तिकोपेत तद्बीज वह्निमण्डलम् ॥ २२ ॥

अर्थ—अग्निके फुलिङ्ग समान पिङ्गलवर्ण भीम रौद्ररूप ऊर्ध्वगमनमय रूप ज्वालाके सैकड़ोंसहित त्रिकोणाकार स्वस्तिक (साधिये) सहित, वह्निबीजसे मण्डित ऐसा वह्निमण्डल है । यह अग्निमण्डलका स्वरूप कहा गया ॥ २२ ॥

ततस्तेषु क्रमाद्वायुः सचरत्यविलम्बितम् ।

स विज्ञेयो यथाकाल प्रणिधानपरैर्नरैः ॥ २३ ॥

अर्थ—उपयुक्त चार मण्डलोंका स्वरूप निश्चय किया उसके अनन्तर लगता है यह जानो कि उन मण्डलोंम अनुक्रमसे निरन्तर पवन सचरे है उसे यथाकाल अर्थात् जेम्मा काल है उसही कालम प्रणिधान कहिये चित्तजनम तत्पर ऐसे पुरुषोंको जानना चाहिये ॥ २३ ॥

अन इनमें पवन सचरता है उसके जाननेके लिये चिह्न कहते हैं,—

घोणाधिचरमापूर्य किञ्चिदुष्ण पुरन्दरः ।

यद्व्यष्टाङ्गुलः स्वस्य पीतवर्णः शनैः शनैः ॥ २४ ॥

अर्थ—गात्रिका के छिद्रों में प्रकार प्रकार के कुछ उष्णता लिये आठ अंगुल बाहर निकलता, रक्त, चल्ता रहित, मंदमंद बढ़ता, ऐसा पुरातन कहिये इन्द्र निमका मानी है ऐसे पृथिवीमण्डल के पवनको (इस विहोते) जानना ॥ २४ ॥

स्वरित शीतलोऽधस्तात्सितरुद्र मादशाह्वल ।

धरुण पवनस्तज्जैर्षरनेनावसीपते ॥ २५ ॥

अर्थ—जो स्वरित कहिये शीत बढ़नेवाला हो, कुछ निषाद लिये बढ़ता हो, शीतल हो, उष्ण (गुप्त) नीतिरूप हो, तथा बाहर अंगुल बाहर आवे ऐसे पवनको पवन के जाननेवालों ने रक्त पवन निधाय विना है । भावार्थ—इन विहोते बरत पवनको निधाय करना २५

निर्यपत्त्यपिभ्रान्त पवनात्प पङ्कहुल ।

पवनं कृष्णवर्णोऽसौ उष्ण शीतश्च लक्ष्यते ॥ २६ ॥

अर्थ—जो पवन रक्त रक्त निर्यद् कहता हो, निधाय न लेकर निरंतर बढ़ता ही रहे तथा ६ अंगुल बाहर आवे, कृष्ण रंग हो, उष्ण हो तथा शीत भी हो ऐसा पवनमण्डल पवन पदधाना जाता है ॥ २६ ॥

पालार्कसन्निभश्चोर्ध्व सापत्तश्चतुरहुल ।

अत्युष्णो ज्वलनाभिरय पवनं कीर्तितो युधे ॥ २७ ॥

अर्थ—जो उगने हुए सूर्य की समान रक्त रंग हो तथा ऊँचा चल्ता हो, आवतों (पर्वों) सहित चिरता हुआ चले, बार अंगुल बाहर आवे और अति उष्ण हो ऐसा अग्नि मण्डल का पवन पहिले से कहा है ॥ २७ ॥

अथ इन बार प्रकार के पवनों की कार्यविशेषों में गुणागुण भेद करते दिखाते हैं—

पार्श्व ।

स्तम्भादिके महेन्द्रो धरुण शस्तेषु सर्वकार्येषु ।

चलमल्लिनेषु च चापुर्वदयादौ यहिरुद्देश्य ॥ २८ ॥

अर्थ—पुरषको समतादि कार्य करने हो तो महेन्द्र कहिये पृथिवीमण्डल का पवन गुण है, और बरत कहिये अग्निमण्डल का पवन सनत् प्रकार के कार्यों में गुण है, और पवनमण्डल का पवन चलकार्य तथा मलिन कार्यों में भेद है तथा वरप आदिकार्यों में वह मण्डल का पवन उत्तम करता है ॥ २८ ॥

उग्रमजतुरगधामररामाराज्यादिसकलकल्याणम् ।

महेन्द्रो यदति फल मनोगत सर्वकार्येषु ॥ २९ ॥

अर्थ—उग्रमजतुरगधामररामाराज्यादिक समस्त कल्याणों को करता

है और समस्त कार्याम मनोगत मात्रको प्रकट कहता है। भावार्थ—मनम निरोध दुः कार्यांसी सिद्धि कहता है ॥ २९ ॥

अभिमतफलनिकुरम्य विद्यावीर्यादिभूतिमकीर्णम् ।

सुतयुवतिवस्तुमार चरुणो योजयति जन्तूनाम् ॥ ३० ॥

अर्थ—वस्त्रण पत्रन जीवोंके विद्यावीर्यादि निभूतिसहित तथा पुत्रपुत्रीआदिने जो सारवस्तु मनोगाडित हो उन सत्रों जोड़ता है अथात् प्राप्त कराता है ॥ ३० ॥

भयशोकदुःखपीडा-विघ्नौपरम्परा विनाश च ।

व्याघ्रे देहभृता दहनो दाहस्त्रभाजोऽयम् ॥ ३१ ॥

अर्थ—यह अग्निमडलका पत्रन दाहस्त्रभाजो रूप है यह पत्रन जीवोंके भा शोक दुःख पीडा तथा विघ्नसमूहकी परंपरा तथा विनाशान्त्रिक कार्यांकी प्रण कहता है ॥ ३१ ॥

सिद्धमपि यानि विलय सेवा कृप्यादिक समस्तमपि चैव ।

मृत्युभयकलहवैर पवने त्रासादिक च स्यात् ॥ ३२ ॥

अर्थ—तथा पत्रनमडलके पत्रन जहनेपर सेवा कृपी आदिक समस्त काय सिद्ध हुये हो वे भी विलय हो जाते हैं (नष्ट होजाते ही हैं) तथा मृत्युभयकलह वैर तथा त्रासादिक होते हैं ॥ ३२ ॥

यह तो सामान्य कार्याम शुभाशुभ कहा अब इनके प्रवेश और नि सरणकालके वि पयमें कहते हैं,—

सर्वे प्रवेशकाले कथयन्ति मनोगत फल पुताम् ।

अहितमतिदुःखनिश्चित त एव नि सरणवेलायाम् ॥ ३३ ॥

अर्थ—ये चारों ही पत्रन प्रवेशकालमें अर्थात् नासिराके बाहरसे आकर उस्ता प्रवेश करते हैं तो पुरवोंके मनोगत फलको कहते हैं अर्थात् मनमें निष्कार तो निश्चित होता है परंतु ये ही चारों पत्रन निरालनेके समय अतिशय दुःखसे मरे अहितको प्रकाश करते हैं ॥ ३३ ॥

सर्वेऽपि प्रविशन्तो रविशशिभार्गेण वायव सततम् ।

विदधाति परा सुखास्था निर्गच्छन्तो विपर्यस्ताम् ॥ ३४ ॥

अर्थ—ये चारों ही पत्रन सूर्य चंद्रमाके मार्गसे अर्थात् दहिने वायव निरतर प्रवेश करते हुये उत्कृष्ट सुखकी आस्थाको करते हैं और निरालते समय दुःखान्ध्याका प्रगट करते हैं। भावार्थ—प्रवेश करते गुप्त हैं निरालते हुये अगुप्त हैं ॥ ३४ ॥

धामेन प्रविष्टान्तौ परुणमोहन्तौ समस्तसिद्धिकरौ ।

इतरेण नि सरन्तौ हुतमुखपवनौ विनाशाय ॥ ३० ॥

अर्थ—तथा परुण और माहेन्द्र पवन (धृष्णीपवन) बाई तरफसे निकलते है तो सम मकार्योनि सिद्ध करनेवाले है तथा बहिमण्डल और परुणमण्डलके परा दहिनी तरफ निकलतेहुये विनाशके अर्थ है ॥ ३० ॥

अथ मण्डलेषु धायो प्रवेशानि सरणकालमवगम्य ।

उपदिशति भुवनवस्तुषु विचेष्टित सर्वथा सर्वम् ॥ ३१ ॥

अर्थ—अथवा धायो मण्डलोय पवनके प्रवेश और नि सरणकालको निश्चय करके ध्यानी पुरुष जगत् भरम जो पश्य है उन सबकी सर्व प्रकारकी चेष्टाओंका उपदेश करता है ॥ ३१ ॥

यामाया विचरन्तौ दत्तनसमीरौ तु मध्यमौ कथितौ ।

परुणेन्द्रावितरस्था तथाविधावेव निर्दिष्टौ ॥ ३२ ॥

अर्थ—अग्निमण्डलका पवन और वायुमण्डलका पवन बायाँ तरफसे बढ़ता हुआ मध्यम पवन बढ़ता है और वरुण तथा माहेन्द्र ये दोनों पवन दाहिनी तरफसे बढ़ें तो मध्यम पवन बढ़ते हैं ॥ ३२ ॥

उदये धामा शस्ता सितपक्षे दक्षिणा पुन कृष्णे ।

श्रीणि श्रीणि दिनानि तु शशिसूर्यस्पोदय श्लाघ्य ॥ ३३ ॥

अर्थ—गुरुपञ्चम सूर्योदयक समय नाडी बाई तरफ बढ़ती हुई प्रशस्त है उत्तम है । कृष्णपक्षमें उदयकालमें दहिनी तरफ बढ़ती हुई नाडी श्रेष्ठ है । इसप्रकार तीन तीन दिन चद्रमा और सूर्यका उदय सप्ताह है । भावार्थ—गुरुपञ्चमी प्रतिपदा द्वितीया तृतीया चान्नि प्रातः कालही धामस्वर अच्छा है फिर तीन दिन दाहिना फिर तीन दिन बायाँ इसी प्रकार पूणमापर्यन्त सूर्योका तीन तीन दिन चलना शुभ है । तथा कृष्णपञ्चम प्रतिपदा द्वितीया तृतीयादि दिन दाहिना स्वर फिर तीन दिन बायाँ फिर तीन दिन दाहिना इसीप्रकार अमानाम्नापयत शुभस्वर जानने इनसे विरुद्ध स्वर चलने अशुभ है ॥ ३३ ॥

उदयक्षन्त्रेण तित सूर्येणास्त प्रशस्यते धायो ।

रविणोदये तु शशिना शिवमस्तमन सदा नृणाम् ॥ ३४ ॥

अर्थ—तथा पवनका उदय चद्रमाकें स्वरसे (वायु स्वरसे) शुभ है और अल सूर्यस्वर अथवा दाहिने स्वरसे प्रशस्त कहा है और सूर्यसे (दाहिने) उदय होता शशि कहिये बायें स्वरसे अल होना जीवोंको सदा कल्याणकारी (शुभ) है ॥ ३४ ॥

सितपक्षे रव्युदये प्रतिपदिषसे समीक्ष्यत सम्पक् ।

शस्तेतरप्रचारो धायोर्पन्नेन विज्ञानी ॥ ३५ ॥

अर्थ—पवनका प्रचार (चलना) शुरूपक्षम सूर्यके उदयम प्रतिपक्षके नि नि
सम्यक् प्रकार यन्से शुभ अशुभ दोनोंको विचारै देखै ॥ ४० ॥

निस प्रकार विचारै सो कहते हैं,—

व्यस्तप्रथमे दिवसे चित्तोद्वेगाय जायते पवन ।

घनहानिकृद्वितीये प्रवासद' स्यात्तृतीयेऽहि ॥ ४१ ॥

इष्टार्थनाशविघ्नमस्त्वपदभ्रशास्तथामहायुद्धम् ।

दु.२५ च पञ्च दिवसै क्रमशः सजायते त्वपरैः ॥ ४२ ॥

अर्थ—पवन प्रथमदिवसम व्यस्त कहिये निपरीत यहै तो चित्तको उद्वेग होत
और दूसरे दिन निपरीत यहै तो घनही हानिको सूजन करता है, तीसरे दिन निपरीत
तो परदेश गमन करावै ॥ ४१ ॥ और पाच दिनतक निपरीत चलै तो क्रमः
प्रयोजनका नाश, विघ्नम, अपने पदसे भ्रष्ट होना, महायुद्ध और दु.२५ ये पाच कहै
हैं तथा इसी प्रकार अगले पाँच पाच दिनका फल निपरीत अर्थात् अशुभ जाना ॥ ४२ ॥

धामा सुधामयी ज्ञेया हिता शश्वच्छरीरिणाम् ।

महर्षी दक्षिणा नाडी समस्तानिष्टसूचिका ॥ ४३ ॥

अर्थ—जीरोके बाँई नाडी (चन्द्रमुख या माया स्वर) अमृतमयी सदा हितकारी जान
और दाहिनी नाडी (सूर्यनाडी) समस्त अहितकी कहनेवाली सत्तारम्यरूप जानी ॥ ४३ ॥

भाषा ।

अमृतमयि सूर्यगात्र प्रीणयति शरीरिणा भुय धामा ।

भपयति तदेव शश्वद्वहमाना दक्षिणा नाडी ॥ ४४ ॥

अर्थ—बाँई नाडी निरंतर बढ़ती हुई जीरोके समस्त शरीरको अमृत ही ताप
मृत करती है और दाहिनी नाडी निरंतर बढ़ती हुई शरीरको क्षीण करती है ॥ ४४ ॥

सप्रामसुरतमोजनविद्वत्कार्येषु दक्षिणेष्टा स्यात् ।

अभ्युदयदृढयथाष्टिमसमन्तान्नेषु धामिय ॥ ४५ ॥

अर्थ—प्राम कामरूप भोजन अति विद्वत्कार्य ता दक्षिण ७ ही इष्ट है (शुभ
है) और अनुप्य और मनेवा, अष्टिम समस्त शुभकार्योमें यहै नाडी शुभ है ॥ ४५ ॥

नेष्टयन्ते समर्था राष्ट्रप्रहकालपन्त्रगुर्गणा ।

नितिवर्णा स्वमृतमनो समस्तकल्याणदा ज्ञेया ॥ ४६ ॥

अर्थ—नेष्टयन्ते और राष्ट्रप्रहकाल वे दोनों पवन अमृतमय करिष ४६

गम्य (बाद गहोम) घौं सौ मत्वात् चन्द्रमागूय आदिक द अष्टि वरनेम समर्थ
नाह होने व गमगावन्पाणी दीवाली दोनों नाही होती है ॥ ४६ ॥

पूणे पूर्णस्य जपो रिक्त स्थितरस्य कथ्यते तज्ज्ञे ।

उभयोप्युदनिमित्तो दूतेनाज्ञासिते प्रभे ॥ ४७ ॥

अर्थ—बोद दूत आकर मुदके निमित्त भो सुरम प्रभ करे तो (पहिले पूछनेवाले) की
जीन हो और रिक्तमरम (गार्ग्य स्तरम) पूछे तो दूतके जी जय हो और दोनों चल तो दोनों
की जय हो ॥ ४७ ॥

ज्ञातुर्नाम प्रथम पश्चाद्यचातुरस्य गृह्णाति ।

दूतस्तदष्टमिद्विस्तद्व्यस्ते स्याद्विपर्यस्ता ॥ ४८ ॥

अर्थ—बोद प्रथम करता दूत यदि प्रथम ही ज्ञाताका नाम लेकर तत्पश्चात् आतुरका
नाम ले तो दृष्टी मिद्धि होती है और इससे निररीत रोगीका नाम पहिले और ज्ञाताका
नाम पीछे ल सौ दृष्टी मिद्धि नहीं है (विपर्यस्त है) ॥ ४८ ॥

जपति समाक्षरनामा यामावाप्त्यितेन दूतेन ।

विषमाक्षरस्तु दक्षिणदिक्सम्येनाग्रसपाते ॥ ४९ ॥

अर्थ—दूत आकर जिसके लिये पूछे उसके नामके अपर सम हों (दो चार छह
इत्यादि हों) और बाई नाही बहती हुद की तरफ खड़ा होकर पूछे तो वह शम्भुपातके
होने हुए भी जीत और निमज नामके विषमाक्षर हों अर्थात् एक तीन पाच इत्यादि हां
और दाहिनी गाढा बहती हुदम म्ढा रहकर पूछे तो उसकी भी जीत हो इस प्रकार जय
पराजयक प्रभका उत्तर कई ॥ ४९ ॥

भूतादिगृहीताना रोगार्त्ताना च सर्पदष्टाना ।

पूयैस्तान्य च विधिर्बौद्धव्यो मान्त्रिकायदपम् ॥ ५० ॥

अर्थ—जो बोद मन्त्रादीको दूत आकर पूछे नि अमुक भूतादिकस्त गृहीत है तथा
अमुक रोगत पीडित है अथवा सपने काटा है तो पूवाक विधि ही जाननी यह अवश्य है
नि समअक्षरवालेका बाह नाहीने चलते हुए पूछना शुभ है और विषमाक्षरवालेका दहनी
महता हुद नाहीम पूछना शुभ है ॥ ५० ॥

पूणे वरुणे प्रविशति यदि घामा जायते कश्चित्पुण्यै ।

सिद्धयत्यचिन्तितान्यपि कार्याण्यारभ्यमाणानि ॥ ५१ ॥

अर्थ—वरुणमडल्का वरुण पूण होकर प्रवेश होते हुए यदि किसी पुण्योदयते बांइ
गाडी चल तो अनचित्ते कार्यक प्रारम्भ करनेम भी सिद्धि होती है अथात् शुभ है ॥ ५१ ॥

जयजीवितलाभाया येऽर्था पूष तु सुखिना शाम्ने ।

शुस्ते सर्वेऽप्यफला मृत्युस्ये मरति लोकानाम् ॥ ५२ ॥

अर्थ—जो पदार्थ पहिले जय जीवित लाभान्वित नाम्नम सूचित किये अथवा करे है वे यदि मृत्युके समय (आम नष्ट हुआ तथा द्रुता हुआ आदि) हा तो सहा निम्न है अर्थात् इसमें मरण ही निश्चय करना ऐसा ताप्य है ॥ ५२ ॥

अथ जीवन मरणके निश्चय करनेका वर्णन करते हैं,—

अनिलमचपुण्य सम्यक्पुण्य हस्तात्प्रपातयेज्जानी ।

मृतजीवितविज्ञाने ततः स्वयं निश्चयं कुरुते ॥ ५३ ॥

अर्थ—पवनरों सम्यक् प्रकारसे निश्चय करके ज्ञानी पुरुष अपने हाथमें पुण्य हात उससे मृतजीवितका विज्ञान स्वयं निश्चय करता है ॥ ५३ ॥

वरुणे त्वरितो लाभश्चिरेण भौमे तदर्थिने वाच्यम् ।

तुच्छतर पवनारये सिद्धोऽपि विनश्यते बहौ ॥ ५४ ॥

अर्थ—वरुण पवनके होनेपर त्वरित (शीघ्र)ही लाभ कहै और पृथिवी पवन हो तो बहुतकालसे लाभ कहै—और पवनमडलना पवन हो तो थोडा लाभ कहै और अग्निहा पवन हो तो सिद्ध हुआ लाभ भी नाशको प्राप्त होता है ऐसे कहना ॥ ५४ ॥

आयाति गतो वरुणे भौमे तत्रैव तिष्ठति सुप्तेन ।

यात्यन्यत्र श्वसने मृत इति बहौ समादेश्यम् ॥ ५५ ॥

अर्थ—कोई परदेश गयेहुएना प्रश्न करै तो उससे इस प्रकार कहना—प्रश्न कर नेवाला यदि वरुणपवनम प्रश्न करै तो गया हुआ मनुष्य आता है ऐसा कहना और पृथिवी तत्त्वम प्रश्न करै तो वहा ही रहता है और पवनतत्त्वम पूछ तो जहा रहता था वहां वहीं अन्यत्र गया है और वहितत्त्वम कहै कि मरणको प्राप्त हुआ ॥ ५५ ॥

घोरतर' सग्रामो हुताशने मरुति भद्रं नव स्यात् ।

गगने सैन्यविनाश मृत्युर्वा युद्धपृच्छायाम् ॥ ५६ ॥

अर्थ—युद्धके प्रथम अग्रितत्त्वम तौ तीव्रसग्राम तथा वायुतत्त्वम भग होना कहै और आरौशतत्त्वमें सेनाका विनाश अथवा मृत्यु कहै ॥ ५६ ॥

ऐन्द्रे विजय समरे ततोऽधिको वाञ्छितश्च वरुणे स्यात् ।

सन्धिर्वा रिपुभङ्गात्सिद्धिससूचनोपेत' ॥ ५७ ॥

अर्थ—तथा पृथिवीतत्त्वम सग्रामम विजय कहै और वरुण पवनम वाञ्छितम भी अधिक जय कहै अथवा सन्धि होना कहै तथा शत्रुके भग होनेमें अपनी सिद्धिही स्पष्टा गहित कहै ॥ ५७ ॥

(१) इस प्रथमें पृथिवी का तेज आर वायु ये ४ हा तत्व माने हैं आकाश तत्वमाना ही नहीं तो फिर आकाशतत्त्वका कल कबो कहा था हमारी समझमें नहीं आया—(भुवादेव) ।

अथ मेह वर्णनेके प्रश्नका उत्तर कहते हैं,—

वर्षति भौमे मघवान्वरुणेऽभिमतो मतस्तथाजस्रम् ।

दुर्दिनघनाश्च पवने घट्टौ घृष्टि कियन्मात्रा ॥ ५८ ॥

अर्थ—पृथिवी तत्त्वमें तो मेघ वर्णना कहै अपतत्त्वमें मनोवांछित मेह निरन्तर घर सीगा ऐसा कहै । परमतत्त्वन दुर्दिन होगा वाला होगा, ऐसा कह और बह्मितत्त्वमें किंचि न्मात्र घृष्टि होना कहै ॥ ५८ ॥

सस्यान्ना निष्पत्ति स्याद्वरुणे पार्थिवे च सुश्लाघ्या ।

स्वल्पापि न चाग्नेये चाप्याकाशे तु मध्यम्या ॥ ५९ ॥

अर्थ—कोई मनुष्य पान्य निष्पत्तिना (उत्पन्न होनेन होनेना) प्रप्त करे तो वरुण पत्र में और पृथिवी पत्रमें तो पान्यही उत्पत्ति अच्छी होगी ऐसा कहै और अग्निपवनन स्वल्प भी न हो ऐसा कहै और वायुतत्त्वन अथवा शून्यन (आकाशतत्त्वमें) मध्यम्य हो, ऐसा कहै ॥ ५९ ॥

नृपतिगुरुषन्धुघृष्टा अपरेऽप्यभिलषितसिद्धये लोक ।

पूर्णादे कर्त्तव्या पिदुषा धीतप्रपञ्चेन ॥ ६० ॥

अर्थ—यहां वरीकरण प्रयोग है—तो राजा गुरु बन्धु घृष्टपुरन तथा अन्य लोग भी अपने वांछितके लिये वर करने हों तो पूर्णाङ्ग कहिये भरे स्वरूप प्रपञ्चरहित पठितपुरीको चाहिये कि वरीकरणप्रयोग करै । भाषार्थ—जिस समय भरा स्वर चलता हो उस समय उनसे वात्तालाप करनेसे वे अपने अनुकूल प्रवृत्तते हैं ॥ ६० ॥

शयनासनेषु दक्षैः पूर्णाङ्गनिषेदितास्तु योपास्तु ।

रिपते चेतस्त्यरित नातोऽन्यद्विषयविज्ञानम् ॥ ६१ ॥

अर्थ—प्रवीण पुरोहित द्वारा भरे स्वरमें नियमित की हुई शिरोर बिलस्वरित ही हो जाने हैं इससे अन्य वर करनेवा कोई भी निगान उत्तम नहीं है ॥ ६१ ॥

अरिभ्राणिकचौरदुष्टा अपरेऽप्युपसर्गविघ्नहायाश्च ।

रिक्ताङ्गे कर्त्तव्या जयलभसुरगार्थिभिः पुरुषैः ॥ ६२ ॥

अर्थ—तथा शत्रु, 'रुजशाला चौर दुष्ट पुरुष तथा अन्य भी ऐसे लोग वर करने तथा उपसर्ग दुष्ट इत्यादि कार्य जीतलामनुष्यके अधिकारी होने स्वरान करने चाहिये ॥ ६२ ॥

रिपुणस्त्रस्रमहारे रक्षति यः पूर्णमात्रभूभागम् ।

बलिभिरपि वैरिणैर्न भयते तस्य सामर्प्यम् ॥ ६३ ॥

अर्थ—शत्रुके गन्धप्रहार होतेसमय अपना जो स्वर भग हो उस मन्त्री वर
वैरी रहे तो उस पुष्पकी सामर्थ्य उलान शत्रुमे भी भेगी गति जा मत्ता । भावार्थ—
वैरीके साथमे लड़ाई होते वैरीकी तरफ अपना मरा स्वर हो वरी रमनमे अपनी गति
होती है ॥ ६३ ॥

अन मन्त्रीके गर्भमन्त्री प्रश्नके उत्तर नेोका वर्णन है,—

आया ।

चरुणमहेन्द्रौ जस्तौ प्रश्ने गर्भस्य पुत्रदौ ज्ञेयौ ।

इतरौ स्त्रीजन्मकरौ शून्य गर्भस्य नाशाय ॥ ६४ ॥

अर्थ—वरुण और महेन्द्र इन दोनों पत्नोंमे प्रश्न हो तो पुत्र जन्मगा और अग्निदा
वायुतत्त्वमे प्रश्न हो तो कन्या होगी—और रीते स्वरमे प्रश्न हो तो गर्भ नष्ट हो चारा
पेसा कहै ॥ ६४ ॥

श्लोक ।

नासाप्रवाहदिग्भागे गर्भार्थं यस्तु पृच्छति ।

पुरुष पुष्पादेश शून्यभागे तथाङ्गना ॥ ६५ ॥

अर्थ—जिस तरफका स्वर चलता हो उसी तरफ होकर प्रश्न करे और वह प्रश्न
करनेवाला पुरुष हो तो पुत्र होना कहै और शून्य भाग अर्थात् रीते स्वरकी तरफ होकर
प्रश्न करे तो पुत्री होना कहै ॥ ६५ ॥

विज्ञेय सम्मुखे पण्ड सुपुत्रायामुभौ शिशू ।

गर्भहानिस्तु सक्तान्तौ समे क्षेम विनिर्दिशेत् ॥ ६६ ॥

अर्थ—यदि सम्मुख होकर प्रश्न करे तो नपुंसक सन्तान होगी ऐसा कहै तथा दोनों
नासिका पूर्ण भरी हुईमे पूछे तो दो बालन होना कहै पवनके सन्मके (पलटनेके) समक्ष
पूछे तो गर्भकी हानि हो और दोनों तरफ पवन सम बहती हुईमे पूछे तो क्षेम पुशक
करै ॥ ६६ ॥

आया ।

ज्ञापेत यदि न सम्यग्मस्तदा बिन्दुभिः सा निश्चेयः ।

सितपीताम्णकृष्णैर्वरुणावनिपवनदहनोत्थैः ॥ ६७ ॥

अर्थ—जो कन्याचित् पवन मत्प्रकार जाननेमे नहि सके तो फिर श्रेष्ठ पीत
रक्त वृष्ण बिन्दुओंसे विश्रय करना । वे बिन्दु वरुणसे उत्पन्न हुए तो सफेद होते हैं
वृषिकीके उत्पन्न हुये पीत (पीले) होते हैं तथा अग्निसे उत्पन्न और पवनसे काले उत्पन्न
होते हैं ॥ ६७ ॥

आगे सिद्धमेवैवा विधान करते हैं,—

कर्णाक्षिनासिकापुटमृष्टप्रथममध्यमाहुलिभि ।

ग्राम्या च पिषाय सुख्य करणेन हि दृश्यते बिन्दुः ॥ ६८ ॥

अर्थ—एक नेत्र नासिका इनको कनसे दोनों अंगूठे दोनों प्रथम अंगुली तथा दोनों मध्यमा अंगुलियोंसे धृष्ट करके दृष्ट करके मुखको भी दोन दोनों अंगुलियोंसे धृष्ट करके तत्तद्व्याप्त मनमे देखनेपर धारों प्रकारकी पत्रोंके बिन्दुओंमेंमे जिम प्रकारका बिन्दु दीखे वही पत्र जानना ॥ ६८ ॥

श्लोक ।

दक्षिणामध्या यामा यो निषेदु समीप्सति ।

तद्वद् दाडयेदन्या नासानाडीं समाश्रयेत् ॥ ६९ ॥

अर्थ—दहनी अथवा दाईं नाडीका निषेध करना (बंद करना) चाहै तो उस नाडीके आगे पीछे तथा दाईं तो दूसरी नाडीका आश्रय करे अर्थात् दहनीसे बाईं हो जाय और बाईंस दहनी होजाय ॥ ६९ ॥

श्लोक ।

अग्रे वामविभागे चन्द्रक्षेत्रं यदग्नि तत्त्वयिद ।

पृष्ठौ च दक्षिणाङ्गे रथेस्तदेयाहुराचार्या ॥ ७० ॥

अर्थ—अग्रे वामविभागे चन्द्रक्षेत्र अथवा चन्द्रमाका क्षेत्र है और पीछे दक्षिणाङ्गे रथे अथवा रथका क्षेत्र है इस प्रकार तत्त्वके जाननेवाले आचार्यगण करते हैं ॥ ७० ॥

अथनिचनदहनमहलयिचलनशीलस्य तावदनिलस्य ।

गतिं क्षत्रुरेव मन्दपुरविहारिणः सा तिरश्चीना ॥ ७१ ॥

अर्थ—पृथ्वीजल अग्निमहलयें निहार करनेवाली पवनकी गति तो सरल है और पवन महलयें निहार करनेवाली गति तिरछी (बक) है ॥ ७१ ॥

पवनप्रवेशकाले जीव इति शोच्यते महामतिभिः ।

निष्प्रमणे निर्जीव कल्मषि च तयोस्तथा ज्ञेयम् ॥ ७२ ॥

अर्थ—जिसी जिपी वस्तुके विषयमें प्रश्न करे तो पवनके प्रवेशकालमें तो जीव है ऐसा कहना चाहिये और पवनके निकलते हुए कालमें प्रश्न करे तो निर्जीव है ऐसा थड़े बुद्धिमान् पुरुषोंने कहा है तथा इनका फल भी वैसा ही कहा जाता है ॥ ७२ ॥

जीवे जीवति विश्वं मृते मृतं सूरिभिः समुदिष्टम् ।

सुखदुःखजयपराजयलाभालाभादिमार्गोऽयम् ॥ ७३ ॥

१ तथा मृतं इत्येवम् ।

अर्थ—जो पवनके प्रवेगकालमें जीव कहा सो जीते हुये समस्त वस्तु भी जीव कहना और पवनके निरुल्लेखे हुए मृतक कहा हो तो समस्त वस्तु निर्जीव ही कहना चाहिए तथा मुग दुस जय पगजय लाम अलाम आदि भी यही मार्ग है ॥ ७३ ॥

संचरति यदा वायुस्तत्त्वात्तत्त्वान्तर तदा ज्ञेयम् ।

यस्यजति तद्धि रिक्त तत्पूर्ण यत्र सक्रमति ॥ ७४ ॥

अर्थ—जिम समय पवन है सो एकर तत्त्वसे अन्य तत्त्वमें संचरती हो व समय जिमसे छोड़े मो तो रिक्तपवन रहा जाता है और निम्न संचरे उसको पूरा कहा जाता है ॥ ७४ ॥

ग्रामपुरग्रहजनपदगृहराजकुलप्रवेशनिःकाशे ।

पूर्णाङ्गपादमग्रे कृत्वा व्रजतोऽस्य सिद्धि स्यात् ॥ ७५ ॥

अर्थ—ग्राम पुर ग्रह देश घर राजमंदिरमें प्रवेश करना अथवा उहामे निरुल्लेख हो व समय जिम तरफका स्वर मरा हुआ हो उस तरफका पार पहिले रमकर चले तां उहां कार्यही सिद्धि होती है ॥ ७५ ॥

उक्तं च भाषा ।

अमृते प्रवहति नून केचित्प्रवदन्ति सूरयोऽस्यर्थम् ।

जीयन्ति विषामक्ता ग्रियते च तथा न्यथामृते ॥ १ ॥

अर्थ—अमृत जो चंद्रमानी नाडी बाद चलती हो तो विश्रयमे निमने भागवत पुं भी जीता है और अन्य प्रकार जो मूर्खी नाडी दहनी चले तो मरता है इस प्रकार पूर्ण चार्योने भविष्यतामे कहा है ॥ १ ॥

यस्मिन्नमति ग्रियते जीयति मति भवति चेननाकलित ।

जीयन्मदेय तस्य निरला जानन्ति तत्सविद ॥ ७६ ॥

अर्थ—जीव है मो जिम पवनके १ होने सो मरे और जिम पवनके होत हुए जीव चेनना मति रई ऐमा तत्त्व कोइ निरले ही तत्त्वगानी जानने है ॥ ७६ ॥

सुखदुःखजयपराजयजीविनमरणानि धिक् इति केचित् ।

वायुः प्रपञ्चरचनामयेदिना कथमय मान ॥ ७७ ॥

अर्थ—कोइ पुरुष इस प्रकार कहने हैं कि—इस मुल दुःख जय वायव्य प्रपञ्च मरण इनको कहने हैं पवन ऐमा अभिमत पवनक प्राय (विष्णुगरी) रचनाही नहीं कह्ये उन्को कहे हो मरता है । भाषार्थ—पराय प्रपञ्च गरी मति अभिमत वायव्य कृपा है ॥ ७७ ॥

पूर्योम पूरके सत्याहृष्टि कुम्भके तथा सम्भम् ।

उच्चादन च योगी रेचकविज्ञानसामर्थात् ॥ ७८ ॥

अर्थ—पवनको साधनेवाला योगी है तो पूरकके होते तो आरूपण करता है और कुम्भके होने राधा करता है और रेचकके विज्ञानकी सामर्थ्यसे उच्चादन करता है ॥ ७८ ॥

इदमगित् श्वसनभव सामर्थ्य स्यान्मुनेर्ध्रुव तस्य ।

यो नाटिकाविशुद्धिं सम्पन्न कर्तुं विजानाति ॥ ७९ ॥

अर्थ—यह सब परासे उत्पन्न हुआ सामर्थ्य है तो उस मुनिक ही होता है कि जो नाटिका कटिसे पवनकी निगुदताके प्रचारका चलना नाटिकाके द्वारसे निकलने प्रवेश करने आदिको भले प्रकार निगुद करनेके लिये विशेषकर जानता है ॥ ७९ ॥

यदा नाडीकी सामर्थ्य कही, अथ नाडिकाकी शुद्धताका विधान कहते हैं,—

यद्यपि समीरचारभ्रमलतरो योगिभिः सुदुर्लभ्य ।

जानाति विगततन्द्रस्तथापि नाड्या कृताभ्यास ॥ ८० ॥

अर्थ—यद्यपि पवनका प्रचार है तो अतिशय चपल है योगीधरोंको भी दुर्लभ्य है अथाह लखनेमें नहि आता, तथापि योगी निष्प्रमाद होकर अतिशयसे नाडीन अभ्यास करनेसे इसके प्रचारको (संचारको) जान सचा है ॥ ८० ॥

अथ नाडीकी निगुदताका वर्णन करते हैं,—

सकल पित्तुसनाथ रेफाक्रान्त हवर्णमनयसाम् ।

चिन्नपति नाभिकमले सुषन्पुर कणिकारूढम् ॥ ८१ ॥

अर्थ—यद्वरलामहित निदुग्गुक्त रेफसे व्याप्त ऐसा हृत्कार अथाह है ऐसा अथर निष्पाप मनोह नाभिकमलकी कर्णिकाओं आरूढ है ऐसा चितवन कर, तत्पश्चात्—

रेचयति तत शीघ्र पतद्गमणेण भासुराकारम् ।

ज्वालाकलापकलित स्फुलिङ्गमालाकराक्रान्तम् ॥ ८२ ॥

तरलतडिदुग्गमणे घूमशिखावर्त्तद्दिकचक्रम् ।

गच्छन्त गगनतले दुर्द्धप देवदैत्यानाम् ॥ ८३ ॥

अर्थ—भासुराकार देदीप्यमान ज्वालासमूहमें संयुक्त स्फुल्लियोंकी पत्तिका के किरणोंसे व्याप्त ऐसे सुषक गमसे अर्थात् दहनी नाडीसे रेचन करै अथाह बाहर निकलै,— तत्पश्चात् यह वर्ण चपल बिजलीके वेगकी समान वेगसाला और घूमकी शिखारे भावसे जगने दिशाओंसे रोका है, देव दैत्योंके द्वारा भी धामनेमें नहि आये ऐसे वेगसे आकाशमें गमन करता हुआ चितवन कर ॥ ८२ ॥ ८३ ॥

शरदिन्दुधामघवल गगनतलान्मन्दमन्दमवतीर्णम् ।

क्षरदमृतमिज सुधाशोः पुरयति यथा पुनः पुरत ॥ ८४ ॥

अर्थ—तत्पश्चात् उही वर्ण शरदके चन्द्रमारी कान्तिके समान घवल आकाशतन्त्र
मद मद उत्तरताहुआ चन्द्रमाके मागमे अर्थात् वामन्वरमे जैसे अमृत शौरे तेमे निरस
नामिकमलम पूरण करै अर्थात् आकाशसे उत्तरकर नामिकमलम धारण करै ॥ ८४ ॥

तत्पश्चात् क्या करै सो कहते हैं,—

आनीय नाभिकमल निवेद्य तस्मिन्पुन पुनश्चैव ।

अनलसमनसा कार्यं प्रवेशनिःसरणमनवरतम् ॥ ८५ ॥

अर्थ—नामिकमल लानेके पश्चात् उस नामिकमलमें ही स्थापन करके उसमें ही
आलस्यरहित मनसे प्रवेश निःसरण निरतर बारबार करना इस कार्यके करनेमें बन्ने
प्रमाद न लाना सावधानी रखना ॥ ८५ ॥

तत्पश्चात् क्या करना सो कहते हैं,—

अथ नाभिपुण्डरीकाच्छ्रै शनैर्हृदयकमलनालेन ।

निःसारयति समीर पुनः प्रवेशयति सौयोगम् ॥ ८६ ॥

अर्थ—तत्पश्चात् नाभिकमलसे हृदयरूप कमलरी नालमें धीरे धीरे पवनको उदण
साहित निकाले और प्रवेश करावे ॥ ८६ ॥

नाडीशुद्धिं कुरुते दहनपुर दिनकरस्य मार्गण ।

निष्कामदिशिदिदो पुरमिनरेणेति केऽप्याहुः ॥ ८७ ॥

अर्थ—कोई कोई आचार्य इस प्रकार कहते हैं कि—अग्निमण्डली परा है सो
सूर्यके मागसे (दहने स्वर्गमें) निकलती और वष्णमण्डलसबधी पवन चन्द्रमाके मागमें (स्वर्गमें)
प्रवेश करती नाडीकी शुद्धताको करती है ॥ ८७ ॥

इति नाहिकाविशुद्धिपरिकलिताभ्यासकौशल्यो योगी ।

आत्मेच्छयैव घटपनि पुटपो पवन क्षणादन ॥ ८८ ॥

अर्थ—पूर्वोक्तप्रकारसे नाडीकी शुद्धतामें मध्यप्रकार अग्याम करने। प्रवीण योगी
पवनको नाहिका छिद्रोंमें अपनी इच्छामें ही आपेक्षमात्रसे बना मछे दे नाहिका
अभ्यास करनेसे पवनके प्रवेश निःसरण करनेमें योगी स्याधीन हो जाता है अर्थात् निरद्वै
हो जाता है ॥ ८८ ॥

एकस्यामयमात्रेण कालं नालीयुगलय साद्वैम् ।

नामुक्तस्य नमोऽन्यामधिनिष्ठनि नालिकामनिष्ठ ॥ ८९ ॥

अर्थ—यह पवन है सो एक नाडीम नालीद्वयमार्द्ध कहिये अगइ घड़ीतर रहता है तत्पश्चात् उसे छोड़ अन्य नाडीम रहता है यह पवनके ठहरनेके कालका परिमाण है ॥८९॥

षोडशाग्रमित कैश्चिन्निर्णीतो वायुसमम् ।

अहोरात्रमिते काले द्योर्नाड्योर्यथा क्रमम् ॥ ९० ॥

अर्थ—किन्ही २ आचार्योंने दोनों नाडियोंम एक अहोरात्र परिणाम कालम पवनका सम (पलटना) क्रमसे १६ बार होना निश्चय किया है ॥ ९० ॥

षट्शतान्यधिकान्पाष्टु सहस्राण्येकविंशतिम् ।

अहोरात्रे नरि स्वस्थे प्राणवायोर्गमागमौ ॥ ९१ ॥

अर्थ—स्वस्थ मनुष्यके शरीरम प्राणवायु आसोच्छ्रमन गमनागमन एक दिन और रात्रिमें इकट्ठस हजार ६ सौ बार होता है ॥ ९१ ॥

सप्तान्तिमपि नो येति य समीरस्य मुग्धधी ।

स तत्पयनिर्णय कर्तुं प्रवृत्त किं न लज्जने ॥ ९२ ॥

अर्थ—जो मूर्खबुद्धि पुरुष इस पवनकी पलटनको नहीं जानता है और पवनका तत्त्व यथाधरूप निर्णय करनेके लिये प्रवृत्त है सो क्या लज्जित भी नहीं होता । भावार्थ—पवनकी पलटनको जाने बिना श्रुतिवी आदिक तत्त्वोंका यथार्थ निणय नहीं होता जो बरना चाहता है यह मूल है ॥ ९२ ॥

आगे पवनके वेध करनेका विधान कहते हैं,—

अथ कौतूहलहेतो करोति वेध समापिसामर्थात् ।

सन्पग्नियनीतपयन क्षाने क्षानैरर्कतुलेषु ॥ ९३ ॥

अर्थ—इसका पश्चात् यदि कोई पन्थाभ्यासी वातूलक लिय समाधि जो पवनका अभ्यासकी लय उसकी सामर्थ्यसे भलेप्रकार जाना है पवन जगने ऐसा पुरुष आकर तूलमें (रूद्रम) भदमइतासे वेध करे ॥ ९३ ॥

तत्र नृत्तनिक्षयोऽसौ जातीषकुलादिगन्धद्रव्येषु ।

स्थिरलक्ष्यतया शब्दत्करोति वेध वित्तज्ञान्मा ॥ ९४ ॥

अर्थ—विर उस आकरी रूद्रम किया है वेध जगने ऐसा होती है सो निश्चिन्नाद शीकर जातीपुण बहुत मौलधीके पुष्प आदि सुगन्ध द्रव्योंम बंध करता है ॥ ९४ ॥

कर्पूरवृक्षमागुग्मलयजकुम्भादिगन्धद्रव्येषु ।

चरुणपयनेन वेध करोति लक्ष्ये स्थिराभ्यास ॥ ९५ ॥

अर्थ—तथा पवनने प्रचार करनेमें घनुर योगी कामरूपी विषयुक्त मनको जीतता है (बन करता है) अर्थात् उसकी कामवासना नष्ट होजाती है, समस्त रोगोंका क्षय करके शरीरमें स्थिरता (दृढता) करता है इसमें कुछ भी संदेह नहीं है ॥ १०१ ॥

जन्मशतजनितमुग्र प्राणायामाढिलीयते पापम् ।

नाडीपुगल्स्यान्ते यतेर्जिताक्षस्य वीरस्य ॥ १०२ ॥

अर्थ—इस पवनने साधनरूप प्राणायामसे जीती हैं इन्द्रियें जिसने ऐसे धीर वीर यतिके सैकड़ों जन्मोंके संचित क्रिये तीन पाप दो घड़ीके भीतर भीतर लय होजाते हैं ॥

यहां आशय ऐसा है कि प्राणायामसे जगतके शुभाशुभ व भूतभविष्यत जाने जाते हैं तथा परके शरीरमें प्रवेश करनेकी सामर्थ्य होती है सो ये तो लौकिक प्रयोजन है इनमें कुछ परमाथ नहीं है और मनको वशीभूत करनेसे विषयवासना नष्ट हो जाती है और अपने निजस्वरूपमें ध्यान करके लय होनेसे अनेक जन्मके बाधे हुए कर्मोंका नाश करके मुक्तिको प्राप्त होना पारमार्थिक फल है इस कारण योगीश्वरोंको करना योग्य है । तथा यह पवनके अभ्याससे पृथिवी आदि भटलोंका (तत्त्वोंका) नाशनाशके द्वारा पवन निकलने के द्वारा निश्चय करना कहा और उन पृथिवी आदि तत्त्वोंका वण, आकार आदिना स्वरूप क्या सो यह कल्पना है निमित्तज्ञानके शास्त्रोंमें वणन है कि शरीर पृथिवी जल अग्नि और वायुमयी है, इसमें पवन सवत्र विघटता है इस पृथिवी आदि तत्त्वों की कल्पना करने निमित्तज्ञान मिद्ध किया है । और पूरक कुम्भक रक्षण करनेके अभ्याससे इस पवनको अपने आधीन करके पीछे इसको नाडीकी गुदताके अभ्याससे नासिकासे बाहर निकालें वा प्रवेश करावे तब नाडी शुद्ध होनेपर फिर पवन बाहर निकलै उसकी रीति पृथिवी आदिमण्डलस्वरूप जैसा वर्णन है वैसी ही पट्टियाँ और जन उसने निमित्तसे जगतके भूत भविष्यत शुभाशुभका ज्ञान होता है तब या तो अपना जानै अपना लोक प्रथम करे तो उसको कहे यह लौकिक प्रयोजन है और अन्यमतावलम्बियोंने भी यह कल्पना की है परन्तु उनमें यह वस्तुका स्वरूप क्यार्थ नहीं सधता इस कारण देवयोगसे किंचिन्मात्र लौकिक प्रयोजन सधे तो सध सत्ता अपना नहीं भी सधता इसका कुछ नियम नहीं है ॥ १०२ ॥

यहां इस प्राणायामके साधनेकी कठिनाता दिग्गनेने लिये उक्त च श्लोक है,—

जलधिन्दु कुशाग्रेण मासे मासे तु य विप्रेत् ।

सवत्सरशत साध्र प्राणायामश्च तत्तमम् ॥ १ ॥

अर्थ—जो कोई पुष्प पुष्प अग्रभागमें जलना एक एक त्रिदु नगने २६
अनन्तर सौ वर्षतक पीने अन्य कुछ भी आहारान्त्रि नहि करे ऐसा कठिन वा है
तो उसके समान हम प्राणायामका करना कठिन है, परन्तु जो योगीश्वर ध्यानके प्रभाव
इसे साधते हैं वे धन्य हैं ॥ १ ॥

इस प्रकार ध्यानमें योग्य स्थान और आसन तथा प्राणायामका वर्णन किया ॥

कवित्त ।

आसन ध्यान सर्धारि करै मुनि प्राणायामसमीक्ष्यभार ।

धूरक बुभुक् रचक साधन निन आधीन मुनत्तगन्धार ॥

जगन्नीन मन लब्धे शुभाशुभ अपने हानि वृद्धि निरधार ।

मन रोके परमात्म ध्याये तत्र यह सकल न आतप्रसार ॥ २० ॥

इति श्रीगुप्तचन्द्राचार्यनिरचिने योगप्रदीपाधिकारे ज्ञानाग्ने म्यानामनपूर्वक
प्राणायामवर्णन नाम एकोनविंश प्रकरण समाप्तम् ॥ २९ ॥

अथ त्रिंश प्रकरण लिख्यते ।

अब प्रत्याहार और धारणाका वर्णन करते हैं,—

समाकृष्येन्द्रियार्थेभ्य साक्ष चेत् प्रशान्तधीः ।

यत्र यत्रेच्छया घत्ते स प्रत्याहार उच्यते ॥ १ ॥

अर्थ—जो प्रशान्तबुद्धि निशुद्धतायुक्त मुनि अपनी इन्द्रियों और मनको इन्द्रियों
निषेधसे रोककर जहा जहा अपनी इच्छा हो तहा तहा धारण करे सो प्रत्याहार कहा
जाता है । भावार्थ—मुनिके इन्द्रिय मन वशम होते हैं तत्र मुनि जहा अपना मन लगावे
वहा लग सक्ता है, उसको प्रत्याहार कहते हैं ॥ १ ॥

निःसगः सवृत्तस्वान्त कर्मवत्सवृत्तेन्द्रिय ।

यमी समत्वमापन्नो ध्यानतश्चे स्थिरी भवेत् ॥ २ ॥

अर्थ—निःसग (परिग्रह रहित) और सरस्वरूप हुआ है मन जिसका और बुद्धि
समान सकोचरूप हैं इन्द्रिये जिसकी ऐसा मुनि ही रागद्वेषरहित ममभावको प्राप्ति होकर
ध्यानरूपी तन्म (प्रवृत्ति) स्थिरस्वरूप होता है । भावार्थ—ऐसा होकर प्रत्याहार
करे ॥ २ ॥

मनको कहा २ लगावे सो कहते हैं,—

गोचरेभ्यो दृपीकाणि तेभ्यश्चित्तमनाकुलम् ।

शृण्वदृश्य वशी घत्ते ललाटेऽत्यन्तनिश्चलम् ॥ ३ ॥

अर्थ—दरी मुनि विषयोसे सो इन्द्रियोंको पृथक् करै और इन्द्रियोंसे मनको पृथक् करै तथा अपने मनको निराकुल करके अपने ललाटपर निश्चलतापूर्वक धारण करै, यह विधि प्रत्याहारमें कही गई है ॥ ३ ॥

सम्यक्समाधिसिद्धयर्थं प्रत्याहार प्रशस्यते ।

प्राणायामेन विक्षिप्त मनः स्वास्थ्यं न विन्दति ॥ ४ ॥

अर्थ—पूर्वोक्त प्राणायाममें पवनके साधनसे विक्षिप्त (सोयरूप) हुआ मन स्वास्थ्यको नहीं प्राप्त होता इसकारण भेदप्रकार समाधि की सिद्धिके लिये प्रत्याहार करना प्रशस्त है अर्थात् प्रशंसा किया जाता है। भाषार्थ—इस प्रत्याहारके द्वारा मन टट्टरानेसे समाधि की निधि होती है ॥ ४ ॥

प्रत्याहृतं पुनः स्वस्य सर्वोपाधिविवर्जितम् ।

चेतः समस्त्यमापन्नं स्वस्मिन्नेव लयं व्रजेत् ॥ ५ ॥

अर्थ—प्रत्याहारसे ठहरा हुआ मन समस्त उपाधि अर्थात् रागादिकरूप विकल्पादि पदित समभावको प्राप्त होकर आत्मान ही लयको प्राप्त होता है ॥ ५ ॥

वायोः संचारचातुर्धमणिमाद्यद्गसाधनम् ।

प्रायः प्रत्यूर्ह्याजं स्यान्मुनेर्मुक्तिमप्नीप्सत ॥ ६ ॥

अर्थ—पवनसंचारका चतुर्धमणी शरीरको सूक्ष्म स्थूलादि करनेरूप अंगका साधन है इसकारण मुक्ति की वाछा करनेवाले मुनिके प्रायः निम्नका कारण है। भाषार्थ—मोक्षके साधनमें विघ्न करनेवाला है ॥ ६ ॥

किमनेन प्रपद्येन स्वसन्देहार्त्तरेतुना ।

सुविचार्यैव तज्ज्ञेयं यन्मुक्तेर्याजमग्निमम् ॥ ७ ॥

अर्थ—इस पवनसंचार की चतुर्धाईके प्रपद्ये कथा लाभ क्योंकि यह आत्मानमें सन्देह और पीडाका (आर्त्तप्यानका) कारण है ऐसे भेदप्रकार विचार करके मुक्तिका प्रधान कारण होय सो जानना चाहिये ॥ ७ ॥

सविग्रस्य प्रशान्तस्य वीतरागस्य योगिनः ।

यश्चाकृताक्षवर्गस्य प्राणायामो न दास्यते ॥ ८ ॥

अर्थ—जो मुनि सतारदेहभोगोंसे निरक्त है, कषाय जिसके भन्द हैं विन्दमान पृक्त हैं, वीतराग है और जितेन्द्रिय है ऐसे योगीको प्राणायाम प्रशस्त करने योग्य नहीं है ॥ ८ ॥

प्राणायाममे क्या हाणि होती है सो प्रताते हैं,—

प्राणस्यायमने पीडा तस्यां म्यादार्त्तमम्भयः ।

तेन प्रन्याव्यते नून ज्ञाननत्तोऽपि लक्षित ॥ ९ ॥

अर्थ—प्राणायामम प्राणांका (आमोन्मामरूप पवनरा) आयमन कर्त्तव्ये रोड (सकोचनेम) पीडा होती है और उस पीडासे होने हुये आर्त्त-यान उन्मत्त होना और उस आर्त्त-यानसे तत्त्वज्ञानी मुनि भी अपने लक्ष्यमे (अपने ममाधि स्वरूप गुदनाके छुड़ाया जाता है । भावार्थ—आर्त्त-यान ममाधिमे अष्ट रगन्ता है ॥ ९ ॥

पूरणे कुम्भके चैव तत्रा स्वमननिर्गमे ।

व्यग्री भवन्ति चेतासि क्लिष्टमानानि वायुभि ॥ १० ॥

अर्थ—पवनके (आसोच्छ्वासके) पूरण करने तथा कुम्भ करने तथा पवनके रव होनेमे चित्त व्यग्ररूप होता है (मेडखित्त होता है) क्योंकि पवनसे हेगित होनेसे वे पाता है इसकारण प्राणायामका यन्न गौण किया है ॥ १० ॥

नातिरिक्त फल मृत्रे प्राणायामात्प्रकीर्तितम् ।

अनस्तदर्शमस्माभिर्नातिरिक्त कृत्वा श्रमः ॥ ११ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि इस प्राणायामसे सिद्धातमे कुछ भी अधिक नहीं कहा है इसकारण इस प्राणायामके लिये हमने अधिक रोड नहीं किया है ॥ ११ ॥

क्या करना चाहिये सो कहते हैं,—

निरुद्ध्य करणग्राम समत्वमवलम्ब्य च ।

ललाटदेशसलीन विदध्यान्निश्चल मनः ॥ १२ ॥

अर्थ—इन्द्रियोंके निषेधको रोक्कर और रागद्वेषको दूर कर समता अवलम्बन कर अपने मनको ललाटदेशमे सलीन करना चाहिये इसप्रकार करनेमे समाधिकी निर्मि होती है ॥ १२ ॥

अथ ध्यानके स्थान ललाटके विषय अन्य भी कहते हैं उनमें अपने मनको ध्यान कहते हैं,—

मदावाता ।

नेत्रछन्दे श्रवणयुगले नासिकाग्रे ललाटे

वक्त्रे नाभां शिरसि हृदये तालुनि ध्रुवगन्ते ।

ध्यानस्थानान्यमलमतिभि कीर्तितान्यत्र देहे

नेष्येकस्मिन्विगतविषय चित्तमालम्बनीयम् ॥ १३ ॥

अर्थ—निमलबुद्धि वाचायनि ध्यान करनेके लिये नेत्रयुगल, दोनों कान, नासिकाका अग्रभाग, ललाट, मुख, नाभि, मस्तक, हृदय, तालु, दोनों भौर्हाका मध्यभाग इन दश स्थानोंमेंसे किसी एक स्थानमें अपने मनको विषयसे रहित करके आलसित करना अर्थात् इन स्थानोंमेंसे किसी एक स्थानपर ठहराकर ध्यानमें लीन करना कहा है ॥ १३ ॥

स्थानेष्वेतेषु विभ्रान्तमुनेर्लक्ष्यवितन्यत ।

उत्पद्यन्ते स्वसवित्तोर्षहवो ध्यानप्रलयाः ॥ १४ ॥

अर्थ—इस पूर्वोक्त स्थानोंमें विभ्रामरूप ठहराये हुए लक्ष्यको (चिंतनने योग्य ध्येय वस्तुको) विस्तारते हुए मुनिके स्वसवेदनरूप ध्यानक कारण बहुत ही उत्पन्न होते हैं ।

भाषार्थ—जिसका ध्यान किया चाहे उसकी ही निद्रि होती है ॥ १४ ॥

इसप्रकार प्रत्याहारधारणाका वर्णन किया ॥

होता ।

आत्मभादि दश ध्यानमें, ध्येय ध्यापि मन लार ।

प्रत्याहार तु धारणा यह ध्यानविस्तार ॥ ३० ॥

इति श्रीगुणबद्रापायनिरक्षिते योगप्रदीपाधिनारे ज्ञानाणवे प्रत्याहार

धारणावर्णन नाम त्रिंश प्रकरण समाप्तम् ॥ ३० ॥

अथैकत्रिंश प्रकरणम् ।

आगे दीर्घसहित ध्यान करनेका वर्णन है, उसमें प्रथम ही ध्या करनेकी प्रतिज्ञा करनेका निधान कहते हैं,—

अनन्तगुणराजीवमधुरप्यत्र यश्चित ।

अतो भवमहाकक्षे प्रागह कर्मवैरिभिः ॥ १ ॥

अर्थ—ध्यान करनेका उद्यमी प्रथम ही ऐसा विचार करे कि—भहो दस्तो ' यह क्या रोद है जो मैं अनन्तगुण रूप कमलोंका बहुत बिका करेनाले सुखममान हूँ तथापि इस समारूप बनम कमरूप शत्रुओंक द्वारा पूर्वकालमें टगा गया हूँ ॥ १ ॥

स्वविभ्रमसमुद्भूतैरागाद्यतुल्यमन्यै ।

यद्वो विदग्धित कालमनन्त जन्मदुर्गमे ॥ २ ॥

अर्थ—तत्त्वज्ञान फिर विचार कि—मैंने अपने ही विभ्रममें उत्पन्न हुए रागादि अनुल्लापनोंमें बँधे हुए अनन्तकाल पयन्त समारूप दुःख मार्गमें विडगना रूप होकर विपरीताचरण किया ॥ २ ॥

अथ रागज्वरो जीर्णो मोहनिद्राद्य निर्गता ।

ततः कर्मरिपु हन्मि ध्याननिस्त्रिंशधारया ॥ ३ ॥

अर्थ—फिर ऐसे विचारों से इस समय मेरे रागरूपी ज्वर तो जीर्ण होया और मोहरूपी निद्रा निकल गई है इस कारण ध्यानरूपी खड्गकी धारासे कर्मरूपी वैरसे मारता हूँ ॥ ३ ॥

आत्मानमेव पश्यामि निर्भूयाज्ञानज तमः ।

होपयामि तथात्युग्र कर्मेन्धनसमुत्करम् ॥ ४ ॥

अर्थ—तथा अज्ञानसे उत्पन्न हुए अन्धकारका दूर करके आत्माहीको भरलोका करू तथा अति तीव्र कर्मरूपी इधनके समूहको दग्ध करता हूँ ॥ ४ ॥

प्रपल्लध्यानयज्ञेण दुरितद्रुमसक्षयम् ।

तथा कुर्मो यथा दत्ते न पुनर्भवसंभवम् ॥ ५ ॥

अर्थ—तथा प्रपल्लध्यानरूपी यज्ञसे पापरूप वृक्षोंका क्षय (नाश) ऐसा करू कि शिवसे फिर संसार उत्पन्न होने रूप फल न दे ॥ ५ ॥

जन्मज्वरसमूद्भूतमहामूर्च्छान्धनक्षुधा ।

स्थविज्ञानोद्भूत साक्षान्मोक्षमार्गो न वीक्षितः ॥ ६ ॥

अर्थ—फिर ऐसा विचारों से समारूपी ज्वरसे उत्पन्न हुई मूर्च्छासे भय होगा है नष्ट शिवसे ऐसा जो मैं उगने अपने भेदविज्ञानसे उत्पन्न हुए साक्षात् मोक्षमार्गको नहीं देखा ॥ ६ ॥

मयात्मापि न विज्ञातो विश्वलोकैकलोचनः ।

अत्रिचायिपमप्राप्तदन्तपर्यितचेतसा ॥ ७ ॥

अर्थ—मैंने भग आत्मा समस्त लोकोंको देखनेके लिये एक अग्निवीर नेत्र है जो ऐसेको भी अविद्या (मिथ्याज्ञान) रूपी प्रादुर्भूत दर्शनादि बाधित किया है बिना शिवका ऐसा इन्द्र नेत्र नहीं जाना ॥ ७ ॥

निर इन्द्रधार विचारि हि—

परमात्मा परज्योतिर्गज्ज्योत्तोऽपि चक्षितः ।

आद्यानमाश्रम्यैस्तैर्विषयैरन्मनीरमे ॥ ८ ॥

अर्थ—नग आत्मा परमात्मा है, परमज्योतिष्प्राप्तमन्त्र है, जगत्तम ज्योति है, मया है जो मैंने वर्तमान अन्धकार रमणीय और अनर्थ नीरम ऐसे इन्द्रियों शिवसे दृष्ट कर हूँ ॥ ८ ॥

अहं च परमात्मा च द्वावेतौ ज्ञानलोचनौ ।

अतस्त ज्ञातुमिच्छामि तत्स्वरूपोपलब्धये ॥ ० ॥

अर्थ—मैं और परमात्मा दोनों ही ज्ञाननेत्राले हैं इसकारण अपने आत्माको उस परमात्माके स्वरूपकी प्राप्तिके लिये जाननेकी इच्छा करता हूँ इसप्रकार विचारें ॥ ० ॥

मम शक्त्या गुणग्रामो व्यक्त्या च परमेष्ठिन ।

एतावानावयोर्भेद शक्तिव्यक्तिस्वभावतः ॥ १० ॥

अर्थ—अनन्तचतुष्टयादि गुणोंका समूह मेरा तो शक्तिकी अपेक्षा नियमान है और परमेष्ठी अरहन्त निद्रोंके व्यक्तिके प्रगट है, हम दोनोंमें यह शक्ति और व्यक्तिके स्वभावसे ही भेद है बाल्यमें शक्तिकी अपेक्षा अभेद है ॥ १० ॥

उक्तं च ।

नास्तत्पूर्वाश्च पूर्वा नो निर्दिशेयविकारजाः ।

स्याभाविकविशेषा अभूतपूर्वाश्च तद्गुणाः ॥ १ ॥

अर्थ—तद्गुण कहिये जो आत्माके गुण हैं वे जिनके विशेष नहीं हैं और विकारमे उत्पन्न हुए मतिज्ञानादिक हैं वे समारी जीवोंके साधारण हैं तो ये गुण तो असत्पूर्व कहिये अपूर्व नहीं हैं विद्यमान हैं तथा पूर्वम नहीं भी ये, नवीन भी उत्पन्न होते हैं और स्वभाविक हैं वे विशेष अनन्त ज्ञानादिक हैं तो ये अभूतपूर्व हैं पूर्वमें कभी प्रगट नहीं हुए ऐसे नवीन हैं । भावार्थ—द्रव्य अनादिनिधन हैं उनमें जो पयाय हैं वे क्षणभंगम उत्पन्न होते और विनश्यते हैं उनमें त्रिकालत्रयी पर्याय हैं वे शक्तिकी अपेक्षा मन्त्रूप एकही कालमें कहे जाते हैं और व्यक्तिकी अपेक्षा जिन काल जो पयाय होता है वही मन्त्रूप कहा जाता है तथा भूत भविष्यत्के पर्याय असत्त्रूप कहे जाते हैं इसप्रकार शक्तिकी अपेक्षा सत्का उत्पन्न होना, व्यक्तिकी अपेक्षा अमन्त्रका उत्पन्न होना कहा जाता है इसीप्रकार द्रव्यकी अपेक्षा सत्का उत्पाद और पयायकी अपेक्षा असत्का उत्पाद कहा जाता है यही इस श्लोकका आशय है । इसप्रकार आत्मद्रव्यम भी सामान्यतासे मति ज्ञानादिक गुण भूतपूर्व कहे जाते हैं तथा अभूतपूर्व भी कहे जाते हैं किन्तु बाल्यमें अनन्तचतुष्टयादिकरी अभूतपूर्व कहे जाते हैं ऐसे नयविभागसे बाल्यका स्वरूप जानना ।

तायन्मा पीडयत्येष भ्राताहो भयोद्भव ।

यावज्ज्ञानसुखाम्भोषो नावगाहः प्रघर्तते ॥ ११ ॥

अर्थ—तत्सम्बन्ध ऐसा विचार करे कि—जयतश्च ज्ञानरूपी सनुदने मेरा अवगाह (घान करना) नहीं होता तबतक ही मुझे सत्कारसे उत्पन्न हुआ दाह पीडित करता है ॥ ११ ॥

अर्थ—शक्ति और व्यक्तिकी विज्ञानमे तीन कालमे गौर माझा सामान्य नयन (द्रव्यार्थिकनयने) एक परमात्माका ही ध्यान करै, अभ्यास करै भावार्थ—यद्यपि ससार मुक्तकी अपेक्षासे आत्मानें भेदनयसे भेद है तथापि शक्ति व्यक्तिके मा मान्य नयकी (द्रव्यार्थिक नयकी) विज्ञानमे त्रिकालवर्ती आत्मा एक ही है, सारी मुक्तका भेद नहीं करना अर्थात् ससारअस्थाय तौ शक्तिरूप परमात्मा है, और मुक्त अस्थाय व्यक्तरूप परमात्मा है अभेदनयकी अपेक्षा आत्माने भेद नहीं है इसप्रकार ससार अस्थाय भी आत्माने सिद्धमान ध्याये ॥ २१ ॥

साकार निर्गताकार निष्क्रिय परमाक्षरम् ।

निर्विकल्प च निरुक्त्य नित्यमानन्दमन्दिरम् ॥ २२ ॥

विश्वरूपमविज्ञातस्वरूप सर्वदोदितम् ।

कृतकृत्य शिव शान्त निष्कल कर्णच्युतम् ॥ २३ ॥

नि शेषभवसम्भूतक्लेशद्रुमलताशनम् ।

शुद्धमत्यन्तनिर्लेप ज्ञानराज्यप्रतिष्ठितम् ॥ २४ ॥

विशुद्धादर्शसक्रान्तप्रतिषिन्ध्यसमप्रभम् ।

ज्योतिर्मय महावीर्य परिपूर्ण पुरातनम् ॥ २५ ॥

विशुद्धाष्टगुणोपेत निर्द्वन्द्व निर्गतामयम् ।

अप्रमेय परिच्छिन्न विश्वतत्त्वव्यवस्थितम् ॥ २६ ॥

यदग्राह्य महिर्भायैर्ग्राह्यचान्तर्मुखै क्षणात् ।

तत्स्वभावात्मक साक्षात्स्वरूप परमात्मनः ॥ २७ ॥

अर्थ—परमात्मा कैसा है, उसका स्वरूप कहते हैं प्रथम तौ साकार है (आकार सहित है अर्थात् शरीराकार मूर्ती है) तथा निर्गताकार कहिये निराकार भी है पुत्र लके आकारकी समान उसका आकार नहीं है निष्क्रिय है (क्रियासे रहित है), परमाक्षरस्वरूप है, निरुत्परहित है, निष्कम्प है, नित्य है, आनन्दका घर है ॥ २२ ॥ तथा विश्वरूप है, समस्त जेवोंके (पदार्थोंके) आकार निमग्न प्रतिबिम्बित है, तथा अविज्ञात स्वरूप है, अर्थात् जिसका स्वरूप मिथ्या दृष्टियोंने नहि जाना ऐसा है, तथा सदा फल उदयरूप है, कृतकृत्य है, (निमको कुछ भी करना नहीं रहा है), तथा शिव है, पल्याणरूप है, शांत है (सोमरहित है), निष्कल कहिये शरीररहित है, तथा कर्णच्युत कहिये शोकरहित है, अथवा कर्णच्युत कहिये इन्द्रियरहित है ॥ २३ ॥ तथा समस्त भवोंसे (जन्ममरणोंमें) उत्पन्न हुए जेशरूप वृक्षाको दग्ध करनेके लिये अग्निके समान

है तथा शुद्ध है, कर्मरहित है, और अत्यन्त निर्लेप है अर्थात् जिसके कोई कर्मरूपी लेप नहीं लगता, तथा ज्ञानरूपी राज्यमें अर्थात् सर्वज्ञतामें स्थित है ॥ २४ ॥ तथा निम्नलक्षणे प्राप्त हुए प्रतिबिम्बकी समान प्रभावात्मा है तथा ज्योतिर्मय है अर्थात् जिसका ज्ञान प्रकाशरूप है, तथा अनन्त वीर्ययुक्त है, तथा परिपूर्ण है जिसके कुछ भी अवयव (अंग) घटते नहीं, तथा पुरातन है, अर्थात् किसीने नया नहीं बनाया ऐसा है ॥ २५ ॥ तथा निम्नलक्षणादि अष्ट गुणसहित है निर्द्वन्द्व है साक्षात्कृते रहित है, रोगरहित है, अप्रमेय है, अर्थात् जिसका प्रमाण नहीं किया जा सकता, तथा परिज्ञात है अर्थात् भेदज्ञानी पुरुषोंके द्वारा जाना हुआ है, तथा समस्त तत्त्वोंसे व्यवस्थित है अर्थात् निश्चयरूप है ॥ २६ ॥ तथा बाधभावोंसे तो ग्रहण करने योग्य नहीं है, और अन्तरंगभावोंसे क्षणमात्रमें ग्रहण करने योग्य है इसप्रकार परमात्माका स्वरूप है सो यह स्वरूप ससार अवस्थाने तौ स्वरूप है और मुक्त अर्थाने व्यक्तरूप है, ऐसा जानकर ध्यानगोचर करना चाहिये ॥ २७ ॥

तथा फिर भी कहते हैं,—

अणोरपि च यः सूक्ष्मो महानाकाशतोऽपि च
जगद्वन्धः स सिद्धात्मा निष्पन्नोऽत्यन्तनिर्धृतः ॥ २८ ॥

अर्थ—जो सिद्धस्वरूप परमाणुसे तो सूक्ष्मस्वरूप है, और आकाशसे भी महान् है, वह सिद्धात्मा जगत्से घटने योग्य है, निष्पन्न है, अत्यन्त सुखमय है ॥ २८ ॥

यस्याणुध्यानमात्रेण शीर्यन्ते जन्मजा रुजः ।
नान्यथा जन्मिना सोऽयं जगता प्रसुरच्युतः ॥ २९ ॥

अर्थ—जिसके ध्यानमात्रसे जीवोंके समारसे उत्पन्न हुए रोग नष्ट हो जाते हैं अन्य प्रकार नष्ट नहीं होते वही यह त्रिभुवनका नाश करिवासी परमात्मा है ॥ २९ ॥

विज्ञातमपि निःशेषं यदज्ञानादपार्थक्यम् ।
परिमृश्य विदिने विश्वं ज्ञातमेव न संशयः ॥ ३० ॥

अर्थ—जिस परमात्मा जाने बिना अन्य समस्त जाने हुए वस्तु भी निरर्थक और हममें कोई संदेह नहीं कि जिसका स्वरूप जाननेसे मनसा विश्व जाना जाता है ॥ ३० ॥

यत्स्वरूपापरिज्ञानात्मात्मनश्चे स्थितिर्भवेत् ।
यज्ज्ञात्वा मुनिभिः साक्षात्प्राप्तं तस्यैव वैभवं ॥ ३१ ॥

अर्थ—जिम परमात्माका स्वरूपके जाने बिना आत्मतत्त्वमें स्थिति नहीं होती है और जिसको जान करके मुनिजनोंसे उत्तरे ही वैभवको (परमात्माके स्वरूपको) माग्य प्राप्त किया है ॥ ३१ ॥

स ण्य नियत ध्येयः स विज्ञेयो मुमुक्षुभिः ।

अनन्यशरणीभूय तद्गतेनान्तरात्मना ॥ ३२ ॥

अर्थ—मुक्ति की इच्छा करनेवाले मुनिजनों को वह परमात्मा ही नियमसे ध्यान करने योग्य है अतएव अन्य समस्त शरण छोड़कर उसमें ही अपने अन्तरात्मा को प्राप्त करने जानना चाहिये ॥ ३२ ॥

अथागोचरमव्यक्तमनन्त शब्दवर्जितम् ।

अज जन्मभ्रमातीत निर्ऋतप विचिन्नेत्येत् ॥ ३३ ॥

अर्थ—जो वचनके गोचर नहीं, पुद्गलके समान इन्द्रियगोचर नहीं ऐसा अव्यक्त है, जिसका अन्त नहीं है, जो शब्दसे वर्जित है अर्थात् जिसमें शब्द नहीं, निमित्त जन्म नहीं ऐसा अज है, तथा भ्रमभ्रमणसे रहित है, ऐसे परमात्मा को जिसप्रकार निर्विकल्प हो, उस प्रकार ही चिन्तन करें ॥ ३३ ॥

यद्बोधानन्तभागेऽपि द्रव्यपर्यायसमृत्तम् ।

लोकालोक स्थितिं धत्ते स स्याद्वैश्वरूपीगुरुः ॥ ३४ ॥

अर्थ—जिस परमात्मा ने ज्ञानके अनन्तर भागमें द्रव्य पर्यायोंसे भरा हुआ वह लोक स्थित है, वही परमात्मा तीन लोकका गुरु है भावार्थ—त्रिकालवर्ती अनन्त द्रव्य पर्यायोंसहित यह लोकालोक जिस ज्ञानमें एक कालपरमाणुके समान प्रतिभासता है ऐसा वैश्वज्ञान जिस परमात्मा के है वही तीन लोकका स्वामी है ॥ ३४ ॥

तत्स्वरूपाहितस्यान्तस्तद्रूपग्राह्यमरक्षितः ।

यो जयत्यात्मनात्मानं तस्मिन्स्तद्रूपसिद्धये ॥ ३५ ॥

अर्थ—ध्यानी मुनि उस परमात्मा के स्वरूपमें मन लगाकर उसके ही गुणप्राप्तों पर जयमान हो उसमें ही अपने आत्मा को आपहीसे उस स्वरूप की सिद्धि के लिये जोड़ता है अर्थात् तट्टीन होता है ॥ ३५ ॥

इत्यजस्र स्मरन्योगी तत्स्वरूपावलम्बितः ।

तन्मयत्यमयामोति ग्राह्यग्राह्यकवर्जितम् ॥ ३६ ॥

अर्थ—इसप्रकार निरंतर स्मरण करता हुआ योगी (मुनि) उस परमात्मा के स्वरूप अखण्डतसे युक्त होकर उसमें तन्मयत्वको प्राप्त होता है कैसा होता है कि,—यह परमात्मा का रूप है, सो तो मेरे ग्रहण करने योग्य है और मैं इसका ग्रहण करनेवाला हूँ ऐसे ग्राह्यग्राह्यभावमें वर्जित (रहित) होता है, अर्थात् द्वैतभाव नहीं रहता ॥ ३६ ॥

अनन्यशरणीभूय स तस्मिन्हीयते तथा ।

अर्थ—यह ध्यान करनेवाला गुण अन्य सबका धारण छोड़कर उस परमात्मस्वरूप में एका गीत होता है कि,—ध्याता और ध्यान इन दोनोंके भेदका अभाव होकर ध्येय स्वरूप एवसाके प्राप्त हो जाता है । भावार्थ—ध्याता ध्यान ध्येयका भेद न रहे ऐसे गीत होता है ॥ १७ ॥

नोऽयं समरसीभाषस्तदेकीकरण स्मृतम् ।

अपृथग्रत्वेन यथात्मा लीयते परमात्मनि ॥ ३८ ॥

अर्थ—जिस भाषने आत्मा अभिप्रायसे परमात्माने लीन होता है, वह समरसी-भाष आत्मा और परमात्माका समानतास्वरूप भाष है सो उस परमात्मा और आत्माको एक करने स्वरूप कहा गया है । भावार्थ—इस समरसीभावसे ही आत्मा परमात्मा होता है ॥ ३८ ॥

अनन्यधारणस्त्वदि तत्सत्त्वीनैकमानसः ।

तद्गुणस्तत्त्वभाषात्मा स तादात्म्याय सयसन् ॥ ३९ ॥

अर्थ—जब आत्मा परमात्माके ध्यानमें लीन होता है तब पृथीकरण कहा है, सो यह पृथीकरण अनन्यधारण है परमात्माके सिवाय अन्य आश्रय नहीं है उसमें ही निमग्न मन लीन है ऐसा तथा तद्गुण कहिये उस परमात्माके ही अनन्त ज्ञानादि गुण निमग्न है ऐसा है, तथा उसका गुण स्वरूप आत्मा ही है, और सत्यव्यवस्थासे वह परमात्मा ही है । इसप्रकार परमात्माके ध्यानमें आत्मा परमात्मा होता है ॥ ३९ ॥

वटस्य कर्त्तामिनि सयन्ध स्याद्दुयोर्धयो ।

ध्यान ध्येय यदासीय सयन्ध कीदृशस्तदा ॥ ४० ॥

अर्थ—जो बोध होता है कि मैं वट कहिये वटाई अधरा कडे आदिका कर्त्ता हूँ तो उस पुरख और वटका कर्त्ता कम संबंध कहा जाता है और ध्यान तथा ध्येय जब एक आत्मा ही हो तथा दोनों भावोंमें क्या संबंध कहा जाय? अर्थात् कुछ भी संबंध नहीं है क्योंकि संबंध तो दो वस्तुओंमें होता है, एक ही पदार्थमें संबंधतत्त्वभीभाव नहीं होता ॥ ४० ॥

शिरारिणा ।

पदज्ञानाज्जन्मी भ्रमति निषत जन्मगहने

विदित्वा य सद्यस्त्रिदशशुरुतो याति मुक्ताम् ।

स विज्ञेयः साभात्सकलभुवनानन्दनित्य

पर ज्योतिस्त्राता परमपुरुषोऽचिन्त्यधरित ॥ ४१ ॥

अर्थ—जिस परमात्माके ज्ञान बिना यह प्राणी ससाररूप गहन बनन नियमसे भ्रमण

करना है तथा चित्त परमात्माको जाननेसे जीव तत्काल इन्द्रो भी अधिक मंद
 प्रान्त होता है, उसे ही साक्षात् परमात्मा जानना वही समस्त सोचको भाग्य
 बना निकामग्रहण है वही परम ज्योति (उत्कृष्ट स्वरूप प्रकाशसहित) है, और
 ज्ञान (गुरु) है परम पुत्र है, अनित्यपरित है अर्थात् निमग्न परित कि
 विच्छिन्न नही आता ऐसा है ॥ ४१ ॥

इत्थ यथावच्छिन्नभावनाभिर्भयन्युत्तम् ।

भावयत्यनिश ध्यानी तत्सवीर्यं प्रकीर्तितम् ॥ ४२ ॥

अर्थ—इस प्रकार प्रसारने जो ध्यानी (मुनि) संगारहित परमात्माको भाग्य
 करता है, तभी तभी ध्यान कहा गया है अर्थात्—भयने पु
 रस्से बंधा हुआ परमात्मा भाग्य करता ही रहे क्योंकि, जयतक ध्यानम वि
 रत है तबतक ही ध्यान होता है, और भाग्य सदा रहती है ॥ ४२ ॥

तोषः ।

यथावच्छिन्न ध्यानी मुनि शुद्ध भावना जोय ।

कमलतिष्ठ परमुत्तमसहित, तब तैसा ही होय ॥ ४३ ॥

इति श्रीगुप्तसंज्ञक श्रीमद्विष्णुयोगीश्वरिचारे शास्त्राग्रे सतीत यत्न

यत्न नाम पञ्चविंश प्रकरणम् ॥ ३१ ॥

अथ द्वात्रिंश प्रकरणम् ।

— — —

अथ श्रीगुप्तसंज्ञक श्रीमद्विष्णुयोगीश्वरिचारे शास्त्राग्रे सतीत यत्न
 यत्न नाम पञ्चविंश प्रकरणम् ॥ ३१ ॥

अथ श्रीगुप्तसंज्ञक श्रीमद्विष्णुयोगीश्वरिचारे शास्त्राग्रे सतीत यत्न

यत्न नाम पञ्चविंश प्रकरणम् ॥ ३१ ॥

अर्थ—इस प्रकार प्रसारने जो ध्यानी (मुनि) संगारहित परमात्माको भाग्य
 करता है, तभी तभी ध्यान कहा गया है अर्थात्—भयने पु
 रस्से बंधा हुआ परमात्मा भाग्य करता ही रहे क्योंकि, जयतक ध्यानम वि
 रत है तबतक ही ध्यान होता है, और भाग्य सदा रहती है ॥ ४२ ॥

अथ श्रीगुप्तसंज्ञक श्रीमद्विष्णुयोगीश्वरिचारे शास्त्राग्रे सतीत यत्न

यत्न नाम पञ्चविंश प्रकरणम् ॥ ३१ ॥

अर्थ—इस प्रकार प्रसारने जो ध्यानी (मुनि) संगारहित परमात्माको भाग्य

पुरुषके आत्मा निधय उहरना नहीं होता और अन्तरङ्गन शरीर और आत्माको भिन्न २ करने व समझनेमें मोहको प्राप्त होकर भूल जाता है कि,—इस देहमें द्रव्यइन्द्रिय, भावइन्द्रिय, द्रव्यमन, भावमन, दर्शन, ज्ञान, सुख, दुःख, बोध, मान, भाषा, लोभ, राग, द्वेष, अज्ञान आदि जो अनेक भाव दीखते हैं, इनमेंसे आत्मा कौनमा है इसप्रकार भ्रम उत्पन्न होता है इस कारण, पहिले आत्माका निधय करना चाहिये ॥ २ ॥

तयोर्भेदापरिज्ञानाद्वात्मलाभ प्रजायते ।

तद्भावात्सर्वविज्ञानसूतिं स्वप्नेऽपि दुर्घटा ॥ ३ ॥

अर्थ—उस देह और आत्माके भेदविज्ञान विना आत्माका लाभ (प्राप्ति) नहीं होता, और आत्माके लाभ विना भेदविज्ञानकी उत्पत्ति स्वप्नमें भी दुर्घट है, अर्थात् दुर्लभ है ॥ ३ ॥

अतः प्रागेव निधेय सम्यगात्मा मुमुक्षुभिः ।

अशेषपरपर्यायकल्पनाजालवर्जितः ॥ ४ ॥

अर्थ—इस कारण प्रथम ही मोहामित्तावियोंको समस्त परद्वयोंकी व्यापकल्पनाओंसे रहित आत्माका ही निधय करना चाहिये ॥ ४ ॥

त्रिप्रकारं स प्रवृत्तेषु सर्वेष्व्वात्मा व्यवस्थितः ।

परिरन्तः परश्चेति पिकल्पैर्यक्ष्यमाणकैः ॥ ५ ॥

अर्थ—वह आत्मा समस्त देहाधारियोंमें परिरात्मा, अन्तरात्मा व परमात्माके भेदने तीन प्रकारसे व्यवस्थित (अवस्थारूप) है तो भागे वरे भेदोंसे जानना ॥ ५ ॥

आत्ममुद्दिः शरीरादौ यस्य स्यादात्मविभ्रमात् ।

परिरात्मा स विज्ञेयो मोहनिद्रास्तथेतनः ॥ ६ ॥

अर्थ—जिस जीवके शरीरादि परपदार्थोंमें आत्माके भ्रम आत्ममुद्दि हो कि वह मैं ही हूँ अन्य अर्थात् पर नहीं है तो मोहरूपी निद्रासे अज्ञ हो गये है येतन जिसकी लक्षण परिरात्मा है ॥ ६ ॥

परिर्मायानतिवृत्त्या यस्यात्मन्यात्मनिधयः ।

सोऽन्तरात्मा मनस्तज्ज्ञैविभमध्यान्मभास्करः ॥ ७ ॥

अर्थ—तथा जिस पुरुषके बाह्य भावोंको उत्पन्न करने आत्माका ही आत्माका निधय है तो विभमरूप अधकारको दूर करने सूर्यके समान जो आकाश जगत्में उपस्थित अन्तरात्मा कहा है ॥ ७ ॥

निर्लेपो निष्कलः शुद्धो निष्पक्षोऽख्यन्निर्गुणः ।

निर्विकल्पश्च शुद्धात्मा परमात्मेति वर्णिता ॥ ८ ॥

अर्थ—और जो निर्लेप है अर्थात् जिमके कर्मोंका लेप नहीं, निष्फल कहिये शरीर हित है, शुद्ध है, जिसके रागादिक विकार नहीं है, तथा जो निष्पत्र है अर्थात् सिद्धरूप है (जिसको कुंठ करना नहीं,) और अत्यन्त निर्द्वन्द्व है अर्थात् अविनाशी स्वरूप है तथा निर्विकल्प है अर्थात् जिममें भेद नहीं है ऐसे शुद्धात्माको परमात्मा कहा गया है ॥ ८ ॥

कथं तर्हि पृथक् कृत्वा देहाद्यर्थरुदम्बकात् ।

आत्मानमभ्यसेद्योगी निर्विकल्पमतीन्द्रियम् ॥ ९ ॥

अर्थ—यहां प्रश्न है कि यदि आत्मा ऐसा है तो आत्माको देहादिक पदार्थोंके समूहसे पृथक् करके निर्विकल्प अतीन्द्रिय ऐसा किस प्रकार ध्यान करें ? उसका उत्तर कहते हैं,—

अपास्य बहिरात्मानं सुस्थिरेणान्तरात्मना ।

ध्यायेद्विशुद्धमत्यन्तं परमात्मानमव्ययम् ॥ १० ॥

अर्थ—योगी मुनि बहिरात्माको छोड़कर मलेप्रकार सिर अन्तरात्मा होकर अत्यन्त विशुद्ध अविनाशी परमात्माका ध्यान करें ॥ १० ॥ सो ही कहते हैं,—

सयोजयति देहेन चिदात्मानं विमूढधी ।

बहिरात्मा ततो ज्ञानी पृथक् पश्यति देहिनाम् ॥ ११ ॥

अर्थ—जो बहिरात्मा है सो चैतन्यस्वरूप आत्माको देहके साथ संयोजन करता है (जोड़ता है) अर्थात् एक समझता है और जो ज्ञानी है (अन्तरात्मा है) सो देहमें देहीको (चैतन्यस्वरूप आत्माको) पृथक् ही देखता है यही बहिरात्मा और अन्तरात्माके ज्ञाना भेद है ॥ ११ ॥

अक्षगारैरविश्रान्तं स्वतत्त्वविमुक्तैर्भूषणम् ।

व्यापृतो बहिरात्मा यपुरात्मेति मन्यते ॥ १२ ॥

अर्थ—यह बहिरात्मा आत्मस्वरूपमें अनिश्चयरूपके निरन्तर निपुण इन्द्रियोंके द्वारा व्यापाररूप हुए शरीरको ही आत्मा मानता है ॥ १२ ॥

सुर त्रिदशपर्यायैर्नृपर्यायैस्तथा नरम् ।

तिर्यक्ष च तदङ्गे न्न नारकाङ्गे च नारकम् ॥ १३ ॥

चेत्यपि चापरिश्रान्तो मुहम्मग्न पुनस्तथा ।

किन्त्यमुर्न व्यमयेद्य तद्रूपं परिकीर्तितम् ॥ १४ ॥

अर्थ—अग्निदाने (विष्णुनामाने) परिश्रान्त (भोगुणित) मूल बहिरात्मा देह पर्यायैर्नृपर्यायैस्तथा नरम् और मनुष्यप्राणीमणित अर्थात् मनुष्य मनुष्य है तथा तिर्यक्ष अग्ने रूपमें तृणको तिर्यक्ष और मारुतोंके गतीरूप रूपमें तृणको मारुत

मानता है सो भ्रम है क्योंकि, पर्यायका रूप आत्माका रूप नहीं है आत्माका रूप तो अमूर्तीक है, मयसवेय है, अयान् अपनेही द्वारा अपनेको जाननेयोग्य है ॥ १३-१४ ॥

स्यशरीरमिचान्विष्य पराङ्ग च्युतचेतनम् ।

परमात्मानमज्ञानी परबुद्ध्याऽध्ययस्यति ॥ १५ ॥

अर्थ—तपा बही घटिरात्मा अज्ञानी जिसप्रकार अपने शरीरको आत्मा जानता है उसीप्रकार परके अचेतन देखको देखकर परका आत्मा मानता है अथात् उसको परकी बुद्धिसे निश्चय करता है ॥ १५ ॥

स्वात्मेतरविकल्पैस्तै शरीरेष्ववलम्बितम् ।

प्रपृक्षैर्धृष्टित विश्वमनात्मन्यात्मदर्शिभि ॥ १६ ॥

अर्थ—अपने शरीरमें सो अपना आत्मा जाने और परके शरीरमें परका आत्मा जाने इसप्रकार शरीरोंमें अवलम्बनस्वरूप प्रपृक्षे हुए विकल्पोसे अनात्मानमें आत्माके देखने वाले अज्ञानी जनोंने इस लोकको टग लिया ॥ १६ ॥

तत मोऽत्यन्तभिनेषु पशुपुत्राङ्गनादिषु ।

आत्मत्व मनुते शब्दविद्याञ्चरजिह्वित ॥ १७ ॥

अर्थ—इस कारणसे मिथ्याज्ञानरूपी ज्वरसे निरतर पीडित होकर वह घटिरात्मा अज्ञानी अपनेसे अत्यन्त भिन्न पशु पुत्र स्त्री आदिकमें भी आत्मपना मानता है ॥ १७ ॥

साक्षात्स्थानेय निश्चित्य पदार्थोच्चेतनेतरान् ।

स्वस्थैव मन्यते मूढस्तज्ज्ञाशोपचयादिकम् ॥ १८ ॥

अर्थ—यह मूढ घटिरात्मा अपनेमें भिन्न चेतन अचेतन पदार्थोंको साक्षात् अपने ही निश्चय करके उनके नाश होने और संचय होनेमें अपना ही नाश और संघय होना मानता है ॥ १८ ॥

अनादिमभयं सोऽपमविषाविषमग्रहं ।

शरीरादीनि पश्यन्ति येन स्वमिति देहिना ॥ १९ ॥

अर्थ—यह पूर्वोक्त अनादिसे उत्पन्न हुआ अनिषारूपी विषम आग्रह है जिसके द्वारा यह मूढ प्राणी शरीरादिकको अपना मानता है अथात् यह शरीर है सो गैदी ह इसप्रकार देखता है ॥ १९ ॥

यपुण्यात्मेति विज्ञान यपुषा घटयत्यमून् ।

स्यस्मिन्नात्मेति बोधस्तु भिन्नत्पद्म शरीरिणाम् ॥ २० ॥

अर्थ—शरीरमें यह अत्मा है ऐसा ज्ञान तो जीवोंमें शरीरस्थित करता है और आपमें ही आप है, अथात् आत्मामें ही आत्मा है इसप्रकारका विज्ञान जीवोंको शरीरसे भिन्न करता है ॥ २० ॥

वपुष्यात्ममतिः सूते बन्धुवित्तादिकल्पनम् ।

स्वस्य सपदमेतेन मन्वान मुपित जगत् ॥ २१ ॥

अर्थ—शरीर जो आत्मबुद्धि है सो मनुष्य धन इत्यादिकहीं कल्पना उत्पन्न करता है तथा इस कल्पनासे ही जगत् अपने सम्पदा मानता हुआ उठा गया है ॥ २१ ॥

तनावात्मेति यो भाव स स्याद्बीज भवस्थिते ।

यद्विर्वीताक्षविक्षेपस्तत्तत्त्वान्तर्विशेत्तन ॥ २२ ॥

अर्थ—शरीरमें ऐसे भाव हैं कि—‘यह मैं आत्माही हूँ’ ऐसा भाव समाधि स्थितिना बीच है इसकारण, बाह्यम नष्ट हो गया है इन्द्रियोंका नियंत्रण ऐसा पुरुष उम भावरूप सत्ताके बीजको छोड़कर अन्तरगम प्रवेश करो, ऐसा उपदेश है ॥ २२ ॥

अक्षद्वारैस्ततश्च्युत्वा निमग्नो गोचरेष्वहम् ।

तानासाग्राहमित्येतन्न हि सम्यगवेदिषम् ॥ २३ ॥

अर्थ—शरीर इसप्रकार निवार करता है कि इन्द्रियोंके द्वारोंमें मैं आत्मरूप छूटकर निषेधोंमें मग्न होगया तथा उन निषेधोंको प्राप्त होकर यह अहंपदसे जाना जाय ऐसे आत्मस्वरूपको मलेप्रकार नहीं जाना ॥ २३ ॥

याद्यात्मानमपास्यैवमन्तरात्मा ततस्त्यजेत् ।

प्रकाशयत्यथ योगः स्वरूप परमेष्ठिन ॥ २४ ॥

अर्थ—इस पूर्वोक्तप्रकारमें बाह्यशरीरादिमें आत्मबुद्धिको छोड़कर अन्तरात्मा होता हुआ इन्द्रियोंके निषेधादिकम भी आत्मबुद्धिको छोड़ते इसप्रकार यह योग परमेष्ठिन स्वरूपको प्रकाश करता है ॥ २४ ॥

अथ इन्द्रियोंके निषेधोंमें आत्मबुद्धि किसप्रकार छोड़े सो कहते हैं,—

यद्यद्दृश्यमिदं रूपं तत्तदन्यन्न चान्यथा ।

ज्ञानमथ ध्येतीताक्षमम केनाऽथ बध्यमहम् ॥ २५ ॥

अर्थ—जो जो देखनेयोग्य वस्तु रूप है सो मो अथ है और ज्ञानभाव रूप है सो अन्यप्रकार नहीं है (अन्यरूप महत् नहीं है) यह ध्येयीताम है (इन्द्रियशान्त अतीत है) इसकारण मैं किसके साथ व्यवहार करूँ ? भावार्थ—मूर्त्तिक पदार्थ इन्द्रियोंके ग्रहण करनेयोग्य होता है सो वह तो ज्ञ है कुछ भी जाता नहीं है और मैं ज्ञा मूर्ति हूँ पुण्ड्रमूर्त्तिमें स्थित हूँ इन्द्रियें मुझे ग्रहण नहीं करती अर्थात् इन्द्रियोंमें मैं ज्ञान मूर्त्ति इसकारण परस्पर वार्तालाप किमने करूँ ? इसप्रकार विचार का निष्कर्ष अज्ञानविहीन है ॥ २५ ॥

यच्चनैरपि षोड्योऽह यच्चनान्योषयाम्पहम् ।

तदिध्रमपद यस्मादह विधुतकल्मष ॥ २६ ॥

अर्थ—जो 'लोगोंद्वारा मैं सचोपनेयोग्य हूँ तथा जो मैं लोगोंको सरोपता हूँ' ऐसा भाव है वह भी विध्रमका स्थान है । क्योंकि, मैं तो पापमें रहित हूँ अर्थात् आत्मा तो निष्कल है इसे कौन सचोपे ? और यह किसको सचोपे ? ॥ २६ ॥

यं स्वमेव समादत्ते नादत्ते यं स्वतोऽपरम् ।

निर्विकल्प स विज्ञानी स्वमवेष्टोऽस्मि केचलम् ॥ २७ ॥

अर्थ—जो आत्मा आपको ही प्रदण करता है तथा आपमें पर है उसको नरा प्रदण करता है सो यह विज्ञानी (भेदज्ञानी) विरत्परहित होकर, इगप्रकार भावना करता है कि—मैं एक अपने ही जाननेयोग्य हूँ इसप्रकार विचार कर परमें परस्पर देने लीला व्यवहार छोड़ देता है ॥ २७ ॥

जातसर्पमतेर्यद्वच्छृङ्खलाया त्रिषाध्रमः ।

तथैव मे त्रिषा पूर्वास्तन्वादी स्वमिति ध्रमात् ॥ २८ ॥

अर्थ—जिसकी साँबलमें सर्पकी बुद्धि है ऐसे पुरषके जो त्रिषाका भ्रम होता है, उगी प्रकार मेरे भी शरीरादिवमें आत्मबुद्धिरूप भ्रमते भेदज्ञान होगे पहिले ध्रमरूप त्रिषा अनेक हुए ॥ २८ ॥

शृङ्खलाया यथा गृत्तिपिनष्टे श्रुजगभ्रमे ।

तन्वादी मे तथा गृत्तिर्नष्टात्मविध्रमस्य वै ॥ २९ ॥

अर्थ—तथा जब साँबलमें सर्पका भ्रम था सो गए हो जानेपर साँबलमें त्रिषाका यथावत् प्रवृत्ति होती है उसीप्रकार मेरे शरीरादिवमें आत्मका भ्रम गए होकर मेरे भ्रममें रहित हो गया तब मेरे शरीरादिवमें यथावत् प्रवृत्ति होकर । उसको परदृष्ट रूप है तब ऐसी भावनासे परदृष्टका मन्त्र छोड़ें ॥ २९ ॥

एतदेवैव एकं द्वे बहूनीति धियं पदम् ।

नार यथात्मनात्मानं वेत्त्यात्मनि तदस्म्यहम् ॥ ३० ॥

अर्थ—तथा इसप्रकार विचार करें कि—एक तो गुरु है, एक तो है और एक पुत्र है तथा यह एक है, दो है, बहुत है ऐसे लिय और सरकारी बुद्धिका स्थान में नहीं है । क्योंकि मैं तो अपनेद्वारा अपनेको अपनीमें जानोपाला हूँ । इसप्रकार निराल्मका विस्त भी छोड़ें ॥ ३० ॥

पदयोधे मया सुप्त पदोधे पुनरतिधमम् ।

तद्रूपमपप्रत्यक्ष स्वसचेद्यमह बिह ॥ ३१ ॥

अर्थ—जिमरा ज्ञान नहीं होते तो मैं सोया और जिसके ज्ञान होते हुए मैं उठ (जगा) वह रूपभी मेरे जाननेयोग्य प्रत्यक्ष है वही मैं हूँ। इसप्रकार निवार करे ॥ ३१ ॥

ज्योतिर्मय ममात्मान पश्यतोऽत्रैव यान्त्यमी ।

क्षय रागादयस्तेन नाऽरिः कोऽपि प्रियो न मे ॥ ३२ ॥

अर्थ—फिर यह निचार नि—मैं अपनेको ज्योतिर्मय ज्ञानप्रकाररूप देखता हूँ। मेरे रागादिक इसीमें क्षय होने हैं इसकारण मेरे न तो कोई शत्रु है और न कोई मित्र है ॥ ३२ ॥

अदृष्टमत्सरूपोऽयं जनो नारिर्न मे प्रियः ।

साक्षात्सुदृष्टरूपोऽपि जनो भारिः सुहृन् मे ॥ ३३ ॥

अर्थ—नहीं देखा है मेरा स्वरूप जिसने ऐसा लोभ न तो मेरा शत्रु है न मित्र है और जिसने साक्षात् मेरा स्वरूप देखा वह लोक भी मेरा न शत्रु है और न मित्र है। इसप्रकार निवार करे ॥ ३३ ॥

अतःप्रभृति निःशेष पूर्व पूर्ण विचेष्टितम् ।

मयायज्ञाततत्त्वस्य भाति स्वप्नेन्द्रजालवत् ॥ ३४ ॥

अर्थ—यहासे लगाकर, तत्त्वस्वरूपके जाननेमें पहिले पहिले जो मैंने सारे प्रकारों को चेष्टा करी, अब स्वरूप जाननेमें मुझे वे सब स्वप्नमदृश अथवा इन्द्रजालप्रभृति मामनी हैं ॥ ३४ ॥

यो विशुद्ध प्रसिद्धात्मा पर ज्योति सनातनः ।

सोऽहं तस्मात्प्रपद्यामि स्थस्मिन्नात्मानमच्युतम् ॥ ३५ ॥

अर्थ—विशुद्ध है (निर्मल) और प्रसिद्ध है आत्मस्वरूप जिसका ऐसा परमप्रभृति सनातन जो सुननेमें आता है तो मैं ही हूँ इसकारण अपनेमें ही अविनाशी परमात्माको मैं प्रपद्यतया देखता हूँ इसप्रकार अपनेको ही परमात्मस्वरूप देखें ॥ ३५ ॥

पात्रात्मानमपि त्यक्त्वा प्रसन्नेनान्तरात्मना ।

विधूतकृपनाजाल परमात्मानमामनेत् ॥ ३६ ॥

अर्थ—निःकार आमाको भी छोड़कर प्रसन्नरूप अन्तरात्माके द्वारा निःकार कस्तनके जाल (मम) निम्ने ऐसे परमात्माको अभ्यागमोपर करे ॥ ३६ ॥

यन्प्रमोक्षायुभावैर्ना भ्रमेतरनिबन्धनी ।

यन्प्रश्न परमयन्पाङ्केदाभ्यामाज्ञात शिष्यम् ॥ ३७ ॥

अर्थ—यन् और यन् ये दोनों भ्रम और निर्भ्रम है कारण जिसका ऐसे है एतत् पाङ्केदवन्तो तो यन् है और पाङ्केदके भेदके अभ्यासमें यन् है ॥ ३७ ॥

अलौकिकमहो वृत्त ज्ञानिन केन वर्ण्यते ।

अज्ञानी पश्यते यत्र ज्ञानी तत्रैव मुच्यते ॥ ३८ ॥

अर्थ—अहो! देखो, ज्ञानी पुरषका यह बड़ा अलौकिक चरित्र जिसमें वर्णन किया जाय? क्योंकि, जिस आचरणमें अज्ञानी कमसे बँध जाता है उसी आचरणमें ज्ञानी बन्धसे छूट जाता है यह आश्चर्यकी बात है ॥ ३८ ॥

यच्चन्मगदने निवृत्त प्राज्ञया तु स्वसकुले ।

तदात्मेतरयोर्नूनमभेदेनावधारणात् ॥ ३९ ॥

अर्थ—फिर ऐसा विचार करे कि 'मैं' हुआसे अरे हुए इस सत्तारूप गहन वनमें जो जेद विवृत हुआ सो आत्मा और अजात्माने अभेदके द्वारा अवधारणासे हुए भेदविज्ञानके जेना ही सत्तामें हुआ हुआ है ऐसा निश्चय करे ॥ ३९ ॥

मयि सत्यपि विज्ञानप्रदीपे विश्वदर्शिनः ।

किं निमज्जत्यथ लोको घराको जन्मकर्ममे ॥ ४० ॥

अर्थ—मुझ समस्तको दिखानेवाले ज्ञानस्वरूप दीपकके होते हुए भी यह घराक लोक संसाररूपी कर्ममें क्यों डूबता है अथात् आत्माकी ओर क्यों नहीं देखता? जिनमें ज्ञानरूपी कर्ममर्म न डूबे इसप्रकार देखे ॥ ४० ॥

आत्मन्येषात्मनात्माप स्वयमेवानुभूयते ।

अतोऽन्यत्रैव मा ज्ञातु प्रयाम कार्पनिष्फल ॥ ४१ ॥

अर्थ—यह आत्मा आत्मामें ही आत्माके द्वारा स्वयमेव अनुभव किया जाता है इससे अन्यत्र आत्माने जाननेका जो रोना है सो कार्पनिष्फल है अथात् उराका फल प्राप्त नहीं है इसप्रकार जाने ॥ ४१ ॥

स एवाहं सण्धाहमित्यभ्यस्यन्नारतम् ।

यासना दृढयत्नेन प्राप्नोत्यात्मन्यवस्थितिम् ॥ ४२ ॥

अर्थ—'यही मैं हूँ, यही मैं हूँ' इसप्रकार निरन्तर अभ्यास करता हुआ पुरष वास्तवको दृढ़ करता हुआ आत्माके अवस्थितिको प्राप्त होता है अर्थात् दृढ़ होता है ॥ ४२ ॥

फिर भी विचार करता है,—

स्याद्यद्यत्प्रीतयेऽज्ञस्य तत्तदेयापदास्पदम् ।

बिभेत्यथ पुनर्पस्मिस्तदेवानन्दमन्दिरम् ॥ ४३ ॥

अर्थ—अज्ञानी पुरषके जो जो विषयादि बन्तु प्रीतिके अर्थ है यह वह जानिके आपदाका स्थान है तथा अज्ञानी जिस तपधरणादिमें बंध करता है वही ज्ञानीके आनन्दका स्थान है । क्योंकि, अज्ञानीको अज्ञानके कारण विषयय भागता है ॥ ४३ ॥

सुस्यूतेन्द्रियग्रामे प्रसन्ने चान्तरात्मनि ।

क्षण स्फुरति यत्तच्च तद्रूप परमेष्ठिन. ॥ ४४ ॥

अर्थ—मने प्रकार सरस्वती किये है इन्द्रियोंके स्थान निवृत्ति और भंडारने का (निपुण परिणामस्वरूप) अन्तरात्माके होनेपर जो उम समय तत्त्वका स्फुरण होता है वह पद्मेर्दका रूप है । भावार्थ—गुण नयके द्वारा क्षणमात्र भी अनुभा करण के गुणानुभा स्वरूप प्रतिमाता है वही परमेष्ठी अरहतमिदका स्वरूप है ॥ ४४ ॥

ग सिद्धात्मा पर सोऽहं योऽहं स परमेश्वर ।

मदन्यो न मयोपास्यो मदन्येन न श्याप्यहम् ॥ ४५ ॥

अर्थ—जो निद्रा आत्मस्वरूप है वही परमात्मा परमेश्वरस्वरूप में है और मुझे अन्य कोश उदरगता करने योग्य नहीं है तथा मुझमें अव्यक्त होने में उपागता करी योग नहीं है इसका अर्थ उपागता करी ॥ ४५ ॥

भाहूय गोचरत्वाद्यमुत्पादात्मानमात्मना ।

हरिभक्त्यै निरामृतमिदं नन्दमये ह्ययम् ॥ ४५ ॥

धर्म—इस इलाक़ के भारता के हि—में अपने आमाको इस्तिफाते निजकी
 करने के लिये वे लोग (कायक), आमाके द्वारा ही मैं विद्वान्मय आगे आगे
 निजका ह्म ह्म उग्रप्रकार वेगम और आनन्दमय निजकी होते ॥ ४९ ॥

नृपतिश्च न मां नेति यम्यतेत्येतिधमः ।

कुरुंगवि तगर्माग्र न न सुद्वेग यन्पनेः ॥ ४७ ॥

अर्थ—यसमात्र जो मुनि वृत्तप्रकाश आत्मको देखे भित्र ही जाता है
 ॥ १७ ॥

स्वरागन्धविज्ञानसुगन्धदाभिनन्दितः ।

मित्राये न तत्र कुर्यादपि हृदो शारिरी ॥ ४८ ॥

उत्तर—ये विज्ञानी मंत्र आना और पढ़ने अगदी ही विज्ञानका अंग है।
मन्त्रका द्वारा वे सब कारण सुभा नी गणित प्रमाण रूप (मोद २ भाग १) मिल
- - - - - ३ २ ॥

महामन्त्रिद्वयविशेषज्ञाना निजा सुनिर्मलम् ।

मन्त्रः ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥

[illegible]

निर्विकल्प मनस्तत्त्वं न विकल्पैरभिहितम् ।

निर्विकल्पमतं कार्यं सम्यक्त्वस्यैव सिद्ध्ये ॥ ५० ॥

अर्थ—निर्विकल्पमन तो तत्त्वस्वरूप है और जो मन विकल्पोसे पीड़ित है वह तत्त्वस्वरूप नहीं है, इसकारण सम्यक्प्रकार तत्त्वकी सिद्धिके लिये मनको विकल्प रहित करना यह उपदेश है ॥ ५० ॥

अज्ञानविमुक्तं येन स्वतत्त्वादपवर्त्तते ।

विज्ञानवासितं तद्वि पदयत्यन्तं पुरं प्रभुम् ॥ ५१ ॥

अर्थ—जो मन अज्ञाते विगड़ हुआ है (पीड़ित है) वह तो निजस्वरूपसे छूट जाता है और जो मन विज्ञान कहिये सम्यग्ज्ञानसे वासित है वह अपने अन्तरगम प्रभु भगवान् परमात्माको देवता है, यह विधि है इसकारण अज्ञानको दूर करना चाहिये ॥ ५१ ॥

मुनेर्यदि मनो मोहाद्वागाचैरभिभूयते ।

तत्क्षियोऽप्यात्मनस्तस्यै तान्येव क्षिप्यते क्षणात् ॥ ५२ ॥

अर्थ—गुहारा मन यदि मोहके उदयसे रागादिकसे पीड़ित हो तो मुनि उस मांसो आत्मस्वरूपन लगाकर, उन रागादिकोंको क्षणमात्रमें क्षेपण करता है अर्थात् दूर करता है ॥ ५२ ॥

पञ्चाशामारतं काये तस्मादधायर्चितो धिया ।

चिदानन्दमये रूपे योजितं प्रीतिमुत्सृजेत् ॥ ५३ ॥

अर्थ—जिस कायमें अज्ञानी आत्मा रत (रागी) हुआ है उस कायसे बुद्धिपूर्वक भिन्न धिये हुए चिदानन्द स्वरूपमें लगाया हुआ मन उस कायन प्रीति छोड़ देता है ॥ ५३ ॥

स्वयिभ्रमोद्भूय दुःखं स्वज्ञानेनैव हीयते ।

तपसापि न तच्छेद्यमात्मविज्ञानवर्जितै ॥ ५४ ॥

अर्थ—अपने भ्रमसे उत्पन्न हुआ दुःख अपनेही ज्ञानसे दूर होता है और जो आत्माके विज्ञानमें रहित पुरुष हैं वे तपके द्वारा भी उस दुःखको दूर नहीं कर सकते ।

भावार्थ—आत्मज्ञानके बिना केवल तप करने मात्रसे दुःख नहीं मिटता ॥ ५४ ॥

रूपायुर्पल्विलादि-सम्पत्तिं स्वस्य वाञ्छति ।

वहिरात्माथ विज्ञानी साक्षात्तेभ्योऽपि विच्युतिम् ॥ ५५ ॥

अर्थ—जो वहिरात्मा है वह तो अपने लिये सुदररूप, आयु, बल, धन इत्यादिक चाहता है और जो भेद विज्ञानी पुरुष है वह अपनेमें, रूपादिक विद्यमान हों उनसे भी विच्युति कहिये छूटना चाहता है ॥ ५५ ॥

कृत्वाहमतिमन्यत्र यघ्नाति स्व स्वतश्च्युतः ।

आत्मन्यात्ममतिं कृत्वा तस्माद् ज्ञानी विमुच्यते ॥ ५६ ॥

अर्थ—अपने आत्मन्वमानसे च्युत हुआ बहिरात्मा अन्य पदार्थोंमें बहुबुद्धि करके अपने आपको बाधता है अर्थात् कर्मन्व करता है और ज्ञानी पुरुष मानने ही आत्मबुद्धि करके उस पर पदायसे छूट जाता है ॥ ५६ ॥

आत्मान वेत्यविज्ञानी त्रिलिङ्गी सगत यपु ।

सम्यग्वेदी पुनस्तत्त्र लिङ्गसगतिवर्जितम् ॥ ५७ ॥

अर्थ—भेदविज्ञानरहित बहिरात्मा तीन लिंगोंमें चिह्नित शरीरको आत्मा जानता है और सम्यग्ज्ञानी पुरुष आत्मतत्त्वको इन लिंगोंकी सगतिमें रहित जानता है ॥ ५७ ॥

समभ्यस्त सुविज्ञात निर्णीतमपि तत्त्वतः ।

अनादिविभ्रमात्तत्त्व प्रसंगलत्वेव योगिनः ॥ ५८ ॥

अर्थ—किर ऐसी भावना करता है कि योगी मुनिरा तत्त्व कहिये आनादा यथायं स्वरूप भलेप्रकार अभ्यास रूप किया (परमार्थसे निर्णय किया) हुआ भी भनाति विभ्रमसे कारण डिग जाता है । भावार्थ—विभ्रमरा सम्कार ऐसा तीन होने है कि जाता हुआ आत्मस्वरूप भी छूट जाता है, इस कारण ऐसा विचार करे कि—

अधिदृश्यमिदं रूपं न अधिदृश्यं ततो वृथा ।

मम रागादयोऽर्थेषु स्वरूपं सश्रयाम्यहम् ॥ ५९ ॥

अर्थ—यह रूप (मूर्ति) अचेतन है और दृश्य अर्थात् इन्द्रियमात्र है और व चेतन दृश्य (इन्द्रियमात्र) नहीं है, इसकारण मेरे रूपादिक परपदार्थोंमें तो रागादिक है वे सब वृथा (निर्गुण) हैं मैं अपने स्वरूपको आश्रय करता हूँ । इसप्रकार विचार ॥ ५९ ॥

करोत्यज्ञो ग्रहत्यागौ बहिरन्मस्तु तत्त्वयित् ।

शुद्धात्मा न बहिर्यन्मस्तौ विदध्यात्कथंचन ॥ ६० ॥

अर्थ—अहंता वश त्याग ग्रहण करता है और तत्त्वज्ञानी अंतरंग त्याग ग्रहण है और जो शुद्धात्मा है सो वश और अंतरंगसे दोनों ही त्याग ग्रहण नहीं करता है ॥ ६० ॥

वाक्कायाभ्यां शृणु कृत्वा मनसाग्मानमभ्यसेत् ।

वाचनश्रुत्या श्रुत्यान् कार्यमन्यत्र येनसा ॥ ६१ ॥

अर्थ—जिन आत्मको श्रवण और वाचन निष्ठ करो मनमें अभ्यास करो

तथा अन्य बाह्योक्तो वचन और वाक्ये वा वित्तो गरी करे वित्तो तो आत्माका ही
अवस्था है ॥ ६१ ॥

दिश्वारानन्दो ग्यान व्याजगदभनेतमाम् ।

वानन्द वा च विश्वास स्वस्मिन्नेवात्मवेदिनाम् ॥ ६२ ॥

अर्थ—अज्ञातचित्तगोचर तो यह जानू विधान और आनन्दका स्थाप है
और अपने आन्तरिक आनन्दके जाननेवालोंके कर्तों तो आनन्द और वहाँ विश्वास?
अपान् बनी भी गरी, अज्ञान ही आनन्दरूप है ॥ ६२ ॥

स्वरोपादपर विधित्त भ्यान्ने विभृपात्क्षणम् ।

वृत्तान्वायव्यवसात्विमिश्रिटावापाभ्यामनाहत ॥ ६३ ॥

अर्थ—आत्मज्ञानी मुनि शायद निराश किसी वाक्यो मनमें क्षणमात्र भी नहीं
ध्याना करता यदि अन्य बाह्योक्तो किसी कारणवश करता भी है तो वचन और
वाक्ये विना आनन्दके करता है तब तो ज्ञानी ही वाचना निरन्तर रहती है ॥ ६३ ॥

पदक्षविषय रूप मद्रूपात्तद्विलक्षणम् ।

आनन्दनिर्भर रूपमन्तर्ज्योतिर्मय मम ॥ ६४ ॥

अर्थ—आत्मज्ञानी मुनि यह विचारता है कि जो इन्द्रियोंके विषयरूप मूर्त है तो तो
मो आत्मस्वरूपसे विलक्षण है मेरा रूप तो आनन्दसे भरा अन्तरंग ज्योतिर्मयी (ज्ञान
मकारमय) है ॥ ६४ ॥

अन्तर्दुःख वहिः सौख्य योगाभ्यासोपतात्मनाम् ।

सुमतिष्ठितयोगाना विपर्यस्तमिद पुन ॥ ६५ ॥

अर्थ—योगके अभ्याससे उद्यमरूप है आत्मा निरन्तर ऐसे साधक मुनियोंके अन्तर
रूपे दुःख और वाद्यम सुख है और त्रिभुजा योग सुप्रतिष्ठित है, उनके इससे विपर्यस्त है
अपान् अन्तरंगम तो सुख है और बाह्यमें दुःख है, आचार्य—योगी साधक अवस्थामें
तो योगभ्यासकी सुतरूप जान, उद्यम करता है, पशु साधन करते समय कुछ पीडा
होती है और जब अभ्यास निद्रा हो जाता है तब परके देखने तो दुःख दीखता है
किन्तु अन्तरंगम सुखी होता है ॥ ६५ ॥

तद्विज्ञेय तदात्तयेय तच्छ्रव्य चिन्त्यमेव वा ।

पेन भ्रान्तिमपास्योचै स्यादात्मन्यात्मन स्थिति ॥ ६६ ॥

अर्थ—इन्द्रियोंको यह करना योग्य है कि जिससे भावितकी छोटकर, आत्माकी
स्थिति आत्मामें ही हो और यही विषय जानना चाहिये तथा इसको ही वचनसे कहना
व सुनना तथा इसको ही विचारना चाहिये ॥ ६६ ॥

विषयेषु न तत्किञ्चित्स्याद्विन यच्छरीरिणाम् ।
तथाप्येष्वेव कुर्वन्ति प्रीतिमजा न योगिन ॥ ६७ ॥

अर्थ—यद्यपि इन इन्द्रियोंके विषयोंमें ऐसा कुछ भी नहीं है जो जीवाका दिव्य हो तथापि ये अज्ञानको जोटनेवाले मूख प्राणी उन विषयोंमें ही प्रीति करते हैं सा य अज्ञानकी चेष्टा है ॥ ६७ ॥

अनारयातमिचारयातमपि न प्रतिपद्यते ।

आत्मान जडधीस्तेन बन्ध्यस्तत्र ममोद्यम ॥ ६८ ॥

अर्थ—जडधी (मूख) कहते हुए भी बिना कहेकी समान आत्माको प्र नहीं होता सो यहा मेरे कहनेका उद्यम वृथा (निष्फल) है इस प्रकार विचार करे ॥ ६८ ॥

तत्राह यन्मया किञ्चित्प्रजापयितुमिष्यते ।

योऽहं न स परमात्मस्तन्मुखा योधनोद्यम ॥ ६९ ॥

अर्थ—जो कुछ मैं परको जनाना चाहता हूँ सो मैं वह आत्मा नहीं हूँ और मैं आत्मा हूँ वह आत्मा परके ग्रहण करने योग्य नहीं है, इसकारण मेरे परके सयोग नका जो उद्यम है, सो वृथा है क्योंकि, आत्मा आपहीसे जाना जाता है परका कष्ट सुनना निमित्तमान है इसकारण इसमें आप्रह करना वृथा है ॥ ६९ ॥

निरुद्धज्योतिरज्ञोऽन्तः स्वतोऽन्यत्रैव तुप्यति ।

तुप्यत्यात्मनि विज्ञानी बहिर्बिगतभिन्नम् ॥ ७० ॥

अर्थ—अज्ञानी तो अपनेमें भिन्न पर वस्तुमें ही सन्नुष्ट होता है, क्योंकि, उमर्द अतर्ज्येति रुद्ध होगर्द है और ज्ञानी पुरा आत्मामें ही सन्नुष्ट होता है, क्योंकि उसने बाह्य भिन्न नष्ट हो गया है ॥ ७० ॥

यावदात्मेच्छया दत्ते वाक्चित्तवपुषा ब्रजम् ।

जन्म तायदमीषा तु भेदज्ञानाद्भवत्युति ॥ ७१ ॥

अर्थ—यह प्राणी जबतक यत्न मन वाक्यने समूहको आत्माही दृष्टाने ग्रहण करत है तबतक इसने ससार है तथा इनका जन्म भेदज्ञान होता है तब उसने समाग्न अभाव होता है ॥ ७१ ॥

जीर्ण रक्तं घने घृस्ते नात्मा जीर्णादिकः पटे ।

अथ वपुषि जीर्णादौ नात्मा जीर्णादिकस्तथा ॥ ७२ ॥

अर्थ—जिमप्रकार वस्त्रने जीर्ण होते, रक्त होने, दूध होने या तट होने माना व जीर्ण जीर्ण रक्तादिक स्वरूप नहीं होना, उसा प्रकार शरीरने जीर्ण या घन होना माना जीर्णादिकस्वरूप नहीं होता 'यह दृष्टात दाष्टात जाना ॥ ७२ ॥

चलमप्यचलप्ररय जगद्यस्यावभासते ।

ज्ञानयोगक्रियाहीनं स पद्मास्कन्दति ध्रुवम् ॥ ७३ ॥

अर्थ—जिम योगी मुनिको चलस्वरूप भी यह जगत् अचल्की समान दीखता है, वही मुनि इन्द्रिय ज्ञानकी और योगकी क्रियासे हीन ऐसे शिष्यको (निराणको) प्राप्त होता है । भावार्थ—जब अपने परिणाम स्थिरीभूत होते हैं तब समस्त पदार्थ ज्ञानमें निश्चल प्रतिबिम्ब स्वरूप ही भासते हैं और तब ही मुख होता है ॥ ७३ ॥

तनुग्रयायृतो देही ज्योतिर्मयवपु स्वयम् ।

न चेत्ति पाषादात्मानं क तावद्वन्धविन्ध्युति ॥ ७४ ॥

अर्थ—यह आत्मा स्वयं तौ ज्ञानज्योति प्रकाशमय है और देहसहित देही औदारिक तैजस और कामाण इन तीन शरीरोंसे ढका हुआ है सो यह आत्मा जबतक अपने ज्ञानमय आत्माको नहीं जानता तबतक बंधका अभास कहाम हो अथात् न होता है ॥ ७४ ॥

गलन्मिलदणुघातसन्निवेशात्मक वपु ।

चेत्ति मूढस्तदात्मानमनाशुत्पन्नविभ्रमात् ॥ ७५ ॥

अर्थ—क्षरते मिलते पुद्गल परमाणुओंके स्पर्शोंके निवेशसे रचा हुआ जो यह शरीर है, उसको यह मूढ घटिरागा अनादिसे उत्पन्न हुए विभ्रमसे आत्मा जानता है । यही संसारका बीज है ॥ ७५ ॥

मुक्तिरेव मुनेस्तस्य यस्यात्मन्यचला स्थितिः ।

न तस्यास्ति ध्रुव मुक्तिर्न यस्यात्मन्यचस्थिति ॥ ७६ ॥

अर्थ—जिम मुनिकी आत्मामें अचलस्थिति है उसीको मुक्ति होती है और जिगरी आत्मामें अवस्थिति नहीं है उसको त्रिमये मुक्ति नहीं होती । क्योंकि आत्माके जो अवस्थिति है वही सम्प्रदशन ज्ञानपूर्वक चारित्र्य है और उसीसे मुक्ति है सामान्य नैपायिकादि मतावलम्बी ज्ञानमात्रसे मुक्ति मानने हैं, सो नहीं है ॥ ७६ ॥

दृढ स्थूल स्थिरो दीर्घो जीर्ण शरीर्णो लघुर्गुरु ।

यपुपैवमसष्यान्त्य विन्यासेदनात्मकम् ॥ ७७ ॥

अर्थ—शरीरसहित मैं दृढ है, स्थूल (मोटा) है, स्थिर है, लघा है, जीर्ण है, दीर्घ (अति दृढ) है, हलका है और भारी है इस प्रकार आत्माके शरीरसहित संज्ञक रूप नहीं करता हुआ पुण ही आत्माको ज्ञानस्वरूप जानता है अथात् अनुभव करता है ॥ ७७ ॥

जनस्तसर्गो वाक्चित्तपरिस्पन्दमनोभ्रमा ।

उत्तरोत्तरबीजानि ज्ञानी जनस्ततस्त्यजेत् ॥ ७८ ॥

अर्थ—लोकका समा होनेसे बचन और निष्ठा चलना और मनसे धन होना
 ने उन्मोचन धीरे मरना है अर्थात् लोकके सामने तो परस्पर उचलाना होगा है
 उस बचनानुसार तित्त उचलाना होता है और तित्त चलनेसे मनमें धन होगा है
 बचन, ज्ञानी मुनि लोकके समाको छोड़ें। भावार्थ—लौकिक जननी, समाजिक

नगग्रामादिषु स्वस्य निवास येष्यनात्मयित् ।

मर्वायम्यासु विज्ञानी सस्मितोयास्तविभ्रम ॥ ७० ॥

अर्थ—जो पतनार्थ है अर्थात् आनासो नहीं जानो वे परत प्राप्त अर्थात् प्राप्त
 विना—जो है और जो अन्वयिभूत (हानी) है वे समस्त अवस्थाओंमें अन्तों अन्तों
 १ स्थान निष्पन्नान् समस्तों हैं । भावार्थ—परमात्मने परते आते अर्थात्
 के गी तत्त्वों ॥ ७० ॥

आमेनि ननुयि ज्ञान कारण कायसन्तमे ।

अग्निमन्त्रमिति विज्ञान स्यात्परिरान्तरक्युते ॥ ८० ॥

॥ ८० ॥
 ॥ ८१ ॥
 ॥ ८२ ॥
 ॥ ८३ ॥
 ॥ ८४ ॥
 ॥ ८५ ॥
 ॥ ८६ ॥
 ॥ ८७ ॥
 ॥ ८८ ॥
 ॥ ८९ ॥
 ॥ ९० ॥

आत्माऽऽत्मना सर्वं मोक्षमात्मन कुरुते यत ।

भक्तो हितुर्गुणशायमाभैय स्फुटमात्मन ॥ ८१ ॥

३३—४० भाग भाग ही भाग आपन समझना करना है और अपने दूगा भाग
 भाग ही भाग करना है, इसका भाग ही अपना भाग है और भाग ही भाग है
 है ॥ ४० ॥

रश्मिः श्यामः कायः कायादाग्मानमागमयिन् ।

तथा नानाधातुः यथा यमः प्रमाणम् ॥ ८२ ॥

[illegible]

अथैतानि श्रुत्वा भगवन्तः प्रसन्नमनसः ।

मन्त्रैः विष्णवे न ह्यन्यथाऽऽमन्त्रिष्ये ॥ ८१ ॥

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।
— १ — २ — ३ — ४ — ५ — ६ — ७ — ८ — ९ — १० — ११ — १२ — १३ — १४ — १५ — १६ — १७ — १८ — १९ — २० — २१ — २२ — २३ — २४ — २५ — २६ — २७ — २८ — २९ — ३० — ३१ — ३२ — ३३ — ३४ — ३५ — ३६ — ३७ — ३८ — ३९ — ४० — ४१ — ४२ — ४३ — ४४ — ४५ — ४६ — ४७ — ४८ — ४९ — ५० — ५१ — ५२ — ५३ — ५४ — ५५ — ५६ — ५७ — ५८ — ५९ — ६० — ६१ — ६२ — ६३ — ६४ — ६५ — ६६ — ६७ — ६८ — ६९ — ७० — ७१ — ७२ — ७३ — ७४ — ७५ — ७६ — ७७ — ७८ — ७९ — ८० — ८१ — ८२ — ८३ — ८४ — ८५ — ८६ — ८७ — ८८ — ८९ — ९० — ९१ — ९२ — ९३ — ९४ — ९५ — ९६ — ९७ — ९८ — ९९ — १०० —

मय्येवमगदुन्मत्त प्रागुत्पत्तात्मनिभ्यः ।

पश्चाद्गोष्ठमिषाचष्टे तद्गुहाभ्यासयासित ॥ ८४ ॥

अर्थ—जिसे आगावा निभय होया है ऐसा शरीर प्रथम तो इस जगतकी उन्मत्तवत् विचारता है, तत्पश्चात् आगावा दृढ अभ्यास करके पापादि समाप्त करता है । भाषार्थ—जब शरीर उत्तम होता है उस समय यह जगत् धारणाना दीक्षता है, तत्पश्चात् जब शरीरभ्यास दृढ हो जाता है, तब वस्तु स्वभावसे विचारमें जैसा है वैसा ही दीक्षता है अर्थात् उसमें इष्ट अनिष्ट भाव नहीं होता ॥ ८४ ॥

शरीराद्विषमात्मानं शृण्वन्नपि यदस्यपि ।

तावन्न मुच्यते यावन्न भेदाभ्यासनिष्ठित ॥ ८५ ॥

अर्थ—यह पुरुष आत्माको शरीरसे भिन्न सुनता हुआ भी तथा करता हुआ भी शृण्वन् इससे भेदाभ्यासमें निष्ठित (परिपक्व) नहीं होता, तबतक इनसे छूटता नहीं क्योंकि निरन्तर भेदाभ्यासके अभ्यासमें ही इसका समत्व छूटता है ॥ ८५ ॥

व्यनिरिक्ता तनोस्तद्विज्ञान्य आत्माऽऽत्मनाऽऽत्मनि ।

स्वप्नेऽप्ययं यथाऽभ्येति पुनर्नाद्वेन सगतिम् ॥ ८६ ॥

अर्थ—आत्माको आत्माहीके द्वारा आत्माने ही शरीरसे भिन्न ऐसा विचारना कि जिनमें चिर यह आत्मा स्वप्ने भी शरीरही सगतिको प्राप्त न हो अर्थात् मैं शरीर ॥ ऐसी बुद्धि स्वप्ने भी न हो, ऐसा निश्चय करना चाहिये ॥ ८६ ॥

यतो व्रताग्रते पुमा शुभाशुभनियन्धने ।

तदभावात्पुनर्मोक्षो मुमुक्षुस्ते तत्तत्स्यजेत् ॥ ८७ ॥

अर्थ—तथा व्रत और अव्रत गुण और अगुण दो प्रकारके बंधोंके कारण हैं और गुणगुण क्रमेण अभावसे मोक्ष होता है, इसकारण पुक्तिरा इष्टुक मुनि इन व्रत और अव्रत दोनोंको ही त्यागता है अर्थात् इनमें करने न करनेका अभिमान नहीं करता ॥ ८७ ॥

प्रागस्यममुत्सृज्य सयमैकरतो भवेत् ।

ततोऽपि विरमेत्प्राप्य सम्पगात्मान्यवस्थितिम् ॥ ८८ ॥

अर्थ—जब अव्रतरा त्यागना कहा है तो इसप्रकार त्याग कि प्रथम तो असयमको छोड़, सयम रक्त हो, तत्पश्चात् सम्यक्प्रकारसे आत्मान अग्रस्थितिको प्राप्त होकर, उस सयमसे भी विरक्त हो जाने अर्थात् सयमका मात्र वा अभिमान न रखे ॥ ८८ ॥

जातिलिङ्गमिति ब्रह्मब्रह्माश्रित्य वर्त्तते ।

अद्वात्मकश्च ससारस्तस्मात्तद्विषय त्यजेत् ॥ ८९ ॥

अर्थ—जाति (क्षत्रियादिक) और लिंग मुनि श्रावकादिकका वेप ये दोनों ही इसमें अधिकृत हैं। तथा इस देहस्वरूप सत्सार है इससे को मुनि इन जाति लिंग दोनोंको ही त्यागता है, अर्थात् इनका अभिमान नहीं रखता ॥ ८९ ॥

अभेदविद्यथापद्मोवेत्ति चक्षुरचक्षुषि ।

अद्वेऽपि च तथा वेत्ति सयोगाद्दृश्यमात्मन ॥ ९० ॥

अर्थ—जिसप्रकार अंधेके कन्धेपर पागुला चढ़कर चलता है, उनका भेद न ज्ञाननेवाला कोई पुरुष पगुके नेत्रोंको अंधेके नेत्र जानता है, उसी प्रकार आत्मा और देहका सयोग है सो इनका भेद नहीं जाननेवाला अज्ञानी आत्माके दृश्यको अंगका ही रूप (देखने योग्य) जानता है ॥ ९० ॥

भेदविन्न यथा वेत्ति पद्मोऽचक्षुरचक्षुषि ।

विज्ञातात्मा तथा वेत्ति न काये दृश्यमात्मन ॥ ९१ ॥

अर्थ—जिस प्रकार पगु और अंधेका भेद जाननेवाला पुरुष पगुके नेत्रोंको अपने नेत्र नहीं जानता, उसीप्रकार आत्मा और देहके भेदको जाननेवाला पुरुष आत्मके दृश्य (देखने योग्य) को देहका नहीं जानता। क्योंकि आत्मा चैतन्य ज्ञानवान् है। परन्तु देहके विना चल नहीं सकता इस कारण वह पगुके समान, और देह अचेतन (जड़) है, इस कारण वह अंधेके समान है। इस भेदको जो जानता है, वह देहके न जानकर, आत्मा ही आत्माको जानता है ॥ ९१ ॥

मत्तोन्मत्तादिचेष्टासु यथाज्ञस्य स्वविभ्रम ।

तथा सर्पास्ययस्यासु न कचिरास्यदर्शिन ॥ ९२ ॥

अर्थ—जिस प्रकार अज्ञानीके मत उन्मत्त आदि चेष्टाओंमें आभास विभ्रम होता है अर्थात् अज्ञानी अपनेको भूढ़ जाता है और जब चेत करता है तब आत्माको जानता है, उसी प्रकार तत्त्वदर्शिन तब ही अन्वयाभोग विभ्रम नहीं है अर्थात् तब ही सत्य अन्वयाभोग आत्मा जानता है, भ्रमता कभी नहीं है। भावार्थ—आत्मज्ञानी सत्य जिनका अन्वयाभोग कर्मोंकी निवृत्ति होती है ॥ ९२ ॥

देहात्मदृष्टं मुच्येत चेज्जागर्ति पटम्बपि ।

सुतोन्मत्तोऽपि मुच्येत स्वस्मिन्पुष्पनिद्राय ॥ ९३ ॥

अर्थ—जिसका देह ही अन्मदृष्टि है ऐसा जिष्णुदृष्टि बहिरङ्गा की जगत्ता है तब ही (वचन उच्यते करना है) तब ही वह कर्मात् तब ही मुक्त ॥ ९३ ॥

आत्मानं निद्रामाराध्य प्राप्नोम्यात्मानं निद्राम ।

वर्ति प्रदीपमामास यथाभ्येति प्रदीपनाम् ॥ ९४ ॥

अर्थ—जैसे वात्तका (बत्ती) दीपको प्राप्त होकर, दीपक हो जाती है, उसी प्रकार यह आत्मा अपनेको सिद्धस्वरूप अनुभव करके, मिद्धपनको प्राप्त हो जाता है ॥ ९४ ॥

आराध्यात्मानमेवात्मा परमात्मत्वमभ्युते ।

यथा भवति घृक्ष स्व खेनोद्धृष्य हुताशनः ॥ ९५ ॥

अर्थ—आत्मा आत्माको ही आराध्य कर, परमात्मनको प्राप्त होता है, जैसे घृष अपनेको आपहीसे घिसकर, अग्नि हो जाता है । भावार्थ—जैसे घोंघोंके परस्पर घिसने से उनमें अग्नि उत्पन्न हो जाती है, उसी प्रकार आत्मा, आत्माका आराधन करनेसे परमात्मा हो जाता है ॥ ९५ ॥

इत्थ चाग्नोचरातीति भावयन्परमेष्ठिनम् ।

आसादयति तद्यस्मात्त मूपो विनियर्तते ॥ ९६ ॥

अर्थ—यह आत्मा पूर्वोक्त प्रकार बचनके अगोचर परमेष्ठीको भावता हुआ उग पदको पाता है कि जिस पदसे फिर निवृत्त (लौटना) न हो अर्थात् जो छुट नहीं, ऐसे मिद्ध पदको प्राप्त होता है ॥ ९६ ॥

अपहजनिन मन्ये ज्ञानिना परम पदम् ।

यदात्मन्यात्मविज्ञानमाग्रमेव समीहते ॥ ९७ ॥

अर्थ—जो यह आत्मा आत्मामें ही विज्ञान मात्रको सम्यक्प्रकार चाहता है, तो जानना चाहिये कि ज्ञानियोंके परमपद विज्ञा यज्ञके ही हो गया 'मैं ऐसा मानता हूँ' इस प्रकार आचार्य महाराजने समझना की है ॥ ९७ ॥

स्वमे दृष्टविनाशोऽपि यथात्मा न विनश्यति ।

जागरेऽपि तथा भ्रान्तेकभयप्राविशेयत ॥ ९८ ॥

अर्थ—जैसे स्वप्नमें अपनेको नष्ट हुआ देख लेते आत्मा नष्ट नहीं होता—उसी प्रकार जागने हुए भी विनाश नहीं है, सिन्धु दोनों जगह मिलानेके भ्रमका अर्थ है । भावार्थ—स्वप्नमें अपनेको मरा हुआ मान, उसी प्रकार जागनेपर भी मरा हुआ माने तो यह भ्रम ही है आत्मा सदा अमर है आत्माका मरण मानना भ्रम है ॥ ९८ ॥

अतीन्द्रियमनिर्देयममूर्तं ब्रह्मनाच्युतम् ।

चिदानन्दमयं विद्धि स्वस्मिन्नात्मानमात्मना ॥ ९९ ॥

अर्थ—हे आत्मन् ! तू आत्माको आत्माहीन आपर्णत देना जान कि, मैं अनिन्द्रिय हूँ अर्थात् मैं इन्द्रिय नहीं अपना मैं इन्द्रियोंके अन्तर्गत नहीं हूँ । अपना इन्द्रियोंके स्वप्न, रस, गन्ध, रस, और इन्द्रिय सुख (आत्मा) में नहीं है इस कारण अनिन्द्रिय है, तथा अनिन्द्रिय हूँ—(बचनके द्वारा कहनेसे नहीं आता) देना है,

तथा अमूर्तीक ह अर्थात् स्पर्शादिभिरहित ह, तथा कल्याणीत ह और चैन्य तथा आनन्दमय हैं, इत्यादि ॥ ९० ॥

मुच्येताधीतशास्त्रोऽपि नात्मेति कल्पयन्वपुः ।

आत्मन्यात्मानमन्विष्यन् श्रुतशून्योऽपि मुच्यते ॥ १०० ॥

अर्थ—शरीरम यह शरीर ही आत्मा है, इस प्रकार अभ्यास करता हुआ वा जानता हुआ पुरुष यदि अधीतशास्त्र (पढ़े हैं शास्त्र जिम्मे पेशा) है, तथापि कर्ममें नहीं छूटता है अर्थात् मुक्त नहीं हो सकता है । तथा शास्त्रमें शून्य है और आत्मा ही आत्माको जानता वा मानता है, तो कर्मसे छूटकर, मुक्त हो जाता है । भावार्थ—शास्त्रज्ञान भी आत्मज्ञानके लिये है जो आत्मज्ञान नहीं हुआ तो शास्त्र पढ़नेसे क्या फल? अपात्र व्यर्थही है ॥ १०० ॥

पराधीनसुखात्वादनिर्दविशदस्य ते ।

आत्मैवामृतता गच्छन्नविच्छिन्न स्वमीक्षते ॥ १०१ ॥

अर्थ—हे आत्मन्! पराधीन इन्द्रियजनित सुखके आस्वादमें वैराग्य है स्पष्ट जिनको ऐसा जो तू तिसका आत्मा ही अमृतपनको प्राप्त होता हुआ अविच्छेद रूप अपनेको देसता है । भावार्थ—इन्द्रिय सुखका आस्वाद छोड़नेपर ऐसा न जान कि अब सुख नहीं है किन्तु यह तेरा आत्मा ही अमृतमय हो जाता है और उस अमृतके आस्वादसे जन्म मरणसे रहित अमर होता है ॥ १०१ ॥

यदभ्यस्त सुखाद् ज्ञान तदुत्त्वेनापसर्पति ।

दुःखैकशरणस्तस्माद्योगी तत्त्व निरूपयेत् ॥ १०२ ॥

अर्थ—जो ज्ञान सुखसे अभ्यास किया है, वह ज्ञान प्राय दुःख आनेपर चला जाता है, इस कारण योगी दुःखको ही अगीकार करके तत्त्वका अनुभव करता है । भावार्थ—जो तीव्र तप आचरण करता है, वह परीपह आ जानेपर ढिगता नहा, अपात्र दुःख आने तो भी अपने ज्ञानाभ्यासको नहीं छोड़ता ॥ १०२ ॥

साक्षिनी ।

निखिलभुवनतत्त्वोद्भासनैकप्रदीप

निरुपधिमाधिरूढ निर्भरानन्दकाष्ठाम् ।

परममुनिमनीषोद्रेदपर्यन्तभूत

परिकलय विशुद्ध स्वात्मनात्मानमेव ॥ १०३ ॥

अर्थ—हे आत्मन्! तू अपने आत्मानो अपने आत्मासे ही इस प्रकार विशुद्ध (निर्मल) अनुभव कर कि—यह आत्मा समस्त लोकके यथार्थ स्वरूपको प्रगट करनेवाला अद्वि

मोक्ष प्रदीप है तथा अनेक आत्मा की सीमाओं उपाधिरहित प्राप्त हुआ है—तथा परम मुक्ति की मुक्ति प्रकट उत्पत्ति प्रकट है स्वरूप जिनका ऐसा है—इस प्रकार आत्मा का भुवन करे ऐसा उपदेश है ॥ १०३ ॥

इति साधारण ध्येय ध्यानयोर्धर्मशुद्धयो ।

विशुद्धिं स्वामिभेदेन भेद मूत्रे निरूपितं ॥ १०४ ॥

अर्थ—इस (उप) प्रकार धर्मध्याना व शुद्धिध्यानका ध्येय (ध्यान करने योग्य) पदार्थ साधारणतया कहा गया और इन दोनों की विशुद्धता और ध्यान करनेवाले (ध्याता आदि) का भेद सूत्रन निरूपण किया है ॥ १०४ ॥

इस प्रकार धर्म शुद्ध ध्याना व ध्यान आत्मा को जानने के लिये बहिरात्मा, अंतरात्मा तथा परमात्मा का स्वरूप बतकर, तन्मात्र बहिरात्मा को छोड़, अन्तरात्मा होकर, परमात्मा का ध्यान करता वर्तन किया गया ।

इस अध्यायका सन्नेह यह है कि, जो देह, इन्द्रिय, धन, सखादिक बाह्य वस्तुओं में आत्मशुद्धि करे, वह तो बहिरात्मा (मिथ्या दृष्टि) है । और जो अंतरात्मा विशुद्धदर्शन ज्ञानमयी चेतना में आत्मशुद्धि करता है और चेतना के विकार रागादिक भावों को कर्म क्षीत हो जानता है वह अंतरात्मा है और वही सत्यदृष्टि है । और जो समस्त कर्मों से रहित बसल ज्ञानादिक शुद्धमहित हो सो परमात्मा है । उस परमात्मा का ध्यान अन्त राना होकर, करे । उसमें जो निश्चयनय (शुद्ध द्रव्यार्थिक नय) में अपने आत्मा को ही अन्तर्ज्ञानादि गुणों की शक्तिमय जानकर, नयके द्वारा युगत् शक्ति व्यक्तिरूप परो शक्तो अपने अनुभव में साक्षात् आरोपण करे तद्रूप अपने रूपको ध्याये और जब वह उसमें लय हो जाय तब समस्त कर्मों का नाश कर, वैसा ही व्यक्तरूप परमात्मा स्वयं (आप) हो जाता है ॥

यह ध्यान अग्रमत सातवें गुणस्थानवर्ती मुनिके परिपूर्ण होता है । उसमें धर्मध्या नकी उत्पत्ति है । ध्यानसे सानिधय अग्रमतगुणस्थान ध्येयों की चला है । उसीसे शुद्धध्यानकी प्राप्त होकर, कर्मका नाश कर, केवल ज्ञान उत्पन्न करता है । इस प्रकार धर्मध्यान व शुद्धध्यानका एक ही ध्येय कहा गया है, किन्तु दोनों में विशुद्धताका भेद अवश्य है, अर्थात् धर्मध्यानकी विशुद्धतामें शुद्धध्यानकी विशुद्धता अधिक है । और स्वामीका भेद गुणस्थानों के भेदसे जानना ॥

उपपत्त्य ।

जड चेतन मिलि हों, अनादिके पदरूप जिमि ।

मूढभेद नहिं स्वी प्रजनि मिथ्यात्व उदै इमि ॥

जिन आगमते चिह्न, भेद जाने सति भयसर ।

अनुभव करि चिद्रूप, आप अह अन्य सबल पर ॥

जब अन्तर आतम होय करि, करै शुद्ध उपयोग मुनि ।

तत्र शुद्ध आतमा ध्याय करि, लहै मोक्ष सुखमय अरुनि ॥ ३१ ॥

इति श्रीशुमचन्द्राचार्यविरचिते योगप्रदीपाधिनारसवरूपे ज्ञानार्णवे शुद्धोपयोग

वर्णन नाम द्वात्रिंश प्रकरण समाप्तम् ॥ ३२ ॥

अथ त्रयस्त्रिंश प्रकरणम् ।

आगे धर्मध्यानके भेदोंका वर्णन करते हैं—उसमेंसे प्रथम ही भेदोंकी उत्पत्तिके सामान्यतासे कहते हैं,—

अनादिधिभ्रमान्मोहादनभ्यासादसंग्रहात् ।

ज्ञातमप्यात्मनस्तत्त्व प्रस्खलत्येव योगिनः ॥ १ ॥

अर्थ—योगी (मुनि) आत्माके स्वरूपको यथार्थ जानता हुआ भी अनादि भ्रम वासनासे, तथा मोहके उदयसे, तथा निना अभ्याससे और उस तत्त्वके संग्रहके अभावसे च्युत हो जाता है अर्थात् मुनि भी तत्त्वस्वरूपसे चलायमान हो जाता है ॥ १ ॥ फिर भी कहते हैं,—

अविद्यावासनावेशविशेषविद्यशात्मनाम् ।

योज्यमानमपि स्वस्मिन् न चेत* कुरुते स्थितिम् ॥ २ ॥

अर्थ—तथा आत्माके स्वरूपको यथार्थ जानकर, अपनेम जोन्ता हुआ भी भ्रम ध्यानसे एकाग्र लगाता हुआ भी अविद्यारी वासनासे—वेगसे विशेषतया निग्रह है अतिसर उसका चित स्थिरताको नष्ट धारण करता ॥ २ ॥

माक्षात्कर्तुमतः क्षिप्र विश्वतत्त्व यथास्थितम् ।

विद्वुर्द्धि ध्यामन शश्वदस्तुधर्मे स्थिरीभवेत् ॥ ३ ॥

अर्थ—इस प्रकार पूर्वाक्त ध्यानसे निगने कारण दूर करनेके लिये तथा बन्धुभोके स्वरूपका यथास्थित तत्त्वात् साधार करनेके लिये तथा आत्माकी विद्वत् करनेके लिये निरंतर बन्धुके धर्ममें स्थिरीभूत होये । मायार्थ—ध्यान एव मनका लगना ध्यान है । उभय विग्रहे पूर्वाक्त कारण है । इनको दूर करनेके लिये तमम् बन्धुका यथार्थ स्वरूप निग्रह करके क्षयादिकरहित बन्धुके धर्ममें दर्शने । धर्मध्यानकी सिद्धिका उपाय है, जो विशेषतासे कहते हैं ॥ ३ ॥

अलक्ष्य लक्ष्यसम्बन्धान् स्पृष्टात्सूक्ष्म विचिन्तयेत् ।

सालम्बाय निराश्रय तत्त्ववितारयमनुमा ॥ ४ ॥

अर्थ—तत्त्वज्ञानी इस प्रकार तत्त्वको प्रकटतया चितवन करे कि—स्पष्टरे (जो अपने स्वरूपमें आर उसके) सम्बन्धसे तो अल्पस्रो (जो अनुभूतगोचर नहीं उनकी) चितवन करे आर स्थूल इन्द्रियगोचर पदार्थसे सूक्ष्म इन्द्रियोंके अगोचर पदार्थोंको चितवन कर इसी प्रकार—सालम्प करिये किसी ध्येयका आलम्पन लेकर, उनमें निरा-लम्प वस्तु स्वरूपमें तन्मय होना चाहिये । भावार्थ—दृष्ट पदार्थके सम्बन्धमें अदृष्टका ध्यान करना कहा गया है यहा प्रकरणमें परमात्माका ध्यान है और परमात्मा को अर्हन्त मिद्ध परमेष्ठी है वे उत्पत्ति करके (यत्न ज्ञानके) दृष्ट नहीं है तथा उनकी प्रमा भवना स्वरूप निश्चय नाममें कहा है वह भी शक्तिरूप है, सो वह भी उत्पत्ति कर ज्ञानागार नहीं है (पदार्थ है) इस कारण उत्पत्तिके अपने लोपोपगम ज्ञानका उपयोग दृष्ट है जो हीनक लोपोपगम सेवकके आगमसे परमात्माका स्वरूप निश्चय कर ध्युतज्ञानक भेदरूप गुद्ध नपक द्वारा परमात्माका ध्यान करना चाहिये इसीमें परमात्मपदवी प्राप्ति होती है ॥ ४ ॥

अथ धर्मध्याने भेदोंको करने है,—

आज्ञापापविपाफाना प्रमशः सम्यक्तेस्तथा ।

विषयो यः पृथक् तद्धि धर्मध्यानं चतुर्विधम् ॥ ५ ॥

अर्थ—आज्ञा, अपाव, विपाव तथा सत्यान इत्यादि भिन्न भिन्न विषय (विचार) अनुक्रमसे करना ही धर्मध्यानके चार प्रकार हैं । यहा विषय नाम विचार करने अर्थात् चितवन करनेका है तथा इन चारों प्रकारोंके नाम इस प्रकार करने चाहिये—आज्ञा विषय १, अपावविषय २, विपावविषय ३, और सत्यानविषय ४ ॥ ५ ॥

अथ प्रथम आज्ञाविषय नाम धर्मध्यानका वर्णन करते हैं,—

यस्तु तत्त्व स्पष्टिद्वान्त प्रसिद्धं यत्र चिन्मयेत् ।

सर्वज्ञाज्ञाभियोगेन तदाज्ञाविषयो मनः ॥ ६ ॥

अर्थ—जिस धर्मध्यानमें अपने ज्ञानिद्वान्त प्रसिद्ध वस्तुस्वरूपका सर्वज्ञ अज्ञानकी आज्ञाकी प्रधानतासे चितवन करे सो आज्ञाविषयनाम धर्मध्यानका प्रथम भेद है ॥ ६ ॥

अनन्तगुणपर्यायसयुक्तं तत्त्वयात्मकम् ।

त्रिकालविषयं साक्षाद्विनाशासिद्धमामनेत् ॥ ७ ॥

अर्थ—आज्ञाविषय धर्मध्यानमें तत्त्व आन गुण पदार्थहित अज्ञानक विषय गोचर साक्षात् जिनेन्द्र नाशानकी आज्ञासे निद्ध हुआ चिन्मय करे (मने) ॥ ७ ॥

उक्तं यः ।

“सूक्ष्म जिनेन्द्रचरनं हेतुभिर्यत्तत्त्वम् ।

आज्ञासिद्धं यं तदाज्ञा नापथापादिनां जिनां ॥ १ ॥

अर्थ—जिनेद्र गणन ऐसे प्रयोग के हुए मूल्य तत्त्व हेतुमे मान्य नहीं हैं तत्त्व आज्ञामेही ग्रहण करने (मानने) चाहिये, क्योंकि जिनेद्र भगवान् वीतगा हैं अन्यथाप्राणी नहीं होते। यदि मरण न हो तो निरा जाने अन्यथा नष्ट, अथवा वस्तु न हो तो रागद्वेषके कारण अन्यथा नष्ट और जो मरण और वीतगा हा व अन्यथा नहीं कहेंगा ॥ १ ॥

प्रमाणनयनिश्चेर्पनिणीन नत्प्रमञ्जसा ।

म्यित्युत्पत्तिव्ययोंपेन चिदचिद्वक्षण स्मरेत् ॥ ८ ॥

अर्थ—आज्ञाविषय ध्यानम प्रमाण नय निश्चयमे निष्पन्न स्थिति हुए, म्यिति और व्ययसंयुत अर्थान् उपर्युक्त विनिर्णय स्थिर रहै ऐसा और येनन अचेतनरूप है लक्षण जिसका ऐसे तत्त्वसमूहका चिन्तन करे ॥ ८ ॥

श्रीमत्सर्वज्ञदेवोक्त श्रुतज्ञान च निर्मलम् ।

शब्दार्थनिश्चिन चित्रमत्र चिन्त्यमधिष्ठनम् ॥ ९ ॥

अर्थ—तथा इस आज्ञाविषय ध्यानम श्रीमन्मरण रहने के हुए निर्मल और तथा अथसे परिपूर्ण, नाना प्रकारके निराध श्रुतज्ञानका चिन्तन करना चाहिये ॥ ९ ॥

अथ श्रुतज्ञानका वर्णन करते हैं,—

परिरूपुरति यत्रैतद्विषयविद्याकदम्बरम् ।

द्रव्यभावमिदा तद्धि शब्दार्थज्योतिरधिष्ठितम् ॥ १० ॥

अर्थ—शब्द और अर्थका प्रकाश है मुख्य विषय ऐसा तथा जो समस्त प्रकाश विद्याओंका समूह है अर्थात् आधार आदि अग, पूरे अग, बाह्य प्रदीर्घरूप विद्याका समूह है तथा द्रव्य श्रुत (शब्दरूप) और भावश्रुत (ज्ञानरूप) ये दोनों हैं भेद निश्चित ऐसा सर्वज्ञ भगवान्का कहा हुआ श्रुतज्ञान है ॥ १० ॥

अपारमतिगम्भीर पुण्यतीर्थं पुरातनम् ।

पूर्वापरविरोधादिकलङ्कपरिवर्जितम् ॥ ११ ॥

अर्थ—फिर कैसा है श्रुतज्ञान कि—अपार है क्योंकि, जिससे शब्दोंका पार को अल्पज्ञानी नहीं या सफ़ता तथा गम्भीर है क्योंकि जिसके अर्थकी याद हर को नहीं या सफ़ता तथा पुण्यतीर्थ है क्योंकि, जिसमें पापका लेना भी नहीं है अर्थात् निरा है इसी कारण जीर्णो जीर्ण तारनेवाला है तथा पुरातन है अर्थात् अनादिनालसे चला आया है और पूर्वापरविरोध आदि कलङ्कोंसे रहित है ॥ ११ ॥

नपोपनयसपातगहन गणिभिः स्तुतम् ।

विचित्रमपि चित्रार्थसंकीर्णं विश्वलोचनम् ॥ १२ ॥

अर्थ—निर बेमा है श्रुतज्ञान नि—आधक पदाधारिक नष्ट और सद्गत, असद्गत
मन्त्रादि, न उपाय है श्रुतज्ञान का मत है तथा मन्त्राधिको करके मुक्ति करने
का है तथा निश्चित कतिपय विधियों रीति है तथा निश्चित कहिये आदि प्रसारके
अर्थ है तथा श्रुतज्ञान है—तथा मन्त्रादि नष्ट करके श्रुतज्ञान के लिये नष्टके समान है ॥ १२ ॥

अनेकपदविन्यासैर्द्वयै प्रकीर्णकैः ।

प्रमृत्त पदविभात्युर्थं रक्षाकर इवापर ॥ १३ ॥

अर्थ—निर बेमा है श्रुतज्ञान नि—अनेक पदों का विन्यास (स्था) है जिन
के लक्षणों, और तथा अनेक आदि पद और मानाधिकारि प्रकीर्णकों विन्यास
का है जो वह श्रुतज्ञान निश्चितकर रक्षाकर (मनुष्य) गोमता है उसी प्रकार गोमता
है ॥ १३ ॥

मदमन्त्रोदयधुद्रक्षामनाशीविषान्नकम् ।

श्रुतज्ञानमिध्यात्पक्ष्या नयमोऽनुमण्डलम् ॥ १४ ॥

अर्थ—निर बेमा है श्रुतज्ञान नि—मदमन्त्रोदय, धुद्रक्ष (नीप) सत्तया एकान्त
वाच्योक्त्या ज्ञान (मत) रूपी आधीन कतिपय सत्तया अन्तर है अथान् नष्ट कर
नेका है तथा श्रुतज्ञान कतिपय विषया अतः द्रुत दूर है, ऐसे ही मिध्यात्पक्षी अथ
वाक दूर करनेको मृदमण्डली समान है ॥ १४ ॥

पक्षविश्र जगत्पस्मिन्पिच्छुद्धति जगत्प्रपी ।

येन तद्वि सता सेष्य श्रुतज्ञान चतुर्विधम् ॥ १५ ॥

अर्थ—निर बेमा है श्रुतज्ञान नि—इस जगत्में पवित्र है, क्योंकि, जितके द्वारा
य मीने जगत् पवित्र होते हैं, इसी कारण ही यह श्रुतज्ञान सत्तयाओंके सत्तये योग्य है ।
यह श्रुतज्ञान प्रथमानुयोग, चरणानुयोग, और द्रव्यानुयोग भेदोंसे चार
प्रकारका है ॥ १५ ॥

स्मिन्पुष्पस्तिग्मोपेन तृतीय योगितोचनम् ।

नयद्रव्यममावेशात्साधनादि व्यवस्थितम् ॥ १६ ॥

अर्थ—निर बेमा है श्रुतज्ञान—उत्पाद, व्यव, प्रोच्य करने सत्तया है तथा योगी
श्रोत्रा मन्त्रा नष्ट है तथा द्रव्यार्थिक और पदाधारिक इन दो नष्टोंके कारण सादि
अनादि व्यवस्था रूप है द्रव्य नयसे सत्तानदी अपेक्षा अनादि है और पर्यादनयकी
अपेक्षा मन्त्रारोपी दिव्य ध्वनि प्रगट होता है, इस कारण सादि है ॥ १६ ॥

निशेषनयनिक्षेपनिकषप्रावमसिभम् ।

स्यादादपविनिर्घातभग्नान्यमततृधरम् ॥ १७ ॥

अर्थ—फिर यह श्रुतज्ञान ममम् नय निनेषोमे उन्नुके स्वरूपी पनीषा कर्तव्य नि
कमोटीकी समान है तथा म्याद्वाट कलिये कथचिन् वजनरूपी वज्रके निज्ञानम म
निये है अन्यमतरूपी पर्वत जिसने ऐमा है ॥ १७ ॥

इत्यादिगुणसदर्भनिर्भर मव्यशुद्धितम् ।

ध्यायन्तु धीमता श्रेष्ठा श्रुतज्ञानमहार्णवम् ॥ १८ ॥

अर्थ—इत्यादि पूजाक गुणोंकी रचनासे भरा हुआ, मव्य जीतोंको शुद्धिदा देनेवाला
श्रुतज्ञानरूप महामुद्र है सो इसको शुद्धिमानोन जो श्रेष्ठ है वे श्यामो (चितवन को)
यत् प्रेरणारूप उपदेश है ॥ १८ ॥

अब ऐसे श्रुतज्ञानकी महिमा कहने है,—

शास्त्रविनीतिम् ।

यज्जन्मज्वरघातक त्रिभुवनार्थीगैर्यदभ्यर्चितम्

यत्स्याद्वादमहाध्वज नयशताकीर्ण च यत्पठ्यते ।

उत्पादस्थितिभङ्गलाञ्छनयुता यस्मिन्पदार्था स्थिता

स्तच्छ्रीवीरमुग्धारचिन्दगदित दग्धाच्छ्रुत य शिवम् ॥ १९ ॥

अर्थ—जो श्रुतज्ञान समाररूपी ज्वरका तो घातक है और तीन भुवनके इस इज्जत
पूजित है तथा जो म्याद्वाटरूपी बड़ी ध्वजागला है और सैरुडों नयोंसे पूरा है, एम
कहा जाता है तथा निमम उत्पान, व्यय, ध्रौव्य लाउन युक्त पदार्थ रहते हैं ऐम धीर
मान म्यामीने मुग्धारमलमे कहा हुआ श्रुतज्ञान तुम श्रोता जनोको कल्याणकर हो एम
आगीरित है ॥ १९ ॥

वाग्देव्या कुलमन्दिर बुधजनानन्दैकचन्द्रोदय

मुक्तेर्मङ्गलमग्निम शिवपथप्रस्थानदिन्यानकम् ।

तत्तत्ताभामकुरङ्गपथयदन मय्यान्त्रिनेतु क्षम

नच्छ्रोत्राञ्जलिभि पियन्तु गुणिन सिद्धान्तधार्ढ पयः ॥ २० ॥

अर्थ—जो वाग्देवी (साध्वनी)के रहनेको कुलमृ है तथा सिद्धांत अ
नन्त उपज्ञानके जिये अद्वितीय चन्द्रमाका उत्प है, मुक्तिदा मुख्य भगल य नैमन्त्रिने
मन्त्र कर्तव्य जिये जिय आनर कहिये पण्ड नामका बाग है और तत्ताभाम (नि
धन्व) रूप निमम नाग कर्तव्यो मित्र समान है तथा भव्य श्रोतोंको मन्त्रा
मन्त्रा जिय मन्त्र है ऐम इन सिद्धांतरूपी समुद्रा तलको हो सुनी जना है कर्तव्य
अनन्त्रिने १ पण्ड का ॥ २० ॥

येनैते निपतन्ति वादिगिरयस्तुप्पन्ति योगीश्वरा
भव्या येन विदन्ति निर्धृतिपद मुञ्चन्ति मोहं युधाः ।

यद्वन्धुर्यमिना यदक्षयसुखस्याधारभूतं नृणाम्
तद्दोषद्वयशुद्धिदं जिनवचं पुण्यादिवेकश्रियम् ॥ २१ ॥

अर्थ—जिसके द्वारा प्रसिद्ध वादीरूप परत गिरते हैं अथवा खटखट हो जाते हैं तथा जिनके द्वारा योगीश्वर प्रसन्न होते हैं और जिनके द्वारा भव्य जीव मोक्षप्राप्त हो जाते हैं अर्थात् प्राप्त होते हैं तथा जिनको पत्कर, पंडितजन समारक मोहको छोड़ देने हैं तथा जो यवन संयमी मुनियोंका वधु (हित करनेवाला) हैं तथा जो पुरपोंक अग्नि नागी मुखका आधारभूत हैं इसप्रकार दोनों लोकोंकी गुद्धताका देनेवाला जिनेंद्र भगवानका उच्य भव्य जीवोंकी निवेदनरूपी श्री पुष्ट करे इसप्रकार यह आशीर्वाद है ॥ २१ ॥

सर्वज्ञाज्ञा पुरस्कृत्य सम्यग्दर्शात् विचिन्मयेत् ।

यत्र तद्व्याप्तमाज्ञातमाज्ञाय योगिपुद्गवं ॥ २२ ॥

अर्थ—जिम ध्यानम सर्वज्ञरी आज्ञाको अंगेसर (प्रथा) करके पदार्थोंको सम्यक् प्रकार पितरन करे (निर्धार) मो मुनीश्वरोंने आज्ञाविषय नाम धमध्याय कहा है ॥ २२ ॥

इसप्रकार आज्ञाविषयनामक धमध्यानका प्रथम मद कहा ।

दोहा ।

धीजिन-आज्ञामें बशी धम्मुद्वरूप तु जानि ।

चित्त लगाय तातुमें आज्ञाविषय तु जानि ॥ ३२ ॥

इति श्रीशुभचन्द्राचार्यनिराजिते योगप्रणीपाधिकारे ज्ञानाणवे आज्ञाविरचयणा

वणन नाम त्रयविंश प्रकरण समाप्तम् ॥ ३३ ॥

अथ चतुस्त्रिंश प्रकरणम् ।

आगे अपायविषय नामा धमध्यानके दूसरे भेदका वणन करते हैं —

अपायविषयं ध्याम तद्वदन्ति मनीषिणः ।

अपायं कर्मणा यत्र सोपायं स्मर्यते पुंथं ॥ १ ॥

अर्थ—जिस ध्यानम कर्मोंका अपाय (नाश) हो, तथा सोपाय कहिं दे पन्तिजनो करके चिन्तना दिया जाय कि इन कर्मोंका तारा शिम उपाय क्या है इसप्रकार जिनके चिन्ता करे उस ध्यानको बुद्धिमान पुण्योंने अपायविषय कहा है ॥ १ ॥

श्रीमत्सर्वज्ञनिर्दिष्ट मार्गं रत्नत्रयात्मकम् ।

अनासाय भवारण्ये चिर नष्टाः शरीरिणः ॥ २ ॥

मज्जनोन्मज्जन शब्दद्वयजन्ति भवमागरे ।

वराका प्राणिनोऽप्राप्य यानपात्र जिनेश्वरम् ॥ ३ ॥

अर्थ—इमं ध्यानम एव चित्तम होता है कि ये प्राणी श्रीमत्पद्मजिनेन्द्रके दर्शन लिये हुए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग् चारित्र्यरूप मार्गको न पाकर, ससाररूप वनमें बहुत काल पयत्न नष्ट होते हुए अथान् जन्ममरण और उपार्जन लिये कर्मोंके लक्षणके लक्षण जो रत्नत्रय सो उन्होंने नष्ट पाया ॥ २ ॥ तथा ये रत्न प्राणी जिनेश्वररूपी जहानको न पाकर, ससाररूप समुद्रम निरतर मज्जन उन्मज्जन करते हैं अर्थात् निरतर जन्म मरण पाते रहते हैं और दुःख भोगते हैं इसप्रकार चित्तन करे ॥ ३ ॥

महान्यसनसप्तार्चिं प्रदीप्ते जन्मकानने ।

भ्रमताऽप्य मया प्राप्त सम्यग्ज्ञानाम्बुधेस्तटम् ॥ ४ ॥

अर्थ—कि एव चित्तन करे कि— महान् कष्टरूपी अग्निमें प्रजलित इम सप्तार्चि वनमें भ्रमण करता हुआ मैं इम समय सम्यग्ज्ञानरूपी समुद्रका तट (किनारा) पागया ॥ ४ ॥

अद्यापि यदि निवदयिवेकागेन्द्रमस्मकात् ।

स्मलेत्तदैव जन्मान्ध-कृपपातोऽनियारितः ॥ ५ ॥

अर्थ—कि इमप्रकार चित्ता करे कि—मैंने इम समय सम्यग्ज्ञान पाया है, सो यदि अब भी वैराग्य और भेदज्ञानरूप परतन लियेमें पड़ तो ससाररूप अन्धकार अन्धकार पटना होगा ॥ ५ ॥

अनादिभ्रममभूत कथं निर्वार्यमे मया ।

मिथ्यात्वाविरतिप्राप्य कर्मबन्धनियन्धनम् ॥ ६ ॥

अर्थ—तत्पश्चात् इमप्रकार चित्ता करे कि—अनादि अविनाशे उपाय हुए तथा जिनमें मिथ्यात्व व अविनाशी वस्तुता है ऐसे कर्मजन होने का कारण मुक्तता प्राप्त करण निवारण लिये जायगे ॥ ६ ॥

मोह मिद्वं प्रमिद्वत्मा दृषोपधिमलेक्षण ।

जन्मपट्टे चिर विघ्नं क्षणजमान व्यकर्मणा ॥ ७ ॥

अर्थ—कि एव चित्तन करे कि— प्रमिद्व है स्वयं प्रमिद्व एव मैं प्रमिद्व है, इम जन्म ही जन्म नष्ट है किन्तु एव ही तत्पश्चात् मया प्राप्त कीवर्ण प्राप्त उपार्जन लिये करे ॥ ७ ॥

एकान कर्मणा सैन्यमामेकस्तनोऽन्यत ।

म्यातच्छमप्रमत्तो न मयास्मिन्नरिसकटे ॥ ८ ॥

अर्थ—इस संग्राम एक ओर तो कर्मोंकी सत्ता है और एक तरफ मैं अकेला हूँ, इगवारण इस शत्रुसमूहमें मुझको अग्रमत (गावधात) होकर, रहना चाहिये असावधान रहना तो कयरूप बेगी बहुत है, इसमें मैं मुक्त निगाह दूँगे ॥ ८ ॥

निर्द्वेष कर्मसंघात प्रयत्नध्यानवह्निना ।

कदा न्य दोषपिप्प्यामि घातुम्यमिष काशनम् ॥ ९ ॥

अर्थ—फिर ऐसा विचार कि निग्रहकार अन्य धातु (पापान) में मिला हुआ कचन आग्नि दोषपर गुद्वि दिया जाता है उसी प्रकार मैं प्रयत्न ध्यानरूप अग्निके द्वारा कर्मोंके समूहको नष्ट करके, आत्माको क्या गुद्वि करूँगा? इसप्रकार विचार करे ॥ ९ ॥

विमुपेयो ममात्माप किंवा विज्ञानदर्शने ।

चारण वापयर्गाय त्रिभि साद्व स एव वा ॥ १० ॥

अर्थ—फिर ऐसा विचार करे कि— मोक्ष किसे मेरे यह आत्मा उपादेय है, अथवा ज्ञानदान उपादेय है, अथवा चारित्र उपादेय है, अथवा ज्ञानान्धन चारित्र इन तीनों सहित आत्मा ही उपादेय है ॥ १० ॥

बोद्ध ममान्वय कस्मात्कथं बन्धं क निर्जरा ।

वा मुक्ति किं विमुक्तस्य स्वरूप च निगद्यते ॥ ११ ॥

अर्थ—फिर ऐसा विचार कि मैं बंधन हूँ और मेरे कर्मोंका आन्ध्र क्या होता है? तथा कर्मोंका बंध क्यों होता है? और किस कारणसे निजरा होती है? और मुक्ति क्या बन्तु है? एवं मुक्त होनेपर आत्माका क्या स्वरूप कहा जाता है? ॥ ११ ॥

जन्मन प्रतिपक्षस्य मोक्षस्यात्यन्तिक सुखम् ।

अपापाय स्वभावोत्थ केनोपायेन लभ्यते ॥ १२ ॥

अर्थ—फिर ऐसा विचार कि— समारका प्रतिपक्षी जो मोक्ष है उसका अविनाशी, अनन्त, अज्वायाध (बाधा रहित), स्वभावम ही उत्पन्न हुआ (स्वाधीन) सुख किस उपायसे प्राप्त हो? ॥ १२ ॥

मत्पेय विदिते साक्षाद्विज्ञात भुवनत्रयम् ।

यतोऽहमेव सर्वज्ञ सर्वदर्शी निरञ्जन ॥ १३ ॥

अर्थ—फिर ऐसा ध्यान करे कि मेरे स्वरूपको जाननेसे मैंने तीनों भुवन जान लिये क्योंकि, मैं ही सृज्ज, सृज्जका देखनेवाला, निरञ्जन आर समस्त कमकालिमाने रहित हूँ ॥ १३ ॥

॥ ८ ॥

“एको भावः सर्वभावस्वभावः सर्वे भावा एकभावस्वभावाः ।

एको भावस्तत्त्वतो येन बुद्धः सर्वे भावास्तत्त्वतस्तेन बुद्धा ॥ १ ॥

अर्थ—एक भाव सर्व भावों के स्वभावस्वरूप है और मन भाव एक भाव के स्वभावस्वरूप है, इसकारण जिसने तत्त्वमें (यथा-अपनेमें) एक भाव को जाना उसने समस्त भावों का यथा-अर्थ जाना । भावार्थ—आत्मा एक ज्ञानभाव ऐसा है कि निम्ने समस्त भाव (पदार्थ) प्रतिबिम्बित होते हैं उन पदार्थों के आकारस्वरूप आप होता है तथा वह भाव सत्र जेय है उनसे जितने आकार हैं वे एक ज्ञान के आकार होते हैं इसकारण, जे इस प्रकार के ज्ञान के स्वरूप को यथार्थ जानता है, उसने मरही पदार्थ जाने अर्थात् ज्ञान जेय आकार हुआ इसकारण ज्ञान को जाना तत्र सत्र हा जाना । क्योंकि ज्ञान ही जाना है इसकारण ऐसा कहा है ॥ १ ॥

यावन्नावच सयन्तो मम स्याद्वाचवस्तुभिः ।

तावत्तावत्सत्रय स्वस्मिन्स्थितिः स्वप्नेऽपि दुर्यता ॥ १४ ॥

अर्थ—किर ऐसा ध्यान करे कि—जब २ मेरे साथ बलुआमें सन्तुष्ट होते हैं तब २ मेरी आपहीमें अपनेमें स्थिति होना स्वप्न भी दुर्यत है ॥ १४ ॥

तथैवैतेऽनुजृयन्ते पदार्था मृत्रमृचिना ।

अतो मार्गेऽथ लभोऽहं प्राप्तं त्वं शिरास्पदम् ॥ १५ ॥

अर्थ—किर ऐसा विचार कि जिन मूत्रम जो पदार्थ करते हैं वे वैसे ही अनुभव किए जाते हैं और जैसे कहे हैं वैसे ही दीगते हैं इसकारण इस मूत्र के मार्गमें लगा है इस कारण मोक्षध्यान में पाया हुआ ही मानता हूं क्योंकि, जब मार्ग पाया और उस मार्ग पर चलता तो अमर्त्य विज्ञान प्राप्त हुआ ही कहा जाता है ॥ १५ ॥

इत्युपायां विनिश्चयो मार्गाध्ययनलक्षणः ।

कर्मणा च तथापाय उपायश्चात्मसिद्धये ॥ १६ ॥

अर्थ—इस प्रकार पूर्वोक्त मोक्षमार्गमें नहीं पड़ना है तथा जिनका ऐसा ही उपाय निश्चय करना तथा वैसे ही कर्मों का अपाय (नाश) विधाय करना, इस प्रकार आत्मा और उपाय दोनों का अन्तर्ही सिद्धि कि नियम करना चाहिये ॥ १६ ॥

मादिना ।

इति नयनामसीमावस्थि निर्देनदोष

च्युतमस्तकम् कर्तुं कीर्तितं ध्यानमेतत् ।

अविश्वमनुपूर्वं ध्यायतोऽन्तप्रसाद

मूर्तिरिति यदि विमृशे शास्त्रावयवप्रकाश ॥ १७ ॥

अर्थ—यह पूर्वाप्त प्रकारका अपादविषयनामा ध्यान संकटों नयोंको अलम्बन करनेवाला है तथा दूर विये है समस्त दोष निसर्ग ऐसे समस्त फलकारहित सर्वज्ञदेवने कहा है सो जो बौद्ध पुरुष इसको अनुक्रमसे निरंतर प्रमादरहित होकर, ध्याता है, उसके हृदयमें निम्न चानरूप सुंदरा प्रकार स्फुराद्यमान होता है ॥ १७ ॥

इसप्रकार अपादविषय नामक धमध्यानके दूसरे भेदका वान लिया ।

होता ।

मोक्षमागमे विप्रको मिटे वान विधि सोय ।

हर्मि चिर्न क्षात्री जंबे, विचय अपाय सु होय ॥ १४ ॥

इति धीगुभयद्राघादयिरचिते योगप्रदीपाधिकारे ज्ञानाणवे अपायविचयवर्णन

नाम चतुर्विंश प्रकरण समाप्तम् ॥ ३४ ॥

अथ पञ्चत्रिंश प्रकरणम् ।

आगे विपाकविषयनामा धम ध्यानके तीसरे भेदका वर्णन करते हैं—

स विपाक इति ज्ञेयो य स्वकर्मफलोदय ।

प्रतिक्षणसमुद्भूतश्चिग्रूपः शरीरिणाम् ॥ १ ॥

अर्थ—प्राणियोंके अपने उत्पादन विये हुए कर्मके फलका जो उदय होता है वह विपाक नामसे कहा है सो वह कर्मोदय क्षण क्षणप्रति उदय होता है और शनावरणादि अनेक रूप है ॥ १ ॥

कर्मजात फल दत्ते विधिग्रमित् देहिनाम् ।

आस्ताद्य नियत नाम द्रव्यादिकचतुष्टयम् ॥ २ ॥

अर्थ—जीवोंके कर्मोंका समूह निश्चित द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप चतुष्टयको पारर, इस लोकमें अनेक प्रकारसे अपने नामानुसार फलको (आगे कहते हैं उत्सप्रकार) देता है ॥ २ ॥

सात्त्विकविधीकृतम् ।

स्वकृशय्यासनपानयस्त्रवनितायादिग्रमिश्राङ्गजान्

कर्पूरागुरुचन्द्रचन्दनवनफ्रीडाद्रिसौधध्यजान् ।

मातङ्गाश्च विहङ्गचामरपुरीमक्षालपानानि धा

छादीनुपलभ्य यस्तुनिचयान्सौख्ये अपन्तेऽङ्गिनः ॥ ३ ॥

अर्थ—ये प्राणी पुष्पमाला, सुंदर शय्या, आसन, यान, वस्त्र, छी, चाजे, मित्र, पुत्रादिको तथा कपूर, अगुरु, चंद्रमा, चंदन, वनफ्रीडा, पथर, गहल, ध्वजादिको तथा

हस्ती, घोटे, पक्षी, चमर, गरी और मने योग्य अथानात्रिको तथा छत्रात्रिक वट, समूहको पाकर, मुमता आश्रय करते हैं अथान् भोगते हैं ॥ ३ ॥

तथा—

क्षेत्राणि रमणीयानि सर्गचुसुग्गदानि च ।

कामभोगास्पदान्युच्चैः प्राप्य सौख्यं निपेज्यते ॥ ४ ॥

अर्थ—सर्ग ऋतुओं में सुख देनेवाले, रमणीय और काम भोगके स्थान ऐसे प्रदेशों को प्राप्त होकर, अतिशय सुखका अनुभव करते हैं ॥ ४ ॥

साकूलविक्रीडितम् ।

प्रासासिधुरयत्रपन्नगरव्यालानलोग्रग्रहान्
शीर्णाद्गान्धूमिकीटकण्ठरुजःक्षारास्थिपङ्कोपलान् ।

काराश्लक्ष्णलज्जुकाण्डनिगडक्रूरारिवैरास्तथा

द्रव्याण्याप्य भजन्ति दुःखमग्निल जीवा भवाच्चस्थिता ॥ ५ ॥

अर्थ—सत्तारूप मार्गमें रहते हुए जीव सेल, तरवार, छूरा, यन्त्र, नदूक आदि शस्त्र और सर्प, विष, दुष्ट हस्ती, अग्नि, तीन छोटे ग्रहादिको तथा दुर्गन्धित सड़े हुए भग, लट, कीड़े, काटे, रुज, क्षार, अस्थि, कीच, पाषाणादिको तथा बड़ीखाना (नेल्खाना), साकल, कीला, काड, वेडी, क्रूर (दुष्ट), वैरी, वैर इत्यादि द्रव्योंको प्राप्त होकर, सनत दुःखोंको भोगते हैं ॥ ५ ॥

निसर्गेणातिरौद्राणि भयक्लेशास्पदानि च ।

दुःखमेवामुचन्त्युच्चैः क्षेत्राण्यासाद्य जन्तवः ॥ ६ ॥

अर्थ—ये प्राणी स्वभावसे ही रौद्र, भय और क्लेशके ठिकाने, ऐसे क्षेत्रोंको प्राप्त होकर, अतिशय दुःखोंको ही पाते हैं ॥ ६ ॥

अरिष्टोत्पातनिर्मुक्तो वातवर्षादिवर्जितः ।

शीतोष्णरहितः कालः स्यात्सुराद्य शरीरिणाम् ॥ ७ ॥

अर्थ—अरिष्ट (दुःख देनेवाले) उत्पातसे रहित तथा पवन वर्षाआदिसे वर्जित और शीत उष्णता रहित काल जीवोंको सुखके लिये है ॥ ७ ॥

वर्षातपतुपारात्य ईत्युत्पातादिसकुलः ।

कालः सदैव सत्त्वानां दुःखानलनिपन्धनम् ॥ ८ ॥

अर्थ—वर्षा, आतप, हिम (यन्त्र) सहित तथा इति कहिये स्वयम् परचक्रादिकोंके उत्पात आदि सहित काल जीवोंको निरन्तर दुःखरूप अग्निका कारण है ॥ ८ ॥

इस प्रकार द्रव्य, क्षेत्र, कालसे संग्रहसे जो कर्मोंका उद्भव होता है, उनके निमित्तने सुख, दुःख होके वर्णित किया ।

अथ जो नाशने सुख, दुःख होता । उत्तरा वर्णन करते हैं ।

प्रदामादिममुद्गता भाव सौगंधाय देहिनाम् ।

कर्मगौरवज मोड्यं मत्ताप्यसनमन्दिरम् ॥ ९ ॥

अर्थ—जो कर्मों के उपनामादिकों से उत्पन्न हुआ भाव है, वह तो जीवोंको सुखक
अर्थ है, और जो कर्मों तीव्र गुणपाते उत्पन्न हुआ भाव है, तो महान् कष्टका
र है ॥ ९ ॥

मूलप्रकृतपस्तत्र कर्मणामष्ट कीर्तिता ।

ज्ञानावरणपर्यास्ता जन्मिना पन्धयेतय ॥ १० ॥

अर्थ—कर्मों के मूल प्रकृति (भेद) आठ कहीं है । ज्ञानावरणादिक वे जीवोंके
बंधनका कारण है ॥ १० ॥

ज्ञानावृत्तिवार कर्म पञ्चभेद प्रपञ्चितम् ।

मिरुद्धं येन जीवाना मतिज्ञानादिपञ्चकम् ॥ ११ ॥

अर्थ—उन आठ कर्मों प्रकृतियोंमें प्रथम ज्ञानों आवरण करनेवाला ज्ञानावर
णीय कर्म पांच भेदरूप कहा गया है । इन पांचों ज्ञानावरण कर्मोंने जीवोंके मति
ज्ञानादिक (मति, सुत, अगति, मन-पश्य और केवल) पांचों ज्ञानोंको रोक रक्खा है
अर्थात् ढक रक्खा है ॥ ११ ॥

नयभेद मत्त कर्म दृशावरणसंश्लक्षम् ।

कल्पते येन जन्तुना द्वाभ्यदिष्टार्थदर्शनम् ॥ १२ ॥

अर्थ—दृश्या दृशनावरण नामका कर्म वह नय प्रसारका है, जिसने जीवोंके निरन्तर
इष्ट वस्तुके दर्शनको रोक रक्खा है अर्थात् ढक रक्खा है ॥ १२ ॥

वेदनीय विदु प्राज्ञा छिधा कर्म शरीरिणाम् ।

पन्मघूच्छिष्टतद्व्यक्त-शास्त्रपारासमप्रभम् ॥ १३ ॥

अर्थ—इसके पश्चात् तीसरा वेदनीय कर्म दो प्रकारका है, एक सादा वेदनीय और
दूसरा अमातावेदनीय । सो यह कर्म जीवोंको सहित लिपटी तरवारकी धारके समान
किंचित् सुखदायक है ॥ १३ ॥

१ ज्ञानावरणीय २ दृशनावरणीय ३ मोहनीय ४ अन्तराय ५ वेदनीय ६ आयु ७ काम ८ और मोह
८ ये आठ मूल प्रकृति हैं ।

१ मतिज्ञानावरणीय २ सुतज्ञानावरणीय ३ अवधिज्ञानावरणीय ४ मन-पश्य ज्ञानावरणीय ५ और केवल
ज्ञानावरणीय ।

१ निरा २ निराविज्ञा ३ प्रवृत्ति ४ प्रवृत्तिप्रवृत्ति ५ स्थानादि ६ अविदुषावरणीय ७ अविदुषावरणीय
८ अविदुषावरणीय ९ अविदुषावरणीय १० अविदुषावरणीय ।

सुरोरगनराधीशमेवितं श्रयते सुगम् ।

सातोदयचशात्प्राणी सकल्पानन्तरोद्भवम् ॥ १४ ॥

असंख्योदयात्तीव्र शरीर मानस क्रिया ।

जीवो विसृज्यते दुःख शश्वच्छुभ्रादिभूमिषु ॥ १५ ॥

अर्थ—यह प्राणी माताप्रेम्नीयके उदयके वशसे तौ देवेन्द्र, नागेन्द्र, धर्मीन्द्र, चक्रवर्तियोंसे सेवित तथा मनके सख्य करते ही प्राप्त होनेवाले सुगमो प्राप्त होना है और असाता वेदनीयके उदयसे शरीरसयधी और मनमनधी दो प्रकारके तीन दुःख नरकादिक वृथिवियोंमें भोगता है ॥ १४—१५ ॥

दृष्टिमोहप्रकोपेन दृष्टि साध्वी विलुप्यते ।

तद्विलोपातिमज्जन्ति प्राणिनः श्वभ्रसागरे ॥ १६ ॥

अर्थ—सत्यश्वात् चौथा मोहनीय कम है उसके दो मूल भेद हैं—एक दर्शनमोहनीय और दूसरा चारित्रमोहनीय इनमेंसे दर्शनमोहनीय नामक कर्ममें प्रकोपमें (उदयन) जीवोंका सम्यग्दर्शन लोपा जाता है सम्यग्दर्शनके लोपमें जीव नरकस्त्री समुद्रमें डूबता है, इस दर्शनमोहनीयकी मिथ्यात्व, सम्यग् मिथ्यात्व और सम्यग् प्रकृति मिथ्यात्व ऐसे तीन प्रकृतिय हैं ॥ १६ ॥

चारित्रमोहपाकेन नाद्विभिर्लभ्यते क्षणम् ।

भावशुद्ध्या स्वसात्कर्तुं चरणस्वान्तशुद्धिदम् ॥ १७ ॥

अर्थ—दूसरा चारित्रमोह कर्म है उसके उदयसे यह प्राणी मनकी शुद्धि देने वाले चारित्रको भावकी शुद्धतासे अगीकार करनेके लिये क्षणमात्र भी समर्थ नहीं होता ॥ १७ ॥

लब्ध्वापि यत्प्रमाद्यन्ति यत्स्खलन्त्यथ सयमात् ।

सोऽपि चारित्रमोहस्य विपाकः परिकीर्तितः ॥ १८ ॥

अर्थ—जो सयम (चारित्र) को ग्रहण करके भी जीव प्रमादरूप होता है अर्थात् सयमसे भ्रष्ट हो जाता है उसका कारण भी चारित्र मोहका उदय कहा है। भावार्थ—पहिले श्लोकमें तौ चारित्रमोहके उदयसे सयमको ग्रहणहीन कर सबै ऐसा कहा है और यहा ऐसा कहा है कि कदाचिन् चारित्रमोहके क्षयोपशमसे चारित्र (सयम) ग्रहण कर ल तो उसमें भी प्रमाद होता है अथवा तीव्र उदय होता है तो सयमसे भ्रष्ट भी हो जाता है। इस चारित्रमोहकी प्रकृति जो शोध मान माया लोमादिक २५ कषाय हैं, उनका वर्णन अन्यप्रयोगसे जानना ॥ १८ ॥

अथ आयु कर्मके विपाकको करते हैं,

उपजाति ।

सुरायुरारम्भकर्मपाकात्सभूय नाके प्रथितप्रभायै ।

समर्प्यते देहिभिरायुरग्य सुखामृतखादनलोत्थितैः ॥ १९ ॥

अर्थ—पाचवाँ आयुक्रम है उसके ४ भेद हैं— देवायु मनुष्यायु त्रियगायु ३ और नारकायु सो इनमेंसे देवायु उत्पन्न करनेवाले कर्मके उदयसे प्राणी स्वर्गमें उत्पन्न होकर, विख्यात हैं प्रभाव जिसका और सुखामृतके आस्वादनमें आमत्त है चित्त जिसका ठेमा देव हो, स्वर्गके सुख भोगता है ॥ १९ ॥

उपेन्द्रवत्ता ।

नरायुषं कर्मविपाकयोगाद्भरत्वमासाद्य शरीरभाज ।

सुखासुखाक्रान्तधिपो नितान्त नपन्ति कालं यदुभिः प्रपक्षैः ॥ २० ॥

अर्थ—तथा प्राणी मनुष्यायु नामा कर्मके उदययोगसे मनुष्यत्वको पाकर कुछ सुख, कुछ दुःखसे घ्यात है बुद्धि जिनकी ऐसे हो, नानाप्रकारके प्रपक्षोंसे (कादोंमें) काल यापन करते हैं ॥ २० ॥

चरस्थिरविकल्पासु तिर्यग्गतियु जन्तुभिः ।

तिर्यगायुःप्रकोपेन दुःखमेवानुश्रूयते ॥ २१ ॥

अर्थ—तथा प्राणी तिर्यच आयु के उदयसे व्रत स्थावर हो भेदरूप तिर्यचगतिदोष उत्पन्न होकर, केवल दुःख ही दुःख भोगने हैं ॥ २१ ॥

नारकायुःप्रकोपेन नरकेऽचिन्त्ययेदने ।

निपतन्त्यङ्गिनस्तूर्णं कृतार्त्तिकरणस्थना ॥ २२ ॥

अर्थ—तथा नारकायु कर्मके उदयसे प्राणी अचिन्त्यवेदनावाले नरकोंके दिलोंमें जिनके मुननेसे करणा हो आवे ऐसे शब्द करते हुए उत्पन्न होने हैं और पापप्रकारके दुःख भोगने हैं ॥ २२ ॥

नामकर्मोदय साक्षाद्भक्ते विप्राण्यनेकधा ।

नामानि गतिजात्यादिविकल्पानीह देहिनाम् ॥ २३ ॥

अर्थ—तथा जीवोंको नामकर्मका उदय अनेकप्रकारके गति जाति आदि ०१ भेद वाले नामोंको साक्षात् धारण करता है । नमकर्मकी ०३ प्रकृतिदोषा जन्म लक्षणदि विशेष भेद गोमटसार प्रयोगे जानना ॥ २३ ॥

गोप्राण्य जन्तुजातस्य कर्म दत्ते स्थलं कल्पम् ।

शास्ताशस्तेषु गोत्रेषु जन्म निष्पाप सर्वथा ॥ २४ ॥

अर्थ—तथा गोत्रनाम कर्म जीवोंके समूहको ऊच नीच गोत्रमे उत्पन्न कराकर, सप्रकारसे अपना फल देता है ॥ २४ ॥

निरुणद्धि स्वसामर्थ्याद्दानलाभादिपञ्चकम् ।

विघ्नसन्ततिविन्यासैर्विघ्नकृत्कर्म देहिनाम् ॥ २५ ॥

अर्थ—आठवा कर्म अन्तराय है मो विघ्न करनेवाला है। वह अपनी सामर्थ्यसे (उत्पत्ति) जीवोंके प्राप्त होनेवाले शक्ति ज्ञान लाभ भोग उपभोगोंमे विघ्नसन्ततिरी रख करता है अर्थात् दानभोगादिकम अन्तराय डालकर, उनको रोकता है ॥ २५ ॥

मन्दवीर्याणि जायन्ते कर्माण्यतियलान्यपि ।

अपक्वपाचनायोगात्फलानीव वनस्पतेः ॥ २६ ॥

अर्थ—पूराक अष्ट कर्म अतिशय बलिष्ठ है तथापि जिसप्रकार वनस्पतिके फल तिन पके भी पवनके निमित्तमे (पाल आदिसे) पक जाते हैं उसी प्रकार इन कर्मोंके सिति पूरी होनेसे पहिने भी तपश्चरणादिकसे मन्दवीर्य (अल्पफल देनेवाले) जाते हैं ॥ २६ ॥

उपेन्द्रवज्रा ।

अपक्वपाकं क्रियतेऽस्ततन्त्रैस्तपोभिरुग्रैर्वरशुद्धियुक्तैः ।

क्रमाद्गुणश्रेणिसमाश्रयेण सुसंयुक्तान्तःकरणैर्मुनीन्त्रैः ॥ २७ ॥

अर्थ—नष्ट हुआ है प्रमाद जिज्ञा और सम्यक्प्रकारसे स्वरूप हुआ है तब तिनका ऐसे मुनीन्द्र उत्कृष्ट विपुलतासहित तपोसे अनुक्रमसे गुणश्रेणी निर्जराका आश्रय करके तिन पके कर्मोंकी भी प्रकारर स्थिति पूर्ण हुए तिनही निर्जरा करते हैं ॥ २७ ॥

द्रव्याणुत्कृष्टसामग्रीमासाद्योन्नतपोषलात् ।

कर्माणि घातयन्त्युद्यैस्तूर्यध्यानेन योगिनः ॥ २८ ॥

अर्थ—योगीश्वर द्रव्यश्रेष्ठरत्नभाण्डी उत्कृष्ट सामग्रीको प्राप्त होकर, तीव्र तपसे बलमे इस विचार विषय नामा ध्याने पथात् चौथे संस्थानविषय तामा ध्याय कर्मोंको अनियततासे साथ नष्ट करते हैं ॥ २८ ॥

विहीनाशेषकर्माणि स्फुरन्तमतिनिर्मलम् ।

व्य तत पुरुषाकारं स्वाद्गर्भगतं स्मरेत् ॥ २९ ॥

अर्थ—उक्त विधानमे कर्मोंकी निजरासे बिलय हुए हैं समस्त कर्म तिनमे पद्मगन्धाने निर्मल पुष्पाकाररूप अपने अंगमें ही प्राप्त हुए आत्माको स्मरण करता है अथवा चिन्तन (ध्यान) करता है ॥ २९ ॥

आलिनी ।

इति विविधविकल्प कर्म विग्रथस्वरूपम्
प्रतिसमयमुदीण जन्मवर्त्यद्वाभोजाम् ।
गिरपरविषयाणा भावपक्षस्ततन्द्रो
दहति दुरितकक्ष सयमी शान्तमोह ॥ ३० ॥

अर्थ—पूर्वाप्तप्रकार अनेक हैं भेद (विस्तर) जिसमें ऐसे कमका स्वरूप ससारमें बगनेवाले प्राणी स्थावर जगत् के समय समयप्रति उदयरूप है उसको शान्तमोह सयमी मुनि प्रमादरहित होकर, विचारता हुआ वापरूपी वनको दग्ध करता है ॥ ३० ॥

आर्तुलविहीनत्वम् ।

इत्थ कर्मकदुर्मपाककलिता ससारघोराण्ये
जीया दुर्गतिदुःखपादयशिग्यासन्तानसतापिता ।
मृत्युन्पस्तिमहोर्मिजालनिचितामिध्यात्यवातेरिता
प्रिद्यन्ते तदिदं स्मरन्तु नियत धन्याः स्वसिद्धयर्थिन ॥ ३१ ॥

अर्थ—इसप्रकार भवान् ससाररूप समुद्र में जो जीव हैं ते ज्ञानावरणादिक कर्मोंके कटुताकसे (तीव्रोदयसे) संयुक्त हैं वे दुर्गतिके दुःखरूपी बह्वानलसी ज्वालाके संतानसे सतापित हैं तथा मरण जन्मरूपी बड़ी लहरक समूहसे परिपूर्ण भरे हैं तथा मिथ्यात्वरूप पवनके प्रेरे हुये जैसा भोगते हैं सो जो धन्य पुरुष हैं वे अपनी मुक्तिरी सिद्धिके लिये इस विषयविषयध्यानको स्मरण कर (ध्यायें) ॥ ३१ ॥

इसप्रकार निपाकविषय ध्यानका बणन किया । इसका सन्नेप यह है कि ज्ञानावरणादिक कम जीवोंके अपने तथा परके निरन्तर उदयमें आते हैं सो यह निपाक है इसको पित्तवन करनेसे परिणाम निगुद्ध हो जानेपर कर्मोंके नाश करनेका उपाय करै सब युक्त होता है ॥

श्लोक ।

दुःखं सुखं आय आपवे, कर्मविषय विचार ।
ए नीको यह ध्यानमवि करो दुःखहरतार ॥ ३५ ॥

इति श्री गुमफद्रापायविरचिते योगप्रदीपाधिकारे ज्ञानार्णवे निपाकविषय
बणन नाम पञ्चविंश प्रकरण समाप्तम् ॥ ३५ ॥

अथ पदत्रिंश प्रकरणम् ।

आगे सस्थानत्रिचय नामक धर्मध्याके चौथे भेदका वर्णन करने हैं इस प्रकार लोकका स्वरूप निचारा जाता है, इसकारण लोकका वर्णन किया जाता है,—

अनन्तानन्तमाकाश सर्वतः स्रग्प्रतिष्ठितम् ।

तन्मध्येऽयं स्थितो लोकः श्रीमत्सर्वज्ञवर्जितः ॥ १ ॥

अर्थ—प्रथम तो सत्तरक (चारों ओर) अनन्तात्त प्रदेशरूप आकाश है सो वह स्वप्रतिष्ठित है अर्थात् आपही अपने आधारपर है, क्योंकि उसमें बड़ा अन्य कोई पद नहीं है जो उसका आधार हो। उस आकाशके मध्य (बीच) में यह लोक स्थित है, सो श्रीमत्सर्वज्ञ देवने वर्णन किया है इसकारण प्रमाणभूत है क्योंकि, अमल कल्पना करके अन्य किसीने नहीं कहा सगुण भगवानने प्रत्यक्ष देखकर, जैसा है वैसा ही वर्णन किया है ॥ १ ॥

स्थित्युत्पत्तिव्ययोपेतै पदार्थश्चेतनेतरैः ।

सम्पूर्णोऽनादिसिद्धः कर्तृव्यापारवर्जितः ॥ २ ॥

अर्थ—यह लोक ध्रौव्य, उत्पाद और व्यय (क्षय) करके सयुक्त चेतन अचेतन पदार्थसे सम्पूर्णतया भरा हुआ है, और अनादिसिद्ध है कर्ता के व्यापार वर्जित है अर्थात् केई अन्यमती इस लोकका कर्ता हर्ता इश्वर आदिको कहते हैं तथा कच्छप वा शेष नागके ऊपर स्थित है इत्यादि बुद्धिकल्पित असत्यार्थ कल्पना करके कहते हैं सो वैसा नहीं है सगुणने जैसा कहा है वैसा ही सत्य है ॥ २ ॥

ऊर्ध्वाधोमध्यभागैर्षो विभर्ति भुवनत्रयम् ।

अतः स एव सूत्रज्ञैस्त्रैलोक्याधार इष्यते ॥ ३ ॥

अर्थ—तथा यह लोक ऊर्ध्व, मध्य, अधोभागसे तीन भुवनोको धारण करता है इसकारण सूत्रके जाननेवाले तीन लोकका (तीन जगत्तका) आधार इस लोकको कहते हैं ॥ ३ ॥

उपर्युपरि सक्रान्तै सर्वतोऽपि निरन्तरैः ।

त्रिभिर्वायुभिराकीर्णो महावेगैर्महाबलैः ॥ ४ ॥

अर्थ—तथा यह लोक उपरि उपरि (एकके उपरि एक) सब तरफसे अंतरहित महावेगवान् महाबलवाले तीन पवनोंने बना हुआ है ॥ ४ ॥

घनावि प्रथमस्तेषां ततोऽन्यो घनमारुतः ।

तनुयातस्तृतीयोऽन्ने विज्ञेया चायं क्रमात् ॥ ५ ॥

अर्थ—उन तीन पवनोमसे प्रथम तो यह लोक घनोदधि नाम पवनमे घेडा हुआ है, उसके ऊपर घनवात नामका पवन घेडा हुआ है और उसके ऊपर अतमें तनुवात नामका पवन है इस प्रकार तीन पवनोसे घेडा हुआ है, इसी कारण इधर उधर हट नहीं सकता किन्तु आकाशके मध्यभागमें स्थित है ॥ ५ ॥

उद्धृत्य सकल लोक स्वशक्त्यैव व्यवस्थिताः ।

पर्यन्तरहिते व्योम्नि मरुत प्रागुविमृता ॥ ६ ॥

अर्थ—और ये तीनों पवन तीन लोकोंको धारण करके अपनी शक्तिसे ही हम अत रहित आकाशमें अपने शरीरको विस्तृत किये हुए स्थित हैं ॥ ६ ॥

घनाब्धिबलये लोक संवनान्ते व्यवस्थिताः ।

तनुवातान्तरे सोऽपि सचाकाशे स्थितः स्वयम् ॥ ७ ॥

अर्थ—यह लोक तो घनोदधि नामके वात बलमें स्थित है और घनोदधि वातबलमें घनवात बलमें मध्यमे है अर्थात् घनोदधि वातबलमें घनोदधि और घनवातबलमें घनवात हुआ है और घनवातबलमें घनवात तरफ तनुवातबलमें घनवात हुआ है और तनुवातबलमें आकाशमें स्वयमेव स्थित है इसमें किसीका कोट वर्तव्य नहीं है अनादिकालमें इसी प्रकारकी व्यवस्था है ॥ ७ ॥

अथो घेन्नासनाकारो मध्ये स्याज्जाह्नरीनिभः ।

मृदङ्गाभस्तनोऽप्यूर्ध्वे स त्रिधेति व्यवस्थितः ॥ ८ ॥

अर्थ—यह लोक नीचेसे तो घेन्नागन बहिये की जे आकारका है अर्थात् नीचेसे चौड़ा है फिर घटता २ मध्यलोक पयत चौड़ा है फिर मध्यलोक हाथपर आकारका है और उसके ऊपर ऊपलोक मृदङ्गके आकारका है अर्थात् बीचसे कुछ चौड़ा और दोनो तरफ चौड़ा है ऐसे तीन प्रकारके लोककी व्यवस्था है ॥ ८ ॥

अस्य प्रमाणमुद्रात्मा सप्तसप्त च रज्जवः ।

सप्तैका पञ्च द्वैका च मूलमध्यान्तविस्तरः ॥ ९ ॥

अर्थ—इस लोककी उपार्ध तो सातसात राजू है अर्थात् नीचेसे सप्तसप्त सात लोकपयत सात राजू है और उसमें ऊपर सात राजू है हाथपर चौड़ा राजू ऊपर है और मूलमें चौड़ा सात राजू है तो घटता घटता मध्यलोक तक राजू चौड़ा है और उसके ऊपर बीचमें पंच राजू चौड़ा है और अतसे और आगे मध्यलोक निबट एक एक राजू चौड़ा है ॥ ९ ॥

अब अधोलोकम जो नारनियोंकी निग्रामभूमि है उनका वर्णन करते हैं —

तत्राधोभागमासाद्य सस्थिता सप्तभूमय ।

यासु नारकपण्डाना निवासा सन्ति भीषणा ॥ १० ॥

अर्थ—इस लोकके अधोभागम सात पृथिवी हैं, जिनम नारकी नपुंसक जीवोंके व भयकारी निग्रामस्थान हैं ॥ १० ॥

काश्चिद्वज्रानलप्रख्याः काश्चिच्छीतोष्णसकुलाः ।

तुषारबहुला काश्चिद्रूमयोऽत्यन्तभीतिदा ॥ ११ ॥

अर्थ—उन सप्त नारकी पृथिवियोंमें ऊँचे तो वज्राग्निके समान उष्ण हैं, क शीत उष्णतासे व्याप्त है और कई अत्यन्त हिममाली है इसप्रकार अविशय भयकारक हैं ॥ ११ ॥

उदीर्णानलदीप्तासु निसर्गोष्णासु भूमिषु ।

मेरुमात्रोऽप्यय.पिण्ड. क्षिप्त. सद्यो विलीयते ॥ १२ ॥

अर्थ—उदयरूप है अग्नि जिनमें ऐसे स्वामानिक उष्णरूप भूमियाँ यदि मेरुपर्वत समान लोहेका पिण्ड डाला जाय तो तत्काल गलकर भस्म हो जाय ऐसी उन भूमियोंमें उष्णता है ॥ १२ ॥

शीतभूमिष्वपि प्राप्तो मेरुमात्रोऽपि शीर्यते ।

शतघासायय पिण्ड. प्राप्य भूमिं क्षणान्तरे ॥ १३ ॥

अर्थ—जिसप्रकार उष्णभूमियोंमें मेरु समान लोहेका पिण्ड गल जाता है उसी प्रकार शीतप्रधान भूमियोंमें भी मेरुके समान लोहेका पिण्ड डाला जाय तो क्षीनक कारण क्षणमात्रमें यह २ होकर निम्न जायगा ॥ १३ ॥

हिंसास्तेयानृतताम्रह्वयह्वारम्भादिपातकै ।

यिशान्ति नरक घोर प्राणिनोऽत्यन्तनिर्दया ॥ १४ ॥

अर्थ—उन घोर नरकोंमें हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील (अन्नक्षय) और बहुत आरम परिग्रहदिपापोंके करनेमें ही अत्यन्त निन्द्यी जीव प्रवेश करते हैं । भावार्थ—हिंसादि पाच पाद अपवा मात व्यगमनोक्त सेरी जीव ही उन घोर नरकोंमें जाकर भोगते हैं ॥ १४ ॥

मिथ्यात्याघिरनिकोधरौद्रध्यानपरायणा ।

पतन्ति जन्मय श्वश्रे कृष्णलेइयायना गता ॥ १५ ॥

अर्थ—तथा मिथ्यात्व, अविनि, क्रोध, रौद्रध्यानमें तत्पर तथा कृष्ण रसना व वृत्त प्राणी नाशमें पतते हैं ॥ १५ ॥

असिपद्मघनाकीर्ण शस्त्रशूलासिसकुले ।
नरकेऽत्यन्तदुर्गन्धे घसासृक्कर्मिकर्दमे ॥ १६ ॥
शिवाश्वन्याघ्रकङ्काढ्ये मासाशिविहगान्विते ।
वज्रकण्टकसकीर्णे शूलशान्मल्लिदुर्गमे ॥ १७ ॥
सम्भूय कोटिकामध्ये ऊर्ध्वपादा अधोमुखाः ।
ततः पतन्ति साक्रन्दं वज्रज्वलनभूतले ॥ १८ ॥

अर्थ—नरक कैसे हैं, कि अग्निपद्म (तरवार) सरीखे हैं पद्म निकले ऐसे घृषोमे तथा शूल तलवार आदि शस्त्रोंसे व्याप्त हैं, अत्यन्त दुर्गन्धयुक्त हैं, घसा (अपक्वमांस), गधिर और कीटोंसे भरा हुआ कर्दम है जिनमें ऐसे हैं, तथा सियाल, श्वान, व्याघ्रादिकसे तथा मांसमभी पक्षियोंमें घरे हुए है तथा वज्रमय कानोंसे और शूलशूली आदिसे दुर्गम है अर्थात् जिनमें गमन करना दुःखदायक है, ऐसे नरकोंमें बिलोंके सपुटमें उत्पन्न होकर वे नारकी जीव ऊर्ध्व पाद और अधो मुख चिछाते हुए उन संपुटोंसे (उत्पत्ति स्थानोंमें) वज्राग्निमय पृथिवीमें गिरते हैं ॥ १६-१७-१८ ॥

अथ कण्टककीर्णासु द्रुतलोहाग्निवीथिषु ।
छिन्नभिन्नविशीर्णाद्वा उत्पतन्ति पतन्ति च ॥ १९ ॥

अर्थ—उस नरकभूमिमें वे नारकी जीव छिन्नभिन्न खड्ग खड्ग होकर बिखरे हुए भगते पड़कर बारबार उछलने के गिरते हैं सो कैसी भूमिमें गिरते हैं कि जहाँपर लोहेके काटे बिखरे हुए हैं और जिनमें लोहा गल जाता है ॥ १९ ॥

दुःसहा निष्प्रतीकारा ये रोगा सन्ति केचन ।
साकल्पेनैव गात्रेषु नारकाणां भवन्ति ते ॥ २० ॥

अर्थ—जो रोग असह्य है, जिनका कोई उपाय (चिकित्सा) नहीं है ऐसे गमल प्रकारके रोग नरकोंमें रहनेवाले नारकी जीवों पर गरीम रोगरोगप्रति होते हैं ॥ २० ॥

अदृष्टपूर्वमालोप्य तस्य रौद्र भयास्पदम् ।
दिशः सर्वा समीक्षन्ते घराका शरणार्थिनः ॥ २१ ॥

अर्थ—फिर वे नारकी जीव उस नरकभूमिको अपूर्व आर रौद्र (भयानक) देखकर किसीरी शरण लेनेकी इच्छासे चारों तरफ देखते हैं, परन्तु वहाँ कोई सुखका कारण नहीं दीक्ष्यता और वे कोई शरणही प्रतीत होता है ॥ २१ ॥

न तत्र सुजनः कोऽपि न मित्र न च वान्धवाः ।
सर्वे ते निर्दया पापा क्रूरा भीमोद्यमिग्रहाः ॥ २२ ॥

अर्थ—उस नरकभूमिमें कोई सुजन या मित्र वा बान्धव नहीं है सभी निर्दय, पापी, क्रूर और भयानक प्रचण्ड गरीबवाले हैं ॥ २२ ॥

मर्त्ये च हुण्डसस्यानाः स्फुलिङ्गद्वयसंश्लेषणाः ।

विचर्द्दिनाशुभध्याना प्रचण्डाश्चण्डशामना ॥ २३ ॥

अर्थ—ये सभी नारकी जीर हुण्ड सम्मानवाले हैं अर्थात् जिनके शरीरों में
आ अति भयानक, बेडोले हैं और अगिरे स्फुलिङ्गों के समान जिन्हें तो है, यह
प्रचण्ड, आत, रौद्रध्यानको बढाये हुण्ड है तथा बोधी हैं और जिनका शरीर
प्रचण्ड है ॥ २३ ॥

तत्राकन्दरयै साद्वै श्रूयन्ते कर्कशा स्वनाः ।

वृद्धयन्ते गुह्यगोमायुर्मर्षशार्दूलमण्डला ॥ २४ ॥

अर्थ—जम नरकभूमि में गारों ओरसे पुकारने के शब्द बड़े कर्कश सुने जाते हैं तथा
वृद्धयन्ते गुह्यगोमायुर्मर्षशार्दूलमण्डला ॥ २४ ॥

प्रायन्ते पुनरो गन्धा. स्पृश्यन्ते यमकण्टकाः ।

जग्नानि गूनिगन्धानि नयोऽमृगमासकर्ममा ॥ २५ ॥

अर्थ—जिन नरकभूमि में दुर्गन्ध गूनी पड़ती है और यमकण्टका के नामों
के अंशों में नरक गूनी गूनी पड़ती है और गूनीगन्धानि के नामों में गूनी गूनी पड़ती है ॥ २५ ॥

पितृपत्नित तदाशोक रौद्रमग्न्यन्तशक्तिताः ।

कर्म भूमि च शानीता. के यम केन कर्मणा ॥ २६ ॥

अर्थ—जम गन्धानो रौद्र (भयानक) देवकर वे नारकी गण (जो गरीब उन्नत
हुए हैं) भयानक रौद्र शक्तिता हैं और यह भूमि शानीता है और हम शानीता
हैं ॥ २६ ॥

मर्त्ये विदुर्दिवशाग्न्यं पत्नित श्वधमागरे ।

कर्मणा श्वधमागरेण विदुर्दिवशाग्न्यं मज्जन्मना ॥ २७ ॥

अर्थ—जम गन्धानो रौद्र (भयानक) देवकर वे नारकी गण (जो गरीब उन्नत
हुए हैं) भयानक रौद्र शक्तिता हैं और यह भूमि शानीता है और हम शानीता
हैं ॥ २७ ॥

मर्त्ये प्रदुर्भयग्न्यं पत्नित श्वधमागरे ।

कर्मणा श्वधमागरेण विदुर्दिवशाग्न्यं मज्जन्मना ॥ २८ ॥

अर्थ—जम गन्धानो रौद्र (भयानक) देवकर वे नारकी गण (जो गरीब उन्नत
हुए हैं) भयानक रौद्र शक्तिता हैं और यह भूमि शानीता है और हम शानीता
हैं ॥ २८ ॥

मर्त्ये प्रदुर्भयग्न्यं पत्नित श्वधमागरे ।

कर्मणा श्वधमागरेण विदुर्दिवशाग्न्यं मज्जन्मना ॥ २९ ॥

विषयाशामपाकृत्य विध्याप्य मदनानलम् ।
 अप्रमत्तैस्तपश्शीर्णं धन्यैर्जन्मार्तिशान्तये ॥ ३० ॥
 उपसर्गाग्निपातेऽपि धैर्यमालम्ब्य चोन्नतम् ।
 तै कृत तदनुष्ठान येन सिद्ध समीहितम् ॥ ३१ ॥
 प्रमादमदमुत्सृज्य भावशुद्ध्या मनीषिभि ।
 केनाप्यचिन्त्यवृत्तेन स्वर्गो मोक्षश्च साधित ॥ ३२ ॥
 शिष्याभ्युदयद मार्गं दिशन्तोऽप्यतिवत्सला ।
 मयावधीरिता सन्तो निर्भर्त्स्य कटुकाक्षरै ॥ ३३ ॥

अर्थ—नितनेत्र बड़े पुरषोंने मनुष्यर पाकर वैराग्यमहित हो मोक्षके लिये पूजनीय परित्राचरण किया ॥ २९ ॥ और उन महामाग्य मुनिवनि विषयोकी भागाको दूर करके कामरूप अग्निको युक्तकर निष्पमादी हो, सत्सारीडारी शांतिके लिये तपना संघय किया ॥ ३० ॥ तत्पश्चात् उन उत्तमपुरषोंने उपसर्गरूपी अग्नि को आनेपर बड़े धैर्यका आलम्बन कर, वह आचरण किया कि जिससे यांछित कार्य सिद्ध हुआ ॥ ३१ ॥ तथा उन बुद्धिमान् पुरुषोंने प्रमाद और मदको छोडकर भारवी शुद्धतासे किसी अधिन्य आधारणस स्वर्ग तथा मोक्ष साधा ॥ ३२ ॥ उन सत्पुरुषोंने वासत्य भारसे पुष्ट हो, मुझे मोक्ष और स्वर्ग आदिके मागका उपदेश किया, परन्तु मैने बड़े कटु अभरोंके डारा निरस्कार करके निंदा की, उनका उपदेश अगीकार नहीं किया, इत्यादि पश्चात्ताप करते हैं ॥ ३३ ॥

तस्मिन्नपि मनुष्यस्य परलोकैकशुद्धिदे ।

मया तत्संयित कर्म यज्ज्ञात श्वभ्रशयलम् ॥ ३४ ॥

अर्थ—कि भी नारकी पश्चात्ताप करता है कि परलोककी अद्वितीय शुद्धता देनेवाले उन मनुष्यमरण भी मैने वह कर्म संघय किया कि जिससे नरकका शब्द (पापेय-राष्ट्र) हुआ अर्थात् उस कर्मने सहजमें ही नरकन ला पटका ॥ ३४ ॥

अविद्याश्रान्तविज्ञेन विषयान्धीवृत्तात्मना ।

परस्मिराद्विसंघातो निर्दोषोऽपि हतो मया ॥ ३५ ॥

अर्थ—कि नारकी विचारता है कि अविद्यासे आश्रान्त है विसि जिरका तथा विषयोसे अंधा होकर, मैने निर्दोष अस स्थायोंके समूहको मारा ॥ ३५ ॥

परविज्ञामिषामक्त पराङ्गीसगलात्मनः ।

पटुपसनविष्यस्तो रौद्रध्यानपरायण ॥ ३६ ॥

यत्सिक्त प्राक् चिर काल तस्यैतत्फलमागतम् ।

अनन्तपातनासारे दुरन्ते नरकार्णवे ॥ ३७ ॥

सर्वे च हुण्डसस्याना स्फुलिद्रदसशोक्षणाः ।

विवर्दिताशुभध्याना प्रचण्डाश्चण्डजामना ॥ २३ ॥

अर्थ—ये सभी गाररी जीव हुडक सस्यानवाले हैं अर्थात् जिनके शरीरका प्रत्येक अंग अति भयाङ्क, बेडोल है और अंगिके स्फुलिंगने समान जिनके नेत्र हैं, तथा प्रचण्ड, आर्त, रौद्रध्यानको बढ़ाये हुण्ड है तथा क्रोधी हैं और जिनका नाम प्रचण्ड है ॥ २३ ॥

तत्राक्रन्दरथै सार्द्धं श्रूयन्ते कर्कशा खनाः ।

हृद्यन्ते गृध्रगोमायुसर्पशार्दूलमण्डला ॥ २४ ॥

अर्थ—उस नरकभूमिमें चारों ओरसे पुकारनेके शब्द बड़े कर्कश सुने जाते हैं तथा गृध्रक्षी, मियाल, सर्प, सिंह, कुत्ते, ये सब जीव बड़े भयानक दीप्तते हैं ॥ २४ ॥

घ्रायन्ते घृतयो गन्धाः स्पर्श्यन्ते यज्ञकण्टकाः ।

जलानि घृतिगन्धीनि नद्योऽसृग्मासकर्ममाः ॥ २५ ॥

अर्थ—जिम नरकभूमिमें दुर्गन्ध सूचनी पड़ती है और वज्रमय कांटोंमें छिद्ना पड़ते हैं और जल जद्दा दुर्गन्धमय हैं और रथिरमासका है कांदा जिनमें ऐसी नदियाँ हैं ॥ २५ ॥

चिन्तयन्ति तदालोप्य रौद्रमत्पन्तशङ्किताः ।

केय भूमिः क्व चानीता के वय केन कर्मणा ॥ २६ ॥

अर्थ—उस स्थानको रौद्र (भयाङ्क) देखकर ये नारकी गण (जो नीचे उतरने हुण्ड हैं) अत्यन्त शक्ति होकर विचारते हैं कि यह भूमि कौनसी है और हम कौन हैं, कौनसे भयानक कर्मोंने हमें यहां लाकर पड़ा है ॥ २६ ॥

ततो विदूर्यिभद्गात्सुं पतित श्वभ्रसागरे ।

कर्मणाऽथन्तरीद्रेण हिंसाधारम्भजन्मना ॥ २७ ॥

अर्थ—तत्पश्चात् निम्नपादधिते (कुछभयविज्ञानने) जानते हैं कि हिंसादिभार में उतरने हुण्ड अत्यन्त गंद (छोटे) कमरे हम नरकरूपी समुद्रमें पड़े हैं ॥ २७ ॥

तत प्रादुर्मरुत्युच्चै पश्चात्तापोऽतिदुःसहः ।

दहप्रनिरत चेत्ता यज्ञाग्निरिय निर्दय ॥ २८ ॥

अर्थ—तत्पश्चात् नारकी जीवोंके दुःसह पश्चात्ताप अतिशय करारे प्रण होता है वह दुःसह पश्चात्ताप वज्राग्नि गंगा निर्दय हो, जितको दहन कराना हुआ होता है ॥ २८ ॥

मनुष्यत्वं ममामाण तदा कैश्चिन्महाम्भभिः ।

अत्रवर्गाय मविप्रैः कर्म पूज्यमनुष्ठितम् ॥ २९ ॥

विषयाद्रामपातृत्वं विष्णोः मदनानलम् ।

अप्रमत्तमप्यर्थाणि धन्यैर्जन्माप्तिदान्तरे ॥ ३० ॥

उपमर्गादिषानेऽपि धैर्यमालम्ब्य शोततम् ।

नैः शून्यं मदनुष्ठानं येन सिद्धं समीहितम् ॥ ३१ ॥

प्रमादमदसुखं भाषशुद्धया मनीषिभिः ।

येनाप्यपिन्नरपूषेन स्वर्गो मोक्षश्च साधितः ॥ ३२ ॥

शियाभ्युदयद् मार्गं दिशन्तोऽप्यतियत्सलाः ।

मयायधीरिता मन्तो निर्भर्त्य कटुकाक्षरैः ॥ ३३ ॥

अर्थ—चित्तोत्तरे दृष्टे पुरातन मनुष्यर पाकर वैराग्यगदित हो मोक्षके लिये पूजनीय परिश्रम रिया ॥ ३० ॥ और उन महाभाग्य गुणियोने विषयोकी आशाको दूर करके कामरूप अग्नियो सुखावर निष्प्रमादी हो, संसारपीडाकी शांतिके लिये तपसा संशय रिया ॥ ३० ॥ तत्त्वज्ञान उन उत्तमपुरुषोने उपसर्गकी अग्नियो आनेपर बड़े धैर्यका आलस्य कर बद् आपराण रिया कि जिससे याउत काय सिद्ध हुआ ॥ ३१ ॥ तथा उन बुद्धिमान् पुराणोने प्रमाद और मदको छोडकर भावकी शुद्धतासे रिमी अचिन्त्य आचरणमे स्थी तथा मोक्ष साधा ॥ ३२ ॥ उन सत्पुरुषोने वात्सल्य भावसे पुष्ट हो, मुक्त मोक्ष और स्वर्ग आदिके मार्गका उपदेश दिया, परन्तु मैने बड़े कटु अक्षरोसे उनका निरस्कार करके निंदा की, उनका उपदेश अंगीकार नहीं रिया, इत्यादि पश्चात्ताप करते है ॥ ३३ ॥

तस्मिन्पि मनुष्यस्य परलोकैकशुद्धिदे ।

मया तस्मिन् कर्म यज्ञात् श्वश्रयलम् ॥ ३४ ॥

अर्थ—किर भी नारवी पश्चात्ताप करता है कि परलोकी अद्वितीय शुद्धता देनेवाले उस मनुष्यमम भी मैने वह कर्म सचय दिया कि जिससे तस्मा श्रवण (पापेय-नाह्वय) हुआ अर्थात् उस कर्मने सहजमे ही तस्मिन् लो पटना ॥ ३४ ॥

अविद्याभ्रान्तचित्तो विषयान्धीकृतात्मना ।

चरन्धिराद्रिसघातो निदापोऽपि हतो मया ॥ ३५ ॥

अर्थ—किर नारवी निवारता है कि अविद्यासे आक्रांत है चित्त जिसका तथा विषयोंम अन्धा होकर, मैने निदाप अस स्यावरोक समूहको मारा ॥ ३५ ॥

परचित्तामिपासक्तं परस्त्रीसगलान्स ।

षष्ठ्यसन्नविध्वस्तो रौद्रध्यानपरायणः ॥ ३६ ॥

यत्स्यत प्राक् चिरं कालं तस्यैतत्फलमागतम् ।

अनन्तयातनामारे दुरन्ते नरकार्णवे ॥ ३७ ॥

अर्थ—गारकी फिर पश्चात्ताप करता है कि मैं परके धनम और मामन अथवा धनरूपी मासम आसक्त होकर, परस्त्रीमग करनेम लुभ हुआ तथा बहुत प्रशङ्कक नोसे पीडित होकर, सौद्रघ्यानी हुआ ॥ ३६ ॥ पूनजममें मैं इमप्रशङ्क ररा, इमका उमका यद् अनन्त पीडाये अमार अपार नररूपी ममुद्र फट आया है ॥ ३७ ॥

यन्मया वञ्चितो लोको पराको मूढमानस ।

उपायैर्यदुमि पापै ग्वाक्षमन्तर्यणार्थिना ॥ ३८ ॥

कृतः पराभवो येषा धनमृग्रीकृते मया ।

घातश्च तेऽग्र समाप्ता कर्तुं तस्यान्य निष्क्रियाम् ॥ ३९ ॥

अर्थ—फिर निचारता है कि मैने भोले रर जनाको अनि अन्यायरूप उपायै इन्द्रियोंको पोषनेके लिये उगा ॥ ३८ ॥ तथा परका धन, परकी भूमि या श्रीलङ्क लिये जिनका अपमान किया तथा घात किया वे लोग यहा नररभूमिमें उमका ठा देनेके लिये आकर प्राप्त हुए हैं ॥ ३९ ॥

ये तदा शशकप्राया मया बलवता हता ।

तेऽद्य जाता मृगेन्द्राभा मा हन्तु विविधैर्वधैः ॥ ४० ॥

अर्थ—उस मनुष्यमगमें जज मैं था तज तो वे शशक (खरगोश) के समान थे और मैं बलवान् था तो मैने मारा किन्तु वे आज यहा पर सिंहके समान होकर, अनेक प्रकारके घातोंसे मुझे मारनेके लिये उद्यत हैं ॥ ४० ॥

मानुष्येऽपि स्वतन्त्रेण यत्कृत नात्मनो हितम् ।

तदथ किं करिष्यामि दैवपौरुषवर्जित ॥ ४१ ॥

अर्थ—फिर निचारता है कि जज मनुष्यमगमें मैं स्वाधीन था, तजहीं मैने अपना हित साधन नहीं किया तो अब यहा दैव और पौरुष दोनोंसे रहित होकर, क्या कर सकूँ ॥ ४१ ॥

मदान्धेनापि पापेन निर्लिशेनास्तबुद्धिना ।

विराध्याराध्यमन्तान कृत कर्मातिनिन्दितम् ॥ ४२ ॥

अर्थ—फिर निचारता है कि मदसे अन्धे, पापी, निर्न्य, नष्टबुद्धि मैने आराधने याज जो भले मार्गमें प्रवृत्तनेवाले उा पूज्य पुरुषोंके सत्त्वानको विराधकर, निन्दनीय कन किया ॥ ४२ ॥

यत्पुरग्रामविन्ध्येषु मया क्षितो हताशनः ।

जलस्यलविलाकाशचारिणो जन्तवो हता ॥ ४३ ॥

कृन्तन्ति मम मर्माणि स्मर्यमाणान्यनारतम् ।

प्राचीनान्यथ कर्माणि ऋकृचानीव निर्दयम् ॥ ४४ ॥

अर्थ—विर विचारता है कि मैंने धर्मार्थ पुर, धाम वामे अग्नि डालकर दान लगाई और ७००० धर्मार्थ, आकाश तथा विष्णुम रहनका अमर्य जीर्णो गारा वे पुत्र पारवमे इस समय स्मरण आगेम निरंतर मेरे ममत्वाको दयाहित करोतक समान भरी है ॥ ४३-४४ ॥

विं करोमि च मष्टयामि कर्मजाते पुर स्थिते ।

धारण च मष्टयामि पराको दैपयधित ॥ ४५ ॥

अर्थ—विर विचारता है कि मेरे मरबोके पुत्रमे भी बर्मासा समूह मेरे सामने है एका हीने हुए मे क्या करूँ ? बतल जाऊँ ? विगरी गरम दारू ? मेरे रब देवसे ठगा हुआ है मुझे कुछ भी सुतका उपाय नहीं दीगता ॥ ४५ ॥

यस्मिंश्चमपि स्मनु ब्रह्म श्रोतुं न शारयते ।

तदुत्तरमत्र मोदय्य धर्ममान कथ मया ॥ ४६ ॥

अर्थ—विर विचारता है कि तब किमकार मात्र भी जिसके स्मरण करने वा सुननेकी समयला नहीं, प्रमाण बता हुआ वह दुःख मैं कैसे सागा ? ॥ ४६ ॥

एतान्यदृष्टपूर्वाणि विलानि च कुसानि च ।

पातनाश्च महाघोरा नारकाणा मपेक्षिता ॥ ४७ ॥

अर्थ—विर विचारता है कि—मेरे मरबोके बिल तथा नारियोंके कुछ (समूह) तथा नारियोंकी महानिष वेदागा समान आदि तब मैंने अदृष्ट पूरा देखा अपात अथवा नहीं देना होगा यही पर दया ॥ ४७ ॥

विषयलनमर्वाणि धर्ममान प्रतिक्षणम् ।

मम मूर्ध्नि विनिक्षिप्त कुल दैयेन निर्दयम् ॥ ४८ ॥

अर्थ—विर विचारता है कि विष तथा अग्निसे व्याप्त क्षण क्षणमे मरनेवाले वे तब दुःख देव (वम) ने दयाहित होकर, मेरे ही माथेपर डाले है ॥ ४८ ॥

न दृष्टान्तेऽत्र ते भूत्या न पुत्रा न च बान्धवा ।

येषा मृतं मया कर्म मृत स्वयंघ घातकम् ॥ ४९ ॥

न कलत्राणि मित्राणि न पापमेरको जन ।

पदमप्येकमायातो मया सार्द्धं गतत्रप ॥ ५० ॥

अर्थ—विर ऐसा विचारता है कि जिनके लिये मैंने अपने घातक पापकर्म पूरा जन्मम दिये इस समय न तो वे पाकर, न पुत्र, कलत्र, मित्र, व न पापमे प्रेरणा करनेवाले पापव कोद देखनेम आते हैं, वे ऐसे निलज्ज हो गये कि एक बैंड भी मेरे साथ नहीं आये ॥ ४९-५० ॥

अर्थ—फिर विचारता है कि यह धर्मरूप बंधु (हित) ऐसा है कि साथ जाता है और बड़ा जाता है यही रखा करता है और यह मित्र नियमसे हित ही करता है, दुःख का नाश करके सुख देता है ऐसे धर्मरूपी मित्रको मैंने पोपाही नहीं और जिनको मित्र समझके पोपा उनसे कोई एक भी साथ नहीं आया ॥ ५७ ॥

परिमहमहाप्राहस्यस्तेनार्तेचेतसा ।

न दृष्ट्वा यमशार्दूलचपेटा जीवनाग्निनी ॥ ५८ ॥

अर्थ—फिर विचारता है कि परिमहर्षी महाप्राहसे पकड़े हुए पीड़ितचित्त होकर मैंने जीवको नाश करनेवाली यमरूपी शार्दूलकी चपेट नहीं देखी अर्थात् परिमहर्षे आसक्त होकर, निरंतर पाप ही करता रहा ॥ ५८ ॥

पातयित्वा महाघोरं मा भ्वन्नेऽचिन्त्ययेदने ।

क गतास्तेऽधुना पापा मद्विक्तफलभोगिनः ॥ ५९ ॥

अर्थ—फिर विचारता है कि जो कुदुषादिक मरे उपार्जन किये हुए धनके फल भोगनेवाले थे वे पापी मुझे अचिन्त्य वेदनामय इस घोर नरकमें डालकर अब कहाँ चले गये ? यहां दुःखमें कोई साथी न हुआ ॥ ५९ ॥

इत्यजस्रं सुदुःखार्त्ता विलापमुखरामना ।

शोचन्ते पापकर्माणि वसन्ति नरकालये ॥ ६० ॥

अर्थ—इस पूर्वोक्त प्रकारसे नारकी जीव निरंतर महादुःखसे पीड़ित हुए, मुखसे पुकारते हुए, विलाप करते हुए अपने पापकार्योंको स्मरण करकरके, शोच करते हैं और नरकमंदिरमें पसते हैं ॥ ६० ॥

इति चिन्तानलेनोच्चैर्दक्षामानस्य ते तदा ।

थायन्ति शरशूलासिकरा मोषामिदीपिता ॥ ६१ ॥

चैर पराभयं पार्थ स्मारयित्वा पुरातनम् ।

निर्भर्त्स्य कटुफालापैः पीडयन्त्यनिनिर्दयम् ॥ ६२ ॥

अर्थ—इस पूर्वोक्तप्रकारकी चिन्तारूप अग्निसे अग्निशय जलने हुए तारकीके ऊपर उसी समय अन्य पुराने नारकी बाण, दाल, तलवार लिये हुए, मोषरूपी अग्निसे जलने हुए दौड़ते हैं और पूर्वके पाप तथा वैरको याद कराते हुए कटु वचनोंसे निरन्तर करके, उसे अनिनिर्दयतासे त्रिप्रकार वनता दुःख देते हैं ॥ ६१-६२ ॥

उत्पाटयन्ति नेत्राणि पूर्णपन्थम्पिस्तपयम् ।

दारपन्थपुदरं कुड्यान्वोटयन्त्यस्त्रमाशिषाम् ॥ ६३ ॥

अर्थ—वे पुराने नारकी उस विलाप करते हुए नये नारकीके नेत्रोंको उतारने दें,

दृष्टियोंको चूर्ण कर डालते हैं, उदरको फाड़ते हैं और शोथी होकर, उसकी आंतोंसे हो डालते हैं ॥ ६३ ॥

निष्पीडयन्ति यस्त्रेषु दलन्ति विषमोपलैः ।

शाल्मलीषु निघर्षन्ति कुम्भीषु काथयन्ति च ॥ ६४ ॥

अर्थ—तथा वे नारसी उसे धानीमें डालकर पीलते हैं और कठिन पाराणमें डालते हैं, लोहेके काटेवाले कृशासे घिसते (रगड़ते) हैं तथा कुम्भियोंमें (कलशियोंमें) रगड़ कर, काग करते (डगलते) हैं ॥ ६४ ॥

असह्यदुःखसन्तानदानदक्षाः कलिप्रियाः ।

तीक्ष्णदष्टा करालास्या भिक्षाञ्जनसमप्रभा ॥ ६५ ॥

कृष्णलेइयोक्तताः पापा रौद्रध्यानैरुभायिता ॥

भयन्ति क्षेत्रदोषेण सर्वे ते नारकाः गलाः ॥ ६६ ॥

अर्थ—तथा वे नारसी कैसे हैं कि—अमह्य दुःखोंकी निरन्तरता देनेमें पगुर हैं, कष्ट करना है, मित्रों प्रिय हैं, तीक्ष्ण दागोंमें भयाङ्क मुत्ताते हैं, मित्रों कुप कर लें, गमा मित्रों शरीरों पापी प्रभा हैं। तथा कृष्णलेइयोक्त कारण उद्भा हैं, रगड़ हैं और रौद्रध्यान मानेगाले हैं एवं क्षेत्रके दोषों में सभी नारसी पगुर होते हैं ॥ ६५-६६ ॥

धैर्यविक्रमशीलत्वादिप्रियन्ते यद्वदन्त्या ।

यथाप्रियद्वयापदाङ्गैर्नन्तु चित्रैर्यथैः परान् ॥ ६७ ॥

अर्थ—उन नारकियोंका धैर्यविक्रम शरीर होनेके कारण अपनी इच्छानुसार कर्मादि प्रियद्वन्तु विद्वान्किका रूप बनाकर, अनेकप्रकारों परस्पर मागोंके शिष्टे प्रिय कहते हैं ॥ ६७ ॥

न तत्र चान्यत्र ग्राभी मिश्रमृत्पाङ्गनाङ्गा ।

अनन्तपातनामागे नरकेऽप्यन्तमीषणे ॥ ६८ ॥

अर्थ—उम अन्यत्र यथात्र नरकं न तां कोई माग है, न कौर शिष्ट है न कोई मित्र है, न कोई मृत्यु है, न शी है, न पुत्र है, कोई अनन्त पातनामा अनन्त मृत्पाङ्गनाङ्गा ॥ ६८ ॥

तत्र नाश्रमृत्पा गृधा लोभतुण्डाश्च वायसा ।

दास्यन्त्येव समागि चक्रतिनेत्येः परे ॥ ६९ ॥

अर्थ—तत्र नाश्रमृत्पा गृधा लोभतुण्डाश्च वायसा । दास्यन्त्येव समागि चक्रतिनेत्येः परे ॥ ६९ ॥

मृमप पुनिकृष्टेषु यज्ञगृहीसमानना ।

भित्तिषा यमोष्मिमात्मानि पिबन्त्याहूष्य लोरितम् ॥ ७० ॥

अर्थ—तथा उम तरबम दीबन बुडोम बजरी सुईममान है मुख जिन्के ठेमे धीने बा जोक तारसी जीवोंक समडे और हाडमांगको विदार कर, रक्त (रून) को पानी है ॥ ७० ॥

यत्पाटिदार्य मदर्णवदन क्षिप्यते क्षणात् ।

यिलीज प्रजयलत्ताम्र यं पीत मद्यमुद्धत ॥ ७१ ॥

अर्थ—तथा जिन पातियोने मनुष्यजन्ममें उद्धत होकर, मद्यमान लिया है, उनके दमको संहामीने पाट २ कर, नुततके पिपलावे हुए तापेको पिलाते हैं ॥ ७१ ॥

परमास्तानि यं पापैर्भक्षितान्पतिनिर्दये ।

शलापकानि मासानि तेषां खादन्ति नारकाः ॥ ७२ ॥

अर्थ—और जिन पातियोने मनुष्यमर्त्यमें निदय होकर, अन्य जीवोंका मांस भक्षण लिया है, उनके मांसके छूले परा २ कर नारकी जीव खाते हैं ॥ ७२ ॥

यं प्राक्परकलघ्राणि सेवितान्पात्मयश्चकै ।

पौजयन्ते प्रजयलन्मीभिः स्त्रीभिस्ते ताम्रजन्मभिः ॥ ७३ ॥

अर्थ—तथा जिन आत्मवचक पानी जनोंने पृथग्मर्त्य परकी सेवन की हैं, उनको सामेकी छाल की हुई विदोसे सगम कराया जाता है ॥ ७३ ॥

न सौत्प यक्षुग्न्मेघमात्रमप्युपलभ्यते ।

नरके नारकैर्दीनैर्न्यमानैः परस्परम् ॥ ७४ ॥

अर्थ—नरकमें नारकी जीव परस्पर एक दूसरेको मारता है, सो वे दीन एक पलक मात्र भी सुखको नहीं पाते ॥ ७४ ॥

विमत्र यदनोक्तेन जन्मकोटिशतैरपि ।

केनापि शक्यते यक्षु न दुःख नरकोद्भवम् ॥ ७५ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज करने है कि—बहुत कहाँ तक कहें? क्योंकि, उस नरकमें उतार हुए दुःखको कोटि जन्म लेकर भी कोइ बचनेको समर्थ नहीं है तो हम क्या कर सकते हैं ॥ ७५ ॥

विस्मृतं यदि केनापि कारणेन क्षणान्तरे ।

स्मारयन्ति तदाभ्येत्य पूर्ववैर सुरापमा ॥ ७६ ॥

अर्थ—यदि वे नारकी किसी कारणसे क्षणमात्रके लिये भूल जाते हैं तो उसी समय नीच असुर देव आकर, उन्हें पूर्ववैर याद करा देते हैं जिससे फिर वे परस्पर मार पीट करके अपनेको महादुःखी कर लेते हैं ॥ ७६ ॥

बुभुक्षा जायतेऽत्यर्थं नरके तत्र देहिनाम् ।

यां न शामयितुं शक्तं पुद्गलप्रचयोऽग्निलः ॥ ७७ ॥

अर्थ—तथा उस नरकमें नारकी जीर्णोको भूख ऐसी लगती है कि समस्त पुद्गलोंका समूह भी उसको शमन करनेमें असमर्थ है ॥ ७७ ॥

तृष्णा भवति या तेषु बाहवाग्निरिवोत्थना ।

न सा शाम्यति नि शेषपीतैरप्यम्बुराशिभिः ॥ ७८ ॥

अर्थ—तथा नरकमें नारकी जीर्णोके जो तृषा बहवाग्निरिव समान अति उत्तम (तीव्र) होती है सो समस्त समुद्रोंका जल भी ल तो भी नहीं मिटती ॥ ७८ ॥

षिन्दुमात्रं न तैर्वारि प्राप्यते पातुमातुरैः ।

तिलमात्रोऽपि नारारो ग्रसितुं लभ्यते हि तैः ॥ ७९ ॥

अर्थ—यद्यपि नरकोंमें उपर्युक्त भूखप्यासकी तीव्रता है, परन्तु न तो किसी कालमें तिलमात्र किसीको भोजन मिलता है और न एक बिंदु पानी ही कहीं मिलता है इस प्रकार आतुर होकर, निरंतर भूख प्यास सहते हैं ॥ ७९ ॥

तिलादप्यतिसूक्ष्माणि कृतस्त्रण्डानि निर्दये ।

घर्षुर्मिलति वेगेन पुनस्तेषां विधेर्नशात् ॥ ८० ॥

अर्थ—तथा उन नारकोंके शरीर निन्द्य नारकोंके द्वारा तिलतिलमात्र खराब किये जाते हैं परन्तु मृत्यु नहीं आती, तत्काल मिलकर शरीर बन जाता है इनके ऐमाही कर्मोदय है, जो मरण नहीं होता सागरोंकी आयु पूर्ण होनेपर ही मरण होता है अक्रान्त मृत्यु कभी नहीं होती ॥ ८० ॥

यातनारुग्शरीरायुर्लेश्यादु गमयादिकम् ।

वर्द्धमानं विनिश्चेयमघोऽथ श्वन्नभूमिषु ॥ ८१ ॥

अर्थ—उन नरककी भूमियोंमें पीडा, रोग, शरीर, आयु, लेश्या, दुःख, भय इत्यादि नीचे नीचे घटता हुआ है अर्थात् पहिले गरमसे (शुशुकीसे) दूसरे गरममें अधिक है, दूसरे तीमरेमें और तीमरेसे चौथेमें और चौथेसे पाचवेंमें और पाचवेंमें छठेमें और छठेमें सातवेंमें इस प्रकारसे अधिक २ है यह अघोलोकका वर्णन हुआ ॥ ८१ ॥

अथ मध्यलोकका वर्णन करते हैं,—

मध्यभागस्ततो मध्ये तत्रास्ते क्षुद्ररीनिम ।

यत्र दीपममुद्राणां ध्रुवस्यावलयाकृतिः ॥ ८२ ॥

अर्थ—उस अघोलोक के ऊपर शालरक समान (धरा बजाती है घण्टाकी समान) गोलका मध्यलोकका मध्य भाग है उसमें गोल २ बलवों (बर्तों) के समान अर्द्धव्यास द्वीप मण्ड्र हैं ॥ ८२ ॥

जम्बूद्वीपादयो द्वीपा लवणोदादयोऽर्णवा ।

अथमूर्ध्वरमणान्मास्ते प्रत्येक द्वीपसागरा ॥ ८३ ॥

अर्थ—उस मध्यलोचम जम्बूद्वीपादिन तो द्वीप हैं और लवणसमुद्रादिक समुद्र हैं तो उनके स्वभूमण पयत भित्त २ है । भावार्थ—सबके बीच एक लाख योजन चौड़ा लघु गोल जम्बूद्वीप है और उसके चारों ओर दो लाख योजनके व्यासका साइकी समान लवणसमुद्र है इसीप्रकार समुद्रके चारों ओर द्वीप और द्वीपोंके चारों ओर समुद्र, इसप्रकार स्वभूमण समुद्रपयत द्वीपसमुद्रोंकी स्थिति है ॥ ८३ ॥

दिगुणा द्विगुणा भोगा प्रायल्यान्योन्यमाभ्यताः ।

सर्वे ते शुभनामानो घल्पाकारधारिण ॥ ८४ ॥

अर्थ—तथा वे द्वीप और समुद्र दूने २ विचारगले हैं तथा परस्पर एक दूसरेको लपेटे हुए हैं । गोलाकार बड़ेके आकार हैं और उनके नाम भी जम्बूद्वीप, धातकीद्वीप, पुष्करद्वीप, लवणसमुद्र, कालोदधि, आदि उत्तमोत्तम हैं ॥ ८४ ॥

मानुषोत्तरद्वीपेन्द्रमप्यस्यमत्तिसुन्दरम् ।

नरक्षेत्रं सरिच्छैलसुरापलविराजितम् ॥ ८५ ॥

अर्थ—तथा मानुषोत्तर पर्वतके मध्यस्थ नदीपर्वतभरपर्वतसे अतिमुन्दरमनुष्यपेत्र है । भावार्थ—सबसे धीपमें एक लाखयोजन व्यासका जम्बूद्वीप है जम्बूद्वीपके चारों ओर दो लाख योजनका लवणसमुद्र है लवणसमुद्रके चारों तरफ चार लाखयोजन धातुकीखड्गद्वीप है और धातुकीखड्गद्वीपके चारों ओर आठ लाख योजनका कालोदधि समुद्र और कालोदधि समुद्रके चारों तरफ १६ लाख योजन चौड़ा पुष्करद्वीप है पुष्करद्वीपके उत्तरार्द्धम अर्थात् अगले आधे भागमें ८ लाख योजन चौड़ा मानुषोत्तर नामका दीवारके समान पर्वत पड़ा हुआ है, इसकारण इस द्वीपको पुष्कराद्र द्वीप कहते हैं और इन अडाई द्वीपोंमें ही मनुष्य रहते हैं अगले द्वीपोंम मनुष्य नहीं हैं और न उससे आगे मनुष्य जा ही सकते हैं, इसी कारण उस पर्वतका नाम मानुषोत्तर पर्वत है ॥ ८५ ॥

तत्रार्थस्तेच्छलखण्डानि भूरिभेदानि तेऽप्यमी ।

आर्या स्तेच्छा नरा सन्ति तत्क्षेत्रजनितैर्गुणैः ॥ ८६ ॥

अर्थ—उस मनुष्यपेत्रम अर्थात् अडाई द्वीपोंम अनेक आर्यखण्ड और स्तेच्छखण्ड हैं और आर्यक्षेत्रोंमें आर्यपुरष और स्तेच्छक्षेत्रोंम स्तेच्छ रहते हैं उन क्षेत्रोंक अनुसार ही उनके गुण आचारादिक हैं । अर्थात् आर्योंक उत्तम आचार, उत्तम गुण है और स्तेच्छोंक निष्ट आचार और धमशून्यतादि निष्ट गुण हैं ॥ ८६ ॥

कचिद्विमानुषोपेतं कचिद्विद्वन्तरसभृतम् ।

कचिद्विभोगधराकीण नरक्षेत्र निरन्तरम् ॥ ८७ ॥

अर्थ—यह मनुष्योत्र निरन्तर वहीं तो उमानुप, उमोगभूमिमण्डित है, वहीं वे देवोंसे भरा है, वहीं उत्तम भोगभूमि सन्निहित है, इसप्रकार सौम्य मन्त्रजोकरा किया ॥ ८७ ॥

आगे ऊर्ध्वलोकका वर्णन करते हैं,—

ततो नभसि तिष्ठन्ति विमानानि दिवौकमाम् ।

चरस्थिरविकल्पानि ज्योतिष्काणां यथाक्रमम् ॥ ८८ ॥

अर्थ—उस मध्यलोकके ऊपर आकाशम ज्योतिषी देवोंके विमान रहते हैं वे चर स्थिर भेदसे दो प्रकारके हैं अथवा कद विमान तो निरन्तर गमन करते रहते हैं और कद विमान स्थिर रहते हैं ॥ ८८ ॥

तदूर्ध्वं सन्ति देवेशरूपा सौधर्मपूर्वका ।

ते षोडशाच्युतस्वर्गपर्यन्ता नभसि स्थिता ॥ ८९ ॥

अर्थ—ज्योतिषी देवोंके विमानोंके ऊपर कल्पगामी देवोंके कल्प (विमान) हैं जिनके सौधर्म स्वर्ग, इगानस्वर्ग आदि नाम हैं वे अच्युतस्वर्ग पर्यन्त सोलह हैं और आकाशमे स्थित हैं ॥ ८९ ॥

उपर्युपरि देवेशनिवासयुगल क्रमात् ।

अच्युतान्त ततोऽप्यूर्ध्वमेकैकत्रिदशास्पदम् ॥ ९० ॥

अर्थ—वे देवोंके निवास (स्वर्ग) आकाशम दो दो स्वर्गक ऊपर दो स्वर्ग फिर उन द्वय ऊपर फिर दो स्वर्ग, इसप्रकार दो दोके आठ युगल हैं और उनके ऊपर एक एक विमान करके नव त्रयेयक विमान हैं तथा एक अनुदिश और एक अनुत्तर विमान भी है ॥ ९० ॥

निशादिनविभागोऽयं न तत्र त्रिदशास्पदे ।

रत्नालोकं स्फुरत्युच्चैः सतत नेत्रसौख्यद ॥ ९१ ॥

अर्थ—उन देवोंके निवासोम रात्रिनिशा विभाग नहीं है क्योंकि, बहापर सूर्यचन्द्रना नहीं हैं किन्तु नेत्रोंको सुख देनेवाला रत्नोंका उत्तम प्रकाश निरन्तर स्फुरावमान रहता है ॥ ९१ ॥

वर्षातपतुषारादिसमयैः परिवर्जित ।

सुखद सर्वदा सौम्यस्तत्र काल प्रवर्त्तते ॥ ९२ ॥

अर्थ—उन स्वर्गों (त्रयेयमोम) वर्षा, शीत, आतप आदिक समय वा क्रतुभेदे रहित सदाकाल सुख देनेवाला सौम्य मन्त्रस्थ काल (वसन्तक्रतु) रहता है ॥ ९२ ॥

उत्पातभयसन्तापभङ्गचौरारिविद्धरा ।

न हि स्वप्नेऽपि दृश्यन्ते क्षुद्रसत्त्वाश्च दुर्जनाः ॥ ९३ ॥

अर्थ—तथा उन स्वर्गोंमें उत्पात, भय, सन्ताप, भेग, चौर, शत्रु, बघक तथा सुद जीव, दुर्जन ये स्वप्नमें भी नहीं दीखते ॥ ९३ ॥

चन्द्रकान्तशिलानद्धा प्रवालदलदन्तुरा ।

घग्नेन्द्रनीलनिर्माणा विचित्रास्तत्र भ्रमय ॥ ९४ ॥

अर्थ—उन देवोंके निवास्तोंन पृथिवी चद्रकात्त मणियोंसे बंधी हुई है तथा मृगेके पत्ररी समान रची हुई है तथा वहीं २ हीरा इन्द्रनीलमणि आदि गाना प्रकारके रत्नोंमें बनी हुई है ॥ ९४ ॥

माणिययरोचिषा चत्रैः कर्षुरीकृतदिग्मुखा ।

वाप्य स्वर्णाम्बुजच्छद्वा रत्नसोपानराजिता ॥ ९५ ॥

अर्थ—तथा स्वर्गोंमें वापिनाय माणिस्यी विरणोंके समूहोंसे दसों दिशाओंको अनेक वर्णमय कर रही हैं तथा सुवर्णमय कमलोंसे आच्छादित और रत्नमय तीर्थोंसे सुनी भित हैं ॥ ९५ ॥

सराभ्यमलधारीणि हस्तकारणदमण्डलैः ।

याचालैः कन्दतीर्थानि दिव्यनारीजनेन च ॥ ९६ ॥

अर्थ—स्वर्गमें सरोवर भी अनिसच्छ निमल जलवाले हैं, हथ या बार्द कापिरे पणियोंके समूहसे तथा देवागना या (अप्सरामों) से रचे हुए हैं तद त्रिनके ऐसे हैं ॥ ९६ ॥

गायः कामदुघा सर्वाः कल्पवृक्षाश्च पादपाः ।

चिन्तारत्नानि रत्नानि स्वर्गलोके म्बभाषत ॥ ९७ ॥

अर्थ—तथा उस स्वर्गमें गाँ है वे सौ कामधेनु हैं, वृष है सो कल्पवृष है और रत्न हैं सो चिन्तारत्नानि रत्न हैं ये सब क्षेत्रके स्वभावसे निरन्तर रहते हैं ॥ ९७ ॥

ध्वजचामरछत्राङ्गिर्विमानैर्वनिमासम्बाः ।

सत्परन्ति सुरासारेः सेव्यमानाः सुरेश्वराः ॥ ९८ ॥

अर्थ—उन स्वर्गोंमें अधिपति इन्द्र ध्वजा चामर, छत्रोंमें बिहिन हुए विमानोंके द्वारा अनेक देवागनाभोगदित यत्र तत्र विचरते हैं उनकी अनेक देव सेवा करने हैं ॥ ९८ ॥

पक्षकितरनारीभिर्मन्दारवनवीपियुः ।

कान्तस्त्रिष्टाभिरानन्दं गीयन्ते त्रिदशेश्वराः ॥ ९९ ॥

अर्थ—तथा वहाँके इन्द्र, मन्दावृष्योदी गतिदेवें वन और विष्णु जन्म देते हैं, देवागना अपने प्रतिमदित आलिंगित आदसे ३ ही गाने हैं, उनके रत्न सुने हैं ॥ ९९ ॥

क्रीडागिरिनिक्कुञ्जेषु पुष्पशय्यागृहेषु वा ।

रमन्ते त्रिदशा यत्र वरग्रीवृन्दरोहिता ॥ १०० ॥

अर्थ—तथा उन स्वर्गके देव क्रीडापर्यन्तकी कुञ्जोंमें, पुष्पशय्यास्थित कमलोंमें पुष्पोंकी शय्यामें सुन्दर देवागनाओंके समूहके साथ बैठित होकर नाना प्रकारकी भाव क्रीडा करते हैं ॥ १०० ॥

मन्दारचम्पकाशोकमालतीरेणुरञ्जिता* ।

भ्रमन्ति यत्र गन्धाढ्या गन्धघाहाः शनैः शनैः ॥ १०१ ॥

अर्थ—उन स्वर्गमें मदार, चम्पक, अशोक, मालतीके पुष्पोंकी रज्ज्वे रञ्जित भ्रम सहित मन्दमन्द सुगन्ध पवन बहता है ॥ १०१ ॥

लीलावनविहारैश्च पुष्पायचयकौतुकैः ।

जलक्रीडादिविज्ञानैर्विलासास्तत्र योषिताम् ॥ १०२ ॥

अर्थ—तथा उन स्वर्गमें देवागनाओंके विलास, क्रीडावनके निहारोंसे तथा पुष्प चुननेके कौतुकसे तथा जलक्रीडाके विज्ञानोंसे (चतुराशयोंसे) बड़ी शोभा है ॥ १०२ ॥

वीणामादाय रत्यन्ते कल गायन्ति योषिता* ।

ध्वनन्ति सुरजा धीर दिवि देवाङ्गनाहता* ॥ १०३ ॥

अर्थ—तथा उन स्वर्गमें देवागनाय सभोगके अन्तमें वीणा लेकर सुन्दर गान का है तथा उनके बजायेहुए मृग्य धीरे २ बजते हैं ॥ १०३ ॥

कोकिलाः कल्पवृक्षेषु चैत्यागारेषु योषिता* ।

वियोषयन्ति देवेशाल्ललितैर्गीतनि स्वनैः ॥ १०४ ॥

अर्थ—तथा उन स्वर्गमें कल्पवृक्षोंपर तो कोकिलायें और चैत्यमन्दिरोंमें देवागना सुन्दर गीत और शब्दोंसे इन्द्रोंको आनन्द प्रदान करती हैं ॥ १०४ ॥

नित्योत्सवयुता रम्य सर्वाभ्युदयमन्दिरम् ।

सुखसपद्मनाधार कैः स्वर्गमुपमीयते ॥ १०५ ॥

अर्थ—प्रत्येक स्वर्ग नित्यही उत्सवोंमहित है, रमणीय है, समस्त अभ्युदयोंके गोंका निवास है तथा सुख, सपद्म और गुणोंका आधार है सो उसको किसकी उपमा जाय? ॥ १०५ ॥

पञ्चवर्णमहारत्ननिर्माणा सप्त भूमिका ।

प्रासादा पुष्करिण्यश्च चन्द्रशाला वनान्तरे ॥ १०६ ॥

अर्थ—तथा उन स्वर्गमें चागोंमें पाच वर्णोंके रत्नोंसे बने हुए सात सात खन महल हैं और प्रापिका तथा चन्द्रशाला (शिरोमूह-अटे) हैं ॥ १०६ ॥

प्राकारपरिम्बाचप्रगोपुरोत्तुङ्गतोरणै ।

पैत्यद्रुमसुरागारैर्नगयो रत्नराजिता ॥ १०७ ॥

अर्थ—तथा उन स्वर्गोंम जो तगरी ई वे कोट याद बड़े दरवाजो और ऊचे तोरणोंम तथा पैत्य, पृथ, और त्रैलोक्य मन्त्रि आदिसे रत्नमयी शोभती ई ॥ १०७ ॥

इन्द्रायुधधिय घत्ते घघ्र नित्य नभस्तलम् ।

हर्म्योन्नतप्रमाणिषमयूखै कर्तुरीकृतम् ॥ १०८ ॥

अर्थ—तथा स्वर्गोंम आराध महलोके अग्रभागम लगे हुए रत्नोंकी निरुणसे निश्चित बाका होकर इन्द्रधनुषकीमी शोभाको धारण किये हुए होता ई ॥ १०८ ॥

मत्सभिन्निदशानीकैर्विमानैरद्भनान्वितै ।

कल्पद्रुमगिरिन्द्रेषु रमन्ते विबुधेश्वरा ॥ १०९ ॥

अर्थ—स्वर्गोंक इन्द्र सात प्रकारकी देवसेनाओंम तथा दशगनासहित विमानोंक द्वारा कल्पवृक्षों तथा ब्रीह्याश्वोंम रमते ई (आनन्द करते ई) ॥ १०९ ॥

हस्त्यश्वरथपादामघृषगन्धर्वनर्त्तकि ।

सप्तानीकानि सन्त्यस्य प्रत्येक च महत्तरम् ॥ ११० ॥

अर्थ—हत्ती, घोड़े, रथ, पयादे पैल, गधन, तत्तकी इसप्रकार सात प्रकारकी सेना इन्द्रकी होती ई सो प्रत्येक एकमे एक बरतर ई ॥ ११० ॥

शृङ्गारसारसङ्घर्षा लाघण्यघनदीर्घिका ।

पानस्तनभराश्रान्ता पूर्णचन्द्रनिभानना ॥ १११ ॥

विनीता कामरूपिण्यो महर्द्धिमहिमान्विता ।

हावभायविलामाढ्या नितम्पभरमन्थरा ॥ ११२ ॥

मन्ये शृङ्गारसर्वभ्रमेकीकृत्य विनिर्मिता ।

स्वर्गवासविलासिन्य सन्ति मूर्त्ता इय श्रिय ॥ ११३ ॥

अर्थ—उन स्वर्गोंम विलासिनी देवागनाय शृङ्गारका सार ई जिनक ऐसी लाघण्यरूपी जलकी बापिराहा ई तथा पान चुबोर भारसहित ई जिनक मुख पूलभासीके पद्मसार समान ई विनीत ई, चतुर ई, मरान्द्रिकी शोभासहित ई, मुखर हाव भाव चित्तविकार विलास, भ्रुविकार आदिसे मरी हुई ई, नितम्बाभ्र भ्रमे धीरगतिवाना ई आघाव महाराज उत्प्रेषा करते ई वि—य देवापनाय माना शृङ्गारका सबस्य एकत्र करकेही बनाई गई ई, जिसस मूर्त्तिमान् लक्ष्मीमान ही शोभती ई ॥ १११—११२—११३ ॥

गीतयादिप्रविष्टासु शृङ्गाररसभूमिषु ।

परिरम्भादिसङ्घषु स्त्रीणा दाक्ष्य स्वभावन ॥ ११४ ॥

अर्थ—स्वर्गोत्तम नृद्धारमकी भूमि ऐसी गीत व जाजेनी नियाओम तथा आलिंगनी समस्त नियाओम श्रियोनी स्वमात्रसेही प्रणीणता होती है ॥ ११४ ॥

सर्वावयवसम्पूर्णा दिव्यलक्षणलक्षिताः ।

अनङ्गप्रतिमा धीरा' प्रसन्नप्राशुविग्रहा ॥ ११५ ॥

हारकुण्डलकेयूरकिरीटाङ्गदभूषिताः ।

मन्दारमालतीगन्धा अणिमादिगुणान्विताः ॥ ११६ ॥

प्रसन्नामलपूर्णैन्दुकान्ताः कान्ताजनप्रिया ।

शक्तित्रयगुणोपेता मत्त्वशीलावलम्बिन ॥ ११७ ॥

विज्ञानधिनयोहामप्रीतिप्रसरसभृता ।

निसर्गसुभगा' सर्वे भवन्ति त्रिदिवौकसः ॥ ११८ ॥

अर्थ—उन स्वर्गोत्तम देव कैसे है कि—शरीरके समस्त अवयव जिनके सम्पूर्ण सुशोभित हैं, दिव्य मनोहर लक्षणों सहित हैं, कामदेवके समान सुन्दर हैं, धीर हैं (क्षोभरहित हैं), प्रसन्न वा निर्वीर्ण हैं शरीर जिनका ऐसे है ॥ ११५ ॥ तथा हार कुण्डल केयूर—(भुज बाध) किरीट—(मुकुट) अङ्ग (कटन आदि) इन आभूषणोंसे भूषित है, मन्दार माल तीरे पुष्पोंकी समान जिनके अगम सुगन्धि है अणिमा महिमाणि अष्टलक्षित हैं ॥ ११६ ॥ प्रसन्न निमल पूर्ण चन्द्रमाममान मनोहर हैं, और कान्ताना करि श्रियोको अनिशय प्रिय लगनेवाले हैं, तीन शक्ति कहिये प्रभुत्व, मन्त्र, उल्गाह एवं गुणोन्मत्ति हैं, तथा सत्त्व, पराक्रम और शील कहिये सुखभावनके आलम्बा करनेवाले हैं ॥ ११७ ॥ तथा विज्ञान, प्रणीणता और विनय वा उत्तम प्रीतिसे प्रसर कहिये वाज भरे हैं, (स्वर्गम गमन तत्र इसीप्रकार स्वभावे सुन्दर होते हैं) ॥ ११८ ॥

न तत्र नृग्नितो दीनो वृद्धो रोगी गुणव्युत्त ।

विकलाङ्गो गतश्रीक स्वर्गलोके विलोक्यते ॥ ११९ ॥

अर्थ—तथा उक्त स्वर्गम कोई ऐसा नहीं होता जाता जो दुर्गो, दीन, वृद्ध, रोगी, विकलाङ्ग, गतश्रीक अथवा काँतहीन हो ॥ ११९ ॥

मभ्यसामानिकामात्यलोकपालप्रकीर्णका ।

मित्राग्रभिममन्नेषा पार्श्वयर्त्ता परिग्रहा ॥ १२० ॥

अर्थ—स्वर्गोत्तम समस्त देव, मामादिदेव, अमायादेव, लोकपालदेव, प्रकीर्णका देव ये भक्त हैं तथा मित्र आदिक सबकी उन इच्छोंके पार्श्वयर्त्ता परिवार उनके अनिवार्य (न्यून दर्शन करनेवाले) हैं ॥ १२० ॥

चन्द्रिगायनमैश्वर्याम्बाङ्गरक्षा पदात्मय ।

नटवैश्रिचित्राभिय नृगगा मेघको जन ॥ १२१ ॥

अर्थ—तथा स्वर्गोम एव देवोकी सेवा करनेवाले देव हैं, बदीन हैं, गानेवाले हैं, दंड धारण हैं, तथा नाचनेवाली विलासिनी अप्सराय हैं ॥ १२१ ॥

तथातिभयताधारे विमाने कुन्दकोमले ।

उपपादिशिलागर्भे सभदन्ति स्वयं सुरा ॥ १२२ ॥

अर्थ—स्वर्गोमें अतिमनोहतरा आधार ऐसे विमानय कुन्दके पुष्पसमान कोमल ऐसी उपपादि शिलाके गर्भमें देव स्वयमेव उत्पन्न होते हैं । भावार्थ—देवोंके उत्पन्न होनेकी उपपादि शिल्पा है उत्तर जन्म लेते हैं जिसप्रकार कोई सोया हुआ आदमी उठता है इसीप्रकार जिसका स्वर्गमें जन्म होता है वह जीव पूर्णोम उस उपपाद शिल्पा पर उठता है ॥ १२२ ॥

सर्पाक्षसुगन्दे रम्ये नित्योत्सवविराजिते ।

गीतवादिग्रलीलादरे जयजीवस्वनाकुले ॥ १२३ ॥

दिव्याकृतिसुसम्याना सप्तधातुविवर्जिता ।

कायकान्तिपय पूरे प्रसादितदिगन्तरा ॥ १२४ ॥

शिरीषसुकुमाराङ्गर पुण्यलक्षणलक्षिता ।

अणिमादिगुणोपेता ज्ञानविज्ञानपारगा ॥ १२५ ॥

भृगाङ्गमूर्तिसकाशा शान्तदोषा शुभाशया ।

अचिन्त्यमहिमोपेता भयकेशार्तिवर्जिता ॥ १२६ ॥

पर्यमानमहोत्सारा यज्ञराया मलयला ।

अचिन्त्यपुण्ययोगेन गृह्णन्ति यपुस्सर्जितम् ॥ १२७ ॥

अर्थ—उस उपपाद शिल्पाका स्थापक है कि—समस्त इन्द्रियोंको सुख देनेवाला है रमणीय है नित्यही उत्सवसहित विराजता है गीत वादिनादि लीलाभोगहित है तथा “जयजय होओ चिरजीवी होओ” ऐसे शब्दोंसे व्याप्त है ॥ १२३ ॥ ऐसे स्थानपर जो देव उत्पन्न होते हैं वे कैसे हैं कि—दिव्य सुन्दराकार है सस्यान जिनका और जिनका सप्तधातुरहित शरीर है जो शरीरकी प्रभाक्षी जन्मके प्रभावसे सगस्त शिवा ओंको प्रसन्न करनेवाले हैं ॥ १२४ ॥ जिनका शरीर शिरीषपुष्पके समान कोमल है, पवित्र लक्षणोंमहित है अणिमा महिमादि गुणोंसे युक्त है अवधिज्ञानादि विज्ञान चतुर ताओंके पारगामी हैं ॥ १२५ ॥ तथा चन्द्रमारी भूतममान हैं, जिनमें सब दोष शांत होगये हैं, जिनका चित्त शुभ है, अचिन्त्य महिमायुक्त हैं, भय केशपीडासे रहित हैं— ॥ १२६ ॥ जिनका उत्साह यन्त्रादी रहता है, बम्बके समान हड शरीर है, उड़े परा-कामी हैं, इसप्रकारके देव अचिन्त्य पुण्यके योगसे उस उपपादस्थानमें शरीरको धारण करते हैं ॥ १२७ ॥

सुगामृतमलाम्भोरेर्मग्यादिव विनिर्गताः ।

भयन्ति त्रिदशा मयः क्षणेन नवयौवना ॥ १२८ ॥

अर्थ—उस उपपाठग्याम ने तेरा उत्पन्न होने है सो त्रिमप्रकार समुद्रमने का
मनुष्य निकले उमीप्रकार ने तेरा मुग्यरूपी ग्यामसमुद्रमने तजाल नव यौवनवर होकर
उत्पन्न होते है ॥ १२८ ॥

किं च पुष्पफलाक्रान्तं प्रवालटलदन्तुरैः ।

तेषां कोकिलवाचालैर्दृष्टमैर्जन्म निगद्यते ॥ १२९ ॥

अर्थ—फल फलोंमें भरपूर, सोमल पत्तोंमें अकुरित और कोकिलाभासे ग्यामगत
वृक्षों करके उनके जन्मकी सूचना की जाती है १२९ ॥

गीतवादित्रनिर्घापैर्जयमङ्गलपाठकैः ।

वियोध्यन्ते शुभैः शब्दैः सुखनिद्रात्यये यथा ॥ १३० ॥

अर्थ—तथा वे तेरा उस उपपाठग्याम ऐसे उत्पन्न होने है कि जैसे बोर रातुमार
सोता हो और वह गीत वादित्रोंने ग-इये, 'जय जय' इत्यादि मंगलके पाठों तथा
उत्तमोत्तम शब्दोंमें सुखनिद्राका अभाव होनेपर जगाया जाता है, उमीप्रकार तेरा भी
उस उपपाठग्याम (शय्या) उठकर मागधान होते है ॥ १३० ॥

किञ्चिद्भ्रममपाकृत्य धीक्षते स शनैः शनैः ।

यावदाशा मुहुः निगद्यैस्तदाकर्णान्तलोचनैः ॥ १३१ ॥

अर्थ—तथा उस उपपाठ ग्याममें मागधान होकर उठ भ्रमको दूर करके उस समय
कर्णान्त पर्यन्त नेत्रोंको उघाटकर दृष्टि फेरफेर चारों ओर देखता है ॥ १३१ ॥

तत्पश्चात् क्या करता है सो कहते हैं,—

इन्द्रजालमथ स्वप्न किं नु मायाभ्रमोऽनु किम् ।

दृश्यमानमिदं चित्रं भ्रम नायानि निश्चयम् ॥ १३२ ॥

अर्थ—फिर सागधान होकर वह देख ऐसा निचारता है कि अहो! यह क्या इन्द्र
जाल है? अथवा मुझे क्या स्वप्न आ रहा है? अथवा यह मायामय बोर भ्रम है व
तो यदा आश्रय नेमनेमें आता है निश्चय नहीं कि यह क्या है? इसप्रकार सन्देह
होता है ॥ १३२ ॥

इदं रम्यमिदं मेवमिदं श्लाघ्यमिदं हितम् ।

इदं प्रियमिदं भव्यमिदं चित्तप्रसत्तिदम् ॥ १३३ ॥

गन्तव्यं नन्दितानन्दमेतत्कल्याणमन्दिरम् ।

गन्तव्योत्सवाकीर्णमेतदत्यन्तसुन्दरम् ॥ १३४ ॥

सर्धर्द्रिमातिषोपेत मारुर्दिकसुराचितम् ।

सप्तानीकान्वित भानि त्रिदशेन्द्रसभाजिरम् ॥ १३५ ॥

अर्थ—तत्पश्चात् यह देव विचार करता है—कि यह वस्तु रमणीय है, यह सेवनीय है, यह सराहने योग्य है, यह तिरुत्तर है, यह प्रिय है, यह सुन्दर है, यह चित्तको प्रसन्नता देनेवाला है ॥ १३३ ॥ तथा—मह आनन्दको उत्पन्न करनेवाला कल्याणका मंदिर निरन्तर सत्त्वग्रूप तथा अत्यन्त सुन्दर है इत्यादि विचार करता है ॥ १३४ ॥ तथा यह स्थान समस्त फादि और महिमा सरित मरुत्तद्विके धारक त्रेवोंसे पूजनीय मात्र प्रकारकी सेवासहित देवों के ध्यानके समान दीखता है ॥ १३५ ॥

किर मी कुछ विशेष है,—

मामेवोद्दिश्य सानन्दं प्रवृत्त किमय जन ।

पुष्पमूर्त्तिं प्रिय श्लाघ्यो विनीतोऽत्यन्तवत्सल ॥ १३६ ॥

मैलोपयनाथससेव्य कोऽय देश सुगङ्गाकर ।

अनन्तमतिमाधारो विश्वलोकाभिनन्दित ॥ १३७ ॥

इद पुरमतिस्फीत वनोपवनराजितम् ।

अभिप्रेत जगद्भूत्या घटर्त्तव्य ध्वजाशुक्लै ॥ १३८ ॥

अर्थ—किर यह देव विचारता है कि—ये सामने जो लोग खड़े हैं वे मुझे ही देखकर आनन्दसहित प्रवृत्त हैं, ये पति हैं, उज्ज्वल है मूर्ति जिनकी देते हैं तथा ये सब बहुत प्रिय हैं, प्रशंसनीय हैं, विनीत हैं, चतुर हैं, अत्यन्त प्रीति युक्त हैं ॥ १३६ ॥ तथा किर विचारता है कि यह सुखकी खानि तीन लोकोंके स्वामी द्वारा सबने योग्य कीनता देश है ? यह देश अनन्त महिमाका आधार है, सबको बाधनीय है ॥ १३७ ॥ तथा यह नगर भी अति मिलीन है, वन उपवनोसे शोभित है, सपदाक द्वारा समस्त जगत्को जीतकर ध्वजाओंक पतकोंके हिलनेसे मानो दौड़ता है, नृत्यही करता है, इत्यादि विचारता है ॥ १३८ ॥

आकल्य तदाकृत मयिया दिव्यचक्षुष ।

नतिपर्यं प्रयत्नन्ते चक्षुः कालोचित तदा ॥ १३९ ॥

प्रसादं त्रियता देव नताना स्येच्छया दृशा ।

श्रूयता च यचोऽस्माक पौर्वापर्यप्रकाशकम् ॥ १४० ॥

अर्थ—तत्पश्चात् उसी समय वहकि मन्त्री देव दिव्यनेत्रोंसे उस उत्तम हुए देवों के अभिप्रायको समझकर नमस्कार करके कहते हैं कि—हे देव ! हम सेवकोंपर प्रसन्न हृदिये, निमल दृष्टिसे देखिये और हमारे पूर्वोपर परिणामीके प्रकाश करनेवाले वचनोंको सुनिये ॥ १३९-१४० ॥

अत्र नाथ वय धन्या' मफल चान्य जीवितम् ।
 अस्माक यत्त्वया स्वर्ग सभवेन पवित्रिनः ॥ १४१ ॥
 प्रसीद जय जीव त्व देव पुण्यस्तवोद्भव ।
 भव प्रभु समग्रस्य स्वर्गलोकस्य सम्प्रति ॥ १४२ ॥
 मौघर्माऽय मलाकल्प सर्वाभरशतार्चित ।
 नित्याभिनयकल्याणचार्द्धिवर्द्धनचन्द्रमा' ॥ १४३ ॥
 कल्प मौघर्मनामायमीशानप्रमुखा सुरा ।
 इहोत्पन्नस्य शक्रस्य कुर्यन्ति परमोत्सवम् ॥ १४४ ॥
 अत्र सकल्पिता कामा नव नित्य च यौवनम् ।
 अग्राविनश्वरा लक्ष्मी सुग्य चात्र निरन्तरम् ॥ १४५ ॥
 स्वर्धिमानमिद रम्य कामग कान्तदर्शनम् ।
 पादाभ्युजनता शेष तव त्रिदशमण्डली ॥ १४६ ॥
 एते दि-याङ्गनाकीर्णाश्चन्द्रकान्ता मनोहरा ।
 प्रामादा रत्नयाप्यश्च क्रीडानयश्च भूधरा ॥ १४७ ॥
 मनाभयनमेतत्ते नताभरशतार्थिनम् ।
 रत्नदीपकृतालोक पुष्पप्रकरशोभितम् ॥ १४८ ॥
 विनीतपेषधारिण्य, कामरूपा वरमिय ।
 तथादेज प्रनीक्षन्ते लास्यलीलारसोत्सुका ॥ १४९ ॥
 भ्रातृपत्रमिद गृह्यमिद च हरिविष्टरम् ।
 एतच्च वामरवातमेते विजयकेतव ॥ १५० ॥
 एता अग्रे मन्त्रादेव्यो वरग्रीवुन्दवन्दिता ।
 तूर्णाङ्गितमुगर्घाङ्गान्तरणै-श्वर्यमभ्यद ॥ १५१ ॥
 शृङ्गारनलप्रेषेण विद्यामोहामितिधुव ।
 लीलाङ्गहारमण्युर्गाम्नाय नाथ समर्पिता ॥ १५२ ॥
 सर्वाययनिर्माणश्रीरामा नोपमास्पदम् ।
 यामा शरण्यामन्निगद्युगवाणुप्रभयं वपु ॥ १५३ ॥
 अयमैगवणा नाम देवदूर्णा मन्त्रामना ।
 श्वेते गुणाष्टैश्वर्याङ्गिण्य विश्वानिशागिनीम् ॥ १५४ ॥
 इद मन्त्रगार्वाङ्गमिना-श्वर्यं मनोजयम् ।
 एते शरण्यगाम्ना वत्सल्यनं वत्सलम् ॥ १५५ ॥

पत्मानि मस मेषानि पालिनायमरेभ्वरे ।

नमसि ते पददन्त नतिविज्ञसिपुर्वकम् ॥ १५६ ॥

ममघ स्वर्गमाप्ताज्य दिव्यभृत्योपलक्षितम् ।

पुण्येस्ते सम्पुणीभूत गृहाण प्रणतामरम् ॥ १५७ ॥

इति पादिनि सुनिग्धे सचियेऽत्यन्तयत्सले ।

अप्यिज्ञानमामाद्य पौर्यापय स बुद्धयति ॥ १५८ ॥

अर्थ—यदि कोई मनुष्य सौधम स्वयम् इन्द्र उत्पन्न होता है तो उसका मन्त्री सध भी तत्काले इस प्रकार कहता है कि हे नाथ! आपने यहा उत्पन्न होकर इस स्वर्गको पवित्र दिया तो आज हम धन्य हुए, हमारा जीना भी आज सफल हुआ ॥ १५१ ॥ हे नाथ! आप प्रगत हजिय, धिरजीव रहिय, हे देव! आपका उत्पन्न होता पुण्यरूप है, परिग्रह, आप हम स्वर्गलोकाई स्वामी हजिय ॥ १५२ ॥ यह सौधम नामा महास्वर्ग है, शेषकों ऐसीते पूजित है यह स्वय सन्देशक कल्याणरूप समुद्रको बचानेके लिये चन्द्र माक समान है ॥ १५३ ॥ यह सौधम नामा स्वय ऐसा है कि—इसमें जो इन्द्र उत्पन्न होता है उसका इज्ञान इन्द्र आदि ममसा देव परमोत्तम करते हैं ॥ १५४ ॥ इस स्वर्गम बाउण पदार्थ भोगने योग्य है यहा नित्यतया यौग है, अविनश्वर लक्ष्मी है, निरन्तर सुखही सुख है ॥ १५५ ॥ तथा यह स्वर्गीय निमान जहा जाना चाहें वही जा सकता है इसका दर्शन अति मनोहर है यह देवारी मङ्गली (समा) आपका चरणकमलोंम नम्रीभूत है ॥ १५६ ॥ ये मनोहर अभसराओंमे भरे हुए चन्द्रकातके समान मनोहर आपके महल है य रत्नमयी पावित्र्यमें है ये ब्रीडानदिय तथा पनत है ॥ १५७ ॥ यह ममामयन है सो नम्रीभूत देवाके द्वारा सेवा करने योग्य है, पूजित है यह रत्नमयी दीपरोसे प्रकाशमान पुष्पममूर्तोंम शोभित है ॥ १५८ ॥ और विनीत चतुर वैरागी धर-नरागी कामरूपिणी सुन्दर गिय नृत्य संगीतादि रसम उत्सुह होकर आपका सामने नृत्य करनेके लिये आपकी आज्ञाकी प्रतीक्षा कर रही हैं ॥ १५९ ॥ तथा यह आपका छत्र है यह आपका पूजनीय भित्तामा है यह चामराका समूह है ये विजयकी ध्वजाय हैं ॥ १५० ॥ और य सध आपकी अग्रमन्त्रिणी अर्थात् पट्टदेविय है ये श्रेष्ठ देवागनाओंद्वारा बद्धन योग्य है तथा इन्द्रने ऐश्वर्यको नृपजी समान ममज्ञनेशली है ॥ १५१ ॥ तथा भृगारूपी समुद्रकी लहरोक समान बबल है निलासके कारण जिनकी मोह प्रफुल्लित हैं और गिला रूपी अलङ्कारमे पूरित है सो हे नाथ! य आपका चरणाम समर्पित है ॥ १५२ ॥ इन पट्टेनियोंक शरीरकी गोभा अनुपम है क्यानि, इनका शरीर योग्य निमल शिन्ध पवित्र परमाणुओंक द्वारा बना हुआ है ॥ १५३ ॥ हे नाथ! यह आपका महामनशाला ऐरावत नामा हस्ती है यह अणिमा यहिमाणि आठ गुणोंके ऐश्वर्यम समस्त प्रकारकी विनियारूप

लक्ष्मीको धरनेवाला है ॥ १५४ ॥ आर यह आपसी मनोमत्त ह्मियारी सेना है, यह घोड़ोंकी सेना है, इसका वेग मनने समान है । यह सुगणमयी ऊँचे ऊँचे रथोंकी सेना है और ये पयादे हैं ॥ १५५ ॥ तथा यह आपसी सात प्रकारकी सेना है पूर्व ईन्द्रों द्वारा पालित है यह आपके चरणक्रमलोंको प्रार्थनापूजक नमस्कार करती है ॥ १५६ ॥ यह समस्त स्वर्गीय राज्य त्रिव्य सम्पदाओंसे जोमित है, सो आपके पुत्रक प्रतापसे आपके सन्मुख हुआ है नम्रीभूत है वन जिमम ऐसा है सो आप ग्रहण कीजिये ॥ १५७ ॥ इस प्रकार अति श्रेष्ठ्युक्त अत्यन्त प्रीतिपूर्ण कहता है, उसी समय इन्द्र अग्रधिरानको प्राप्त होकर पूर्व ज मसम्बन्धी ममम् वृत्तांतको जान जाता है ॥ १५८ ॥

अहो तप पुरा चीर्ण मयान्यजनशुश्रुषम् ।

वित्तीर्ण चाभय दान प्राणिना जीवितार्थिनाम् ॥ १५९ ॥

आराधित मन शुद्ध्या हृज्जोघादिचतुष्टयम् ।

देवश्च जगता नाथ सर्वज्ञ परमेश्वर ॥ १६० ॥

निर्दग्ध विषयारण्य स्मरवैरी निपातितः ।

कषायतरयश्छिन्ना रागशत्रुर्निषञ्चितः ॥ १६१ ॥

सर्वस्तस्य प्रभावोऽयमह येनाय दुर्गते ।

उद्धृत्य स्थापितं स्वर्गराज्ये त्रिदशवन्दिते ॥ १६२ ॥

अर्थ—तत्पश्चात् यह इन्द्र अग्रधिरानमे सब जानकर मन ही मनमें कहता है कि—अहो ! तैरौ, मैंने पूर्व भयम अयमे आचरण करनेमें नहीं आये ऐसे तपको धारण किया तथा अनेक जीवोंको मैंने अभयदान दिया ॥ १५९ ॥ तथा दर्शन, ज्ञान, चारित्र, धर्म, इन चारों आराधनाओंसे श्र्लोक्यक नाथ सगुण परमेश्वर त्रेधाधिदेवता आराधन किया था ॥ १६० ॥ तथा मैंने पूर्वमग्न इन्द्रियोंक विषयरूप बनको दग्ध किया था, कामरूप गुणका नाश किया था, कषयरूप वृत्तोंको काट दिया था और रागरूपी शत्रुको पीड़ित किया था ॥ १६१ ॥ उसीका यह प्रमाण है उक्त आचरणोंने ही इस समय मुझे दुर्ग निसे बचाकर इस देवोंके वन्नीय स्वर्ग राज्यमें स्थापन किया है ॥ १६२ ॥

रामादिदत्तनज्वाला न प्रशाम्पन्ति देहिनाम् ।

मदुक्तवार्थमसिक्ता कचिन्नन्मशतैरपि ॥ १६३ ॥

तन्नाथ सुलभ मन्ये तर्हि कुमांऽयुना ययम् ।

सुगणा स्वर्गलोकेऽस्मिन्दर्शनस्यैव योग्यता ॥ १६४ ॥

अतस्तत्त्वार्थश्रद्धा मे श्रेयसी स्वार्थसिद्धये ।

अर्हद्वयपददण्डे भक्तिध्यायन्ननिश्चला ॥ १६५ ॥

यान्यत्र प्रतिबिम्बानि स्वर्गलोके जिनेशिनान् ।

विमानचैत्यवृक्षेषु मेवांशुपवनेषु च ॥ १६६ ॥

तेषां पूर्वं महं कृत्वा स्वर्गव्यै स्वर्गसम्भवै ।

पुष्पचन्दननैवेद्यैर्गन्धदीपाक्षतोत्करै ॥ १६७ ॥

गीतवादिघ्रनिघोषैः स्तुतिस्तोमैर्मनोहरैः ।

स्वर्गैर्भयं प्रलीप्यामि ततस्त्रिदशवन्दित ॥ १६८ ॥

इति सर्वज्ञदेवस्य कृत्वा पूजामहोत्सवम् ।

स्वीकरोति ततो राज्यं पदयन्घादितक्षणम् ॥ १६९ ॥

अर्थ—तत्पश्चात् वह इन्द्र विचारता है कि—जीर्णोंके रागादिवस्त्र भूमिहीन जगत् सम्यक् चारित्ररूपी जलको सींचे बिना सैकड़ों जन्म होनेपर भी नहीं सुखी ॥ १६३ ॥ ऐसा सम्यक् चारित्र इस स्वर्गमें सुलभ नहीं है, इसलिये क्या करे? इस स्वर्गलोकमें तो सत्यगदानकी ही योग्यता है, चारित्रकी योग्यता नहीं है ॥ १६४ ॥ इस कारण मरे स्थायके लिये तत्त्वार्थप्रदानही बल्याणकारी या श्रेष्ठ है तथा अतः भगवान्के चरणपुगलमें अत्यन्त निधत्त भक्ति करना ही बल्याणकारी है ॥ १६५ ॥ इसलिये यहां स्वर्गमें विमानों, चैत्य वृक्षों तथा मेघ आदिक उपवनोंमें जो त्रिनन्दनभगवान्के प्रतिबिम्ब हैं ॥ १६६ ॥ उनका प्रथमही इस स्वर्गके उत्पल हुए अपने द्रव्य पुष्प, चन्दन, नैवेद्य, गन्ध, दीपक, व अभतोके समूहसे पूजा करके ॥ १६७ ॥ तथा गीत गूल वादिघ्रोंके गन्धोमहित मनोहर स्तुतिय करके तत्पश्चात् इस स्वर्गमें बदनीय स्वर्गके धैर्यकी प्रदण करना चाहिये ॥ १६८ ॥ इस प्रकार विचारकर वह इन्द्र गणेश देवकी पूजा करके महान् उत्सव पूर्वक पट्टपदादिक है लम्बन त्रिमया ऐसे स्वर्गके राज्यको प्रदण करता है ॥ १६९ ॥

तस्मिन्मनोजयैर्यानिर्घिषरन्तो घटच्छया ।

यनाद्रिस्तागरान्तेषु दीप्यन्ते ते दिवौकस ॥ १७० ॥

अर्थ—तत्पश्चात् वे स्वर्गके देव मनके समान वेगशब्दे विमानोंके द्वारा श्वशब्द विचरते हुए वन पर्वत वा समुद्रोंके तीरपर वीडा करते रहते हैं ॥ १७० ॥

सत्कारपानन्तरोत्पन्नेर्दिप्यभोगे समन्यितम् ।

सेयमानां सुरानीकैः अपन्ति स्वर्गिणः सुखम् ॥ १७१ ॥

अर्थ—तथा संकल्प करते ही उत्पल होकर वे गन्धर्वकारोंके दिव्य मन्त्रोंके श्रोतेके भोगते हुए देवोंकी सेनामहित वे स्वर्गके सुख भोगते रहते हैं ॥ १७१ ॥

महामहावसम्पत्ते महामूलोपलक्षिते ।

कारं गते न जानन्ति निमग्नाः सौख्यसागरे ॥ १७२ ॥

अर्थ—इस प्रकार महाप्रभावमहित महाभिभूयिष्युक्त स्वर्गके मुखरूपी मनुजने निर्धारित हुए समयको नहीं जानते कि कितना बीत गया ॥ १७२ ॥

कचिद्रीते. कचिद्वृत्यै. कचिद्व्याघ्रैर्मनोरमैः ।

कचिद्विलासिनीजातक्रीडाशृङ्गारदर्शने ॥ १७३ ॥

दशाङ्गभोगजै सौख्यैर्लभ्यमाना कंचित् कंचित् ।

उमन्ति स्वर्गिणः स्वर्गे करपनानीतवैभवे ॥ १७४ ॥

अर्थ—इस प्रकार कहीं सौ मनके लुभानेवाले गीत तथा नृत्य आदिमें सन्निवृत्त कहीं विलासिनी अपमराओने समूहमें मिले हुए क्रीडा शृङ्गार महित ॥ १७३ ॥ तथा कहींपर दश प्रकारके भोग (कल्प वृक्षों)में उत्पन्न हुए मुरां सन्निवृत्त कल्याणतीत विमर्शवाले स्वर्गोंमें वे देव रहते हैं ॥ १७४ ॥

अब दशांग भोगोंके नाम गिनाते हैं,—

मद्यतूर्यगृहज्योतिर्भूषाभाजनविग्रहा ।

स्वर्गदीपवस्त्रपात्राङ्गा दशधा कल्पपादपाः ॥ १७५ ॥

अर्थ—मद्य, वादित्य, गृह, ज्योति, भूषण, भोजन, माला, दीपक, वस्त्र, पात्र, इन दश प्रकारके भोगोंके देनेवाले दश प्रकारके कल्पगृह स्वर्गोंमें होते हैं इस कारण स्वर्गके देव दशांग भोग भोगते हैं ॥ १७५ ॥

यत्सुख नाकिना स्वर्गे तद्वक्तुं केन पार्यते ।

स्वभावजमनातङ्क सर्वाक्षप्रीणनक्षमम् ॥ १७६ ॥

अर्थ—स्वर्गोंमें स्वर्गवासियोंको जो सुख है उसको वर्णन करनेमें कोई समर्थ नहीं है क्योंकि, वह सुख निरा प्रयाससे स्वयमेव उत्पन्न होता है उस सुखमें आतंक (रोगादिक) नहीं है और समस्त इन्द्रियोंको तृप्त करनेमें समर्थ है ॥ १७६ ॥

अशेषविषयोद्भूत दिव्यस्त्रीसगसम्भवम् ।

विनीतजनविज्ञानज्ञानाद्यैश्वर्यलाञ्छितम् ॥ १७७ ॥

अर्थ—स्वर्गोंका सुख समस्त प्रकारके विषयोंसे उत्पन्न हुआ है तथा दिव्य स्त्रियोंके संगमसे उत्पन्न हुआ है तथा विज्ञान चतुराई ज्ञानादिक ऐश्वर्य सहित उत्पन्न हुआ है उसका वर्णन कौन कर सकता है ॥ १७७ ॥

सौधर्माद्यच्युतान्ता ये कल्पा षोडश वर्णिताः ।

कल्पातीतास्ततो ज्ञेया देवा वैमानिकाः परे ॥ १७८ ॥

अहमिन्द्राभिधानास्ते प्रवीचारविवर्जिताः ।

विवर्द्धितशुभध्याना शुद्धलेख्यावलम्बिनः ॥ १७९ ॥

अर्थ—सौधर्म स्वर्गसे उठाकर अच्युत स्वर्ग पर्यन्त सोलह स्वर्ग कल्प कहे जाते

है उनसे ऊपर जो नवग्रहैयकोंमें वैमानिक दब है, वे कल्पातीत कहते हैं ॥ १७८ ॥ वे देव अहमिन्द्र नामसे वणन किये जाते हैं अर्थात् उनका आचार्योनि अहमिन्द्र नाम कहा है वे अहमिन्द्र कामरहित हैं उनके स्त्रीरा मैथुन वर्जित है, इसी कारण वहा देवांग नायें नहीं होती उन देवोंका गुप्त ध्यान उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ है और वे गुह्य लेश्याके धारनेवाले हैं ॥ १७९ ॥

अनुत्तरविमानेषु श्रीजयन्तादिपञ्चसु ।

समृप स्वर्गिणश्च्युत्वा व्रजन्ति पदमव्ययम् ॥ १८० ॥

अर्थ—तत्पश्चात् उन नवग्रहैयक विमानोंसे ऊपर श्रीजयन्तादिक पापे अनुत्तर विमान हैं उनमें जो देव उत्पन्न होते हैं वे वरामे गिरकर, मनुष्य हो अग्रद्वया मोक्षको पाते हैं ॥ १८० ॥

कल्पेषु च विमानेषु परत परतोऽधिका ।

शुभलेश्यायुर्विज्ञानप्रभावैः स्वर्गिण स्वयम् ॥ १८१ ॥

अर्थ—तथा कल्पोंमें और कल्पातीत विमानोंमें गुप्त लेश्या आयु विज्ञान प्रमाणादिक करके देव स्वयही अगले २ विमानोंमें अधिक अधिक बढ़ते हुए हैं ॥ १८१ ॥

ततोऽग्रे शाश्वत धाम जन्मजातव्यच्युतम् ।

ज्ञानिना यदधिष्ठान क्षीणनि शेषकर्मणाम् ॥ १८२ ॥

अर्थ—उन अनुत्तर विमानोंसे आगे अर्थात् ऊपर शाश्वत धाम (मोक्षस्थान ॥ सिद्धशिखर) है सो समारसे उत्पन्न हुए क्लेश दुष्टादिसे रहित है और समस्त कर्मोंके नाश करनेवाले सिद्ध भगवानोंका आश्रयस्थान है ॥ १८२ ॥

चिदानन्दगुणोपेता निष्ठितार्था विषयधना ।

यत्र सन्ति स्वयं बुद्धा सिद्धा मिद्धे स्वययरा ॥ १८३ ॥

अर्थ—उक्त मोक्षस्थानमें मिद्ध भगवान् निघमान हैं, वे चैतन्य और आनन्द बहिरे गुणोंसे समुच्च है, वृत्तवृत्त्य हैं, कमबन्धसे रहित है, स्वयबुद्ध है, अर्थात् जिनके स्वाधीन अतीन्द्रिय ज्ञान है तथा सिद्धिको (मुक्तिको) स्वयं करनेवाले हैं ॥ १८३ ॥

समस्तोऽयमहो लोकः केवलज्ञानगोचरः ।

त व्यस्त या समस्त या स्वशक्त्या चिन्तयेद्यति ॥ १८४ ॥

अर्थ—अहो भव्य जीवो! यह समस्त लोक केवलज्ञानगोचर है तपस्वि इस सम्पाननिधय नामा धर्म ध्यानम मुनि सामान्यतासे सबहीको तथा व्यस्त बहिरे कुछ भिन्न भिन्नको अपनी शक्तिक अनुसार चिन्तवन कर ॥ १८४ ॥

(१) विजय १ वैजय त २ जयन्त ३ अपरविजय ४ अर रत्नाधिपति ५ वे काल सिद्धि है ।

विलीनाशेषकर्माण स्फुरन्तमतिनिर्मलम् ।

स्य ततः पुरुषाकार स्वाङ्गगर्भगत स्मरेत् ॥ १८५ ॥

अर्थ—तथा इस लोकके सस्थानके चिन्तनके पश्चात् अपने शरीरम प्राप्त पुण्याकार अपने आत्माको कर्मरहित स्फुरायमान अति निमल चिन्तन करै (स्मरण करै) ॥ १८५ ॥

मालिनी

इति निगदितमुच्चैलोरुसस्थानमित्थ

नियतमनियत वा ध्यायतः शुद्धबुद्धेः ।

भवति सततयोगाद्योगिनो निष्प्रमाद

नियतमनसिदूर केवलज्ञानराज्यम् ॥ १८६ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि—इस पूर्वोक्त प्रकारसे कहे हुए लोक स्वयं पको (सस्थानको) इस प्रकार नियत मर्यादामहित वा अनियत मर्यादामहित चिन्तन करता हुआ जो निर्मल बुद्धि मुनि है उसको प्रमादरहित ध्यान करनेमें नियमसे शीघ्र ही केवल ज्ञान राज्यकी प्राप्ति होती है । **भावार्थ**—अप्रमत्त नामा सातव गुणम्यानमें यह धर्म ध्यान उत्कृष्ट होता है उस गुणस्थानसे फिर क्षणिक श्रेणीका प्रारम्भ करनेपर अन्तर्मुहूर्तमें केवलज्ञानकी उत्पत्ति होती है ॥ १८६ ॥

इस प्रकार सम्पाननिचय नाम धर्म ध्यानमें लोखसस्थानका चिन्तन करना होता है इस कारण लोकके सस्थानोंका सन्धेय वर्णन किया—यदि किसीको लोकका विशेष वर्णन देखना हो तो त्रिलोकमारादि ग्रन्थोंमें देखे ॥

उपपद्यते ।

लोकरूप सप्रज्ञ पथित सत्यारथ जाने ।

अधो मध्य अरु अध भद्र वय कहे सुमाने ॥

रचना है पट्ट-पतनी बहुभाय विचारो ।

दिग्पट्टिनि नित्य अनतिपथय ललि धारो ॥

इस ध्यान रूपमें ध्येय करि, ध्याजो जिय मन स्थिर रहै ।

पुनि आत्मको सस्थान हू, त्रिलो जया विविता रहै ॥ ३१ ॥

इति श्रीगुप्तचन्द्राचार्यनिरक्षिणे योगप्रदीपधिरारे ज्ञानाणवे सस्थानविचय नामकध्याननाम ताम पद्यांश प्रकरण समाप्तम् ॥ ३५ ॥

अथ पदत्रिंश प्रकरणम् ।

आगे—इस सम्पान निचय नामा धर्म ध्यानमें विहृम्य, पदम्य, रूपम्य और स्थानीय इस प्रकार ध्यान है जो चार भेद कहे हैं उनका वर्णन किया जाता है,—

पिण्डस्य च पदस्य च रूपस्य रूपवजितम् ।

चतुर्धा ध्यानमाश्नात भव्यराजीवभास्करी ॥ १ ॥

अर्थ—जो भव्यरूपी कमलोंको प्रफुल्लित करनेके लिये तूयके समान योगीश्वर है उन्होंने ध्यानको पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ऐसे चार प्रकारका कहा है ॥ १ ॥

पिण्डस्य पञ्च विज्ञेया धारणा चीरचर्णिता ।

सयमी यास्यसमूदो जन्मपाशान्निहृन्तति ॥ २ ॥

अर्थ—पिण्डस्थ ध्यानम धीवर्द्धमान स्वामीसे कही हुई जो पांच धारणाय है उनमें सयमी मुनि ज्ञानी होकर सत्तारूपी पाशको काटता है ॥ २ ॥

पार्थिवी स्यात्तथाग्नेयी भवसना वायु चारुणी ।

तत्त्वरूपयती चेति विज्ञेयास्ता यथाक्रमम् ॥ ३ ॥

अर्थ—वे धारणा पार्थिवी, आग्नेयी, तथा भवसना, वायुणी और तत्त्वरूपयती ऐसे पायाक्रमसे होती हैं ॥ ३ ॥

सो प्रथमही पार्थिवी धारणाका स्वरूप कहते हैं,—

तिर्यग्ग्लोकसम योगी स्मरति क्षीरसागरम् ।

नि शब्द शान्तकलोलो हारनीहारसनिभम् ॥ ४ ॥

अर्थ—प्रथमही योगी मध्यलोकमें स्वयंभू रमण नामा समुद्रपर्यन्त जो तिर्यक् लोक है, उसको समान नि शब्द, कलोलरहित, तथा वारणके सदृश सपेद क्षीरसमुद्रका ध्यान (चितवन) करे ॥ ४ ॥

तस्य मध्ये सुनिर्माण सत्त्वदलमम्बुजम् ।

स्मरत्यमितभादीप्त द्रुतहेमसमप्रभम् ॥ ५ ॥

अर्थ—उस क्षीरसमुद्रके मध्यभागमें सुन्दर है निर्माण (रचना) त्रिगुणी और अमिक्त कैलती हुई दीप्तिसे शोभायमान, पिघलाये हुए सुवर्णकीसी प्रभाराल एक गर सदृशके कमलका चितवन (ध्यान) करे ॥ ५ ॥

अजरगणसमुद्भूत केमरालिचिराजितम् ।

जम्बुद्वीपप्रमाणं च चित्तभ्रमररञ्जकम् ॥ ६ ॥

अर्थ—फिर इस कमलको केमा ध्याये कि कालक रागा उत्पन्न हुई कमलके पक्षिमे विराजमान (शोभायमान) तथा चितरूपी भ्रमरको रजायमान कराशले जम्बु द्वीपके बराबर लाय योजनका चितवन करे ॥ ६ ॥

श्वर्णाचलमयीं दिव्या तत्र स्मरति कणिकाम् ।

शक्रान्पिङ्गप्रभाजालपिङ्गान्निदिगन्तराम् ॥ ७ ॥

अर्थ—जब उस वन के मध्य सुतांचित (मेरु) के समान सुखाना
 ८—११ प्रकाश मन्द प्रिये तथा उसके द्वारा पीनरगनी कर दी है दाने रिने
 डिप्ते रेने एक काकाका ध्यान की ॥ ७ ॥

नागयन्त्रनिभ तम्यामुखां हरिचिह्नम् ।

नमोऽस्तु तस्मै ॥ ८ ॥

अर्थ—कनकजी कर्णिकानगर नजुके चरमाह समाज श्रीरक्षा रक्षक विचार विचार करे टन मित्राचार आगे आ माझे गुरुवर्य, शास्त्र शास्त्र, विचार विचार अ ॥ ८ ॥

रागदेवद्विनि शेषतः प्रशङ्गाश्रमम् ।

उत्पुनं च भवेत्तत्तुर्ममन्तानशासने ॥ ० ॥

॥ ५ ॥ — ॥ १ ॥ सत्तार नै ॥ ह्य अणो आ माहो पेमा पिनारे हि पद रगरो
॥ २ ॥ कर्म्म कर्म्मो यः करोमि मयमे ते और संगाम उलय ह्य जो ओ कां
॥ ३ ॥ कर्म्म कर्म्मो यः करोमि मयमे ते ॥ ४ ॥

इस रूप में हमें यह भावना प्राप्त होती है कि अर्थ आगे भी धारणा है।

॥ १ ॥ श्री गणेशाय नमः ।

स्वात्मनिष्ठतायाः साक्षात्प्राप्तिरिति ॥ २० ॥

[illegible]

३-अथश्रमसामर्थ्यान्वयमाणादिगतिनाम् ।

क^६ । कणा मशमर्ष निष्पुनने विविचयत ॥ ११ ॥

[illegible]

1. 2. 3. 4. 5. 6. 7. 8. 9. 10. 11. 12. 13. 14. 15. 16. 17. 18. 19. 20. 21. 22. 23. 24. 25. 26. 27. 28. 29. 30. 31. 32. 33. 34. 35. 36. 37. 38. 39. 40. 41. 42. 43. 44. 45. 46. 47. 48. 49. 50. 51. 52. 53. 54. 55. 56. 57. 58. 59. 60. 61. 62. 63. 64. 65. 66. 67. 68. 69. 70. 71. 72. 73. 74. 75. 76. 77. 78. 79. 80. 81. 82. 83. 84. 85. 86. 87. 88. 89. 90. 91. 92. 93. 94. 95. 96. 97. 98. 99. 100. 101. 102. 103. 104. 105. 106. 107. 108. 109. 110. 111. 112. 113. 114. 115. 116. 117. 118. 119. 120. 121. 122. 123. 124. 125. 126. 127. 128. 129. 130. 131. 132. 133. 134. 135. 136. 137. 138. 139. 140. 141. 142. 143. 144. 145. 146. 147. 148. 149. 150. 151. 152. 153. 154. 155. 156. 157. 158. 159. 160. 161. 162. 163. 164. 165. 166. 167. 168. 169. 170. 171. 172. 173. 174. 175. 176. 177. 178. 179. 180. 181. 182. 183. 184. 185. 186. 187. 188. 189. 190. 191. 192. 193. 194. 195. 196. 197. 198. 199. 200. 201. 202. 203. 204. 205. 206. 207. 208. 209. 210. 211. 212. 213. 214. 215. 216. 217. 218. 219. 220. 221. 222. 223. 224. 225. 226. 227. 228. 229. 230. 231. 232. 233. 234. 235. 236. 237. 238. 239. 240. 241. 242. 243. 244. 245. 246. 247. 248. 249. 250. 251. 252. 253. 254. 255. 256. 257. 258. 259. 260. 261. 262. 263. 264. 265. 266. 267. 268. 269. 270. 271. 272. 273. 274. 275. 276. 277. 278. 279. 280. 281. 282. 283. 284. 285. 286. 287. 288. 289. 290. 291. 292. 293. 294. 295. 296. 297. 298. 299. 300. 301. 302. 303. 304. 305. 306. 307. 308. 309. 310. 311. 312. 313. 314. 315. 316. 317. 318. 319. 320. 321. 322. 323. 324. 325. 326. 327. 328. 329. 330. 331. 332. 333. 334. 335. 336. 337. 338. 339. 340. 341. 342. 343. 344. 345. 346. 347. 348. 349. 350. 351. 352. 353. 354. 355. 356. 357. 358. 359. 360. 361. 362. 363. 364. 365. 366. 367. 368. 369. 370. 371. 372. 373. 374. 375. 376. 377. 378. 379. 380. 381. 382. 383. 384. 385. 386. 387. 388. 389. 390. 391. 392. 393. 394. 395. 396. 397. 398. 399. 400. 401. 402. 403. 404. 405. 406. 407. 408. 409. 410. 411. 412. 413. 414. 415. 416. 417. 418. 419. 420. 421. 422. 423. 424. 425. 426. 427. 428. 429. 430. 431. 432. 433. 434. 435. 436. 437. 438. 439. 440. 441. 442. 443. 444. 445. 446. 447. 448. 449. 450. 451. 452. 453. 454. 455. 456. 457. 458. 459. 460. 461. 462. 463. 464. 465. 466. 467. 468. 469. 470. 471. 472. 473. 474. 475. 476. 477. 478. 479. 480. 481. 482. 483. 484. 485. 486. 487. 488. 489. 490. 491. 492. 493. 494. 495. 496. 497. 498. 499. 500. 501. 502. 503. 504. 505. 506. 507. 508. 509. 510. 511. 512. 513. 514. 515. 516. 517. 518. 519. 520. 521. 522. 523. 524. 525. 526. 527. 528. 529. 530. 531. 532. 533. 534. 535. 536. 537. 538. 539. 540. 541. 542. 543. 544. 545. 546. 547. 548. 549. 550. 551. 552. 553. 554. 555. 556. 557. 558. 559. 560. 561. 562. 563. 564. 565. 566. 567. 568. 569. 570. 571. 572. 573. 574. 575. 576. 577. 578. 579. 580. 581. 582. 583. 584. 585. 586. 587. 588. 589. 590. 591. 592. 593. 594. 595. 596. 597. 598. 599. 600. 601. 602. 603. 604. 605. 606. 607. 608. 609. 610. 611. 612. 613. 614. 615. 616. 617. 618. 619. 620. 621. 622. 623. 624. 625. 626. 627. 628. 629. 630. 631. 632. 633. 634. 635. 636. 637. 638. 639. 640. 641. 642. 643. 644. 645. 646. 647. 648. 649. 650. 651. 652. 653. 654. 655. 656. 657. 658. 659. 660. 661. 662. 663. 664. 665. 666. 667. 668. 669. 670. 671. 672. 673. 674. 675. 676. 677. 678. 679. 680. 681. 682. 683. 684. 685. 686. 687. 688. 689. 690. 691. 692. 693. 694. 695. 696. 697. 698. 699. 700. 701. 702. 703. 704. 705. 706. 707. 708. 709. 710. 711. 712. 713. 714. 715. 716. 717. 718. 719. 720. 721. 722. 723. 724. 725. 726. 727. 728. 729. 730. 731. 732. 733. 734. 735. 736. 737. 738. 739. 740. 741. 742. 743. 744. 745. 746. 747. 748. 749. 750. 751. 752. 753. 754. 755. 756. 757. 758. 759. 760. 761. 762. 763. 764. 765. 766. 767. 768. 769. 770. 771. 772. 773. 774. 775. 776. 777. 778. 779. 780. 781. 782. 783. 784. 785. 786. 787. 788. 789. 790. 791. 792. 793. 794. 795. 796. 797. 798. 799. 800. 801. 802. 803. 804. 805. 806. 807. 808. 809. 810. 811. 812. 813. 814. 815. 816. 817. 818. 819. 820. 821. 822. 823. 824. 825. 826. 827. 828. 829. 830. 831. 832. 833. 834. 835. 836. 837. 838. 839. 840. 84

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ १३ ॥

第一、二、三、四、五、六、七、八、九、十、十一、十二、十三、十四、十五、十六、十七、十八、十九、二十、二十一、二十二、二十三、二十四、二十五、二十六、二十七、二十八、二十九、三十、三十一、三十二、三十三、三十四、三十五、三十六、三十七、三十八、三十九、四十、四十一、四十二、四十三、四十四、四十五、四十六、四十七、四十八、四十九、五十、五十一、五十二、五十三、五十四、五十五、五十六、五十七、五十八、五十九、六十、六十一、六十二、六十三、六十四、六十五、六十六、六十七、六十八、六十九、七十、七十一、七十二、七十三、七十四、七十五、七十六、七十七、七十八、七十九、八十、八十一、八十二、八十三、八十四、八十五、八十六、八十七、八十八、八十九、九十、九十一、九十二、九十三、九十四、九十五、九十六、九十七、九十八、九十九、一百。

निर वैरा विचार्य करे मा वरत ६,—

मग्न रेपादिनिर्वाणीं दानैर्धूमशिखा स्मरेत् ।

स्पुष्टिमतर्नि पद्मान्वालात्नीं तदनन्तरम् ॥ १३ ॥

तेन उपागवलापेन धर्मेमानेन सन्ततम् ।

दहयविरत भीर पुण्डरीक तदिन्द्रियम् ॥ १४ ॥

अर्थ—तपश्चान् उग्न श्वाभ्रव रश्मि मद मद टिक्कती हुई धूमवी (धूयवी) शिखा शिखा करे तपश्चान् उग्नने अनुक्रमत प्रसाहरूप निरलते हुए स्पुष्टिगोकी रतिका शिखा करे और तत्पश्चात् उग्नने निरलती हुई ज्वालारी स्पुष्टोको विचार ॥ १३ ॥ तत्पश्चात् योगी मुनि व्रमते करते हुए उस ज्वालाके समूहसे अपने हृदयस्थ कमलको निरन्तर जलाता हुआ चिन्तन करे ॥ १४ ॥

उस दहयय कमलका विशेष स्वरूप कहने हैं,—

तदष्टवर्मेनिर्माणमष्टपत्रमधोमुखम् ।

दहय्येष महामध्मप्यानोत्थप्रचलोऽनल ॥ १५ ॥

अर्थ—यह दहयय कमल अधोमुख आठ पत्रका (पातुगीसाला) है उन आठ पत्रों (दलों) पर आठ व्रम स्थित हैं ऐसे कमलको नाभिस्थ कमलरी कर्णिकाम स्थित “हृ” महामध्मवे ध्यानसे उठी हुई प्रचल अग्नि निरन्तर दहती है इस प्रकार चिन्तन करे, तब अष्टवर्मे जलजाने है यह धैतन्यपरिणामोकी सामर्थ्य है ॥ १५ ॥

ततो वहि शरीरस्य त्रिकोणं वहिमण्डलम् ।

स्मरेज्ज्वालाकलापेन ज्वलन्तमिव बाह्यम् ॥ १६ ॥

वह्निपीजसमात्रान्त पर्यन्ते अस्तिकाक्षितम् ।

ऊर्ध्ववायुपुरोद्भूत निर्दुम बाधनप्रभम् ॥ १७ ॥

अन्तर्दाति मन्त्रार्थिर्वह्निपुर पुरम् ।

धग्दगितियिष्टृर्ज्ज्वालाप्रचयभासुरम् ॥ १८ ॥

अस्मभायमसौ नीत्वा शरीर तच्च पङ्कजम् ।

दाह्याभायात्मय शान्तिं याति वहि शनै शनै ॥ १९ ॥

अर्थ—उस कमलके दग्ध हुए पश्चात् शरीरके बाह्य त्रिकोण वहिका (अग्नि) चिन्तन करे सो ज्वालाके समूहसे जलते हुए बड्यालके समान ध्यान करे ॥ १६ ॥ तथा अग्नि पीजान्तर ‘ह’से व्याप्त और अन्तम सायियाके बिहसे विहित हो, ऊर्ध्व वायु मण्डलसे उत्पन्न धूमरहित काचनवीसी प्रगावला चिन्तन करे ॥ १७ ॥ इस प्रकार यह धग्दगमायमान पैलती हुई स्पुष्टोके समूहसे ददीप्यमान बाहरका अग्निपुर (अग्नि मण्डल) अन्तरगवी मन्त्रागिनी दग्ध करता है ॥ १८ ॥ तत्पश्चात् यह अग्निमण्डल उस

नाभिस्थ कमल और शरीरको भस्मीभूत करके टाढ़ना (जलाने योग्य पदार्थका) अमात्र होनेमे धीरे धीरे अपने आप यह अग्नि गात हो जाती है ॥ १९ ॥

इस प्रकार यह आगेयी धारणा कही आगे मालती नामा धारणाका स्वरूप कहते हैं—

विमानपथमापुर्थ सचरन्त समीरणम् ।

स्मरत्यविरत योगी महामेग महानलम् ॥ २० ॥

अर्थ—योगी (ध्यान करनेवाला मुनि) आकाशमें पूर्ण होकर विचरते हुए महाने गजाले और महानलवान् ऐसे वायुमण्डलका चिन्तन करे ॥ २० ॥

घालयन्त सुरानीक ध्वनन्त त्रिदशालयम् ।

दारयन्त घनव्रात क्षोभयन्त महार्णवम् ॥ २१ ॥

व्रजन्त भुवनाभोगे सचरन्त हरिन्मुखे ।

विसर्पन्त जगन्नीडे निविशन्त घरातले ॥ २२ ॥

उद्धय तद्वज शीघ्र तेन प्रबलवायुना ।

तत स्थिरीकृताभ्यास समीर शान्तिमानयेत् ॥ २३ ॥

अर्थ—तत्पश्चात् उस पवनको ऐसा चिन्तन करे कि—देवोंकी सेनाको घेराने मान करता है, मेघ पर्वतको ढँपाता है, मेघोंके समूहको बखेरता हुआ, समुद्रको क्षौम रूप करता हुआ ॥ २१ ॥ तथा लोखके मध्य गमन करता हुआ, दशों दिशाओंमें छँप रता हुआ जगतरूप घरम फैला हुआ, पृथिवीतन्म प्रवेश करता हुआ चिन्तन करे ॥ २२ ॥ तत्पश्चात् ध्यानी (मुनि) ऐसा चिन्तन करे कि वह जो शरीरादिरूपा भ्रम है उसको इस प्रकार वायुमण्डलने तनाल उढान्धिया, तत्पश्चात् इस वायुको स्थिररूप चिन्तन करने शान्तिरूप करे ॥ २३ ॥

इस प्रकार यह मात्मी धारणा कही । अब वाष्णी धारणाका वर्णन करते हैं—

वाष्ण्या स हि पुण्यात्मा घनजालधित नभः ।

इन्द्रायुधनट्टिजंघमत्काराकुल स्मरेत् ॥ २४ ॥

अर्थ—वही पुण्यात्मा (ध्यानी मुनि) इन्द्रायुध, त्रिपुरी, गजनादि घमशाल तटित मेघोंके समूहमें भोगे हुए आकाशका ध्यान (चिन्तन) करे ॥ २४ ॥

सुषाम्बुप्रभवै मान्द्रैर्यिन्दुमिमोक्तिकोज्ज्वले ।

वर्षन्त त स्मरेद्धीर स्यूतस्यूतैर्निरन्तरम् ॥ २५ ॥

अर्थ—ज्या दन मेघोंको अमृतस उन्मत्त हुए मोती समान उज्ज्वल बरे २ शिदुभूत निरन्तर धाराका वर्णन हुए आकाशको धीरे, धीरे मुनि मारा करे अथवा ध्यान करे ॥ २५ ॥

ततोऽर्द्धेन्दुसम कान्त पुर वरुणलाञ्छितम् ।

ध्यायेत्सुधापयपूरैः श्रावयन्त नभस्तलम् ॥ २६ ॥

अर्थ—तत्पश्चात् अर्द्धचन्द्राकार, मनोहर, अमृतमय जलके प्रवाहसे आकाशको बहते हुए वरुणपुरका (वरुणमंडलका) चिन्तन करे ॥ २६ ॥

तेनाचिन्त्यप्रभावेण दिव्यध्यानोत्थिताम्बुना ।

प्रक्षालयति निःशेष तद्वज्र कायसम्भयम् ॥ २७ ॥

अर्थ—अचिन्त्य है प्रभाव जिसका ऐसे दिव्य ध्यानसे उत्पन्न हुए जलसे गरीबके जलनेसे बल्लभ हुए समस्त भस्मको प्रक्षालन करता है अथवा धोता है, ऐसा चिन्तन करे ॥ २७ ॥
इस प्रकार वात्पी धारणा है । अब तत्त्वरूपवती धारणाको बहते हैं,—

सप्तधातुविनिर्मुक्त पूर्णचन्द्रामलत्विषम् ।

सर्वज्ञकल्पमात्मान तत स्मरति संपंमी ॥ २८ ॥

अर्थ—तत्पश्चात् संपंमी गुणि सप्त धातुरहित, पूर्णचन्द्राकारे समान है निमल प्रभा विमली ऐसे सप्रज्ञसमान अपने आत्माका ध्यान करे ॥ २८ ॥

मृगेन्द्रविष्टरारूढ दिव्यातिशयसयुतम् ।

कल्याणमहिमोपेत देवदैत्योरगार्थितम् ॥ २९ ॥

विलीनाशेषकर्माण स्फुरन्तमतिनिर्मलम् ।

स तत पुरुषाकार स्याद्गर्भगत स्मरेत् ॥ ३० ॥

अर्थ—तत्पश्चात् अपने आत्माके अतिशय युक्त, सिंहासार आकार, बलवान् महिमासहित, देव दानव धाणेद्रादिसे पूजित है ऐसा चिन्तन करे ॥ २९ ॥ तत्पश्चात् विलीन होगये हैं आठ कर्म जिसके ऐसा स्फुरायमान (भरा) अति निमल पुरुषाकार अतः गरीबसे प्राप्त हुए अपने आत्माका चिन्तन करे (इस प्रकार तत्त्वरूपवती धारणा करे ॥ ३० ॥

आर्य ।

इत्यविरत स योगी विष्टस्ये जातनिश्चलाभ्यासः ।

शियसुखमनन्यसाध्य प्राप्नोत्यविरेण बालेन ॥ ३१ ॥

अर्थ—इस प्रकार विष्टाध्य ध्यानमें जिसका निश्चल अभ्यास होता है वह स्वर्ग-
गुणि अन्य प्रकारसे साधनेमें न आवे ऐसे कोषके मुख्यको शीघ्र ही (अल्प समयमें ही) प्राप्त होता है ॥ ३१ ॥

संग्रह ।

इत्थ यन्त्रानवय स्मरति नवसुधासान्द्रचन्द्राशुगौर
श्रीमत्सर्वज्ञकल्प कनकगिरितटे वीतविश्वप्रपञ्चम् ।

आत्मान विश्वरूप त्रिदशगुणगणैरप्यचिन्त्यप्रभाव

तत्पिण्डस्य प्रणीत जिनसमयमहाम्भोधिपार प्रयाते ॥३१॥

अर्थ—उक्त प्रकारसे जिस पिण्डस्य ध्यानमें निर्दोष, नये अमृतसे भीमीहुर चन्द्र
मादी निरण सदृश—गोरे वर्ण, श्रीमत्सर्वज्ञ भगवान् समान तथा मेरु गिरिके तट का
गिरपर बैठा, पीते हैं समस्त प्रपञ्च जिसके ऐसे, तथा विश्वरूप समस्त ज्ञेय पदार्थोंके
आकार जिसमें प्रतिबिम्बित हो रहे हैं ऐसे देवोंके समूहसे भी जिसका अधिक प्रभाव हो
ऐसे आमाता जो चिन्तन निया जाय उसको जिनसिद्धान्तरूपी महासमुद्रके पार पहुँ
चनेवाले मुनीश्वरोंने पिण्डस्य ध्यान कहा है ॥ ३१ ॥

शास्त्रविहीनितम् ।

विद्यामण्डलमन्त्रयन्त्रकुहककूराभिचाराः क्रियाः

सिंहाशीविषदैत्यदन्तिशरभा चान्त्येय नि'सारताम् ।

शाकिन्यो ग्रहराक्षसप्रभृतयो मुञ्चन्त्यसदासना

एतद्व्यानघनस्य सनिधिवशाङ्गानोर्यथा कौशिका ॥ ३२ ॥

अर्थ—जिस प्रकार सूर्यने उदय होनेपर उलूख (घूँ) भाग जाते हैं उसी प्रकार
इस पिण्डस्य ध्यानरूपी धनवालेने समीप होनेसे शिवा, महल, मन्त्र, यन्त्र, इन्द्रादिक
आधार्य (प्रसिद्ध कपट) दूर अभिचार (मरणादि) स्वरूप शिवा, तथा सिंह आशीविष (मर)
दैत्य हर्मा अष्टापद ये सबही नि मारताको प्राप्त हो जाते हैं अर्थात् किसी प्रकारका भी
उपद्रव नहीं करने तथा गतिनी ग्रह राक्षस वगैरह भी छोटी वासनाको छोड़ देने हैं ।

भावार्थ—पिण्डस्य ध्यानसे प्राप्त होनेवाले मुनिने निरुद्ध कोई कुछ जीव किसी
प्रकारका भी उपद्रव नहीं कर सकते समस्त विघ्न दूरसे दूर हो जाते हैं ॥ ३२ ॥

इस प्रकार पिण्डस्य ध्यानका वर्णन किया । यहाँ कोई ऐसा कहे कि क्या
शान्तनुरूप आनाका ही करता है इतनी शक्ति, अग्नि, पवन, जलादिकही करता
किसीके कर्मा? उगको कहा जाता है कि—

यद् गति शक्ति आदि पातुम्य है और सूक्ष्म पुण्ड्र कर्मों द्वारा उगल हुआ है
उनका आकार मय मंदर है इनके संकथने आना द्रव्य गावक्ष कर्मोंके अन्ति
कर्मोंके मन्त्रों से रण है इस कारण इस जीवने विना शिवा अनेक विघ्न
होने हैं जो कि शिवाके मन्त्रोंसे परिणाम निश्चय नहीं होने उगको विघ्न करने

लिये स्थायीन चित्तवर्त्तते चित्तको बस करना चाहिये सो, ध्यानम विमीमा आत्मन विषये विना चित्त निश्चल नहीं होता, इसकारण उसको आत्मन करनेके लिये विंइस ध्यानमें पृथिवी आदि पाच प्रकारकी धारणा की कल्पना स्थापन की गयी है । सो, प्रथम तो पृथिवी सबधी धारणासे मनको धामै तत्त्वान् अग्निही धारणा कम और शरीरको दग्ध करनेकी कल्पना करके मनको रोकै, तत्त्वान् पवनकी धारणा की कल्पना करके शरीर तथा कमकी मनको उडाकर मनको धामै, तत्त्वान् जलकी धारणासे उसनेत सबी बचाई रजको धो देनेरूप ध्यानसे मनको धामै, तत्त्वान् आना, शरीर और कमसे रहित गुद्ध ज्ञानानन्दमय कल्पना करके, उममें मनको मनन करै इस प्रकार मनको धामते २ अभ्यासके करनेमें ध्यानका हठ अभ्यास हो जाता है तब आना गुह्यध्यानमें ठहरता है, उस समय पानिकर्मोना नाश करके केवल ज्ञानकी प्राप्ति होकर, मोक्ष हो जाता है । तथा अन्यमती भी इसीप्रकार पार्थिवी आदि धारणा करनेको कहते हैं परन्तु उनके आत्मतत्त्वका यथाथ निरूपण नहीं होनेके कारण उनका यहाँ सत्यार्थ धारणा नहीं होती । कुछ लौकिक धमत्कार मिद्ध हो तो हो जाओ, परन्तु मोक्षकी प्राप्ति तो यथार्थ तत्त्वके अद्वान ज्ञान आचरण विना होती ही नहीं । इस कारण इसमें सन्देह नहीं करना ॥

आपद् १५ मात्रा ।

या विंइस ध्यानक मारि । देहविषे धित आत्म मारि ।

चित्तथि पद्य धारणा पारि । निज आधीन चित्तका पारि ॥ ३६ ॥

इति श्रीगुणभन्द्राचार्यनिरचिते योगप्रदीपधिकारे ज्ञानाणवे विंइस

ध्यानमार्ग नाम सप्तविंश प्रकरण समाप्तम् ॥ ३७ ॥

अथ अष्टविंश प्रकरणम् ।

आगे पदस्य ध्यानका वर्णन करते हैं,—

पदान्यालम्ब्य पुण्यानि योगिभिर्पद्विधीतानि ।

तत्पदस्य मन ध्यान विचित्रनयपारम ॥ १ ॥

अर्थ—चित्तको योगीधर पद्वि मन्त्रोंके अपरम्यरूप पदोंका अलम्बन करके दिव्य करते हैं उसको अनेक पदोंके पार पदुपनेवाले योगीधरोंके पदस्य ध्यान करता है ॥ १ ॥

प्रथम ही वर्णनातृका ध्यानका विधान करने हैं,—

ध्यायेदनादिमिद्वान्तप्रसिद्धा वर्णमातृकान् ।

नि शेषशब्दविन्यासजन्मभूमि जगद्युगाम् ॥ २ ॥

अर्थ—अनाति मिद्वान्तम प्रमिद्व जो वर्णमातृका अर्थात् अकारादि सर भे
ककाति वज्रनोका समूह है उसका चित्तयन करे क्योंकि, यह वर्णमातृका सन्त
न्द्रोकी स्वनाकी जन्मभूमि है और जगतमे वदनीय है ॥ २ ॥

द्विगुणाष्टदलाम्भोजे नाभिमण्डलयस्तिनि ।

भ्रमर्णीं चिन्तयेद्द्वानी प्रतिपन्न स्वरावलीम् ॥ ३ ॥

अर्थ—दान करनेवाला पुरुष नाभिमण्डलपर स्थित सोलह दल (पैंताली) के कमल का दन्तर कमरे किराई हुई सरायकी भाँति अर्थात् अर्थात् उक्त कमल का पत्र भेजो अथ इन अक्षरोंका विधान करें ॥ ३ ॥

अनुविधानिपश्चादाह हृदि कञ्ज सकर्णिकम् ।

तत्र मर्णानिमान्प्रायेत्सयमी पञ्चविंशतिम् ॥ ४ ॥

अर्थ—एतद्वाक्यं प्यानी अग्रे हरयस्थापर कर्णिका सहित पौरीग पगोरा कण्ड
 ५३॥ मुनि विलगा करे ठगरी कर्णिका तथा पत्रार्थ क रा म ष ड ण छ ज ण म
 २ १ ६ ३ ग ण ष ३ ५ १ ५ क ष भ म डा पचीग अक्षरोरा ध्यात करे ॥ ५ ॥

ततोऽध्वनराजायै तत्राष्टकविभुविभे ।

नमः योगाचार्य भ्यांगेभ्यश्च नमः ॥ ५ ॥

अर्थ—एक भक्त आठ वर्षों में निर्गुण गुणस्वरूप से प्रत्येक प्रकार भोग करने
के लक्ष्य के लिये आठ वर्णाश्रम ध्याये करे ॥ ५ ॥

इन्द्राय नमः योगी प्रसिद्धां धर्ममातृकाम् ।

भूमज्ञानाङ्गुणे, पारं प्रयाति विगतभ्रमः ॥ ५ ॥

अ० २—इस प्रकार की हृदय वामातुकादि विरल व्याधय काला हुआ योगी भवति ।
 ६६३—अतः काला विरल व्याधय काला हुआ योगी भवति ॥ ६६३ ॥

● ● ●

समस्तं जगत् सर्वं व्याप्यमानं नानादिभिरुद्धारम् ।

नष्टाग्निवत्प्रयथाऽद्याना मरणमने कालान् ॥ १ ॥

[illegible]

考友 明一社附屬²の生徒

इन्द्राय नमः भगवते नमः

कुटोन्नयनस्य च समाप्तम् ।

प्राप्नोति चाप्रतिमवाङ्महतीं महद्भ्यः

पूजा परत्र च गतिं पुरुषोत्तमासाम् ॥ २ ॥

अर्थ—इस वषणमातृकाके जापसे योगी सयरोग, अलचिन्ता, अग्निमदता, कुष्ठ, उदर रोग, कास तथा श्वास आदि रोगोंको जीतता है । और वचनमिद्वता, महान् पुरुषोंसे पूजा तथा परलोकमें उत्तम पुरषोंसे प्राप्त की हुई श्रेष्ठ गतिको प्राप्त होता है ॥ २ ॥

अथ मन्त्रराजका ध्यान कहते हैं,—

अथ मन्त्रपदाधीश सर्वतत्त्वैकनायकम् ।

आदिमध्यान्तभेदेन स्वरन्यञ्जनसम्भवम् ॥ ७ ॥

ऊर्ध्वाधोरेफसरुद्ध सपर बिन्दुलाञ्छितम् ।

अनाहतयुत तत्त्व मन्त्रराज प्रचक्षते ॥ ८ ॥

अर्थ—अब सनस मन्त्र पदोंका स्थानी, सब तत्त्वोंका प्रापक, आदि मध्य और अन्तके भेदसे स्वर तथा व्यञ्जनोंसे उत्पन्न, ऊपर आर नीचे रेफ (र)से रका हुआ तथा बिन्दु (०)से चिह्नित सपर कहिये इकार अर्थात् (ॐ) ऐसा बीजाक्षर तत्त्व है अनाहतमहित इसको योगीजन मन्त्रराज करते हैं ॥ ७ ॥ ८ ॥

देवासुरनत भीमदुर्षोपध्यान्तभास्करम् ।

ध्यायेन्मूर्द्धस्यचन्द्राशुकलापाशान्तदिहसुगम् ॥ ९ ॥

अर्थ—देव और असुर कर रहे हैं नमस्कार जिसको ऐसा, अज्ञानरूपी अधकारको उ करनेके लिये तूफके समान तथा मलकपर स्थित जो चन्द्रमा उसकी विरणीरे मूरसे व्याप्त किया है दिशाओंका मुख (आदि) भाग जिसने ऐंग इस मन्त्रराजका गान करे ॥ ९ ॥

ततश्चान् इस मन्त्रराजका क्या ध्यान करै सो कहते हैं ।

कनककमलगर्भे कणिकाया निपण्ण

विगतमलकलङ्क सान्द्रचन्द्राशुगौरम् ।

गगनमनुसरन्त सञ्चरन्त हरित्सु

स्मर जिनवरकल्प मन्त्रराज यतीन्द्र ॥ १० ॥

अर्थ—हे मुनीन्द्र ! सुवर्णमय कालके मध्यमें कणिकाक्षर शिखरान्त, मल तथा लङ्गे रहित, शरद्भक्तके पूज्य चन्द्रमासी विरणीरे सनान गौरवके धारक भावा गगन करते हुए तथा दिशाओंका व्याप्त होते हुए ऐन श्रीजिनेन्द्रक मन्त्र इस राजका स्मरण अर्थात् ध्यान करो ॥ १० ॥

इस मन्त्ररानके नियम जो मत हैं उनको कहते हैं ।

बुद्ध' कैश्चिद्दरि' कैश्चिदज, कैश्चिन्महेश्वर' ।

शिवः सार्वस्तथैशानः सोऽयं वर्णः प्रकीर्तितः ॥ ११ ॥

अर्थ—कितने ही हम (० ई) अक्षरों में बुद्ध, कितने ही हरि, कितने ही ब्रह्मा, कितने ही महेश्वर, कितने ही शिव, कितने ही साय और कितने ही ईशानस्वरूप कहते हैं॥ ११॥ परन्तु यथार्थमें यह अक्षर क्या है सो कहते हैं ।

मध्वमूर्ति समादाय देउदेय' स्वयं जिनः ।

सर्वज्ञ सर्वगः शान्त सोऽय साक्षाद्ब्रह्मयस्यित' ॥ १२ ॥

अर्थ—य मन्त्रराज (११) अन्तर प्रेमा है कि मानो सांझ, सन्ध्यापी, शातमूर्ति के
 शाक्त देवविदेव स्वय श्रीजिनेन्द्र भगवान् ही मन्त्रमूर्तिको धारण करते साक्षात् विराज
 मन् हैं । भावार्थ—यह मन्त्रराज अक्षर साक्षात् श्रीजिनेन्द्रस्वरूप है ॥ १२ ॥

ज्ञानपीजं जगदन्नं जन्मज्वलनयार्मुचम् ।

पवित्र मणिमान्ध्यायेदिम मञ्जमतेश्वरम् ॥ १३ ॥

अर्थ—बुद्धिमान् पुरुष हम मन्त्रराजको शांति कीज, जगत्में बदनीय तथा समा
रब्ध अद्विष्ट शिष्य अध्यात् जन्मगन्ताको दूर करनेके लिये मेघके समान व्यापै ॥ १२ ॥

मृदुभारित येन हृदि येन स्मिरीकृतम् ।

तस्य तेनाप्यर्गाय पाथेयं प्रगुणिकृतम् ॥ १४ ॥

अर्थ—इस मन्त्रगत मन्त्रतत्त्वको त्रिम गुणको एक बार भी उच्चारण किया तथा त्रिम हृदय चित्त दिया उमा। मा। त्रि पार्थ (गीत) समस्त किया ॥ १४ ॥

पदैवेद मशतकरं मुनैर्धरो ऋदि स्थितिम् ।

तद्वैद्य-वामन-नानप्ररोह. प्रविर्जायते ॥ १५ ॥

अ. — शिवः समस्तं यत् सत्त्वात् गुणैः हृदयं स्थितिं करता है उग ही कामना
सह सत्त्वात् अहं सत्त्वात् अहं अहं अहं ॥ १५ ॥

अब यह सत्य-तदा भूतन देगे की गो कपो ?—

सुखं यन्नामस्य विद्वान् यदनामस्य ।

सायुज्यं गच्छन् मयन्नममृतांगुलि ॥ १३ ॥

मृगन्न नेशयन्ते कृशन्नमग्रे स्थितिम् ।

अमन्योतिषा अत्रे गन्तव्यं निनाशना ॥ १३ ॥

अथान्नं क्षिणाद्यन्ने शोणक्यन्तं व्रजयन्ते ।

ऐदयन्त कण्ठोरे स्तोत्रं भवप्रमम् ॥ १८ ॥

नयन्त परमस्थान योजयन्त शिवश्रियम् ।

इति मन्त्राधिप धीर कुम्भकेन विचिन्तयेत् ॥ १९ ॥

अर्थ—धैर्यका धारक योगी कुम्भक प्राणायामसे इस मन्त्रराजको भाङ्गी लताओंमें स्फुरायमान होता हुआ, मुखकमलमें प्रवेश करता हुआ, तालुआके छिद्रसे गमन करता हुआ तथा अमृतमय जलसे शरता हुआ ॥ १६ ॥ नेत्रोंकी पल्लवपर स्फुरायमान होता हुआ, केशोंमें स्थिति करता तथा ज्योतिर्वियाके समूहमें अमृता हुआ, चन्द्रमाके साथ सदा करता हुआ ॥ १७ ॥ दिशाओंमें संचरता हुआ, आकाशमें उछलता हुआ, कलकमें समूहको छेदता हुआ, समारके भ्रमको दूर करता हुआ ॥ १८ ॥ तथा परम स्थानको (मोक्षस्थानको) प्राप्त करता हुआ, मोक्षलक्ष्मीसे मिलाप कराता हुआ ध्याये ॥ १९ ॥

अनन्यशरण माक्षान्तत्सर्लनैकमानस ।

तथा श्रुत्यसौ ध्यानी यथा स्वप्नेऽपि न स्मरेत् ॥ २० ॥

अर्थ—ध्यान करनेवाला इस मन्त्राधिपको अन्य किसीका शरण न लेकर, हमहीमें साक्षात् तहीन मन करके, स्वप्नमेंभी इस मन्त्रसे व्युत्त न हो ऐसा दृढ होकर, ध्याये ॥ २० ॥

इति मत्स्या स्थिरीभूत सर्वावस्थासु सर्वथा ।

नासाग्रे निश्चल धत्ते यदि वा भ्रूलतान्तरे ॥ २१ ॥

अर्थ—ऐसे पूर्वोक्त प्रकार महामन्त्रके ध्यानके विधानको जानकर, मुनि समस्त अवस्थाओंमें स्थिर स्वरूप सबथा नासिकाके अग्रभागमें अथवा भ्रूलताके मध्यमें इसको निश्चल धारण करे ॥ २१ ॥

तत्र कैश्चिद्य घर्णादिभेदैस्तत्कल्पित पुन ।

मन्त्रमण्डलमुद्रादिसाधनैरिष्टमिच्छिदम् ॥ २२ ॥

अर्थ—इस नासिकाके अग्रभाग अथवा भ्रूलताके मध्यमें निश्चल धारण करनेके अग्रगण्य कह आचार्योंने उस मन्त्राधिपको ध्यान करनेमें अनुरादिके भेद करके कल्पना किया है और मन्त्र मण्डल मुद्रा इत्यादिक साधनोंसे इष्टी मिच्छिदा दोषाला कहा है ॥ २२ ॥

अथ च—

अकारादि ऋकारान्त रेपमध्य सचिन्दुबम् ।

तदेव परम तत्त्व यो जानाति स तत्त्वचित् ॥ १ ॥

अर्थ—अकार है आदिमें त्रिगुण, एकार है अगुणों त्रिगुणों और रेप है मध्यमें त्रिगुणों और विन्दुसहित ऐसा जो अहं पद है वही परम तत्त्व है । जो कोइ इसको जानता है वह तत्त्वका जाननेवाला है ॥ १ ॥

सर्वावयवमपूर्णं ततोऽवयवविच्युतम् ।

अमेण चिन्तयेद्द्वानी वर्णमात्र शशिप्रभम् ॥ २ ॥

अर्थ—प्रथम तो ध्यानी अर्थात् अक्षरका पुरोक्त समस्त अक्षरमोक्षहित चित्तान् को
तन्मयत् अवलम्बित ध्यान करै किन्तु अन्तमे चन्द्रमाममान प्रभावात्ता यन्मात्र (इहत्त)
मन्त्र चित्तान् करै ॥ २ ॥

पिन्दुरीन कलाहीन रेफक्षितयवर्जितम् ।

अनक्षरत्यमापद्यमनुचार्यं च चिन्मयेत् ॥ ३ ॥

अर्थ—तथात् इस मन्त्राक्षरं त्रिषु (अपुन्यार) रश्मि, कला (अक्षरं पञ्चाक्षरं) स्त्री-स्त्री-स्त्री (१) रश्मि, अपर रश्मिताक्षरं प्राप्त तथा उच्चारण करने योग्य न हो
नैव कर्म विज्ञात करे ॥ ३ ॥

अन्तर्लेनासम सुधर्म स्फुरन्त भानुभास्वरम् ।

अनाहताभिध देय दिग्गस्यं विनिन्तयेत् ॥ २३ ॥

४४३—यदमणी देगा गंगा गूढ और शून्यमरीणा देरीपमा, शुभामा
 देगा गंगा देगा देगा धार देगा जो अमाद गमना दे दे उमा विगत
 ४४३ ॥

अग्निमिषीकृताभ्यासाः सन्त शान्तिं समाश्रिता ।

भनेन दिव्यपातेन तस्यै जन्मोपसागरम् ॥ २४ ॥

इस प्रकार अनामक नामा श्रम किया है मियर अनामक त्रिहोरी ऐसे लक्षण
इस प्रकार अनामक नामा श्रम किया है मियर अनामक त्रिहोरी ऐसे लक्षण
इस प्रकार अनामक नामा श्रम किया है मियर अनामक त्रिहोरी ऐसे लक्षण

→ ३-४ विचारन अथ प्रमाण कालो है,—

तस्यैव न तु नः सुखं समाश्रयप्रसन्नितम् ।

अथाग्रेष्ठाग्रना प्राप्य कर्त्तुं येन मुनिशालम् ॥ ३१ ॥

[illegible]

सत्यमेव जयते ।

अथान्वयवर्णने सागराजगणानिर्माणे क्षणे ॥ ३५ ॥

अथानुसंगिक भाषाविज्ञानविषयक शोध ॥ २२ ॥
 अर्थ—उक्त शोध का अर्थ है मनुष्य विषय विषय का जो शोध
 है वह भाषा विज्ञान के अन्तर्गत आता है अथवा भाषा विज्ञान
 का अर्थ है

मिदृशं मिदृशं सर्वा अणिमाद्या न सद्यः ।

मेधा कुर्यन्ति दंगया आक्षेप्ये च जायते ॥ २७ ॥

अर्थ—इस अनाहत भवने ध्याना ध्यानाई अणिमा आदि सर सिद्धि होती हैं और दैत्यदिक् तेज बरने है तथा आश और ऐश्वर्य होता है इसमें संदेह नहीं है ॥ २७ ॥

यमात्प्रयाग्य लक्ष्येभ्यस्ततोऽलक्ष्ये स्थिरं मनः ।

दपतोऽप्यस्पृशन्तज्ज्योतिरत्यक्षमक्षयम् ॥ २८ ॥

अर्थ—तपस्यान् क्रमसे लक्ष्योत्ते (लक्ष्यो योग्य यस्तुभोत्ते) छुड़ाकर, अलक्ष्यमें अपने मात्तो धारण करते हुए ध्यानाई अंतरगा अथवा तथा इन्द्रियोके अगोचर ज्योति अथान् ज्ञान प्रकट होता है ॥ २८ ॥

इति लक्ष्यानुसारेण लक्ष्याभायं प्रकीर्तितः ।

तस्मिन्मिथतस्य मन्येऽहं मुने सिद्धं समीरितम् ॥ २९ ॥

अर्थ—इस प्रकार लक्ष्यके अनुसार लक्ष्यका अभाव कहा गया तो, आचार्य महाराज उपेक्षामें करते हैं कि उस अलक्ष्यमें स्थिर रहनेवाले मुनिके वाञ्छित कायको मैं सिद्ध हुआ मानता हूँ ॥ २९ ॥

एतत्तस्य शिष्याख्यं वा समालम्ब्य मनीषिणः ।

उत्तीर्णा जन्मकान्तारमनन्तं ह्येतासकुलम् ॥ ३० ॥

अर्थ—इस अनाहत तत्त्व अथवा शिवनामा तत्त्वको अलम्बन करके मनीषिण अन्तर्ज्ञानहित समारम्भ करके धार हो गये । इसप्रकार भवराज और अनाहत दोनों भवों ध्याना निधान कहा ॥ ३० ॥

अथ प्रणव गद्यकं (ओंकारकं) ध्याना निधानं कर्तुं दे,—

स्मरं तु ध्यानलज्वाला-प्रशान्तेर्नयनरिदम् ।

प्रणव यादवज्ञानप्रदीप पुण्यशासनम् ॥ ३१ ॥

अर्थ—हे गुण ! तू प्रणव नामा अमरका स्मरण कर अथान् ध्यान कर कर्तुं, यह प्रणव नामा अमर तु लक्ष्मी अग्निका ज्वालाको शांत करनेके लिये मेघरी समा है तथा वाष्पक (समस्तभुतक) प्रकाश करनेके लिये दीप है और पुण्यशासन है ॥ ३१ ॥

यस्माच्छब्दात्मकं ज्योतिं प्रसृतमतिनिर्मलम् ।

वाच्यवाचकस्यन्धस्तेनैव परमेष्ठिन ॥ ३२ ॥

अर्थ—इस प्रणवसे अतिनिर्मल गद्यक ज्योति अथान् ज्ञान उत्पन्न हुआ और परमेष्ठीका वाच्य वाचक सब भी इसी प्रणवमें होता है अर्थात् परमेष्ठी तो इस प्रणवका वाच्य और वह परमेष्ठीका वाचक है ॥ ३२ ॥

हृत्कञ्जकर्णिकासीन मरुत्यञ्जनवेष्टितम् ।

स्फीतमल्यन्तदुर्ध्वं देवदैलेन्द्रपूजितम् ॥ ३३ ॥

प्रक्षरन्मूर्द्धिसंक्रान्तचन्द्रलेगामृतप्लुतम् ।

महाप्रभावसम्पन्न कर्मक्षरत्ताञ्जनम् ॥ ३४ ॥

महातन्त्र महापीज महामन्त्र महत्पदम् ।

शरचन्द्रनिभं श्यानी कुम्भकेन विचिन्तयेत् ॥ ३५ ॥

अर्थ—ध्यान करनेवाला सयमी हृदयमाली कर्णनाभ स्थित और स्व व्यजन अक्षरोसे घेरा हुआ, उज्जल, अत्यन्त दुर्ध्व, देव और दैत्यांक इन्द्राग्रे पूजित तथा शरसे हुए मलकर्म स्थित चन्द्रमाली (लेगा) रेखा क अमृतमे आद्रित, महाप्रभाव सम्पन्न, कमरूपी वनको दग्ध करनेके लिये अग्निमान् जैसे इस मदान्त, महापीज, महातन्त्र, महापदस्वरूप तथा शरके चन्द्रमाली समान गौर वणके धारक 'ओं'को कुम्भक प्राणायामसे चित्तजन करे ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ ३५ ॥

अब इसका विशेष विधान कहते हैं,—

सान्द्रसिन्दूरवर्णाभ यदि वा त्रिद्रुमप्रभम् ।

चिन्त्यमान जगत्सर्वं क्षोभयत्यभिसगतम् ॥ ३६ ॥

जाम्बूनदनिभ स्तम्भे विष्टेपे कज्जलखिपम् ।

ध्येय वदयादिके रक्त चन्द्राभ कर्मशातने ॥ ३७ ॥

अर्थ—यह प्रणव अक्षर गहरे सिंदूरके वर्णकी समान अपना भूगेरी समान चित्तजन किया हुआ मिलेहुए जगतको क्षोभित करता है ॥ ३६ ॥ तथा इस प्रणवको स्तम्भके प्रयोगमें सुवर्णके समान पीला चित्तजन करे और द्वेपके प्रयोगमें कज्जलकी समान काला तथा वदयादि प्रयोगमें रक्त (लाल) वण और कर्मोंके नाश करनेमें चन्द्रमाली समान श्वेतवर्ण ध्यान करे ॥ ३७ ॥

इसप्रकार प्रणव अर्थात् ॐकार मन्त्रके ध्यानका विधान कहा । अब पंचपरमेष्ठिके नमस्काररूप मन्त्रोंके ध्यानका विधान कहते हैं,—

गुरुपञ्चनमस्कारलक्षण मन्त्रमूर्जितम् ।

विचिन्तयेज्जगज्जन्तुपवित्रीकरणक्षमम् ॥ ३८ ॥

अर्थ—पंचपरमेष्ठिको नमस्कार करनेरूप है लक्षण जिसका ऐसे महामन्त्रको चिन्तन करे क्योंकि, यह नमस्कारात्मक मन्त्र जगतके जीवोंको परित्र करनेमें समर्थ है ॥ ३८ ॥

स्फुरद्दिमलचन्द्राभे दलाष्टकविभूषिते ।

कञ्जे तत्कर्णिकासीन मन्त्र सप्ताक्षर स्मरेत् ॥ ३९ ॥

दिग्दलेषु ततोऽन्येषु विदिकपत्रेष्वनुकृमात् ।

सिद्धादिक चतुष्कं च दृष्टिपोषादिक तथा ॥ ४० ॥

अर्थ—सुरायमान निमल चन्द्रमारी कान्तिसमान आठ पत्रमे शोभित जो कमल है उसकी कर्णिकापर स्थित सात अक्षरके “णमो अरहताण” मंत्रका चिन्तन करै ॥ ३९ ॥ और उस कर्णिकासे बाहरके आठ पत्रोंमें ४ दिग्भाषों ४ दलों पर “णमो सिद्धाण, णमो आइरियाण, णमो उवज्झायाण, णमो लोए सव्वसाहूण, ये ४ मंत्रपद और विदिशाओंके चार पत्रोंपर सम्यग्दर्शनाय नम, सम्यग्मानाय नम, सम्यक्चारित्र्याय नम, सम्यक्कृतपसे नम, इन चार नमस्कार मंत्रोंका चिन्तन करै । इस प्रकार अष्टदलका कमल और एक कर्णिकामें नम मंत्रोंको स्थापन कर चिन्तन करै ॥ ४० ॥

श्रियमाम्यन्तिकीं प्राप्ता योगिनो येऽत्र केचन ।

अमुमेध महामन्त्रं ते ममाराध्य केवलम् ॥ ४१ ॥

अर्थ—इस लोकमें जिन वित्तनेही योगियोंने आत्मवित्ति लक्ष्मीको (मोक्षलक्ष्मीको) प्राप्त किया है उन सबोंमें एकमान इस महामन्त्रको आराधन करके ही प्राप्त किया है ॥

प्रभायमस्य नि शेषं योगिनामप्यगोचरम् ।

अनभिज्ञो जनो ब्रूते य स मन्येऽनिलादित ॥ ४२ ॥

अर्थ—इस महामन्त्रका पूरा प्रभाव योगी मुनीश्वरोंके भी अगोचर है उगड़ झाग भी कहनेमें नहीं आता और जो इसको नहीं जाननेवाला पुरुष श्रवण प्रभावको बरता है उसको मैं वायु रोगसे प्रलाप करेवाला मानता हूँ ॥ ४२ ॥

अनेनैव विशुद्ध्यन्ति जन्तव पापपंडिता ।

अनेनैव विमुच्यन्ते भवक्लेशान्मनीषिण ॥ ४३ ॥

अर्थ—जो जीव पापमें मग्न है वे इसी मन्त्रसे शिष्ट होते हैं और इसी मन्त्रके प्रभावसे मनीषिण (बुद्धिमान्) संसारके हेतुओं से छूटते हैं ॥ ४३ ॥

असायेध जगत्स्थिभ्रमव्यवसन्धायय ।

अमु विलाप सत्त्वानां नान्य कश्चित्प्रां पर ॥ ४४ ॥

अर्थ—अन्य जीवोंको आपदाके समय यही मन्त्र हम जगतय बाधर (विघ्न) है इसके अनिरित अन्य कोई भी जीवोंपर कृपा करनेमें सक्षम नहीं है । भावार्थ—मन्त्रका स्तुति यही एक महामन्त्र है ॥ ४४ ॥

पतद्वासनपाताले भ्रमत्संसारसागरे ।

अनेनैव जगत्सर्वमुद्धृत्य विष्णुर्न जिघे ॥ ४५ ॥

१ ‘पापपंडिता’ हंति वा । २ ‘जगत्सर्व’ हंति वा ।

अर्थ—आनन्द अर्थात् कष्ट ही है पातालगत निममें ऐसे संसाररूपी समुद्रमें भ्रमे हुए हम जानको हम मन्त्रने ही उद्धार करके मोक्षम धारण किया है ॥ ४५ ॥

कृत्वा पापसहस्राणि हृत्या जन्तुशतानि च ।

अमुं मन्त्रं समाराध्य तिर्यञ्चोऽपि दिवं गता ॥ ४६ ॥

अर्थ—पूरे कालमें हजारों पाप करके तथा सैन्धवों जीवोंको मारकर तिर्यच भी इस महानम्रको शुद्ध भावोंने आराधन करके, समस्तों प्राप्त हुए हैं उनकी कथा पुण्योद्भिद् है ॥ ४६ ॥

ज्ञातमष्टोत्तरं चास्य त्रिशुक्लं चिन्तयन्मुनिः ।

सुशानोऽपि चतुर्थस्य प्रामोदयिकर्त्तुं फलम् ॥ ४७ ॥

अर्थ—जब ज्ञात वाचको शुद्ध करके हम मन्त्रको पढ़गो आन्धार विनाश को में एक मन्त्र अन्तर करता हुआ भी चतुर्थ करिये एक उपनामक पूर्ण फलको प्राप्त है ॥ ४७ ॥

इस मन्त्र महामन्त्रके विना, कष्ट और महिमाका वर्णन किया । अब मोक्षप्राप्ति के लिये कहते हैं,—

हमरं यमपदोद्भूतां महाविद्यां जगन्नुताम् ।

गुरुयश्चक्रनामोऽस्यां पौष्टज्ञाक्षरराजिनाम् ॥ ४८ ॥

अर्थ—हमने, यम मन्त्र अर्थात् विनाशका जो महाविद्या है उसका माण वा अर्थात् पौष्ट ज्ञात पौष्ट विद्याप्राप्ति किया पद्य पदा और पद्य परमगुरुको नामाग उपास करके है । यमपदोद्भूतां महाविद्यां पौष्टज्ञाक्षरराजिनाम् पद है—“महर्षिना जगन्नुताम्” यमपदोद्भूतां गुरुयश्चक्रनामोऽस्यां जगन्नुताम् ॥ ४८ ॥

अस्यां जगन्नुतां ग्यानीं जगन्नुतामस्य ।

अनिन्द्यमप्यस्यामोऽपि चतुर्थस्य फलम् ॥ ४९ ॥

अर्थ—जब ही यह मन्त्र विनाशका पद्याम मन हाकर, दागो पार जगन्नुतां ग्यानीं जगन्नुतामस्य भी चतुर्थस्य फलम् उपनामक फलको प्राप्त होता है ॥ ४९ ॥

विद्यां चतुर्थस्य चतुर्थस्य चतुर्थस्य चतुर्थस्य ।

अनिन्द्यमप्यस्यामोऽपि चतुर्थस्य फलम् ॥ ५० ॥

अर्थ—जब ही यह मन्त्र विनाशका पद्याम मन हाकर, दागो पार जगन्नुतां ग्यानीं जगन्नुतामस्य भी चतुर्थस्य फलम् उपनामक फलको प्राप्त होता है ॥ ५० ॥

अनिन्द्यमप्यस्यामोऽपि चतुर्थस्य फलम् ॥

अनिन्द्यमप्यस्यामोऽपि चतुर्थस्य फलम् ॥ ५१ ॥

अर्थ—“अरहत” इन चार अक्षरोंका मन्त्र है सो धर्म अर्थ काम मोक्षरूप फल देनेवाला है इसका जो चारसौ बार जप करता है वह एक उपवासका फल पाता है ॥ ५१ ॥

वर्णयुग्मं श्रुतस्कन्धसारभूतं शिथ्यप्रदम् ।

ध्यायेन्नन्मोहवाशोपह्नेशविध्वंसनक्षमम् ॥ ५२ ॥

अर्थ—‘सिद्ध’ का दो अक्षरोंका युग्म है, सो श्रुतस्कन्ध का (द्वादशांगशास्त्रका) सारभूत है, मोक्षको देनेवाला है, संसारसे उत्पन्न हुए समस्त क्लेशोंको नाश करनेमें समर्थ है, इसलिये दोमी इसका ध्यान करे ॥ ५२ ॥

अवर्णस्य सहस्राष्ट्रजपसानन्दसभृत ।

प्रामोत्येकोपयासस्य निर्जरा निर्जिताशयः ॥ ५३ ॥

अर्थ—जो मुनि अपने चित्तको बरा करने, आनन्दसे ‘अ’ इस वर्णमात्रका पांचसौ बार जा करता है, वह एक उपवासक निर्जरारूपफलसे प्राप्त होता है ॥ ५३ ॥

एताद्वि वधितं शास्त्रे रचिमात्रप्रसाधकम् ।

किन्त्वमीषा फलं सम्यक्सर्गमोक्षैकलक्षणम् ॥ ५४ ॥

अर्थ—वह जो शास्त्रमें इन मन्त्रोंके जपका एक उपवासरूप फल कहा है सो केवल मन्त्र जपनेकी रचि करानेके लिये है, किन्तु, वास्तवमें उक्त मन्त्रोंका उत्तम फल सर्ग और मोक्ष ही है ॥ ५४ ॥

पञ्चवर्णमयीं विद्या पञ्चतत्त्वोपलक्षिताम् ।

मुनिवीरं श्रुतस्कन्धाहीजमुद्धरा समुद्धताम् ॥ ५५ ॥

अर्थ—पांच तत्त्वोंसे युक्त, पांच अक्षरमयी विद्याको मुनीधरोने द्वादशांग शास्त्रसे सारभूत समझकर निकाली है वह पञ्चाक्षरमयी विद्या ओं ह्रीं हूं ह्रीं हूं ह्रीं हूं अं सि आ उ सा नम इस प्रकार है ॥ ५५ ॥

अस्या निरन्तराभ्यासादशीकृतनिजाशयः ।

मोक्षिन्नत्त्याग्यु निःशङ्को निर्गूढ जन्मपन्धनम् ॥ ५६ ॥

अर्थ—इस पूर्वोक्त पञ्चाक्षरमयी विद्यामें निरन्तर अभ्यास करनेसे वशीभूत कर लिया है मन जिसने ऐसा मुनि निःशङ्क होकर, अविच्छिन्न सत्कारूपी बन्धनको दीप्त ही काट देता है ॥ ५६ ॥

आर्षः ।

मद्गुल्फारणोत्तमपदनिवृत्तस्य यस्तु सपत्नी स्मरति ।

आविकल्मेकामधिया स चापवर्गधिय अयति ॥ ५७ ॥

सर्वसत्त्वाभयस्थान घर्णमालाविराजितम् ।

स्मर मन्त्र जगज्जन्तुष्वेशसततिघातकम् ॥ ६३ ॥

अर्थ—हे मुने ! तू समस्त जीवोंका अभयस्थान—तथा जगतके जीवोंके हृदय की सततिको घातनेवाला और अक्षरोंकी पक्षिसे निराजमा ऐसे मन्त्रका चिन्तन कर वह मन्त्र यह है—‘ॐ नमोऽर्हते देवलिने परमयोगिनेऽनन्तशृङ्गिपरिणामरिस्तुरदुरु शृङ्गध्यानाग्निनिर्दग्धकर्षणीभाय मात्मानतत्त्वदृष्ट्याय साम्याय ज्ञानाय मङ्गलाय वरदाय अष्टादशदोषरहिताय स्वाहा’ ॥ ६३ ॥

स्मरेन्दुमण्डलाकार पुण्डरीक मुग्धोदरे ।

दलाष्टकसमासीन घर्णाष्टकविराजितम् ॥ ६४ ॥

अर्थ—हे मुने ! तू मुखमें चन्द्रमण्डले आकारका, आठ अक्षरोंमें शोभामान, आठ पत्रोंका एक कमल चिन्तन कर ॥ ६४ ॥

वे आठ अक्षर यौन २ से हैं, सो कहने हैं—

ॐ नमो अरदत्ताणमिति घर्णानपि त्रयमाह ।

एकदा प्रतिपद्य तु तस्मिन्नेव निवेशयेत् ॥ ६५ ॥

अर्थ—‘ॐ नमो अरदत्ताण’ ये आठ अक्षर मुखपर स्मरण किए हुए उक्त वक्ता के भागों पत्रोंपर स्थापितकर, वसते एक एक अक्षरका ध्यान करता करिदे ॥ ६५ ॥

स्वर्णगौरीं प्यरोद्धृता केशरालीं ततः स्मरेत् ।

कार्ष्णीकां च सुधास्पन्दविन्दुमजयिभूषिताम् ॥ ६६ ॥

अर्थ—तत्त्वधान् अमृतसे शरीरोंके विन्दुओंत मुखमें चिन्तित करिवाला चिन्तन करे और उगमं प्यरोते उत्पन्न हुई तथा मुखमें समा गौरवन्तका वक्ता के ६६ वां पत्र करे ॥ ६६ ॥

प्रोद्यतसपूर्णचन्द्राभ चन्द्रविम्बाच्छनैः शनैः ।

समागच्छतुभ्यामीज मायावर्णं तु विनियेत् ॥ ६७ ॥

अर्थ—पश्चात् उदयको प्राप्त होने हुए, पूर्ण चन्द्रकी भाँति समागच्छतुभ्यामीज मायावर्णं ही वा चिन्तन करे ॥ ६७ ॥

इस मायावर्णका निम्न प्रकार चिन्तन करे, सो कहने हैं,—

विस्फुरन्तमानिस्फूर्ति प्रभामण्डलमध्यगम् ।

सत्परन्त मुग्धाभोजे तिष्ठन्त कर्णिकोपरि ॥ ६८ ॥

अमन्त प्रतिपद्येयु परन्त विषयि क्षण ।

ऐदम्भं मनोप्याग रयत्तमस्तुमाग्नुभिः ॥ ६९ ॥

व्रजन्त तालुरन्ध्रेण स्फुरन्त भ्रूलतान्तरे ।

ज्योतिर्मयमिवाचिन्त्यप्रभाव भावयेन्मुनिः ॥ ७० ॥

अर्थ—उपर्युक्त मायावीज ही अक्षरको स्फुरायमान होता हुआ, अत्यंत उज्ज्वल प्रग
मंडलके मध्य प्राप्त हुआ, कभी पूर्वोक्त मुखाय कमलमें संवरता हुआ तथा कभी २ उनमें
कर्णिकाके उपरि निष्ठता हुआ, तथा कभी २ उस कमलके आठों दलोंपर स्थिता हुआ
तथा कभी २ क्षणभंग आकाशम चलता हुआ, मनके अज्ञान भ्रमकारको दू करण
हुआ अमृतमयी जलमें घूता हुआ तथा तालुआके छिद्रमें गमा करता हुआ तथा मै
होरी लताओंमें स्फुरायमान होता हुआ, ज्योतिर्मयके समान अचिन्त्य है प्रमाणित
ऐसे मायावीजों का चिन्तन करे ॥ ६८ ॥ ६९ ॥ ७० ॥

अथ इमं मन्त्रं मन्त्रिमाका यथन करते हैं,—

धारपधानीतमात्मस्य देवदैत्योरगार्गिनम् ।

विगार्गयमहापोत विश्वतत्त्वप्रदीपकम् ॥ ७१ ॥

अर्थ—इमं मन्त्रं माहात्म्य वचनीत है—इसको देव दैत्य गणेश पूजने हैं तथा
न मन्त्र विगार्गनी गणेशके विरोधी मन्त्र जज्ञान है और जगतके पदार्थोंको ज्ञान
निरूपक ही है ॥ ७१ ॥

अमुमेय महामन्त्रं भावयन्नात्मसंशय ।

अविद्याग्यात्संभूत विषयेषु निरस्यति ॥ ७२ ॥

अर्थ—इसी महामन्त्रको मन्त्रादित लेकर, ध्याना करोगे तो मुक्ति अविद्या
निरूपक ही है ॥ ७२ ॥

इति व्यासगर्भा ध्यानी तत्तत्तलीनेकमानस ।

वाच्यनांमलमुत्तमं श्रुमान्मोधि विगतने ॥ ७३ ॥

अर्थ—उक्त मन्त्र प्रचार इस मन्त्रको ध्याना करना हुआ और उक्त ध्याना ही
निरूपक ही है ध्यानी है वह ज्ञान मा तथा वचन मन्त्रों मन्त्र का ही
मन्त्र अन्तर्गत है—अन्तर्गत गणेशके गणेशके गणेश है ॥ ७३ ॥

ततो निरन्तरगन्धामात्मानं यद्वि विराजय ।

मुक्ताश्चाङ्गिनिर्गन्धी नृमयानि प्रपद्यन्ति ॥ ७४ ॥

अर्थ—उक्त मन्त्र ध्यानी निरन्तर गणेश, गणेश प्रपद्यन्ति कामना ही है
निरूपक ही है ध्यानी निरन्तर गणेश (मन्त्र) ध्यानी निरन्तर गणेश है ॥ ७४ ॥

ततो मन्त्रमन्त्रं यावन्मन्त्राणां नृमयानि ।

प्रपद्यन्ति महामन्त्रं नि मन्त्रं मुक्ताश्चाङ्गम् ॥ ७५ ॥

अर्थ—मन्त्राद् एव यदयं एमी प्रकार अज्ञान की तो मुगमो निकलती
हरे गदा बाँटिनी गान्धो गान्धा है ॥ ७५ ॥

ततोऽभिजातभयं गो निर्यदात्मस्थितो यशी ।

एषा यदयं यद्विद्वान् सव्यं गुणपद्मम् ॥ ७६ ॥

अर्थ—मन्त्राद् अभिजात एतत्तु दुआ है यमापुरा जिनो ऐसा वैराग्यावलंबित
निकले हुए हुनि निजात यज्ञ करता २ सव्यं गुणकमलको देगता है ॥ ७६ ॥

अथाप्रतिष्ठानन्दमोणितान्मा जितभ्रम ।

अस्मिन्मयजदेवेष्टं प्रत्यक्षमिष पीक्षते ॥ ७७ ॥

अर्थ—यदागे आगे यही ध्यानी अनिशरित आनंदसे लुप्त है आत्मा जितका और
जग है दुस श्रितो ऐसा होकर, अस्मिन्मयजदेवको प्रत्यक्ष अगलोक करता है ॥ ७७ ॥

सर्वोनिदायसंपूर्ण दिव्यरूपोपलक्षितम् ।

व्यापणमहिमोपेतं सर्वमवयवमपमदम् ॥ ७८ ॥

अर्थ—मन्त्रको ध्यानी केने प्रत्यक्ष देगता है रि—सर्व अतिगयोसे परिपूर्ण दिव्य रूपसे
उपलक्षित सबवस्तुअवयवी महिमामदित समस्त जीवोंको अभयदाता देवाले तथा—॥ ७८ ॥

प्रभायलपमप्यस्य भव्यराजीवरजकम् ।

ज्ञानलीलापरं पीर देयदेय स्वर्पभुयम् ॥ ७९ ॥

अर्थ—प्रभायलपके बीषने स्थित हुए भव्यरूप कमलोंकी रंजादमान करनेवाले,
ज्ञानकी लीलाके धारनेवाले, विनिष्ट लक्ष्मीवाले, देवोंके देव स्वयं ऐसे सर्वशक्तो साप्तात्
देगता है ॥ ७९ ॥

ततो विपूततद्रोऽसौ तस्मिन्सजातनिधय ।

भयभ्रममपावृण्य लोकाग्रमधिरोहति ॥ ८० ॥

अर्थ—तत्पश्चात् इस मन्त्राद् ध्यान करनेवाला मुनि प्रमादको नष्ट करके तथा इस
मन्त्रने सबशक्तो स्वरूपका निधय हो जानेपर संसारभ्रमको दूर करके, लोकको अग्रभाग
मोक्षस्थानको आश्रय करता है ॥ ८० ॥

इत्यप्रकार मुगकमलमं अष्टदृष्टकमलमं आठ अपनोंको स्थापन करके, कर्णिकाके केन्द्र
रोने सोलह स्वर स्थापनपूर्वक ही वर्णका जो पूर्वाक्ष प्रसारसे ध्यात करे, उसका फल
(महिमा) वर्णन किया ।

अब अन्य विद्याका वर्णन करते हैं—

आर्यो

स्मर सकलसिद्धविद्या प्रधानभूतां प्रसन्नगम्भीराम् ।

विपुषिम्पनिर्गतामिष क्षरत्सुधावर्त्री महाविद्याम् ॥ ८१ ॥

अर्थ—हे मुने, तू सस्त्र मिद्विद्याका भी वितरण कर क्योंकि, वह विद्या प्रत्यक्ष रूप से प्रज्ञा है गभीर है तथा चद्रमाके धिक्से निरुपनी हुईके समान जो रानी हुई मुन है उसने अर्द्धित है ऐसी वह महानिष्ठा 'स्त्री' ऐमा अक्षर है ॥ ८१ ॥

अविचल्यमनसा ध्यायल्ललाटदेशे स्थितामिमा देयीम् ।

प्राप्नोति मुनिरजस्य समस्तकल्याणनिकुरम्पम् ॥ ८२ ॥

अर्थ—इस विद्या देवीको ललाट देशपर स्थित करने, निश्चल माने स्थित करने का—हुमा मुनि समस्त कल्याणके समूहको प्राप्त होता है ॥ ८२ ॥

सावित्री

अमृतजलधिगर्भाणि सरन्तीं सुदीप्ता

मल्लिकजलनिषण्णां चन्द्रलेपां स्मर ह्यम् ।

अमृतकणविकीर्णां स्नायन्तीं शुभाभिः

परमपद्मविष्णुं भारयन्तीं प्रभावयम् ॥ ८३ ॥

अर्थ—हे माँ तू हय अमृतको समुद्रको निकली हुई, अमृतपर देवीसमान, मल्लिकजल निषण्णां चन्द्रलेपां स्मर ह्यम् और अमृतको आश्रित करी हुई चन्द्रलेपां काण्य कर वीरि, यह विद्या मोक्षकारी प्रविष्टीं अतो प्रभावको प्राप्त होती है ॥ ८३ ॥

जम्बा विशिष्टमग्रेण लिभिमेनाम्बरारम्भता ।

जम्बावद्वर्णं कृत्वा यानि योगी शिवाग्रदम् ॥ ८४ ॥

अर्थ—इस विद्या का वर्ण अम्बरारम्भता अतो लिभिमेनाम्बरारम्भता अतो जम्बावद्वर्णं कृत्वा यानि योगी शिवाग्रदम् अतो जम्बावद्वर्णं कृत्वा यानि योगी शिवाग्रदम् अतो जम्बावद्वर्णं कृत्वा यानि योगी शिवाग्रदम् ॥ ८४ ॥

मूर्ध्नि सन्नायममुद्रिप्रो जम्बावद्वर्णं कृत्वा यानि योगी शिवाग्रदम् ।

जम्बावद्वर्णं कृत्वा यानि योगी शिवाग्रदम् ॥ ८५ ॥

अर्थ—इस विद्या का वर्ण अम्बरारम्भता अतो लिभिमेनाम्बरारम्भता अतो जम्बावद्वर्णं कृत्वा यानि योगी शिवाग्रदम् अतो जम्बावद्वर्णं कृत्वा यानि योगी शिवाग्रदम् अतो जम्बावद्वर्णं कृत्वा यानि योगी शिवाग्रदम् ॥ ८५ ॥

सम्पन्न प्रभावः सन्नायममुद्रिप्रो जम्बावद्वर्णं कृत्वा यानि योगी शिवाग्रदम् ।

जम्बावद्वर्णं कृत्वा यानि योगी शिवाग्रदम् ॥ ८६ ॥

अर्थ—इस विद्या का वर्ण अम्बरारम्भता अतो लिभिमेनाम्बरारम्भता अतो जम्बावद्वर्णं कृत्वा यानि योगी शिवाग्रदम् अतो जम्बावद्वर्णं कृत्वा यानि योगी शिवाग्रदम् अतो जम्बावद्वर्णं कृत्वा यानि योगी शिवाग्रदम् ॥ ८६ ॥

सम्पन्न प्रभावः सन्नायममुद्रिप्रो जम्बावद्वर्णं कृत्वा यानि योगी शिवाग्रदम् ।

जम्बावद्वर्णं कृत्वा यानि योगी शिवाग्रदम् ॥ ८७ ॥

अर्थ—इन तीन अक्षरोंको नामिकाके अग्रभागमें अत्यन्त लीन करता हुआ ध्यानी अणिमा महिमादिक आठ अक्षरोंको प्राप्त होकर, तत्पश्चात् अति निमल ज्ञानको (केवल ज्ञानको) प्राप्त होता है ॥ ८७ ॥

शास्त्रेन्दुकुन्दधवला ध्याता देवाग्रयो विधानेन ।

जनयन्ति सर्वविषय बोध कालेन तद्दयानात् ॥ ८८ ॥

अर्थ—पूर्वोक्त ये तीन देव (अक्षर) शब्दके समान, कुन्दके पुष्पमय तथा चद्रमासमान विधानपूर्वक ध्याये जायें तो इनके ध्यानसे कितने ही कालमें समस्त विषयोंका ज्ञान करानेवाला केवलज्ञान उत्पन्न होता है ॥ ८८ ॥

प्रणवयुगलस्य शुग्म पार्श्व मायायुग विचिन्तयति ।

मूर्द्धस्य हसपद कृत्वा व्यस्त वितन्द्वात्मा ॥ ८९ ॥

अर्थ—प्रणवयुगल कहिये दो ओंकारका शुग्म और दोनों तरफ दो मायायुगल हीं हीं ऐसे और इनके उपरि हसपद रखकर, प्रमादरहित होकर, ध्यानी भिन्न भिन्न चिंतन करे वह मन्त्र 'हीं ॐ ॐ हीं हंस' ऐसा है ॥ ८९ ॥

ततो ध्यायेन्महापीज र्त्तीकार छिन्नमस्तकम् ।

अनाहतपुत दिव्य विस्फुरन्त मुक्तोदरे ॥ ९० ॥

अर्थ—तत्पश्चात् छिन्नमस्तक महापीज जो 'तीं' ऐसा अक्षर है उसको अनाहतमदित दिव्यमुखपर स्फुरायमान होत हुआ चिंतन करे ॥ ९० ॥

श्रीपीरयदनोद्गीणा विद्या चाचिन्त्यविजमाम् ।

कल्पयद्गीमियाचिन्त्यफलसपादनक्षमाम् ॥ ९१ ॥

अर्थ—और श्रीवर्द्धमान भगवानके मुखसे निकली हुई विद्याको चिंतन करे वैष्णवी है वह विद्या अचिन्त्य पराजयवादी और कल्पवृक्षकी समान अचिन्त्य फल देनेमें समर्थ है ऐसी विद्या "ॐ जोगे योगे तवे भूदे भव्ये भविष्य अख्ये परमे त्रिपदारिद्र्य स्वाहा" तत्पश्चात् ऐसा मन्त्र है "ॐ हीं स्वर्ह नमो नमोऽर्हताय ॥ नमः" ऐसे अक्षर है ॥ ९१ ॥

अर्थात् ।

विद्या जपति य इमा निरन्तर शान्तविश्वविरपद ।

अणिमादिगुणोद्भवा ध्यानी शास्त्रार्णय तरति ॥ ९२ ॥

अर्थ—जो ध्यानी शांतवेग निश्चल होकर इस विद्याको निरन्तर जपता है वह अणिमादिक गुणोंको प्राप्त होकर, शास्त्रसमुदये पार हो जाता है अर्थात् मुक्तिकर्ता होता है ॥ ९२ ॥

त्रिकालविषय साक्षाज्ज्ञानमस्योपजायते ।

विश्वतत्त्वप्रबोधश्च सतताभ्यासयोगतः ॥ ९३ ॥

अर्थ—इस विद्याका ध्यान करनेवालेके निरंतर अभ्यास करनेमें समस्त तत्त्वों का ज्ञान और त्रिकालविषयमाज्ञातज्ञान कहिये केवलज्ञान उत्पन्न होता है ॥ ९३ ॥

ध्याम्यन्ति जन्तवः शूरास्तथान्ये व्यन्तरादयः ।

ध्यानविध्यसकर्तारो येन तद्धि प्रपश्यते ॥ ९४ ॥

अर्थ—अन्य ध्यानीके उपसंग करनेवाले शूराजतु तथा ध्यानको नाश करनेवाले व्यन्तरादिक जिस ध्यानसे उपशमताको प्राप्त होते हैं उस ध्यानका विद्यारसे वर्णन करते हैं ॥ ९४ ॥

दिग्दलाष्टकसम्पूर्णं राजीवे सुप्रतिष्ठितम् ।

स्मरत्वात्मानमत्यन्तस्फुरद्दीप्मार्कभास्करम् ॥ ९५ ॥

प्रणवाद्यस्य मन्त्रस्य पूर्वादिषु प्रदक्षिणम् ।

विचिन्तयति पत्रेषु वर्णकैकमनुक्रमात् ॥ ९६ ॥

अधिकृत्य छद् पूर्वं सर्वांशासम्मुख परम् ।

स्मरत्यष्टाक्षर मन्त्र सहस्रैक शताधिकम् ॥ ९७ ॥

प्रत्यह प्रतिपत्रेषु महेन्द्राशाद्यनुक्रमात् ।

अष्टरात्र जपेद्योगी प्रसन्नामलमानसः ॥ ९८ ॥

तस्याचिन्त्यप्रभावेण शूराशयकलङ्किताः ।

त्यजन्ति जन्तवो दर्पं सिंहप्रस्ता इव द्विषा ॥ ९९ ॥

अर्थ—आठ दिशा सबधी आठ पत्रोंसे पूर्ण कमलमें भले प्रकार स्थापित और अत्यन्त स्फुरायमान ग्रीष्मऋतुके सूर्यके समान देदीप्यमान आत्माको स्मरण करे ॥ ९५ ॥ प्रणव है आदिमें जिसके ऐसे मन्त्रको पूर्वादिक दिशाओंमें प्रदक्षिणारूप एक एक पत्रपर अनुक्रमसे एक एक अक्षरका चितवनकरे वे अक्षर “ॐ णमो अरइताण” ये हैं ॥ ९६ ॥ इनमेंसे प्रथम पत्रको मुख्य करके, सर्व दिशाओंके समुख होकर, इस अष्टाक्षर मन्त्रको ग्यारहसौ बार चितवन (ध्यान) करे ॥ ९७ ॥ इस प्रकार प्रतिदिन प्रत्येक पत्रमें पूर्ण दिशादिकके अनुक्रमसे आठ रात्रिपर्यन्त प्रसन्न भा होकर, जपे ॥ ९८ ॥ उसके अचिन्त्य प्रभावसे शूरचित्त जीव, सिंहासे भयभीत होकर जिस प्रकार हाथी गर छोड़ देते हैं वसी प्रकार अपना गर्व छोड़ देते हैं ॥ ९९ ॥

अष्टरात्रे ध्यातिजान्ते कमलस्यास्य वर्त्तिनः ।

निरूपयति पत्रेषु वर्णानेताननुक्रमात् ॥ १०० ॥

आलम्ब्य मन्त्रियामेनां पूष विप्रौघघ्नान्तये ।

पश्चात्ससाक्षर मन्त्र ध्यायेत्प्रणववर्जितम् ॥ १०१ ॥

मन्त्रं प्रणवपूर्वोऽप्य निदोषोपाभीष्टसिद्धिद ।

ऐहिकानेककामार्थे मुक्तयथ प्रणवच्युतः ॥ १०२ ॥

अर्थ—तत्पश्चात् पूर्वोक्त आठ रात्रियोंके व्यतीत होनेके पश्चात् इस कमठके पत्रोंपर वर्तनेवाले अक्षरोंको अनुक्रमसे निरूपण करके देखे ॥ १०० ॥ इस प्रकार इस प्रक्रियाको प्रथम विप्रके समूहकी शान्तिके लिये आलम्बन करके, तत्पश्चात् प्रणववर्जित सात अक्षर स्वरूप “णमो अरहाताण” इस मन्त्रका ध्यान करे ॥ १०१ ॥ जब इस मन्त्रको प्रणवपूर्वक ध्याये तब यह समस्तमनोवाञ्छित सिद्धिका देनेवाला है तथा इस लोक सम्पत्ती अनेक कार्योंके लिये है और प्रणववर्जित ध्यान करनेसे यह मन्त्र मुक्तिका कारण है ॥ १०२ ॥

स्मर मन्त्रपद धान्यज्जन्मसघातघातकम् ।

रागाशुभ्रतमस्तोमप्रव्यसरयिमण्डलम् ॥ १०३ ॥

अर्थ—भय करते हैं कि हे मुने, तू अन्य एक मन्त्रपदका स्मरण कर क्योंकि, वह मन्त्र जन्मसमूहको घात करनेवाला है और रागादिकरूप तीव्र अधकारको नष्ट करनेके लिये सूर्यमण्डल समान है वह मन्त्र—“श्रीमद्गुणभातिवर्दमानान्तेभ्यो नमः” ऐसा है ॥

मनः कृत्या सुनिष्कम्प ता विद्या पापभक्षिणीम् ।

स्मर सत्त्वोपकाराय या जिनेन्द्रै प्रकीर्तिता ॥ १०४ ॥

अर्थ—तत्पश्चात् हे मुने, तू निष्कल्मसे उस पापभक्षिणी विद्याको स्मरण कर जिसको कि समस्त जीवोंके उपकारार्थ श्रीजिनेन्द्र भगवान्ने कही है वह विद्या यह है—ॐ अहं सुखकमलवासिनि पापात्मस्यरुरि ध्रुवज्ञानज्वालासहस्रप्रज्वलिते सरस्वति मत्पाप हन हन दह दह तां तां क्षूं क्षूं स क्षीरसरपवले अमृतमभवे ध धं हं हं म्याहा । ये पापभक्षिणी विद्याके अक्षर हैं ॥ १०४ ॥

चेतः प्रसस्तिभाषते पापपङ्क्तु प्रलीयते ।

आयिर्मयति विशान मुनेरस्या प्रभावतः ॥ १०५ ॥

अर्थ—इस पापभक्षिणी विद्याके प्रभावसे मुनिका चित प्रसस्तताको धारण करता है, पापरूपी पक्क प्रलय हो जाता है और विशिष्ट ज्ञान प्रगट होता है ॥ १०५ ॥

मुनिभि सजयन्ताद्यैर्विद्यावादात्समुद्भूतम् ।

शुक्तिमुक्ते पर धाम सिद्धपत्राभिधं स्मरेत् ॥ १०६ ॥

तस्य प्रयोजक शास्त्र तदाश्रित्योपदेशतः ।

ध्येय मुनीश्वरैर्जन्ममहाघ्यसनशान्तये ॥ १०७ ॥

अर्थ—तत्पश्चात् मिद्वार नामा मप्रहो मंत्रयन्त्रिक महामुनिपते निम्नदुर्ग
नामा दगम पूर्वमे उद्धृत किया है—मो य मघ मोग और मोसता उद्धृत धान है
इसका ध्यान करे ॥ १०६ ॥ इस मिद्वार मन्त्रके प्रयोजन शास्त्रका आश्रय रख, मन्त्र
उपदेशसे जमरूप महामहर्षि शक्तिरूपे मुनीश्वरको ध्यान करना चाहिये इन्हें
अमरादिकका विधान उमके प्रयोजन शास्त्रमे जानना ॥ १०७ ॥

स्मर मन्त्रपदाधीन मुक्तिमार्गप्रदीपकम् ।

नाभिपङ्कजसलीनमूर्णं त्रिश्वतोमुखम् ॥ १०८ ॥

सिम्पणं मस्तकाम्भोजे साकार मुग्धपङ्कजे ।

आकार कण्ठरुज्जम्य स्मरोकार हृदि स्थितम् ॥ १०९ ॥

अर्थ—हे मुने ! तू मन्त्रपदोंका म्यामी और मुक्तिके मार्गको प्रकाश करनेवाले अकार
अक्षरको नाभिकमलमं त्रिन्तवन कर यह अक्षर सगुणारी है । और सि अक्षरको मन्त्रक
कमलपर, आ अक्षरको कण्ठम्य कमलमे, उ अक्षरको हृन्त्यक्रमउपर और सा अक्षरको
मुखस्थ कमलपर ऐसे 'असिआउसा' इन पांच अक्षरोंको पांच स्थानोंपर चिन्तन
कर ॥ १०८ ॥ १०९ ॥

सर्वकल्याणपीजानि बीजान्यन्यान्यपि स्मरेत् ।

यान्याराध्य शिष्य प्राप्ता योगिनः शीलसागरा ॥ ११० ॥

अर्थ—सर्व कल्याणके बीज अन्यान्य भी मन्त्र हैं जिनको आराधन करके शीलके
सागर योगीगण मोक्षको प्राप्त हुए हैं उन सगुणी अक्षरोंको ध्यानी मुनि चिन्तन करे,
'नम सर्वसिद्धेभ्यः' यह भी एक मन्त्रपद है ॥ ११० ॥

श्रुतसिन्धुसमुद्भूतमन्यदा पदमक्षरम् ।

तत्सर्वं मुनिभिर्ध्येयं स्यात्पदस्यप्रसिद्धये ॥ १११ ॥

अर्थ—अन्य भी पद तथा अक्षर जो श्रुतसमुद्र द्वादशांग शास्त्रमे उल्लेख हुए हैं वे
सब ही पदस्य ध्यानकी प्रसिद्धतार्थ होते हैं उन्हें भी मुनिगणोंको ध्यानगोचर करना
चाहिये ॥ १११ ॥

एव समस्तवर्णेषु मन्त्रविद्यापदेषु च ।

कार्यक्रमेण विश्लेषो लक्ष्यभावप्रसिद्धये ॥ ११२ ॥

अर्थ—इस प्रकार समस्त अक्षरोंमे तथा मन्त्रपद और विद्या पदोंमें अनुक्रमसे लक्ष्य
भावकी प्रसिद्धताके लिये भेद करना अर्थात् भिन्न २ चिन्तन करना चाहिये ॥ ११२ ॥

अन्यथाश्रुतस्कन्धपीज निर्वेदकारणम् ।

तत्तद्वाप्यसौ ध्यानी नापवर्गपथि स्वलेत् ॥ ११३ ॥

अर्थ—अन्य जो जो द्वादशांग शास्त्रके बीजापर हैं तथा वैराग्यके कारण हैं उन उन मन्त्रोंको ध्यान करता हुआ मुनि मोक्षमार्गमें गमन करता हुआ दिगता नहीं । भावार्थ—जो ज्ञान वैराग्यके कारण मन्त्र, पद वा बीजापर हैं वे सब ही मोक्षमार्गमें ध्यान करने योग्य (ध्येय) हैं ॥ ११३ ॥

उक्त च ।

ध्येय स्याद्वीतरागस्य विश्वचरुर्पर्यसन्नयम् ।

तद्वर्त्मन्यत्ययाभावात्माध्यस्थमधितिष्ठत ॥ १ ॥

अर्थ—जो वीतराग है उसके इस लोकमें प्रवृत्तनेवाले समस्त पदार्थों पर ममत्त्व है, क्योंकि, वीतराग उस पदार्थके स्वरूपमें विपरीतताके अभावसे मध्यस्थताका अभ्यस करता है । भावार्थ—वीतरागके ज्ञानमें जो श्रेय आता है, उमका स्वस्व स्थायी ज्ञानका कारण उसके इष्ट अनिष्ट ममत्वभाव नहीं होने इस कारण उनमें मध्यस्थ भाव रहता है, अर्थात् वीतरागतासे नहीं छूटते ॥ १ ॥

उक्त च ।

वीतरागो भवेद्योगी यत्किञ्चिदपि चिन्तयेत् ।

तदैव ध्यानमाज्ञातमनोऽन्यद् ग्रन्थयिस्तर ॥ २ ॥

अर्थ—वीतराग योगी जो कुछ चिन्तन करे वही ध्यान है, इस कारण अन्य करना है वह ग्रन्थका निस्तार मात्र है, वीतरागके सब ही ध्येय हैं ॥ २ ॥

वीतरागस्य विशेषा ध्यानसिद्धिर्भुव मुने ।

श्लेश एव तदर्थं स्याद्वागार्शरयेह देहिनि ॥ ११४ ॥

अर्थ—जो मुनि वीतराग है उसके ध्यानकी निद्रि अवस्था होती है और जो रागमें पीड़ित है उसका ध्यान करना हेतुके लिये ही है अर्थात् रागीके ध्यान की निद्रि नहीं होती ॥ ११४ ॥

यहां कोई प्रश्न करे कि तबका वीतराग तो सर्व मोक्षका कारण है तो हीन है उसके ध्यान करनेकी इच्छा ही नहीं होती और जो इच्छा होती है तो वह हीनगुण कैम हो । उसका समाधान—यह है कि यहांपर राग समाप्त देह केवलधर्म है, उमकी अनेक वीतराग बरा है ध्याने राग करनेकी राग नहीं कर ज्ञान करने के बाद रागका अभाव करनेशला है । इस शास्त्रे भी मुनिके राग नहीं है इच्छाएँ हीनगुण ही बरा जाता है । परमार्थ अनेक यह एवदेव सत्यका स्वरूप जानना ।

वाङ्मनोविहीनत्वम् ।

निर्मल्य भुवसि भुमुत्तमधिप श्रीवीरचन्द्रोदये

तत्त्वान्येष समुदरान्ति मुनयो धमेन रत्नान्यनम् ।

तान्येतानि हृदि स्फुरन्ति सुभगन्यासानि भव्यात्मना

ये चाञ्छन्त्यनिश विमुक्तिललनासम्भोगसमावनाम् ॥ ११५ ॥

अर्थ—श्रीवीर वर्द्धमानस्वामीरूप चन्द्रमाके उदय होते हुए जे उन्नतबुद्धि मुनि हैं वे शास्त्ररूपी समुद्रको मथर, सुन्दर है रचना जिनकी ऐसे मन्त्ररूप तत्त्वोंको (रत्नोंको) निकालते हैं और ये सब मन्त्रपदरूप रत्न मुक्तिरूपी स्त्रीके समोगनी निरंतर बाझ करने वाले भव्य पुरुषोंके ही हृदयमें स्फुरायमान होते हैं । भावार्थ—जो मुक्ति चाहनेवाले हैं वे इन मन्त्ररूप पदोंका अभ्यास करें ॥ ११५ ॥

विहीनाशेषकर्माण स्फुरन्तमतिनिर्मलम् ।

स्व ततः पुरुषाकार स्वाङ्गगर्भगत स्मरेत् ॥ ११६ ॥

अर्थ—इन मन्त्रपदोंके अभ्यासके पश्चात् निलय हुए हैं समस्त कर्म जिसमें पेशे अति निर्मल स्फुरायमान अपने आत्माको अपने शरीरमें चितवन करै (ध्यान करै) । भावार्थ—इन मन्त्रपदोंके अभ्याससे विगुहता बन्ती है और चित्त एकाम हो जानेपर शुद्धस्वरूपका निर्मल प्रतिमास होता है और उस स्वरूपमें उपयोग स्थिरताको प्राप्त होता है तथा घटा संवर होता है और कर्मोंनी निर्जरा होती है तथा घातिकर्मोंका नाश करके केवल ज्ञानको प्राप्त हो, मोक्षको पाता है ॥ ११६ ॥

इस प्रकार यह मन्त्रपदोंका ध्यान मोक्षका महान् उपाय है और छौनिक प्रयोजन भी इससे अनेक प्रकारके सिद्ध होते हैं । अणिमा महिमादिक ऋद्धियें प्राप्त होती हैं परन्तु मोक्षके इच्छन् मुनियोंनी इनसे कुछ प्रयोजन नहीं है ॥

यह! कोई पूछे कि गृहस्थ इन मन्त्रोंका ध्यान करे कि नहीं? उसका समाधान यह है कि जैसा ध्यान मुनिके होता है वैसा गृहस्थके होता ही नहीं परन्तु जो अपनी शक्तिके अनुसार धर्मार्थी होकर ध्यान करे तो शुभ फलकी प्राप्ति होती है । छौनिक प्रयोजन विषयकथाय साधनेके लिये आर्चण निक्षेपण उच्चाटन मारण आदिके लिये करोंका मोक्षमार्गमें विषय लिया है ॥

अवित् ।

यक्षरपद्मो धर्म रूप ले ध्यानमें ।

जे ध्यायेँ इस मन्त्ररूप इस तारमें ॥

ध्यापदस्थ जु नाम वसो मुनिराजने ।

जे यामें है स्त्रीर लहे निजवाजने ॥ ३८ ॥

इति श्रीगुप्तद्राचार्यविरचिते योगप्रदीपाधिकारस्वरूपशाण्डो
पदस्यध्यानवर्णन नामाष्टमोऽध्यायः ॥ ३८ ॥

अथ गवोनात्रिंशं प्रकरणं लिख्यते ।

अ० १०५ ध्यानां वृत्तं वर्तते ६,—

आर्हत्यमहिमोपेतं सर्वेश परमेश्वरम् ।
 ध्यायेद्देवेन्द्रं च द्वाकस्तन्मान्तर्गम्यं स्वप्नमुचम् ॥ १ ॥
 सूर्यातिदायसपुणं सूर्यलक्षणलक्षितम् ।
 मर्यमूनहितं देयं द्वालिदशैलेन्द्रशेखरम् ॥ २ ॥
 सप्तधातुयिनिर्मुक्तं मोक्षलक्ष्मीकटाक्षितम् ।
 अनन्तमहिमाधारं सयोगिपरमेश्वरम् ॥ ३ ॥
 अभिन्यपरितं पाकपारिध्रै समुपासितम् ।
 विपिघ्ननयनिर्णीतं विश्वं विश्वैकपान्धवम् ॥ ४ ॥
 निगृह्यकरणाग्रामं निपिघ्नविषयद्विषम् ।
 पृथ्वरागादिमन्तान् भयज्यत्नवामुचम् ॥ ५ ॥
 दिव्यरूपधरं धीरं विष्णुज्ज्ञानलोचनम् ।
 अपि त्रिदशयोगीन्द्रं कल्पनानीतवैभवम् ॥ ६ ॥
 स्यादादपयिनिर्णीतभिन्नान्यमतभूधरम् ।
 ज्ञानामृतपयःपूर्वं पवित्रितजगत्त्रयम् ॥ ७ ॥
 इत्यादिगणनातीतगुणरसमहार्णयम् ।
 देवदेव स्वप्नमुचं स्मराय जिनभास्करम् ॥ ८ ॥

अर्थ—इस रूपस्य ध्यानं अरहन्त भगवान्वा ध्यानं करना चाहिये, जिसमें अरह
 तथा हिम प्रकारका स्वरूप चिन्तन करना चाहिये सो करते हैं,—अरहन्तताकी महिमा
 जो समवमरणादिकी रचना है उस सहित, सर्वेश, परमेश्वर, देवेन्द्र चन्द्रमा सूर्यादिकी
 समाज मध्यमे पितृ, स्वप्नभू ॥ १ ॥ तथा समस्त अविद्यामे सूर्य, सप्त लक्षणोंसे लक्षित,
 तथा जिनमे समस्त जीवोंका दित होता है देता, और शीघ्र कहिये उत्तर गुणरूपी
 पवनके निखर ॥ २ ॥ तथा सप्तधातुमे रहित, और मोक्षलक्ष्मी विनको रक्षण पूर्वक
 देखता है ऐसे, अनन्त महिमाके आधार सयोगकेवली, परमेश्वर, ॥ ३ ॥ तथा अभिन्य
 है चरित विनका, और सुन्दर चरित्रवाले गप्परादिक मुनिगणोंसे सेवनीय तथा अनेक
 नयोंन निगप दिया है विश्व अपात् समस्त वस्तुओंका आकार स्वरूप जगत् जिन्होंने
 ऐसे, और समस्त वस्तुके द्विगु ॥ ४ ॥ तथा इन्द्रियोंके प्रानोंको रोकनेवाले, विषय
 वस्तुओंको निषेध कर देनेवाले तथा रागादिक सन्तानका वृद्धिदा है नाश जिन्होंने
 ऐसे, और समारक्षणी अग्निके धुतानेकी मेघके समान ॥ ५ ॥ तथा दिव्यरूपके धारक,

धीर अर्थात् क्षोभरहित, निमल ज्ञान ही जिनके नेत्र हैं ऐसे, तब और योगी प्रेक्षी कल्पनासे अतीत है निमल जिनका ऐसे ॥ ६ ॥ तथा म्यादात्परूप उन्नमे भठे हैं अन्य मतका पर्यंत जिन्होंने ऐसे, तथा ज्ञानरूप अमृतमय जलक प्रकाशमे पवित्र स्वरूप किया है तीन जगत् जिन्होंने ऐसे ॥ ७ ॥ इनको आदि त्रेखर गणनामे अतीत गुणरूप रत्नोंके महासमुद्र, देवोंके देव, स्वयमुद्ध, जिनके सूर्य, ऐसे श्रीरूपभेदेन समझा है मुने, तब चिन्तन (ध्यान) कर ॥ ८ ॥

जन्ममृत्युजराक्रान्तं रागादिविषमूर्च्छितम् ।

सर्वसाधारणैर्दोषैरष्टादशभिरावृतम् ॥ ९ ॥

अनेकव्यसनोच्छिष्टं सयमज्ञानविच्युतम् ।

सज्ञानमात्रेण केचिच्च सर्वज्ञ प्रतिपेदिरे ॥ १० ॥

अर्थ—कई अन्यमती जन्म जरा मरणसे व्याप्त, रागद्वेषादि विषमे मूर्च्छित, सर्व साधारण मनुष्यके समान क्षुधा तृषा आदि १८ दोषोंसे आच्छादित ॥ ९ ॥ तथा अनेक व्यसनो (कष्ट आपदाओं) कर सहित, सयम और ज्ञानसे रहित, ऐसे आत्माको नाममात्रसे सर्वज्ञ मानते हैं ॥ १० ॥

इतरोऽपि नरः पण्डभिः प्रमाणैर्वस्तुसचपम् ।

परिच्छिन्दन्मतं कैश्चित्सर्वज्ञं सोऽपि नेक्षते ॥ ११ ॥

अर्थ—तथा कई प्रत्यक्ष १ अनुमान २ उपमान ३ आगम ४ अधापत्ति ५ और अभाव ६ इन छे प्रमाणोंसे वस्तुके समूहको जानते हुए अन्य पुरुषको भी सर्वज्ञ माना है सो वह भी सर्वज्ञ नहीं है ॥ ११ ॥

इस कारण आचार्य महाराज कहते हैं,—

अतः सम्यक्स विज्ञेयः परित्यज्यान्वशासनम् ।

युत्तयागमविभागेन ध्यातुकामैर्मनीषिभिः ॥ १२ ॥

अर्थ—इस कारण जो सर्वज्ञ भगवान्का ध्यान करनेके इच्छक बुद्धिमान् पुरुष हैं उनको चाहिये कि, अन्य मतोंको छोड़कर, युक्ति और आगमसे निर्णय करके, सर्वज्ञको सम्यक् प्रकारसे निश्चय करें ॥ १२ ॥

युत्तया वृषभसेनाद्यैर्निर्दयासाधुवन्निगतम् ।

यस्य सिद्धिं सता मध्ये लिपिता चन्द्रमण्डले ॥ १३ ॥

अर्थ—जिस सर्वज्ञकी सिद्धि वृषभसेन आदि गणधर और आचार्योंने बुक्तिमे असाधु दुर्जनोंके कथनका खड्ग करके, सत्पुरुषोंके धीरार्थ निर्मल चन्द्रमण्डलमे लिखी है ॥ १३ ॥

अनेकयन्त्रुर्गुणं जगत्स्य पराचरम् ।
 रघुरागपिक्ता योषपिञ्जादादर्शमण्डले ॥ १४ ॥
 रत्नापजमर्मदिग्ध निदार्थं मर्यदोदितम् ।
 परस्य विज्ञानमत्यक्ष लोकात् लोकं विसर्पति ॥ १५ ॥
 परस्य विज्ञानपरमांशु-प्रभाप्रसरपीडिता ।
 क्षणादेव क्षयं याति राघोता इव दुर्नया ॥ १६ ॥
 पादपीठीतृनाशेषप्रिदशेन्द्रसभाजिरम् ।
 योगिगम्यं जगत्पार्थ गुणरत्नमहार्णवम् ॥ १७ ॥
 पवित्रितपराशुष्टं समुद्धृतजगत्प्रपम् ।
 मोक्षमार्गप्रणेता रमनन्तं पुण्यशासनम् ॥ १८ ॥
 भामण्डलनिम्बार्कपन्द्रकोटिसमप्रभम् ।
 शरण्यं सर्वगं ज्ञान्तं दिव्ययाणीविशारदम् ॥ १९ ॥
 अक्षोरगुणशकुन्नेश सर्वाभ्युदयमन्दिरम् ।
 दुःखार्णवपतत्परस्यदत्तहस्तायलम्पनम् ॥ २० ॥
 मृगेन्द्रपिष्टराज्ज्वल मारमातङ्गपातकम् ।
 इन्द्रप्रपसमोदामच्छत्रप्रयविराजितम् ॥ २१ ॥
 हंतालीपातलीलाटी चामरग्रजयीजितम् ।
 पीततृष्ण जगत्पार्थ परद विश्वरूपिणम् ॥ २२ ॥
 दिव्यपुष्पानकाशोकराजितं रागयर्जितम् ।
 प्रातिहार्यमालक्ष्मीलक्षित परमेश्वरम् ॥ २३ ॥
 नयकेयललब्धिध्रीसमर्थं स्वात्मसंभवम् ।
 तृप्यपानमहावहो हृतकर्मन्धनोत्करम् ॥ २४ ॥
 रत्नप्रपलुघाम्बुन्दमन्दीकृतभयश्रमम् ।
 पीतमग्नं जितद्रुतं शिव शान्त सनातनम् ॥ २५ ॥
 अहन्तमजमप्यक्तं कामद कामनाशकम् ।
 पुराणपुरुष देव देवदेवं जिनेश्वरम् ॥ २६ ॥
 विश्वनेत्रं जगद्रन्य योगिनार्थं महेश्वरम् ।
 ज्योतिर्मपमनायन्तं आतारं सुवनेश्वरम् ॥ २७ ॥
 योगीश्वरं तमीशानमादिदेव जगद्गुरुम् ।
 अनन्तमच्युतं शान्तं भासन्तं ब्रूतनायकम् ॥ २८ ॥

सम्पूर्ण चारित्र्यरूप अमृतके शरनोत्ते समारके सेन्को दूर करनेवाला है, परिग्रहरहित है, जीव लिया है द्वैतभाव जिनने ऐसा है, कल्याणस्वरूप शान्तरूप तथा सनातन अध्यान् नित्यरूप है ॥ २५ ॥ तथा अरहत है, अजन्मा है, अव्यक्त है अध्यान् इन्द्रियगोचर नहीं है तथा कामद (मनोबाधित दाता) है, कामका नाशक है, पुराण पुण्य ह नष्ट, देवोंका देव है, जिनेश्वर है ॥ २६ ॥ तथा समस्त स्वरूपको रखने वा दिखानेको नेत्र समान है, जगतके बढ़ने योग्य है, योगियोंका नाथ है, महेश्वर है ज्योतिष्य (ज्ञान प्रकाशमय) है, आदि अंतरहित है, सपरान्तरक है, तीन भुवनका ईश्वर है ॥ २७ ॥ योगीश्वर है, ईशान है, आदिदेव है, जगद्गुरु है, अनन्त है, अभ्युक्त है, गान्त है, तेजस्वी है, भूतनाथक है, ॥ २८ ॥ समन्ति है, सुगत है, विद्वद् है, जगन्मूर्त उपर है, विनाशक है, महावीर है, मुक्तिश्रेष्ठ है, पवित्र है, परमात्मा है ॥ २९ ॥ मन्त्र है, मन्त्रवा दाता है, सर्वहितैषी है, वर्द्धमान है, निरामय (रोगरहित) है नित्य है अव्यय (तात्पर्यदिन) है, अव्यक्त है, परिपूर्ण है, पुरातन है ॥ ३० ॥ इत्यादिक अनेक साथ पवित्र नाम गहन, सर्वान, देवोंका नाथक, सर्वज्ञ जो धीवीरतीर्थस्वर है उसको हे मुने, तू मान्य कर ॥ ३१ ॥

इस प्रकार दोषरहित, सर्वज्ञ देव, अरहत तिनदेवता ही ध्यान करना चाहिये । अन्यनी गुणरहित दोषरहितको सर्वज्ञ कहने से सो तामात्र है कथित है वह मन्त्र ध्यान करने योग्य नहीं है

अनन्यधारण साक्षात्तसत्त्वीनैकमानस ।

तत्स्वरूपमवाप्नोति ध्यानी तन्मयता गतः ॥ ३२ ॥

अर्थ—उपर्युक्त सर्वज्ञ देवका ध्यान करनेवाला ध्यानी अन्तरालमें रहित हो साक्षात् उसमें ही सत्त्वीन है मा निमग्न होता हो, तन्मयताको पार कर उनी स्वरूप प्राप्त होता है ॥ ३२ ॥

यमाराध्य शिष्य प्राप्ता योगिनो जन्मनिवृत्ता ।

य स्मरन्त्यानिश भव्या शिष्यप्रीतगमोत्सुका ॥ ३३ ॥

यस्य वागमृतस्यैकामासाद्य कणिकामपि ।

शाश्वते पथि तिष्ठन्ति प्राणिनः प्रास्तवस्त्वया ॥ ३४ ॥

देवदेव स ईशानो भव्याम्भोजैकभास्वरः ।

ध्येय सर्वात्मना धीरः निमग्नोऽस्ति मानसम् ॥ ३५ ॥

अर्थ—जिन सर्वज्ञ देवको आराध्य करके स्मरणसे निरंतर स्मरण करनेवाला ध्यानी है तथा मोक्षार्थी सङ्गममें उत्तम अवस्था में निरंतर ध्यान करने है । ३५ ॥ तथा निरंतर वचनवादी एवं कथित मानको पढ़कर, संकीर्तन करने (निरंतर

पापों)को नष्ट करके शाश्वत मोक्षमार्गम निष्ठने है ॥ ३४ ॥ सो देवता त्वे, इन्द्र, मय्य जीवरूप कमलाको प्रफुल्लित करनेके लिये सूर्य समान ऐसा श्रीगीरजिनेन्द्र मन्त्रो निश्चल करके ध्यान करने योग्य (ध्येय) है अन्य कल्पित ध्येय (ध्यान करने योग्य) नहीं है ॥ ३५ ॥

तस्मिन्निरन्तराभ्यासप्रज्ञात्सज्जाननिश्चला ।

सर्वावस्थासु पश्यन्ति तमेव परमेष्ठिनम् ॥ ३६ ॥

अर्थ—उस सर्वज्ञ त्वेके ध्यानम अभ्यास करनेके प्रमाणमे निश्चल हुए योगागण सर्व अवस्थाओंमें उसी परमेष्ठीको देखते हैं ॥ ३६ ॥

तदालम्ब्य पर ज्योतिस्तद्गुणग्रामरञ्जितः ।

अवक्षिसमना योगी तत्स्वरूपमुपाश्रुते ॥ ३७ ॥

अर्थ—योगी (ध्यानी मुनि) उस सर्वज्ञ देव परमज्योतिको आलम्बन करके उसके गुणग्रामोंमे रजायमान होता हुआ मनमे निरपरहित होकर, उसी स्वरूपको प्राप्त होता है ॥ ३७ ॥

इत्थ तद्भावनानन्दसुधास्पन्दाभिनन्दितः ।

न हि स्वप्नाद्यवस्थासु ध्यायन्प्रच्यवते मुनि ॥ ३८ ॥

अर्थ—इम प्रकार उस सगुण देवकी भावनासे उत्पन्न हुए आनन्दरूप अमृतने वेगन आनन्दरूप हुआ मुनि स्वप्नादिक अवस्थाओंमे भी ध्यानमे च्युत नहीं होता ॥ ३८ ॥

अथना इस प्रकार है—

तस्य लोकत्रयैश्वर्यं ज्ञानराज्यं स्वभावजम् ।

ज्ञानत्रयमुपा मन्ये योगिनामप्यगोचरम् ॥ ३९ ॥

अर्थ—जो उस सर्वज्ञ त्वेके तीन लोकका इश्वरत्व है, स्वभावमे उत्पन्न ज्ञानराय है वह मति युक्त अथि इन तीन ज्ञासम्पत्ति योगी मुनियोंके भी अगोर है ऐसा मैं मानता हूँ ॥ ३९ ॥

परन्तु उठ विशेष है जो कहते हैं,—

साक्षात्निर्विषय कृत्वा साक्षं चेत सुसंयमी ।

नियोजयन्त्यविश्रान्त तस्मिन्नेव जगद्गुरौ ॥ ४० ॥

अर्थ—यद्यपि सर्वज्ञ देवका रूप उग्रस्थ ज्ञानागे अगोर है तथापि इन्द्रिय और माको अन्य विषयसे हटाकर, सुसंयमी मुनि निरन्तर साक्षात् उसी भगवान्के स्वरूपमें अपने माको लगाता है ॥ ४० ॥

तद्गुणधामसत्त्वीनमानसस्तद्गुणाश्रय ।

तद्भाषभाषितो योगी तन्मयत्वं प्रपद्यते ॥ ४१ ॥

अर्थ—उस परमात्मन मन लगाये तब उसकी ही गुणां की विल होकर, उसमें ही विलको प्रयोग करके हमी भावने भाषित योगी मुनि उसीसी तन्मयताको प्राप्त होता है ॥ ४१ ॥

पदाभ्यामपश्चात्तस्य तन्मयत्वं प्रजायते ।

तदात्मानमसौ ज्ञानी सर्वज्ञीभूतमीक्षते ॥ ४२ ॥

अर्थ—जब अभ्यासके फलसे उस मुनि उस सर्वज्ञने स्वरूपसे तन्मयता उत्पन्न होती है उस समय वह मुनि अपने असंज्ञ आत्माको सर्वज्ञ स्वरूप देखता है ॥ ४२ ॥ तब जिस प्रकार मानता है सो कहते हैं,—

एष देव स सर्वज्ञ सोऽहं तद्रूपता गत ।

तस्मात्स एष मान्योऽहं विश्वदर्शीति मन्यते ॥ ४३ ॥

अर्थ—जिस समय सर्वज्ञ स्वरूप अपनेको देखता है, उस समय ऐसा मानता है कि, वह यही सर्वज्ञ देव है, यही सत्त्वरूपताको प्राप्त हुआ मैं हूँ, इस कारण यही सर्वज्ञ दायोवाला मैं हूँ, अन्य मैं नहीं हूँ ऐसा मानता है ॥ ४३ ॥

उक्तं च ।

“येन येन हि भावेन युज्यते पञ्चवाहक ।

तेन तन्मयता याति विश्वरूपो मणिर्यथा ॥ १ ॥

अर्थ—जिस जिस भावसे वह यन्त्रादिक (जीव) जुड़ता है उस २ भावसे तन्मयताको प्राप्त होता है—जैसे तिमिल स्वटिक मणि जिस वणसे युक्त होता है वैसे ही वर्ण स्वरूप हो जाता है ॥ १ ॥”

इस प्रकार अन्य ज्ञानमें कहा है, तथा अन्य प्रकार भी कहते हैं,—

भक्ष्यते च हि भूतानां साक्षान्मुक्तेर्निषण्धनम् ।

अतः सर्वज्ञता भक्ष्ये भवन्ती नात्र शङ्क्यते ॥ ४४ ॥

अर्थ—अथवा इस प्रकार है कि जीवोंके भक्ष्यत्व भाव है सो साक्षात् मुक्तिका कारण है इस कारण भक्ष्य प्राणीन सर्वज्ञता होनेमें संदेह नहीं करना अर्थात् भक्ष्यके में सन्देह सर्वज्ञता होती ही है ॥ ४४ ॥

अपमात्मा स्वसामर्थ्यादिशुद्ध्यति न केवलम् ।

चालयत्यपि सशुद्धो सुवनानि चतुर्दश ॥ ४५ ॥

अर्थ—यह आत्मा अपने सामर्थ्यसे केवल विशुद्ध ही नहीं होता है किन्तु जो मोक्ष

अथ चत्वारिंश प्रकरणम् ।

इस प्रकरणमें रूपातीत ध्यानका वर्णन करते हैं सो, प्रथम ही असमीचीन ध्यानका निषेध करते हैं,—

धीतराग स्मरन्योगी धीतरागो विमुच्यते ।

रागी सरागमालम्ब्य श्रूरकर्माश्रितो भवेत् ॥ १ ॥

अर्थ—ध्यान करनेवाला योगी धीतरागका ध्यान करता हुआ धीतराग होकर, कर्मोंमें छूट जाता है । और रागीको अवलंबा करने, ध्यान करनेसे रागी होकर, श्रूर कर्मोंके आश्रित हो जाता है अर्थात् अशुभ कर्मोंसे बंध जाना है ॥ १ ॥

मन्त्रमण्डलमुद्रादिप्रयोगैर्ध्यातुमुद्यत ।

सुरासुरनरमात क्षोभयत्यग्निरक्षणात् ॥ २ ॥

अर्थ—यदि ध्यानी मन्त्र, मण्डल, मुद्रादि प्रयोगोंमें ध्यान करनेमें उद्यत हो तो सामान्य सुर, असुर और मनुष्योंके समूहको क्षणमात्रमें क्षोभित करतव्यता है ॥ २ ॥

बुद्धस्याप्यस्य सामर्थ्यमचिन्त्यं त्रिदशैरपि ।

अनेकविक्रियासारध्यानमार्गावलम्बिन ॥ ३ ॥

अर्थ—अनेक प्रकारकी विक्रियारूप असार ध्यानमार्गोंको अवलंबन करनेवाला बोधीके भी ऐसी शक्ति उत्पन्न हो जाती है कि त्रिशाखा देव भी विजित करने में सक्षम हो सके ॥ ३ ॥

उपजाति ।

पशूनि कर्माणि मुनिप्रवीरैर्ध्यानुपादात्प्रवटीकृतानि ।

असह्यभेदानि कुतूहलार्थं कुमार्गकुध्यानगतानि स्मृति ॥ ४ ॥

अर्थ—शानी मुनियोंने विद्यानुपादपूर्वसे आंतर्य वेदवात् आदि उपादात् रूप उपादात् आदि कम कुतूहलके लिये प्रवट मिये है । परन्तु वे सब कुमार्ग और कुध्यान मार्गोंके अंतर्गत हैं ॥ ४ ॥

अनेकप्रकार ।

असाधनन्तप्रथितप्रभावः स्वभाषतो यद्यपि यन्त्रनाथ ।

नियुज्यमानः स पुनः समाधौ करोति विश्वं करणप्रह्वितम् ॥ ५ ॥

अर्थ—यद्यपि यह आत्मा स्वभावसे ही आत और जगत्प्रह्वित है परन्तु समाधौ (ध्यानमें) जोदा हुआ हो तो यह समस्त जगत्को अपने कर लेता है ॥ ५ ॥

स्वप्नेऽपि कौतुकेनापि नासद्भ्यानानि योगिभि' ।

सेव्यानि यान्ति धीजत्व यतः सन्मार्गहानये ॥ ६ ॥

अर्थ—परंतु योगी मुनियोंको चाहिये कि असमीचीन ध्यानोको कौतुक्से स्वप्न में न निचारें। क्योंकि, असमीचीन ध्यान सन्मार्गकी हानिके लिये बीज स्वरूप (कारण) है। माचार्थ—छोटे ध्यानसे बड़ा मार्ग ही चलता है, इस कारण मुनि जनोंको बुद्धि ध्यान कदापि नहीं करना चाहिये ॥ ६ ॥

सन्मार्गात्प्रच्युत चेत् पुनर्वर्षशतैरपि ।

शक्यते न हि केनापि व्यघस्यापपितु पथि ॥ ७ ॥

अर्थ—छोटे ध्यानके कारण समागमे निचलित हुए चित्तको फिर सँभरों वाने भी कोई समागम छानेको समर्थ नहि हो सकता, इस कारण छोटा ध्यान बराबर नहि करना चाहिये ॥ ७ ॥

अमद्भयानानि जायन्ते स्वनाशायैव केवलम् ।

रागाद्यसद्गुहायेशात्कौतुकेन कृतान्यपि ॥ ८ ॥

अर्थ—भसमीचीन (छोटे) ध्यान कौतुक मात्रमें लिये हुए भी रागादिरूप होने
महोने आगेसे केवल अपने नाशने लिये ही होते हैं ॥ ८ ॥

निर्मैरानन्दमन्दोहपदसपादनक्षमम् ।

मुष्टिमार्गमतिक्रम्य क' कुमार्गे प्रवर्त्तने ॥ ९ ॥

अर्थ—इतकारण अनिष्टरूप आदिके समूहसे स्थानको उत्पत्ति करोमें समर्थ होने मोक्षमार्गको (सर्माचीन ध्यानको) छोड़कर ऐसा कौन है जो बुद्धिमान (सर्वज्ञानवान्) प्रवृत्ति करे, ज्ञानवान् तो कदापि गर्हि करे ॥ ९ ॥

शाईलविष्टीदिनम् ।

शुद्धयानपरमवशचतुरा रागानलोदीपिताः

मुद्रामण्डलस्य मन्त्रकरणैराराधयन्त्याहता ।

कामत्राययर्जाट्टानिह सुरान् समारमौल्याधिनी

दुष्टाशाभिहता पतन्ति नरके. भोगार्तिभिर्ययिता. ॥ १० ॥

अर्थ—जो पुरुष सोचे ध्यानके लक्षण प्राप्त हो तो विचार करने में समर्थ है वे सब सोचने सामर्थ्य अर्द्धि प्राप्त होकर मुद्रा, महत्त्व, यंत्र, मंत्र, आदि साधनों द्वारा साधनोक्त वस्तुओं को प्राप्त कर सकते हैं। सो, साधारण मुद्रा के बने रहने के लिए कुछ आसन विधि तथा योगी पीछे से बैठने होना वे साधन करने हैं, इन साधन करने हैं ॥ १० ॥

तद्वयेय तदनुष्ठेयं तद्विचिन्त्य मनीषिभि ।

यज्जीयकर्मसंयन्धविश्लेषायैव जायते ॥ ११ ॥

अर्थ—वही मुक्तिमानोंको ध्या करने योग्य है और वही अनुष्ठान व चिन्तन करने योग्य है जो कि जीव और कर्मोंके संयन्धको दूर करनेवाला ही हो । अर्थात् जिस कालसे कर्मोंसे मोक्ष हो वही कार्य करना योग्य है ॥ ११ ॥

फिर भी कुछ विशेषतासे कहते हैं,—

स्वयमेव हि सिद्ध्यन्ति सिद्धय शान्तचेतसाम् ।

अनेकफलसपूर्णा मुक्तिमार्गावलम्बिनाम् ॥ १२ ॥

अर्थ—जो मुनि शान्तचित्त हैं और मुक्तिमार्गके अवलम्बन करनेवाले हैं उनके अनेक प्रकारके फलोंसे भरी हुई सिद्धियाँ स्वयमेव सिद्ध हो जाती हैं । भाषार्थ—सर्मासीन ध्यासे नाना प्रकारकी ऋद्धिमें बिना चाहे ही सिद्ध हो जाती हैं । फिर, छोटे भाष्यसे छोटे ध्यान करनेमें क्या लाभ है ? ॥ १२ ॥

समयन्ति न चाभीष्टसिद्धयः क्षुद्रयोगिनाम् ।

भयत्येव पुनस्तेषां स्वार्थभ्रशोऽनिवारितः ॥ १३ ॥

अर्थ—जो छोटे ध्याने करनेवाले क्षुद्र योगी हैं उनको इष्ट सिद्धियाँ कदापि नहीं होती, किन्तु उनके उल्टी स्वाधरी अनिवार्य हानि ही होती है ॥ १३ ॥

भयप्रभवसंयन्धनिरपेक्षा मुमुक्षवः ।

न हि स्वप्नेऽपि विक्षिप्त मनः कुर्यन्ति यागिनः ॥ १४ ॥

अर्थ—जो मोक्षालापी योगीधर मुनि हैं वे जिससे संसारकी उत्पत्ति हो ऐसे संयन्धोंसे निरपेक्ष रहते हैं । वे अपने मनको स्वप्नमें भी पलायमान नहीं करते हैं । भाषार्थ—उनकी किसी प्रकारकी ऋद्धि प्राप्त हो, कोई देवता आकर उनकी महिमा करें तथा किसीकी ऋद्धिवात् देखें तो भी वे मोक्षमार्गमें कदापि अपने मनकी प्युन नहीं करते ॥ १४ ॥

अब रूपार्णव ध्यानका वर्णन करते हैं,—

अथ रूपे स्थिरीभूतचित्तं प्रक्षीणविभ्रमः ।

अमूर्त्तमजमप्यक्तं ध्यातुं प्रथमते ततः ॥ १५ ॥

अर्थ—इसके पश्चात् स्थिरीभूत है चित्त जिसका तथा नष्ट हो गये है विभ्रन जिसके ऐसा ध्यानी रूपरथ ध्यानों अमूर्त्त, अजमा, इन्द्रियोसे अयोपर, ऐसे परमात्माने ध्यानका प्रारम्भ करता है ॥ १५ ॥

चिदानन्दमय शुद्धममूर्त्तं परमाक्षरम् ।

सरेण्यध्यात्मनात्मानं तद्रूपातीतमिष्यते ॥ १६ ॥

अर्थ—जिस ध्यानम ध्यानी मुनि विदानन्दमय, शुद्ध, अमृत, परमाक्षररूप आना को आत्मा ही स्मरण करै अर्थात् ध्याये सो रूपातीत ध्यान माना गया है ॥ १६ ॥

षदन्ति योगिनो ध्यानं चित्तमेवमनाकुलम् ।

कथं शिवत्प्रमापन्नमात्मानं सस्मरेन्मुनिः ॥ १७ ॥

अर्थ—योगीश्वर चित्तके आकुलतारहित होने अर्थात् क्षोभरहित होनेको ही ध्यान कहते हैं । तो कोई मुनि मोक्षप्राप्त आत्माका स्मरण कैसे करे? भावार्थ—जब ध्येय और ध्यानी पृथक् पृथक् है तो चित्तको क्षोभ अवश्य होगा ॥ १७ ॥

इसका समाधान इसप्रकार है —

विधेय्यं तद्गुणग्रामं तत्स्वरूपं निरूप्य च ।

अनन्यशरणो ज्ञानी तस्मिन्नेव लयं व्रजेत् ॥ १८ ॥

अर्थ—प्रथम तो उस परमात्माके गुणसमूहोंको पृथक् २ विचारै और फिर उन गुणोंके समुदायरूप परमात्माको गुणगुणीके अभिन्न भावसे विचारै और फिर किसी अन्यके शरणसे रहित होकर, ज्ञानी पुरुष उसी परमात्मा में लीन हो जावे । भावार्थ—इस ध्यानमें प्रथम तो गुण और गुणीका पृथक् रूपसे विचार है परन्तु अन्तमें परमात्मा में लीन होनेसे ध्येय और ध्यानी पृथक् रूप न रहेंगे ॥ १८ ॥

तद्गुणग्रामसम्पूर्णं तत्स्वभावैकभावितं ।

कृत्वात्मानं ततो ध्यानी योजयेत्परमात्मनि ॥ १९ ॥

अर्थ—परमात्माके स्वभावसे एकरूप भावित अर्थात् मिला हुआ ध्यानी मुनि उस परमात्माके गुणसमूहोंसे पूर्णरूप अपने आत्माको करके, फिर उसे परमात्मा में योजन करे । ऐसा विधान है ॥ १९ ॥

दयोर्युगैर्मतं साम्यं व्यक्तिशक्तिव्यपेक्षया ।

विशुद्धेतरयोः स्वात्मतत्त्वयोः परमागमे ॥ २० ॥

अर्थ—परमागमम निशुद्ध अर्थात् कर्मरहित और उससे इतर अर्थात् कमशक्ति इन दोनों स्वात्मतत्त्वोंमें शक्ति और व्यक्तिकी अपेक्षासे गुणोंसे समानता मानी है । भावार्थ—जब शक्ति और व्यक्तिको भिन्न २ मानते हैं तब तो कमरहित निशुद्ध आत्मा व्यक्तिरूपसे परमात्मा है और कमशक्ति आत्मा शक्तिरूपसे परमात्मा है । और यदि शक्ति और व्यक्तिको अभिन्न मानते हैं तो दोनोंही समान हैं ॥ २० ॥

अब शक्ति और व्यक्ति भिन्नाभिन्न माननेमें अनिरोधका हेतु दिखलाने हैं—

य प्रमाणनयैर्नूनं स्यत्स्वमवबुध्यते ।

युध्यते परमात्मानं स योगी धीतविग्रहः ॥ २१ ॥

अर्थ—जो शुद्धि प्रमाण और नयोक्त द्वारा अपने आत्मतत्त्वको जानता है वही योगी बिना किसी सन्देहके परमात्माको जानता है । **भावार्थ**—जबतक प्रमाण और नयोक्त स्वरूप तथा इनके द्वारा आत्माका स्वरूप न जाना जायगा तबतक कमसहित ही आत्मा स्थिति अनेकाने कमसहित है यह विरोध भी दूर न हो सकना । इन दोनोंका विरोध दूर करनेका स्याद्वाद है । इसलिये स्याद्वादको समस्त कर, फिर यदि इन दोनोंका विचार करते हैं, तो बेश्च विरोध नहीं रहता और न भ्रम ही रहता है ॥ २१ ॥

अब कमसहित परमात्माका स्वरूप कहते हैं कि, जिसके द्वारा यह योगी अपने आत्माको रूपानीत ध्यान । बितरना करे—

द्वयोमाकारमनाकार निष्पन्नं ज्ञान्तमच्युतम् ।

परमाद्वास्त्वियम्यूनं स्वप्रदेशैर्धनैः स्थितम् ॥ २२ ॥

लोकाप्रक्षिप्तरासीन शिबीभूतमनामयम् ।

पुरुषाकारमापतमप्यमूर्तं च चिन्तयेत् ॥ २३ ॥

अर्थ—आत्माके आकार अर्थात् अमूर्त, अनाकार अर्थात् पुद्गलके आकारसे रहित, निष्पन्न अर्थात् तिर जितम किसी प्रकारकी हीनाधिकता न हो, नास्त अर्थात् सोमसहित, अच्युत अर्थात् जो अपने रूपसे कभी च्युत न हो, चरम शरीरसे किञ्चित् पून अर्थात् जिस शरीरसे मोक्ष हुआ है उस शरीरसे नासिकादि रज्ज प्रदेशोंसे हीन, अपने घनीभूत प्रदेशोंसे स्थित तथा लोकाकाशके अग्रभागमें स्थित, शिबीभूत अर्थात् पहिल अकल्याणरूप से अब कल्याणरूप हुए ऐसे, अनामय अर्थात् रोगादिकसे तबथा रहित और पुरुषाकारको प्राप्त होकर भी अमूर्त अर्थात् आकार तो पुरुषका है परन्तु तौ भी उसमें रूप रस गंध स्पर्शादिक नहीं हैं ऐसे परमात्माका ध्यान इस रूपानीत ध्यानमें करे ॥ २२ ॥ २३ ॥

निष्कलस्य विशुद्धस्य निष्पन्नस्य जगद्गुरोः ।

चिदानन्दमयस्योच्चैः कथं स्यात्पुरुषाकृति ॥ २४ ॥

अर्थ—जो परमात्मा निष्कल अर्थात् देहसहित है, विशुद्ध अर्थात् द्रव्यभावरूप दोनों मटोसे रहित है, निष्पन्न अर्थात् जितम कुछ हीनाधिकता होनेवाणी नहीं है, जो जगत्का गुरु है और जो चिदानन्द स्वरूप अर्थात् चैतन्य और आनन्द स्वरूप है, म-दान है, ऐसे परमात्माके पुरुषाकृति अर्थात् पुरुषका आकार कैसे हो सकता है ? ॥ २४ ॥

इसका समाधान—

विनिर्गतमपृच्छिष्टप्रतिमे मूपिकोदरे ।

यादृग्गगनसंस्थान तदाकारं सरोजिष्ठम् ॥ २५ ॥

अर्थ—जिमसे मोम पिखल गया है ऐसी मूर्षिकाके उदरमें जैसा आकाशका आकाश है तदाकार परमात्मा प्रभुका ध्यान करे ॥ २५ ॥

इसीका दूसरा दृष्टान्त रहते है ।

सर्वावयवसम्पूर्णं सर्वलक्षणलक्षितम् ।

विशुद्धादर्शसङ्क्रान्तप्रतिविम्बसमप्रभम् ॥ २६ ॥

अर्थ—समस्त अवयवोंसे पूर्ण और समस्त लक्षणोंसे लक्षित ऐसे निर्मल दर्पणमें पड़ते हुए प्रतिविम्बके समान प्रभावसे परमात्माका चिन्तन करे । भावार्थ—जैन निर्मल दर्पणम पुरुषके समस्त अवयव और लक्षण दिखाई पड़ते हैं उसी तरह परमात्माके प्रदेश शरीरके अवयवरूप परिणत है । और उनम समस्त लक्षणोंकी तरह समस्त गुण रहते हैं ॥ २६ ॥

इत्यसौ सन्तताभ्यासवशात्सजातानिश्चयः ।

अपि स्वप्नाद्यवस्थासु तमेवाध्यक्षमीक्षते ॥ २७ ॥

अर्थ—इस प्रकार जिसके निरन्तर अभ्यासके वशसे निश्चय हो गया है ऐसा ध्यानी स्वप्नादिक अवस्थाम भी उसी परमात्माको प्रत्यक्ष देखता है । भावार्थ—हउ अभ्याससे स्वप्नादिकमें भी परमात्मा ही दिखाई पड़ता है ॥ २७ ॥

सोऽहं सकलवित्तार्थः सिद्धः साध्यो भवच्युतः ।

परमात्मा पर उषोतिर्विश्वदर्शी निरञ्जन ॥ २८ ॥

तदासौ निश्चलोऽमूर्त्तो निष्कलङ्को जगद्गुरु ।

चिन्मात्रो विस्फुरत्युषैर्ध्यानध्यातृषिवर्जितः ॥ २९ ॥

अर्थ—पूर्वोक्त प्रकारसे जन परमात्माका निश्चय हो जाता है और हउ अभ्यासमें उसका प्रत्यक्ष होने लगता है उस समय परमात्माका चिन्तन इस प्रकार करे कि ऐसा परमात्मा मैं ही हूँ, मैं ही सर्वज्ञ हूँ, सर्वव्यापक हूँ, सिद्ध हूँ, तथा मैं ही साध्य अर्थात् सिद्ध करने योग्य था । ससारसे रहित, परमात्मा, परमज्योतिस्वरूप, समस्त निश्चला देखनेवाला मैं ही हूँ । मैं ही निरञ्जन हूँ । ऐसा परमात्माका ध्यान करे । उस समय अपना स्वरूप निश्चल, अमूर्त्त अर्थात् शरीररहित, निष्कलङ्क, जगत्का गुरु, चैतन्यमात्र और ध्यान तथा ध्याताने भेदरहित ऐसा अतिशय स्फुरावमान होता है ॥ २८ ॥ २९ ॥

पृथग्भावमतिक्रम्य तथैव परमात्मनि ।

प्राप्नोति स मुनिः साक्षात्स्थान्यत्व न बुध्यते ॥ ३० ॥

अर्थ—यह मुनि जिस समय पूर्वोक्त प्रकारसे परमात्माका ध्यान करता है उस समय परमात्मामें पृथक् भाव अर्थात् अलगपनेका उल्लेखन करके साक्षात् एकताको हम

रह प्राप्त हो जाता है कि, जिससे पृथक् पनेका विलुप्त मान नहीं होता । भाषार्थ—
इस समय ध्याता और ध्येयमें द्वैतमान नहीं रहता ॥ ३० ॥

उक्तं च ।

“निष्कल परमात्माह लोकालोकायभासर” ।

विश्वव्यापी स्वभावस्यो विकारपरिवर्जित ॥ १ ॥

अर्थ—निष्कल अर्थात् देहादित, लोक और अलोकको देखने और जाननेवाला,
ध्वने व्यापक, समाग्रों स्थिर, समस्त विस्तारोंसे रहित ऐसा परमानन्द है । ऐसा
य प्रत्यक्ष भी अभेद मान दिखाया है ॥ १ ॥

मालिनी ।

इतिविगतविकल्प क्षीणरगादिदोष

विदितसकलवेद्य स्वतन्त्रविश्वप्रपञ्चम् ।

शिवमजमनयद्यं विश्वलोकैक्यनाथं

परमपुरुषमुपैर्भावशुद्धा भजतः ॥ ३१ ॥

अर्थ—यहाँ भाषार्थ विशेष उपदेशरूप प्रेरणा करते हैं कि इस शुद्धि, इस प्रकार
जितके समस्त विकल्प दूर होगये हैं, जितके रगादिक साथ दोष क्षीण हो चुके हैं, जो
जानने योग्य समस्त पदार्थोंका जाननेवाला है, जितने संगतराव समस्त प्राण छोड़ दे
हैं, जो शिव अर्थात् कल्याण स्वरूप अथवा मोक्ष स्वरूप है, जो अब अपना जितके
आगे जन्म मरण नहीं करता है, जो अनरुच अर्थात् पालेते रहित है तथा जो समस्त
लोकका एक अद्वितीय नाथ है ऐसे परम पुरुष परमात्माको आर्योरी शुद्धापूर्वक
अभिप्रेत करके भज । भाषार्थ—शुद्ध भावोंसे ऐसे परम पुरुष परमात्माका भजन
कर ॥ ३१ ॥

इस प्रकार इस अध्यायमें रूपातीत ध्याताका निरूपण किया है । इसका उद्देश्य
भाषार्थ यह है कि जब ध्याती सिद्ध परमेश्वर ध्यानका अभ्यास करके रहित
आपको भी उनके समान जानकर और आपको उनके समान स्वरूप का कि
उसमें (आपमें) हीन होता है, तब आप स्वयं भाग्य कर स्वतन्त्र हो
रोगा है ।

देता ।

सिद्ध निरञ्जन कर्मविन, सूरनिरहित स्वतन्त्र ।

जो ध्याती परमाणुमा, सो पाव सिद्ध सत्त्व ॥ ३२ ॥

इति क्षीणभवाद्याद्यादिरविने दोषद्वितीयादौ शान्तोदये कल्पना

ध्यातव्यं माय कल्पना प्रवरणम् ॥ ३३ ॥

अथैकचत्वारिंश प्रकरणम् ।

आगे श्रीगुप्तचन्द्राचार्य धर्मध्यानका फल वर्णन करते हुए प्रथम ही कुछ उपदेश करते हैं —

यथास्थम् ।

प्रसीद शान्तिं ब्रज सन्निरुद्धयता

दुरन्तजन्मज्वरजिघ्रित मनः ।

अगाधजन्मार्णवपारवर्तिना

यदि श्रियं चाऽऽसि विश्वदर्शिनाम् ॥ १ ॥

अर्थ—हे आत्मन्, यदि तू अगाध संसाररूपी समुद्रके पारवर्ती और समस्त लोका लोचने देगनेवाले ऐसे अरहत और मित्र भगवान्‌की लक्ष्मीकी इच्छा करता है तो प्रणम हो, शांतता धारण कर और दुरन्त संसाररूप ज्वर करके मूर्छित मानसो बस कर । भावार्थ—आचार्यका उपदेश है कि यदि तू ध्याना करता चाहता है तो प्रणम ही माने मानो वक्ष्ये कर और शांतमान धारण कर ॥ १ ॥

यदि रोद्धुं न शक्नोति तुच्छवीर्यो मुनिर्मनः ।

तदा रागेतरष्यस कृत्वा कुर्यात्सुनिश्चलम् ॥ २ ॥

अर्थ—और तुच्छवीर्य गुणि अर्थात् सामर्थ्यहीन गुणि यदि अपने मनकी बस करी कर सके तो रागद्वेषका नाश करके मानसो निश्चल करे । भावार्थ—मानसो रागद्वेषका विलयन न होने दे ॥ २ ॥

अनुप्रेक्षाया धर्म्यस्य स्युः सदैव निषण्णनम् ।

विश्राण्णमौ स्थिराकृत्य स्वम्यस्य निरूपय ॥ ३ ॥

अर्थ—हे मुने! अनिय अगणनादि वारद अनुप्रेक्षा अपां अविचारिता विमलान् कर्मण मन धर्मध्यानका कारण है । इसलिये अपनी रितरूपी भूमिमें उन भू में अनेकों स्थिर करके अपने स्वम्यस्य अगोचर कर ॥ भावार्थ—यदि मानसो स्थिर न होना हो तो वारद मानाओंका विनयन कर । ये मानस धर्मध्यान का कारण है ॥ ३ ॥

रक्तोष्णप्यानु निष्कण्ठो यथा दीप्तो घनं तमः ।

तथा कर्मकल्पद्वीप मुनेर्गानं सुनिश्चलम् ॥ ४ ॥

अर्थ—देखो रक्त रक्त अवतु अवतु दीप्त गहन अन्धकारको दीप्त ही हो कर दीप्त है । तभी वारद मुनिका मुनिशब्द ध्यान भी कर्मकल्प द्वीप समुद्रको दीप्त ही हो कर है । भावार्थ—रक्त रक्त वारद ध्याना करता ही वारद ॥ ४ ॥

गल्लेचात्पसत्त्वाना क्रियमाणमपि स्थिरम् ।

चेत शरीरिणां शम्भद्विषयैर्ग्याकुलीकृतम् ॥ ५ ॥

न स्यामित्यमत शुद्धे विद्यतेऽत्यल्पचेतसाम् ।

आद्यसहननस्यैव तत्प्रणीतं पुरातनै ॥ ६ ॥

छिन्ने भिन्ने हते दग्धे देहे स्वमिष दूरगम् ।

प्रपश्यन् धर्षयातादिदु गौरपि न कम्पने ॥ ७ ॥

न पश्यति तदा किञ्चिन्न शृणोति न जिघ्रति ।

स्पृष्ट किञ्चित् जानाति साक्षात्निर्धृत्सलेषवत् ॥ ८ ॥

कालापकम् ॥

अर्थ—अल्पवीर्य अथात् सामर्थ्यहीन प्राणियाँका मन स्थिर करते हुए भी तिरस्तर नियोजिते ध्यातुल होता हुआ चलायमान होता ही है। इसलिये अतिशय अल्पचित्तवालोंका गुरुध्यान करनेमें अधिकार नहीं है। प्राचीन मुनियोंने पहलेक (वज्र, वृषभ, नाराच) सहननवाले ही गुरुध्यान कहा है। इसका कारण यह है कि इस सहननवालेका ही चित्त ऐसा होता है कि, शरीरको छेड़ने, भेदने, मारने और जलानेपर भी अपने भाषाको उस शरीरसे अत्यन्त दूर अथात् भिन्न देखता हुआ चलायमान नहीं होता और न वर्षासालने परन आदिक दु खोंसे कम्पायमान होता है। तथा उस ध्यानने समय लेपरी मूर्ति अथात् रगसे निकाली हुई चित्रामकी मूर्तिरी तरह हो जाता है। इस कारण, यह योगी न तो कुछ देखता है, न कुछ सुनता है, न कुछ सूँघता है और न कुछ स्पर्श विय हुणको जानता है। भावार्थ—ऐसे पुरुषके गुरुध्यान होता है ॥ ५ ॥ ॥ ६ ॥ ७ ॥ ८ ॥

आन्रसहननोपेता निर्वदपदवीं श्रिता ।

कुर्यन्ति निश्चल चेत शुद्धध्यानक्षम नरा ॥ ९ ॥

अर्थ—जिनके आदिना सहनन है और जो वैराग्य पदवीको प्राप्त हुए हैं, ऐसे पुरुष ही अपने चित्तको गुरुध्यान करनेमें समर्थ ऐसा निश्चल करते हैं ॥ ९ ॥

सामग्र्योद्भवयोर्ध्यातुर्ध्यानं याद्यान्तरङ्गयो ।

पूर्वपारेच शुद्ध स्यान्नान्यथा जमकोटिषु ॥ १० ॥

अर्थ—इस प्रकार पूर्व कही हुई याद्य और आन्तरिक अथात् आदिक सहनन और वैराग्यमात्र इन दोनों सामग्रियोंसे ध्यान करनेवालेके गुरुध्यान होता है। अथवा अर्थात् मित्रा आदिके सहनन और वैराग्यभावके, करोड़ों जमोंमें भी नहीं हो सकता ॥ १० ॥

सर्वे साधारण जीवोंने शुरुभ्यान असमय है इसलिये धर्मध्यानकी रीति कहते हैं।

अतिक्रम्य शरीरादिमङ्गा नात्मन्यवस्थितः ।

नैवाक्षमनसोऽयं करोत्येकाग्रताश्रितः ॥ ११ ॥

अर्थ—धर्मध्यान करनेवाला शरीरादिक परिग्रहाको छोड़, आत्मान अवस्थित होता हुआ, एकाग्रताको धारण कर, इन्द्रिय और मनका संयोग नहीं करता है अर्थात् इन्द्रियोसे जो पदार्थाका ग्रहण होता है उनका मनसे संयोग नहीं करता। मनको केवल स्वरूपमें ही स्थिर रखता है ॥ ११ ॥

अब इस ध्यानका फल लिखते हैं ।

असंख्येयमसंख्येय सदृष्ट्यादिगुणेऽपि च ।

क्षीयते क्षपकस्यैव कर्मजातमनुक्रमात् ॥ १२ ॥

शमकस्य क्रमात् कर्म शान्तिमायाति पूर्ववत् ।

प्राप्नोति निर्गतातङ्कः स सौख्य शमलक्षणम् ॥ १३ ॥

अर्थ—इस धर्मध्यानमें कर्मोंका क्षय करनेवाले क्षपकके सदृष्टि अर्थात् सम्यग्दृष्टि नामक चौथे गुणस्थानसे लेकर, सातवें अप्रमत्त गुणस्थान पर्यन्त अनुक्रमसे असंख्यात असंख्यात गुणा कर्मका समूह क्षय होता है। और जो कर्मोंका उपशम करनेवाला उपशमक है उससे प्रमत्त असंख्यात असंख्यात गुणा कर्मका समूह उपशम होता है। इसलिये ऐसा धर्मध्यानी आतंक दाटादि दुखोंसे रहित होता हुआ उपशम मात्रका सुखको प्राप्त होता है ॥ १२ ॥ १३ ॥

धर्मध्यानस्य विज्ञेया स्थितिरान्तर्मुहूर्त्तिका ।

क्षायोपशमिको भावो लक्ष्म्या शुद्धैव शाश्वती ॥ १४ ॥

अर्थ—इस धर्मध्यानकी स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त है, इसका भाव क्षायोपशमिक है और लक्ष्म्या सदा शुद्ध ही रहती है। भावार्थ—धर्मध्यान अन्तर्मुहूर्त्त रहता है। धर्मध्यान वाग्ये क्षायोपशमिक भाव और शुद्ध लक्ष्म्या होती है ॥ १४ ॥

इदमत्यन्तनिर्दयिवेकप्रशमोद्भवम् ।

म्यात्मानुभवमत्यक्ष योजयत्यङ्गिना सुखम् ॥ १५ ॥

अर्थ—यह धर्म ध्यान जीवोंको अत्यन्त निर्दय अर्थात् संसार देश भोगादिकामे भ्रमन वैराग्य तथा निरेष अर्थात् भेदज्ञा और प्रशम अर्थात् मददवाय इनमें उन्नत होनवाले अपने आभावे ही अनुपम आनन्द और इन्द्रियासे अतीत अर्थात् अतीन्द्रिय ऐसे सुखको प्राप्त करना है ॥ १५ ॥

अथ इति धर्मध्याने विद्वद्भ्यो नमः—

॥ १५ ॥

‘भगोऽप्यसौ यमनिदुरग्यः शेषः शुभो मृगपुरीषमन्यम् ।

बाणि प्रसादः परमोऽन्यता च योगमवृत्ते प्रथमं हि विद्वद्भ्यः ॥ १५ ॥

अर्थ—भगोऽप्यसौ यमनिदुरग्यः शेषः शुभो मृगपुरीषमन्यम् ।
 बाणि प्रसादः परमोऽन्यता च योगमवृत्ते प्रथमं हि विद्वद्भ्यः ॥ १५ ॥
 अर्थ—भगोऽप्यसौ यमनिदुरग्यः शेषः शुभो मृगपुरीषमन्यम् ।
 बाणि प्रसादः परमोऽन्यता च योगमवृत्ते प्रथमं हि विद्वद्भ्यः ॥ १५ ॥
 अर्थ—भगोऽप्यसौ यमनिदुरग्यः शेषः शुभो मृगपुरीषमन्यम् ।
 बाणि प्रसादः परमोऽन्यता च योगमवृत्ते प्रथमं हि विद्वद्भ्यः ॥ १५ ॥

अथ इति धर्मध्याने विद्वद्भ्यो नमः—

अथापमाने न्यनु विहाय ध्यानेन सन्पस्तसमस्तसद्वा ।

धैर्यवानुत्तरपुण्यपासे सर्वार्थसिद्धौ च भवति भव्या ॥ १६ ॥

अर्थ—अथ इति धर्मध्याने विद्वद्भ्यो नमः—
 अथापमाने न्यनु विहाय ध्यानेन सन्पस्तसमस्तसद्वा ।
 धैर्यवानुत्तरपुण्यपासे सर्वार्थसिद्धौ च भवति भव्या ॥ १६ ॥
 अर्थ—अथ इति धर्मध्याने विद्वद्भ्यो नमः—
 अथापमाने न्यनु विहाय ध्यानेन सन्पस्तसमस्तसद्वा ।
 धैर्यवानुत्तरपुण्यपासे सर्वार्थसिद्धौ च भवति भव्या ॥ १६ ॥

तत्राप्यन्तमहाप्रभायवर्तितः स्यात्पुण्यलीलाञ्छितः

सन्मूपाग्वरदिप्यलान्नखितः सन्द्रायदातः वपुः ।

समाप्नोति नवीर्यपोषसुभगः कामज्वरास्तिच्युतः

सैवन्ते विगतान्तरायमतुलः सौम्यः चिरं स्वर्गिणः ॥ १७ ॥

अर्थ—अथ इति धर्मध्याने विद्वद्भ्यो नमः—
 तत्राप्यन्तमहाप्रभायवर्तितः स्यात्पुण्यलीलाञ्छितः
 सन्मूपाग्वरदिप्यलान्नखितः सन्द्रायदातः वपुः ।
 समाप्नोति नवीर्यपोषसुभगः कामज्वरास्तिच्युतः
 सैवन्ते विगतान्तरायमतुलः सौम्यः चिरं स्वर्गिणः ॥ १७ ॥

धैर्यवानुत्तरपुण्यपासे सर्वार्थसिद्धौ च भवति भव्या ।

निरन्तरं पुण्यपरम्पराभिर्विषयैः चार्द्धिरियेन्दुपादे ॥ १८ ॥

अर्थ—अथ इति धर्मध्याने विद्वद्भ्यो नमः—
 धैर्यवानुत्तरपुण्यपासे सर्वार्थसिद्धौ च भवति भव्या ।
 निरन्तरं पुण्यपरम्पराभिर्विषयैः चार्द्धिरियेन्दुपादे ॥ १८ ॥
 अर्थ—अथ इति धर्मध्याने विद्वद्भ्यो नमः—
 धैर्यवानुत्तरपुण्यपासे सर्वार्थसिद्धौ च भवति भव्या ।

उत्पा है । और उह जेमे चन्द्रमासी निरणामे ममुद्र वन्ता है उमे ही निरतर पुनरी परपरासे वदता ही रहता है । भाचार्य—उत्पा मृग सग उद्विग्न है ॥ १८ ॥

देवराज्य समासाद्य यत्सुग कल्पवासिनाम् ।

निर्विशन्ति ततोऽनन्त सौम्य कल्पातिप्रक्षिप्तः ॥ १९ ॥

अर्थ—इन्द्रपदको पापेर कल्पगामियोंको जो सुग मिलता है उममे अन्न गुणा सुख कल्पातीतों (नर ग्रंथेय, १२ अनुत्तर और निजयात्रि पाप निमानोंने ह नेगाले अहमिन्द्रा)को प्राप्त होता है ॥ १९ ॥

समग्रन्त्यथ कृतेषु तेऽचिन्त्यविभूतिदम् ।

प्राप्नुवन्ति पर सौम्य सुराः श्रीभोगलान्छितम् ॥ २० ॥

अर्थ—अथवा धर्मध्यानसे पराय छोडकर, जो उन कल्पमार्गमें (मोलह स्वर्गमें) उत्पन्न होते हैं वे देव भी अचिन्त्य विभूतिके देनेगाले और निर्याके भोगोंसन्ति उत्पन्न सुखको प्राप्त होते हैं ॥ २० ॥

दशाङ्गभोगसम्भूत महाष्टगुणवर्द्धितम् ।

यत्कल्पवासिना सौर्य तद्वक्तु केन पार्यते ॥ २१ ॥

अर्थ—कल्पवासी देवोंका सुख दशाङ्ग भोगोंसे उत्पन्न हुआ है और अणिमादिक आठ महागुणोंसे वृद्ध हुआ है । इसलिये उस सुगको कौन वर्णन कर सकता है ॥ २१ ॥

सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्त सर्वाभ्युदयभूषितम् ।

नित्योत्सवयुत दिव्य दिवि सौर्य दिवौकसाम् ॥ २२ ॥

अर्थ—स्वर्ग देवोंका सुख सर्वद्वन्द्व अर्थात् क्षोभोंसे रहित है, समस्त अभ्युदयोंने भूषित, नित्य उत्सवोंसहित और दिव्य है ॥ २२ ॥

प्रतिसमयमुदीर्ण स्वर्गसाम्राज्यरूढ

सरलविषयबीज स्वान्नदत्ताभिनन्दम् ।

ललितपुवतिलीलालिङ्गनादिप्रसूत

सुगमतुलमुदार स्वर्गिणो निर्विशन्ति ॥ २३ ॥

अर्थ—स्वर्गके प्रत्येक समयमें उदयरूप अर्थात् निच्छेदरहित, स्वर्गके साम्राज्यमें प्रसिद्ध, समस्त विषयोंका कारण, अतः कारणको आनन्द देनेगाले, सुन्दर देवाङ्गना भोंदी लीला और आलिंगादिरूप उत्पन्न, अतुल और उदार सुखका अनुभव करने हैं ॥ २३ ॥

मर्षानिमित्तभायोत्थ निर्विघ्नं स्व सुखामृतम् ।

नेव्यमाना न पुन्यन्ते गत जन्म दिवौकस ॥ २४ ॥

अर्थ—मर्षानिमित्तभायोत्थ स्व अपने समान भोगोंसे उत्पन्न और निर्विघ्न
ऐसे स्वयंके सुखरूप अमृतका संग्रह करते हुए स्थित हुए जन्मको अर्थात् गये हुए
दरबारको नहीं जानते ॥ २४ ॥

तस्मात्पुण्या त्रिदिवपटलादिन्यभोगावसान

कुर्यन्त्यन्या भुवि नरनुते पुण्यधनोऽवतारम् ।

तत्रैश्वर्य परमयुष प्राप्य देवोपनीते-

भोगैर्नित्योत्सवपरिणतैर्लाभ्यमाना यमन्ति ॥ २५ ॥

अर्थ—विर पे स्वर्ग देव दिव्य भोगोंसे भोगकर, उस स्वर्गपटलसे युक्त होते हैं
और इस भूमिपरमें जिसको लोग तत्कार करते हैं ऐसे उत्तम पुण्य धनमें अवतार लेते
हैं । और वहा भी परम (उत्कृष्ट) दरीर आर देवधर्मको पाकर, नित्य उत्सव रूप परिणत
ऐसे दशोपनीत अनेक भोगोंसे लालित और पुष्ट हुए निवास करते हैं । यह सब धर्म्य
प्राप्तका फल है ॥ २५ ॥

ततो पियेकमालम्ब्य विरज्य जननध्रमात् ।

प्रिरक्तशुद्धिमासाद्य तप कृत्यान्पदुष्करम् ॥ २६ ॥

धर्मध्यानं च शुद्धं च स्वीकृत्य निजवीर्यत ।

शृत्तनवार्मक्षय कृत्वा यजन्ति पदमव्ययम् ॥ २७ ॥

अर्थ—उत्तर बाद अर्थात् उत्तम मनुष्यभरके सुख भोगकर, पुन भेदज्ञानको
(शरीरादिकसे आन्तारी मिश्रताको) अलंकार कर, समाप्तके परिभ्रमणसे निरक्त हो,
रक्तधन अर्थात् सम्पदादशा, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्धारित्रीकी शुद्धतासे प्राप्त कर, दुर्धर
तप कर तथा अपनी शक्ति अनुसार धर्मध्यान और गुरुध्यानसे धारण कर और समस्त
कर्मोंका नाश कर, अविनाशी भोग पदको प्राप्त होते हैं । यह धर्मध्यानका परपराकृत
फल है । इस प्रकार धर्मध्यानका फल निरूपण किया ॥ २६।२७ ॥

शेषः ।

धर्मध्यानको फल अतो, पद महमिन्द्र सुरेन्द्र ।

परपरा दिवपुर वसें, जे नर धरें विमन्द्र ॥ १ ॥

इति श्रीगुगुचद्रापाश्विरचिते योगप्रदीपाधिकारे साक्षात्तने धर्मध्यानफल

वर्णन त्रैलोक्यसारिण प्रकरणम् ॥ ४१ ॥

अथ द्विचत्वारिंश प्रकरणम् ।

अत्र आचार्य गुह्यध्यानका वर्णन करते हैं ।

गुह्यध्यान धर्म्यध्यानपूर्वक होते हैं, इसलिये प्रथम ही धर्मध्यानकी प्रेरणा करते हैं ।

शान्तुर्विधीकृतम् ।

रागागुह्यक्राकलापकलित सन्देहलोलायित

चिक्षित सकलेन्द्रियार्थगहने कृत्वा मनो निश्चलम् ।

ससारव्यसनप्रबन्धविलयं मुक्तेर्धिनोदास्पद

धर्मध्यानमिदं विदन्तु निपुणा अत्यक्षसौरयार्थिनः ॥ १ ॥

अर्थ—अतीन्द्रिय सुखके चाहनेवाले निपुण मुनि प्रथम ही रागादिक तीव्र रोगों से समूहोंसे व्याप्त, अनेक सन्देहोंसे चलायमान अर्थात् जतक निर्णय न हो ततक स्थिर न रहनेवाले और समस्त इन्द्रियोंके विषयरूप गहन वनमें विक्षिप्त अर्थात् भूले हुए मनको निश्चल करते हैं । ससारके कष्ट आपत्ति आदि व्यसनोंके प्रबन्धसे रहित और मुक्तिकी ढीढा करनेका स्थान ऐसे इस ध्यानको धर्म्यध्यान कहते हैं । भावार्थ—मनको निश्चल करके, धर्मध्यान होता है । इसमें सासारिक व्यापारके प्रवर्तनका सर्वथा न भाव है ॥ १ ॥

आत्मार्थं अथ मुञ्च मोहगहन मित्र विवेक कूरु

वैराग्य भज भावयस्व नियत भेद शरीरात्मनोः ।

धर्म्यध्यानसुधासमुद्रकुहरे कृत्वावगाहं पर

पश्यानन्तसुखस्वभावकलित मुक्तेर्मुखान्भोरहम् ॥ २ ॥

अर्थ—हे आत्मन्, तू आत्माके प्रयोजनका आश्रय कर अर्थात् और प्रयोजनोंको छोड़कर, केवल आत्माके प्रयोजनका ही आश्रय कर, तथा मोहरूपी वनको छोड़, विवेक अर्थात् भेदज्ञानको मित्र बना, ससार देहके भोगोंसे वैराग्यका सेवन कर, और परमात्म जो शरीर और आत्मामें भेद है उसका निश्चयसे चिन्तन कर । ओर धर्म्यध्यानरूपी अमृतके समुद्रके कुहरे (मध्य) में परम अग्राहन (खान) करके अनन्त सुख समाप्त सहित मुक्तिके मुक्तफलको ले ॥ २ ॥

अथ श्रुतध्यानका निरूपण करते हैं ।

अथ धर्म्यमतिशान्तः शुद्धिं चात्यन्तिकीं श्रित ।

ध्यातुमारभते वीरः शुरुमत्यन्तनिर्मलम् ॥ ३ ॥

अर्थ—इस ध्येयध्याने अनंतर ध्येयध्याने अनिरात होकर अर्थात् निकलकर, अत्यंत गुरुताको प्राप्त हुआ धीर धीर मुनि अत्यंत निमल गुरुध्यानके ध्यावनेका प्रारम्भ करता है ॥ ३ ॥

निष्क्रिय करणातीत ध्यानधारणवर्जितम् ।

अन्तर्मुखं च यद्विस्त तच्छुक्रमिति पठ्यते ॥ ४ ॥

अर्थ—जो निष्क्रिय अर्थात् क्रियारहित है, इन्द्रियातीत है और ध्यानकी धारणासे रहित है अर्थात् “मैं इसका ध्यान करूँ” ऐसी इच्छासे रहित है और जिसमें वित्त अर्थात् अपने स्वरूपहीके सम्मुख है, उसको गुरुध्यान कहते हैं ॥ ४ ॥

आदिसहननोपेत पूर्वज्ञ पुण्यचेष्टित ।

यत्पुनर्यमपि ध्यान स शुद्धं ध्यातुमर्हति ॥ ५ ॥

अर्थ—जिसके प्रथम व्रत, वृषभ, नाराच सहनन है, जो पूर्व अर्थात् ग्यारह अग बीस वर्ष पूर्वका जाननेवाला है और जिसकी पुण्यरूप चेष्टा हो अर्थात् शुद्धचारित्र्य हो, वही मुनि चारों प्रकारके गुरुध्यानोंको धारण करने योग्य होता है ॥ ५ ॥

आर्षः ।

“शुचिगुणयोगाच्छुद्धं कषायरजस क्षयादुपशमाया ।

वैदूर्यमणिशिखाद्य सुनिर्मल निष्कम्प च ॥ १ ॥

अर्थ—आत्माके शुचिगुणके सम्बन्धसे इसका नाम गुरु पड़ा है । कषायरूपी रजके क्षय होनेसे अथवा उपशम होनेसे जो आत्माके निमल परिणाम होते हैं वही शुचिगुणका योग है । और यह गुरुध्यान वैदूर्यमणिरी शिखाके समान निर्मल और निष्कम्प अर्थात् कषतासे रहित है ॥ १ ॥

कषायमलविश्लेषात्प्रशमाया प्रवृत्तते ।

यतः पुसामतस्तज्ज्ञैः शुक्रमुक्त निश्चितिकम् ॥ ६ ॥

अर्थ—गुरुओंके कषायरूपी मलके क्षय होनेसे अथवा उपशम होनेसे यह गुरुध्यान होता है इसलिये उस ध्यानके जाननेवाले आचार्योंने इसका नाम गुरु ऐसा निश्चित पृथक् अर्थात् साधक कहा है ॥ ६ ॥

एकस्ययोगिनामाये मे तु शुद्धे प्रकीर्तिते ।

मे त्वन्ये क्षीणदोषाणा केवलज्ञानचक्षुषाम् ॥ ७ ॥

अर्थ—गुरुध्यानके पृथक्त्ववितर्क, एकत्ववितर्क, सूक्ष्मत्रियाप्रतिपानि, ध्युरत त्रियाप्रतिपानि ऐसे चार भेद हैं । उनमेंसे पहिलेके दो अर्थात् पृथक्त्ववितर्क और एकत्व

किन्तु ते छन्दस्य योगी अर्थात् धारद्वै गुणम्या पर्यन्त अल्पानियति होते हैं । और
 उनके ये गुण सत्त्वा रसादिद्वेषोंमें रहित ऐसे केवल शाश्वत होते हैं ॥ ७ ॥

भुवजानार्थमभ्यन्धाच्छ्रुतालम्बनपूर्वके ।

पूर्व परे जिनेन्द्रस्य निःशेषालम्बनन्युने ॥ ८ ॥

अर्थ—जानने से गुणम्या जो कि छन्दस्यों होते हैं वे श्रुतज्ञान से अनेक होते हैं
 उनके अन्तर्गत भव्यतत्त्व है अर्थात् उच्च श्रुतज्ञानपूर्ण पदार्थ आत्मा ही
 है । और अन्तर्गत से गुणम्या जो कि जिनेन्द्रों होते हैं वे समान आत्मानों
 होते हैं ॥ ८ ॥

मन्त्रिकं मयीचारं मयूषरस्य न कीर्त्तिगम् ।

शुद्धमात्रं निर्माय तु विपर्यस्तमतोऽपरम् ॥ ९ ॥

अर्थ—मन्त्रिकं मयीचारं मयूषरस्य न कीर्त्तिगम् ।
 शुद्धमात्रं निर्माय तु विपर्यस्तमतोऽपरम् ॥ ९ ॥
 अर्थ—मन्त्रिकं मयीचारं मयूषरस्य न कीर्त्तिगम् ।
 शुद्धमात्रं निर्माय तु विपर्यस्तमतोऽपरम् ॥ ९ ॥

मन्त्रिकं मयीचारं मयूषरस्य न कीर्त्तिगम् ।

शुद्धमात्रं निर्माय तु विपर्यस्तमतोऽपरम् ॥ १० ॥

अर्थ—मन्त्रिकं मयीचारं मयूषरस्य न कीर्त्तिगम् ।
 शुद्धमात्रं निर्माय तु विपर्यस्तमतोऽपरम् ॥ १० ॥
 अर्थ—मन्त्रिकं मयीचारं मयूषरस्य न कीर्त्तिगम् ।
 शुद्धमात्रं निर्माय तु विपर्यस्तमतोऽपरम् ॥ १० ॥

मन्त्रिकं मयीचारं मयूषरस्य न कीर्त्तिगम् ।

शुद्धमात्रं निर्माय तु विपर्यस्तमतोऽपरम् ॥ ११ ॥

अर्थ—मन्त्रिकं मयीचारं मयूषरस्य न कीर्त्तिगम् ।
 शुद्धमात्रं निर्माय तु विपर्यस्तमतोऽपरम् ॥ ११ ॥
 अर्थ—मन्त्रिकं मयीचारं मयूषरस्य न कीर्त्तिगम् ।
 शुद्धमात्रं निर्माय तु विपर्यस्तमतोऽपरम् ॥ ११ ॥

मन्त्रिकं मयीचारं मयूषरस्य न कीर्त्तिगम् ।

शुद्धमात्रं निर्माय तु विपर्यस्तमतोऽपरम् ॥ १२ ॥

अर्थ—मन्त्रिकं मयीचारं मयूषरस्य न कीर्त्तिगम् ।
 शुद्धमात्रं निर्माय तु विपर्यस्तमतोऽपरम् ॥ १२ ॥
 अर्थ—मन्त्रिकं मयीचारं मयूषरस्य न कीर्त्तिगम् ।
 शुद्धमात्रं निर्माय तु विपर्यस्तमतोऽपरम् ॥ १२ ॥

दूसरा एकत्ववितर्कविचार किसी एक योगसे ही होता है । क्योंकि, हमने योग पट्टने नहीं । योगी जिस योगमें लीन है, वही योग रहता है । तीसरा सूक्ष्मत्रिधाप्रतिपत्ति काय योग बालेके ही होता है । क्योंकि, केवली भगवान्के केवल काययोगही सूक्ष्मत्रिधा ही है । शेष दो योगोंकी प्रिया नहीं है । और चौथा समुच्छिन्नक्रिय अयोगकवीरि होना है । क्योंकि, अयोगनेत्रकीके योगोंकी नियामा सगुणा अभाव है ॥ १२ ॥

अत्र इनका स्पष्ट अर्थ कहते हैं ।

पृथक्त्वेन वितर्कस्य वीचारो यत्र विद्यते ।

सवितर्क सवीचार सपृथक्त्व तदिष्यते ॥ १३ ॥

अर्थ—जिस ध्यानमें पृथक् पृथक् रूपसे नित्य अथवा मुक्ता वीक्षण अथवा स्वप्न होता है अर्थात् जिसमें अलग अलग मुक्ता वदलता रहता है, उसको मति एक सवीचार सपृथक्त्व ध्यान कहते हैं ॥ १३ ॥

अवीचारो वितर्कस्य यद्यैकत्वेन सख्यते ।

सवितर्कमवीचार तदेकत्वं विदुर्बुधा ॥ १४ ॥

अर्थ—जिस ध्यानमें वितर्कका वीचार (संक्रमण) गरी होना और जो एक रूपसे ही स्थित हो उसको पंडितजन सवितर्क अवीचार रूप एकर ध्यान कहते हैं ॥ १४ ॥

पृथक्त्व तत्र नानात्वं वितर्क श्रुतमुच्यते ।

अर्थव्यञ्जनयोगानां वीचारः सत्रयं स्मृतः ॥ १५ ॥

अर्थ—तदा ज्ञानात् अथवा अनेकपदको पृथक्त्व कहते हैं, मुक्तावस्था में कहते हैं और अर्थ, व्यञ्जन और योगोंके संक्रमणका नाम वीचार कहा गया है ॥ १५ ॥

अर्थादर्थान्तरापत्तिरर्थसन्नान्तिरिष्यते ।

ज्ञेया व्यञ्जनसन्नान्तिर्व्यञ्जनाद्यन्ते स्थितिः ॥ १६ ॥

स्यादिय योगसन्नान्तिर्योगायोगान्तरे गतिः ।

विदुर्बुधध्यानसामर्थ्यात्क्षीणमोहस्य योगिनः ॥ १७ ॥

अर्थ—एक अर्थ (पदार्थ)से दूसरे अर्थकी प्राप्ति होना अर्थान्तर है । एक व्यञ्जनसे दूसरे व्यञ्जनमें प्राप्त होकर, स्थिर होना व्यञ्जनान्तर है । और एक योगसे दूसरे योगमें गति करना योगसन्नान्ति है । इस प्रकार विदुर्बुध ध्यानसे मोहविकार मोहनाशक होना होता है ऐसे योगी कहते हैं ॥ १६ । १७ ।

अर्थ ॥

“अर्थादर्थं यच्च शब्दं योगायोग समाधयेत् ।

पर्यायादपि पर्यायं दृष्ट्याणोद्भिन्नपेददुःखं ॥ १८ ॥

अर्थ—एक अर्थसे दूसरे अर्थका विचार करे । एक शब्दसे दूसरे शब्दका

एक योगसे दूसरे योगका आश्रयले । एक पर्यायमे दूसरे पर्यायका चिन्तन करे ।
द्रव्यरूप अणुसे अणुका चिन्तन करे । ऐसा अत्र ग्रन्थोर्म लिखा है ॥ २ ॥

अर्थादिषु यथा ध्यानी मन्त्रामन्यत्रिलिखितम् ।

पुनर्व्याचर्त्तते तेन प्रकारेण स हि मयम् ॥ १८ ॥

अर्थ—जो ध्यानी अर्थ व्यञ्जन आदि योगोंमें जैसे नीप्रतामें सङ्गमण करता है व
ध्यानी अपने आप पुन उसीप्रकार लौटता है ॥ १८ ॥

त्रियोगी पूर्वविद्यः स्यादिदं ध्यायन्ममौ मुनिः ।

सवितर्कं सवीचारं सपृथक्त्वमतो मतम् ॥ १९ ॥

अर्थ—जिनके तीनों योग होते हैं और जो पूर्वेका जाननेवाला होता है, वह मुनि
इस पहले ध्यानको धारण करता है । इसलिये इस ध्यानका नाम सवितर्कसवीचारस
थक्त्व कहा है ॥ १९ ॥

अस्याचिन्त्यप्रभायस्य सामर्थ्यात्म प्रशान्तवीः ।

मोहमुन्मूलयत्येव शमयत्यथवा क्षणे ॥ २० ॥

अर्थ—इस अचिन्त्य प्रमाणवाले ध्यानके सामर्थ्यसे जिनका चित्त शान्त होना
है ऐसा ध्यानी मुनि क्षणभरमें मोहनीय कर्मका मूलसे नाश करता है, अपना उसका
उपशम करता है ॥ २० ॥

उक्तं च ।

“इदमग्र तु तात्पर्यं श्रुतस्कन्धमहार्णवात् ।

अर्थमेक समादाय ध्यायन्नर्थान्तरं ब्रजेत् ॥ ३ ॥

अर्थ—इस ध्यानमें अर्थादिकके फलटनेका तात्पर्य यह है कि श्रुतस्कन्ध अर्थात्
द्वादशांग शास्त्ररूप महासमुद्रसे एक अथको लेकर उसका ध्यान करता हुआ दूसरे
अर्थको प्राप्त होता है ॥ ३ ॥

शब्दाच्छब्दान्तरं यायाद्योग योगान्तरादपि ।

सवीचारमिदं तस्मात्सवितर्कं च लक्ष्यते ॥ २१ ॥

अर्थ—यह ध्यान एक शब्दसे दूसरे शब्द पर जाता है और एक योगसे दूसरे योग
पर जाता है इसलिये इसका नाम सवीचारसवितर्क कहते हैं ॥ २१ ॥

श्रुतस्कन्धमहासिन्धुमवगाह्य महामुनिः ।

ध्यायेत्पृथक्त्ववितर्कवीचारं ध्यानमग्रिमम् ॥ २२ ॥

अर्थ—महामुनि द्वादशांग शास्त्ररूप महामुद्रको अवगाहन करके, इस ध्यान
वितर्क वीचार नामक पहले गुरुध्यानको ध्याये ॥ २२ ॥

एव शान्तकपायात्मा कर्मकक्षाशुशुक्षणि ।

एकत्वध्यानयोग्य स्यात्पृथक्त्वेन जिताशय ॥ २३ ॥

अर्थ—इस प्रकार पृथक्त्व ध्याते जिनने अपना चित्त जीत लिया है और जिसके कपाय शान्त होगये हैं और जो कर्मरूप वश अर्थात् तृणसमूह अथवा वनके दग्ध पत्तोंकी अग्निके समान हैं, वेमा महामुनि एकत्व ध्यानके योग्य होता है ॥ २३ ॥

पृथक्त्वे तु यदा ध्यानी भवत्यमलमानस ।

तदेकत्वस्य योग्य स्यादाविर्भूतात्मविक्रम ॥ २४ ॥

अर्थ—जिम समय इस ध्यानीका चित्त पृथक्त्व ध्यानके द्वारा कपायमलसे रहित होता है, तब इस ध्यानीका पराक्रम प्रगट होता है और तभी यह एकत्व ध्यानके योग्य होता है । भाषार्थ—एकत्व ध्यान, पृथक्त्व ध्यानपूर्वक ही होता है ॥ २४ ॥

क्षेप मक्षीणमोहस्य पूर्वज्ञस्यामितशुते ।

सवितर्कमिदं ध्यानमेकत्वमतिनिश्चलम् ॥ २५ ॥

अर्थ—जिमका मोहनीयकर्म छट होगया है और जो पूर्वका जाननेवाला है और जिसकी दीप्ति अपरिमित है, उस मुनिके अत्यन्त निश्चल ऐसा यह सवितर्क एकत्वध्यान होता है ॥ २५ ॥

अपृथक्त्वमयीचार सवितर्क च योगिनः ।

एकत्वमेकयोगस्य जायतेऽत्यन्तनिर्मलम् ॥ २६ ॥

अर्थ—रिती एक योगजाले मुनिके पृथक्त्वरहित, बीचाररहित और वितर्कसहित ऐसा यह एकत्व ध्यान अत्यन्त निमल होता है ॥ २६ ॥

द्रव्य चैकमणु चैक पर्याय चैकमभ्रम ।

चिन्तयत्येकयोगेन यत्रैकत्व तदुच्यते ॥ २७ ॥

अर्थ—जिस ध्यानमें योगी सेद्वारहित होकर, एक द्रव्यको, एक अणुको अपरा एक पर्यायको एक योगसे चिन्तन करता है, उसको एकत्व ध्यान कहते हैं ॥ २७ ॥

॥ २८ ॥

“एक द्रव्यमथाणु वा पर्याय चिन्तयेद्यदि ।

योगैकेन यदक्षीण तदेकत्वमुदीरितम् ॥ ४ ॥

अर्थ—जो यदि समर्थ होता हुआ एक योगसे एक द्रव्य, एक अणु अपरा पर्यायको चिन्तन करे उसे एकत्व ध्यान कहते हैं ॥ ४ ॥

अस्मिन् सुनिर्मलध्यानवृत्ताशे प्रविजृम्भिते ।

धिलीपन्ते क्षणादेव घातिकर्माणि योगिनः ॥ २८ ॥

अर्थ—जि समय केवल ज्ञानकी प्राप्ति होती है उस समय वे भगवान् सबकालमें उदररूप सारसदेव होते हैं और अनन्त सुख, अनन्त वीर्य आदिक निभूतिक प्रथम स्थान होते हैं यह भास्वत्तत्वा स्वरूप है ॥ ३२ ॥

इन्द्रपन्द्रार्कभोगीन्द्रनरामरनतक्रम ।

वितरत्ययनीष्ट स शीलैर्द्वय्यत्ताञ्छित ॥ ३३ ॥

अर्थ—इन्द्र, चन्द्रना, सूर्य, धरणेन्द्र मनुष्य, और देवोंके नमस्कृत हुए हैं वरण दिक्के, ऐसे केवनी भावान् शील अपना चारासी लाख उत्तरगुण और ऐश्वर्य सहित दम्पातलमें विहार करते हैं ॥ ३३ ॥

उन्मूलयन्नि मिध्यात्व द्रव्यभावमल विभु ।

योधयत्यपि निःशेष भव्यराजीवमण्डलम् ॥ ३४ ॥

अर्थ—वे विभु सर्वज्ञ भावान् पृथीतलमें विहार करके तीनोंके द्रव्यमल और भाव मल रूप मिध्यात्वको जहते नाश करते हैं और समस्त भव्यजीवरूपी कमलोंकी मङ्गी (समूह)को प्रमुहित करते हैं । भावार्थ—जाओंके मिध्यात्वको दूर करके उनको मोक्षमार्गमें लगाने हैं ॥ ३४ ॥

ज्ञानलक्ष्मीं तपोलक्ष्मीं लक्ष्मीं त्रिदशयोजिताम् ।

आत्यन्तिकीं च सम्प्राप्य धर्मधक्षाधिपो भवेत् ॥ ३५ ॥

अर्थ—इस गुरु ध्यानके प्रमाणसे ज्ञानलक्ष्मी, तपोलक्ष्मी और देवोंकी श्री दुर तमरतरा आदिक लक्ष्मी तथा मोक्षलक्ष्मीको पाकर, धर्मके चन्द्रवर्ती होते हैं ॥ ३५ ॥

कल्याणविभव श्रीमान् सर्वाभ्युदयसूचकम् ।

समासाद्य जगद्व्यध्रैलोक्याधिपतिर्भवेत् ॥ ३६ ॥

अर्थ—अतएव बहिरा लक्ष्मीकरके सहित केवनी भावान् जायते बहनीय और सब अभ्युदयका सूचक ऐसे कल्याणरूप विभव (समृद्ध)को पाकर, तीनों लोकोंके अधिपति होते हैं ॥ ३६ ॥

तप्तममग्रहणादेय नि शेषा जन्मजा रजः ।

अप्यनादिसमुद्भूता भव्याना यान्ति लाघवम् ॥ ३७ ॥

अर्थ—निज भगवान्दे नाम लेतेसे ही भव्य जीवोंके अनादि कष्टस उत्तप्त हुए धननरपान्त्य सनन रोग लघु (हल्के) हो जाने हैं ॥ ३७ ॥

तदार्हत्त्व परिप्राप्य स देय सर्वगः शिवः ।

जायतेऽखिलकर्मौघजरामरणवर्जितः ॥ ३८ ॥

अर्थ—तब वे सर्वगत और शिव ऐसे भावान् अद्वैतको पाकर, सर्वत्र कर्मोंके

समूह और जरामरणसे रहित हो जाते हैं । **भाचार्य**—अरहतपना पाकर, सिद्ध परमेणी होते हैं ॥ ३८ ॥

अब कुछ विशेष कहते हैं —

तस्यैव परमेश्वर्य चरणज्ञानवैभवम् ।

ज्ञातुं वक्तुमहं मन्ये योगिनामप्यगोचरम् ॥ ३९ ॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि मैं ऐसा मानता हूँ कि उन सर्वज्ञ भगवान् का परम ऐश्वर्य, चारित्र और ज्ञानके निमग्नता जानना और कहना बड़े बड़े योगियोंके भी भगो घर है ॥ ३९ ॥

मोहेन सत् दुर्द्धर्षे हते घातिचतुष्टये ।

देवस्य व्यक्तिरूपेण शेषमास्ते चतुष्टयम् ॥ ४० ॥

अर्थ—केवली भगवान् के जब मोहनीय कमके साथ ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अतराय इन चार दुर्द्धर्ष घातिया कर्मोंका नाश हो जाता है तब अशेष चार अघाति कर्म व्यक्तरूपमें रहते हैं ॥ ४० ॥

सर्वज्ञ क्षीणकर्मासौ केवलज्ञानभास्करः ।

अन्तर्मुहर्त्तशेषायुस्तृतीय ध्यानमर्हति ॥ ४१ ॥

अर्थ—कर्मनि रहित और कमल ज्ञास्त्री सूर्यसे पदार्थोंको प्रकाश करनेवाले ऐसे वे सर्वज्ञ तब अतमुक्त प्रमाण आयु बारी रह जाता है तब तीसरे सूक्ष्मक्रिया—अप्रति पति मुक्तध्यानके योग्य होते हैं ॥ ४१ ॥

आर्या ।

पणमामायुषि शेषे मवृत्ता ये जिना प्रकुर्येण ।

ते यान्ति समुद्रात् शेषा भ्राज्या समुद्रात्ते ॥ ४२ ॥

अर्थ—जो तिनका उल्टा ॥ महीनेकी आयु अशेष रहते हुए केवली हुए हैं वे अवश्य ही समुद्रात करते हैं और शेष अथवा जो छ महीनेगे अधिक आयु रहते हुए केवली हुए हैं वे समुद्रातमें विकृत रूप हैं । **सामर्थ**—उत्तम कोश विषय नहीं है, समुद्रात करें और न भी करें ॥ ४२ ॥

यदापुराणिकानि स्युः कर्माणि परमेष्ठिनः ।

समुद्रातविधिं साक्षात्प्रागेवाभवे तदा ॥ ४३ ॥

अर्थ—जब अरहत परमेष्ठिन आयु कम आसुप्तता अशेष रह जाता है और अन्य जने कर्मोंकी विधि अरहत होती है तब समुद्रातकी विधि साक्षात् प्रथम ही अवगमन करते हैं ॥ ४३ ॥

दृष्ट्याति ।

अनन्तवीर्यप्रथितप्रज्ञाचो दण्ड कषाट प्रतर विषाय ।

स लोकमेन समयैश्चतुभिर्निर्दशोपमाप्रयति त्रमेज ॥ ४४ ॥

अर्थ—आन्त धोर्यके द्वारा जिसका प्रभाव पैना हुआ है उस व कब, मन्त्र बनने दाड, कपाट, प्रतर, इन तीन क्रियाओंको तीन समयने करके चार समयने ही समन लोरको पूरण करते हैं । भावार्थ—आत्माके प्रान्त पाने मन्त्रने दण्डरूप लम्बे, द्वितीय सायने कपाटरूप चौडे तीसरे समयने प्रतर रूप चौथे ही और चौथे समयने इसके प्रदेश समन लोकने भर जाने है । इन्हीसे लोचनद्वय कहते हैं । ये सब क्रिया चार समयने होनी हैं ॥ ४१ ॥

तदा स सूर्यः सार्वः सूर्यज्ञः सर्वतोमुखः ।

विश्वघ्नापी विशुभन्ता विश्वमूर्तिमेश्वर ॥ ४५ ॥

अर्थ—वेदकी भगवान् जिन साय लोकां होतें। एम मन एम एम
साय, सबह, सर्वतोमुख, विध्यापी, विभु, महा विधार्ता और महेश्वर व एम एम
(सायक) होते हैं ॥ ४५ ॥

लोकपूरणमासाद्य करोति ध्यानपीर्यन ।

आयु समानि कर्माणि भ्रूतिमानीय तत्क्षणे ॥ ४६ ॥

अर्थ—वेदों में अगस्त्य लोकपूतन प्रदेसों को पार कर के वेदों के लक्षण और गौड इन तीनों अष्टानि कर्मों की स्थिति पट्टार, अष्टानि १०५५ एवम् अष्टानि १०५५ स्थिति करते हैं। आचार्य—यदि वेदों के लक्षण और गौड कर्मों की स्थिति पट्टार करके अधिक हो तो लोकपूतन अस्तित्व उत्पत्ति अष्टानि १०५५ स्थिति करते हैं ॥ ४६ ॥

तत्तु चमेण तेनैय स पभाद्विनियसते ।

लोकपूरणतः श्रीमान् पतुभिः समर्थः पुनः ॥ ४३ ॥

अर्थ—क्षमिन् क्षेयिणी भगवन् पुन स्नेहपूज्य प्रकृत्ये लक्ष्मीं कुरु ॥ १३ ॥
 भगवन्, सम्यं होत है । भावार्थ—स्नेहपरणते प्रसन्न भव ॥ १३ ॥
 ये सनमने शरीरके सम्मान आपन्नदेवो काय है ॥ १३ ॥

बापयोगे स्थितिं कृत्या बाहरेऽपि न द्येति ।

एध्मीकरोति पारथिवयोग्यं न वादह ॥ ४८ ॥

अर्थ—मित्रों सेना अस्तित्व है ऐसा कहना ठीक नहीं है।
 यदि कहें, बादा बहादुर और बादा खोले हुए हैं।

परा शुद्धिं परिप्राप्तो दृष्टेर्षोधस्य चात्मनः ॥ ५७ ॥

अयोगी त्यक्तयोगत्वात्केवलोऽत्पादनिर्वृतः ।

साधितात्मस्वभावश्च परमेष्ठी पर प्रभु ॥ ५८ ॥

लघुपञ्चाक्षरोच्चारकाल स्थित्वा ततः परम् ।

स स्वभावाद्भजत्यूर्ध्वं शुद्धात्मा धीतपन्धन ॥ ५९ ॥

अर्थ—उस अयोग केवली चौदहवें गुणस्थानमें केवली भगवान् निमल, शांत, निष्कलङ्क, निरामय और जन्ममरणरूप ससारके अनेक दुर्निवार बाधके कष्टोंसे रहित हैं। इनका आत्मा सिद्ध, सुप्रसिद्ध और निष्पन्न है। तथा वे कमलरहित निर्मल हैं, त्रिपारहित हैं, शरीररहित हैं, पुद्गल हैं, निर्विकल्प हैं और अत्यन्त निमल हैं। इनके यथास्थित चारित्र्य प्रगट हुआ है अर्थात् चारित्र्यकी पूर्णता हुई है। और अनन्त दीर्घ सहित हैं अर्थात् अब अपने स्वरूपसे कभी प्युत नहीं होते। और आत्माके दर्शन का नदी वरहृष्ट शुद्धताको प्राप्त हुए हैं। तथा वे मन बचन कायके योगोंसे रहित हैं इसलिये अयोगी हैं। अत्यन्त निर्वृत्त हैं इसलिये केवल हैं। इन्होंने अपना आत्मा सिद्ध कर लिया है इसलिये साधितात्मा हैं तथा स्वभावस्वरूप है, परमेष्ठी हैं और दृष्टष्ट प्रभु हैं। उस चौदहवें गुणस्थानमें इतने समय तक ठहरते हैं कि जितने समयमें लघु पाप अपरका उच्चारण हो और फिर कमलपद्मसे रहित वे शुद्धात्मा स्वभावहीने ऊर्ध्व गमा करते हैं ॥ ५७ ॥ ५८ ॥ ५९ ॥

इस प्रकार अवतक सूक्ष्म त्रियाऽप्रतिपाति और व्युपतत्त्वियानिर्गति इन दोनों गुरुध्यानोका निरूपण दिया। इन दोनों ध्यानोका फल मोक्ष है इसलिये अब कुछ नो करवा वगन करते हैं।

अवरोधयिनिर्मुक्त लोकाग्र समये प्रभुः ।

धर्माभावे ततोऽप्यूर्ध्वगमनं नानुमीयते ॥ ६० ॥

अर्थ—प्रधान् वे भगवान् ऊर्ध्व गमन कर, एक समयमें ही कर्मके अवरोधरहित धर्मके अप्रमाणयि विराजमान होते हैं। लोकाग्रभागमें आगे धर्मलोकानका अन्तार है इसलिये इनका आगे गमन नहीं होता। यही अनुमानद्वारा दिखलाने हैं ॥ ६० ॥

धर्मो गतिस्वभावोऽयमधर्म स्थितिलक्षणः ।

गतिस्थिती उदाहृते ॥ ६१ ॥

अर्थ—धर्मो गति करनेमें हेतु है सो धर्मलोकान है और लोकोपेक्षी स्थितिने कारण है सो अधर्मलोकान है। इन दोनों स्थिति बरी गई है ॥ ६१ ॥

तौ लोकगमनान्तस्थौ ततो लोके गतिस्थितौ ।

अर्धाना न तु लोकान्तमतिक्रम्य प्रवर्त्तते ॥ ६२ ॥

अर्थ—वे धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय लोकके गमन पर्यन्त स्थित हैं, इसलिये पदार्थोंकी गति और स्थिति लोकमें ही होती है, लोकको उलटव करके नहीं होती ॥ ६२ ॥
इसलिये भगवान् लोकाग्रमागतक ही गमन करते हैं ।

स्थितिमासाद्य सिद्धात्मा तत्र लोकाग्रमन्दिरे ।

आस्ते स्वभावजानन्तगुणैश्वर्योपलक्षितः ॥ ६३ ॥

अर्थ—सिद्धात्मा उस लोकाग्रमन्दिरमें स्थिति पाकर, स्वभावमें उत्पन्न हुए अनन्त गुण और ऐश्वर्यसहित विराजमान रहते हैं ॥ ६३ ॥

आत्यन्तिक निरायाधमत्यक्ष स्वस्वभावजम् ।

यत्सुखं देयदेवस्य तच्छुक्तेन पार्यते ॥ ६४ ॥

अर्थ—सिद्धात्मा देवाधिदेवका जो अत्यन्त, याधारहित, अतीन्द्रिय और अनेक स्वभावसे ही उत्पन्न सुख है उसका वर्णन कौन कर सकता है ? ॥ ६४ ॥

तथाप्युद्देशतः किञ्चित् प्रवीमि सुखलक्षणम् ।

निष्ठितार्थस्य सिद्धस्य सर्वद्वन्द्वातिवर्त्तिनः ॥ ६५ ॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि जिनके समस्त प्रयोजन सम्पन्न हो चुके हैं और सुखके घातक ऐसे समस्त द्वन्द्वासे जो रहित हैं ऐसे सिद्ध भगवानके सुख यद्यपि कोई नहीं कर सकता, तथापि मैं नाममात्रसे किञ्चित् कहता हूँ ॥ ६५ ॥

यदेव मनुजाः सर्वं सौख्यमक्षार्थसम्भवम् ।

निर्विशान्ति निरायाध सर्वाक्षप्रीणनक्षमम् ॥ ६६ ॥

सर्वेणातीतकालेन यच्च सुखं महर्द्धिकम् ।

भायिनो यच्च भोक्ष्यन्ति स्वादिष्टं स्वान्तरक्षकम् ॥ ६७ ॥

अनन्तगुणित तस्मादत्यक्षं स्वस्वभावजम् ।

एकस्मिन् समये सुद्वे तत्सुखं परमेश्वरः ॥ ६८ ॥

अर्थ—जो समस्त जेव और मनुष्य इन्द्रियोंके विषयसे उत्पन्न और इन्द्रियोंके दूत करनेसे समर्थ ऐसे निरायाध सुखको वर्तमान कालमें भोगते हैं । तथा मयों अनेक कालमें जो सुख भोगे हैं और जो सुख महाकद्वियोंमें उत्पन्न हुए हैं तथा स्वादिष्ट और मनको प्रमत्त करनेवाले जो सुख आगामी कालमें भोगे जायेंगे उन समस्त सुखोंमें मनुष्य होने अतीन्द्रिय और भगवन् सुखमें उत्पन्न होनेवाले सुखको श्रीसिद्ध भगवान् परमेश्वर एक ही समस्त भोगते हैं ॥ ६६ ॥ ६७ ॥ ६८ ॥

इन्द्रियों विना भगवान् के बिना गुण होता है सो दिखाने है ।

प्रियात्तद्विषयाज्ञेयद्रव्यपर्यायसङ्कुलम् ।

जगत्पूरति बोधाके युगपद्योगिनां पते ॥ ६९ ॥

अर्थ—दोषीभरोंके पति धीगिद्ध भगवान् के ज्ञानरूपी सुषम भूत, भविष्यन्, वस्तु ज्ञान मन्त्रों द्वारा सम्यग्भी समस्त द्रव्य पर्यायोंके व्याप्त हो यह जगत् है सो एकही सम समे वस्तु द्रव्य प्रतिभाविन होता है । भाषार्थ—इन्द्रियज्ञान तुच्छ है । उससे उत्पन्न हुआ दुःख विना हो सकता है । सिद्ध भगवान् के एक ही समयमें समस्त पदार्थोंका ज्ञान होता है इसलिये उसके सुखकी क्या महिमा ? सुखका कारण ज्ञान है । जहा पूर्ण ज्ञान है वहां पूर्ण सुख भी है ॥ ६९ ॥

अथ सिद्ध भगवान् गुणोंकी महिमा कहते हैं ।

पर्यतोऽनन्तमावाप्ता लोकेतरविकल्पितम् ।

तस्मिन्नपि घनीभूय यस्य ज्ञान व्यपस्थितम् ॥ ७० ॥

अर्थ—यह भाषाण गर्त भात है और उससे लोक और अलोक ऐसे दो भेद हैं । उस समस्त भाषाणमें सिद्ध परमेष्ठीका ज्ञान घनीभूत होकर, भरा हुआ है ॥ ७० ॥

निद्रातन्द्राभयभ्रान्तिरागद्वेषासिंशयै ।

शोकमोहजराजन्ममरणाद्यैश्च विच्युत ॥ ७१ ॥

अर्थ—धीगिद्ध भगवान् निद्रा, तन्द्रा, भय, भ्रान्ति, राग, द्वेष, पीडा और सशयसे रहित हैं तथा शोक, मोह, जरा, जन्म और मरण इत्यादिरुसे रहित हैं ॥ ७१ ॥

धुष्टदृढममदोन्मादमूर्च्छांमात्सर्यवर्जित ।

वृद्धिहासव्यतीतात्मा कल्पनातीतवैभवः ॥ ७२ ॥

अर्थ—भार दुःखा, मृषा, रोद, मर, उन्माद, मूर्च्छा, और मत्सर भावोंमें रहित हैं और न इनकी आशामें वृद्धि हास (घटना घटना) है, और इनका निमग्न कल्पना रहित है ॥ ७२ ॥

निष्कल करणातीतो निर्विकल्पो निरञ्जन ।

अनन्तवीर्यतापलो नित्यानन्दाभिनन्दितः ॥ ७३ ॥

अर्थ—सिद्ध भगवान् गीतरहित है, इन्द्रियरहित है मनके विकल्पोसे रहित है निरञ्जन है अर्थात् जिनके नये कर्मोंका बंध नहीं है । अनन्तवीर्यताका प्राप्त हुए हैं भगवान् अपने स्वमात्रसे कभी च्युत नहीं होते और नित्य आनन्दसे आनन्दरूप हैं न भोग जिनके सुषम कभी विच्छेद नहीं होता ॥ ७३ ॥

परमेष्ठी पर ज्योतिः परिपूर्णः मनाननः ।

ससारसागरोत्तीर्ण कृतकृत्योऽचलम्यनिः ॥ ७४ ॥

अर्थ—तथा परमेष्ठी (परम पदमं निरात्रमान), पर ज्योति (पात्रकाग्र्य), परि पूर्ण, सनातन (नित्य), ससाररूपी मगुटसे उत्तीर्ण अर्थात् संसारसम्बन्धी चेष्टाश्रमे रहित, कृतकृत्य (जिनको करना कुछ शेष नहीं है) अचलम्यनि (प्रेक्षासी निया ओंसे रहित) ऐसे सिद्ध भगवान् है ॥ ७४ ॥

सतृप्त सर्वदैवास्ते देयन्त्रैलोक्यमूर्द्धनि ।

नोपमेय सुखादीना विद्यते परमेष्ठिनः ॥ ७५ ॥

अर्थ—पुन सिद्ध भगवान् सतृप्त है, तृष्णा रहित है, तीन लोकने शिखरपर सग निराजमान हैं अर्थात् गमनरहित हैं । इस समारंभ कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं है जिसकी उपमा परमेष्ठीके सुखको दी जाय । उनका सुख निरुपमेय है ॥ ७५ ॥

चरस्थिरार्थसम्पूर्णं मृग्यमाण जगत्रये ।

उपमानोपमेयत्व मन्ये स्वस्यैव स स्वयम् ॥ ७६ ॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं नि यदि चर और स्थिर पदार्थोंसे भरे हुए इन तीनों जगतोंमें उपमेय और उपमान द्वया जाय तो मैं ऐसा मानता हू कि वे स्वय ही उपमान उपमेय रूप हैं । भावार्थ—सिद्ध भगवानका उपमान सिद्ध ही है और किसीके साथ उनकी उपमा नहीं दी जा सकती ॥ ७६ ॥

यतोऽनन्तगुणाना स्यादनन्ताशोऽपि कस्यचित् ।

ततो न शक्यते कर्तु तेन साम्य जगत्रये ॥ ७७ ॥

अर्थ—क्योंकि तीनों जगत्में उन सिद्ध परमेष्ठीके अनन्त गुणोंका अनन्तवा अर्थ भी किसी पदार्थमें नहीं है इसलिये उनकी समानता किसीके साथ नहीं कर सकते ।

भावार्थ—इसीलिये उनका उपमान उपमेय भाव अपना अपने ही साथ है ॥ ७७ ॥

शक्यते न यथा ज्ञातु पर्यन्त व्योमकालयोः ।

तथा स्वभावजाताना गुणाना परमेष्ठिनः ॥ ७८ ॥

अर्थ—जैसे कोई आकाश और कालका अन्त नहीं जान सकता उसी तरह स्वभावसे उत्पन्न हुए परमेष्ठीके गुणोंका अन्त भी कोई नहीं जान सकता ॥ ७८ ॥

मालिनी ।

गगनघनपतद्गालीन्द्रचन्द्राचलेन्द्र

क्षितिदहनसमीराभोधिकरपट्टमाणाम् ।

निचयमपि समस्त चिन्त्यमान गुणाना

परमगुणगुणौघैर्नापमानत्वमेति ॥ ७९ ॥

अर्थ—आकाश, जल, सूक्ष्म, सार्वज्ञा इन्द्र, चन्द्रमा, मेरु, पृथ्वी, अग्नि, वायु, समुद्र और ब्रह्मरूपों के गुणों का समूह भी चिन्तना किया जाय तो भी उनकी उपमा परम गुरु धीमिद परमेष्ठी के गुणों के साथ नहीं हो सकती । भाषार्थ—संसार के उक्त दोष परमात्मा के गुण विचार करने में भी ऐसा कोई पदार्थ नहीं देख पड़ता कि जिसके गुणों की उपमा मिद परमेष्ठी के गुणों के साथ दी जाय ॥ ७९ ॥

नास्तत्पूर्व्यान् पूर्वा नो निर्विदोषविकारजा ।

स्वाभाविकविदोषा अभूतपूर्व्यान् तदुणा ॥ ८० ॥

अर्थ—मिद परमेष्ठी के गुण पूर्व में नहीं थे ऐसे नहीं हैं “अर्थात् पूर्व में भी शक्ति रूप से विद्यमान ही थे । क्योंकि असत्त्वा प्रादुर्भाव नहीं होता यह नियम है । यदि अभूतत्वा भी प्रादुर्भाव माना जाय तो शराशून्यता भी प्रादुर्भाव होना चाहिये, किंतु होता नहीं है । यही इस विषय में प्रमाण” और पूर्व में व्यक्त नहीं थे तथा विशेष विकार से उत्पन्न नहीं किन्तु स्वाभाविक हैं । (इस प्रकार पूर्वोद्भवा निषेधमुख कथन करके, इसी विषय को पुन उत्तराद्वारा विधिपूर्वक कथित करते हैं कि—) मिद परमेष्ठी के गुण स्वाभाविक विदोषा अर्थात् पूर्व में भी शक्ति की अपेक्षा स्वभाव में ही विद्यमान और अभूत-पूर्व अर्थात् पूर्व में व्यक्त नहीं हुए पद हैं । भाषार्थ—आत्मा के जो स्वाभाविक गुण पूषापरमात्मन्यव्यक्त रहते हैं वे ही सिद्धांतरूप में व्यक्त हो जाते हैं, इसीसे (शक्तिकी अपेक्षा पूर्व में भी विद्यमान होने के कारण) उन गुणों को ‘पूर्व में नहीं थे’ ऐसा नहीं कह सकते । और पूर्व में व्यक्त नहीं थे इससे ‘पूर्व में थे’ ऐसा भी नहीं कह सकते । और स्वाभाविक होने के कारण उनको विकारज भी नहीं कह सकते किन्तु वे (गुण) शक्तिकी अपेक्षा स्वाभाविक और व्यक्तिकी अपेक्षा अभूतपूर्व ही कहे जाते हैं ॥ ८० ॥

यावत्पथातीतमाहात्म्यमनन्तज्ञानवैभवं ।

सिद्धात्मना गुणानाम सर्वज्ञज्ञानगोचरम् ॥ ८१ ॥

अर्थ—जिसका माहात्म्य वचनों से कहने योग्य नहीं है और जिसके अनन्त ज्ञानका विमल है, ऐसे मिद परमेष्ठी के गुणों का समूह सब शक्ति के ज्ञान के गोचर है ॥ ८१ ॥

परन्तु वहां भी इतना विशेष है कि—

स स्वयं यदि सर्वज्ञ सम्यग्भूते समाहित ।

तथाप्येति न पर्यन्तं गुणानां परमेष्ठिन ॥ ८२ ॥

अर्थ—सब शक्ति देव परमेष्ठी के गुणों को जानते हैं, परन्तु यदि वे उन गुणों को समाधान सहित अच्छी तरह कह तो वे भी उनका पार पा नहीं सकेंगे । भाषार्थ—वचन की संख्या अत्यंत है और गुण अनन्त है इसलिये वे वचनों से नहीं कहे जा सकते ॥ ८२ ॥

त्रैलोक्यतिलकीभूतं निःशेषविषयच्युतम् ।

निर्द्वन्द्व नित्यमत्यक्ष स्वादिष्ठ स्वस्वभावजम् ॥ ८३ ॥

निरीपम्यमविच्छिन्न स देवः परमेश्वरः ।

तत्रैवास्ते स्थिरीभूतः पिवन् ज्ञानसुखामृतम् ॥ ८४ ॥

अर्थ—श्रीसिद्ध परमेष्ठी परमेश्वर देव समस्त त्रैलोक्यका तिलकस्वरूप, समस्त विषयोंमें रहित, निर्द्वन्द्व अर्थात् प्रतिपत्नी रहित, अपिनाशी, अतीन्द्रिय, स्वादस्वरूप, अपने स्वभावासे ही उत्पन्न, उपमारहित और निच्छेदरहित ज्ञान और सुखरूपी अमृतको पीते हुए स्थिरीभूत तीन लोकके शिखरपर निराजमान रहते हैं ॥ ८३ ॥ ८४ ॥

सत्परा ।

देवः सोऽनन्तवीर्यो दृगधगमसुखानर्घ्यरत्नावकीर्णः

श्रीमान्रैलोक्यमूर्ध्नि प्रतियसति भयध्वान्तविध्वसभानुः ।

स्वात्मात्मानन्तनित्यप्रवरशिवसुधाभोधिमग्नः स देव

सिद्धात्मा निर्विकल्पोऽप्रतिहतमहिमा शश्वदानन्दधामा ८५

अर्थ—जिनने अनन्त वीर्य है अर्थात् प्राप्त स्वभावासे कभी च्युत नहीं होते, जो दर्शन ज्ञान और सुखरूप अमूल्य रत्नोंसहित है, जो समाररूप अन्धकारको दूर कर सूर्यसे समान निराजमान है, जो अपने आत्माहीसे उत्पन्न ऐसे अनन्त नित्य उत्कृष्ट शिवसुखरूपी अमृतसे समुद्रमं सदा मग्न हैं, निरुत्परहित हैं, जिनकी महिमा अप्रतिहत (जो किसीसे आहत न होने) है और जो निरन्तर आनन्दके निवासस्थान है ऐसे श्रीसिद्ध परमेष्ठी देव शोभायमान जो तीनों लोकोंका मन्त्र (शिखर) है उसमें सदा निगम करते हैं ॥ ८५ ॥

इति कतिपयपरवर्णध्यानफलं कीर्तितं समासेन ।

निःशेष यदि वक्तुं प्रभवति देवः स्वयं वीरः ॥ ८६ ॥

अर्थ—ऐसे पूर्णतः प्रकार रितो ही श्रेष्ठ अणुरोंके द्वारा संक्षेपसे व्याख्या फल कहा है । इसका समस्त फल कहनेको स्वयं श्रीसिद्धमान स्वामी ही समर्थ हो सकते हैं ॥ ८६ ॥

रोहा ।

मकर कपाय धमायनें, उज्यल चेतन भाष ।

शुद्धध्यानमें होय तब, कर्मनिजरा धाव ॥ १ ॥

सर्व कर्मका नाश करि, देत मोक्ष यह ध्या ।

सुख अमृत तहें भोगवै, तदा रहै शिखर ध्या ॥ २ ॥

अब प्रत्यक्ष दर्शनहार करने दें ।

मार्गिनी ।

इति जिनपनिगुणप्राम्पारमुद्गम्य विज्ञित्

स्वमनिविमवपांग्य ध्यानशास्त्र प्रणीतम् ।

विबुधमुनिमनीषाम्भोधिचन्द्रायमाण

चरतु शुचि विभूत्यै यावदद्रीन्द्रचन्द्र ॥ ८७ ॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि हमने इस प्रकार जिनेन्द्र देव सर्वज्ञके सूत्रसे थोड़ासा सार लेकर, अपनी बुद्धिके विमवानुसार यह ध्यानका शास्त्र निमाण किया है। तो यह शास्त्र विद्वान् मुनियोंकी बुद्धिरूप समुद्रके बगनेके लिये चन्द्रमाके समान होता हुआ जलतक मेरु और चन्द्रमा रहें तबतक इस पृथ्वीमें अपनी विभूतिके लिये सदा प्रवर्त्तें (यह आचार्यका आशीर्वाद है) ॥ ८७ ॥

ज्ञानार्णवस्य माहात्म्य चित्ते को घेत्ति तत्त्वम् ।

यज्ज्ञानात्तीर्यते भव्यैर्दुस्तरौऽपि भवार्णय ॥ ८८ ॥

अर्थ—भव्य जीव जिसके ज्ञानसे ही अत्यन्त कष्टिनतामें पार करने योग्य संसाररूप समुद्रके पार हो जाते हैं ऐसे इस ज्ञानार्णव ग्रन्थका माहात्म्य यथार्थ रीतिसे अपने चित्तमें कौन जानता है ॥ ८८ ॥

इस प्रकार इस शास्त्रकी महिमा निरूपण की । इसका तात्पर्य यह है कि इस शास्त्रका नाम ज्ञानार्णव साधन है । ज्ञानको समुद्रकी उपमा है । जो ज्ञानको जलमान है वही निमल जल है और उसमें जो सब पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं वे ही तत्त्व हैं । इस प्रकार ज्ञानकी स्वच्छता और एकाग्रता करनेका इसमें वणन है इस कारण इसका नाम ज्ञानसमुद्र (ज्ञानार्णव) है । यद्यपि यह ग्रन्थ मुनियोंके पढ़ने योग्य है परन्तु इस पंच महाकालमें मुनिपनेरी दुर्लभता है इस कारण गृहस्थी भी इसको पढ़ें सुनैं और सुनारें तो उसके यथार्थ अर्थान् हो जाय तथा ज्ञानकी भारता रहै तो बड़ा लाभ हो, सर्वस्य संस्कार पर भवमें चला जाय तो उत्तम गति हो, सुखकी प्राप्ति हो, इस कारण गृहस्थको पढ़ना सुनना सुनारना योग्य है ।

सर्वदा २३ स्त

ज्ञानसमुद्र तटां सुखनीर पदारूप पवतिरस विद्यते ।

राग विरोध विमोह बुभु मलीन करो तिन दूर बिडाते ॥

दाखि सौभार करो अवगाहन निमल होय सुख उपाते ।

दान दिया निज नेम सब गुन भोजन भोगन मोह दपाते ॥ ४२ ॥

इति श्रीशुमभद्राचार्यनिरचिते योगप्रदीपाधिकारे ज्ञानार्णवे सिद्धसंस्कृत-

वणन नाम द्विषात्वारिंश प्रकरण सप्तमम् ॥

त्रैलोक्यतिलकीभूत निःशेषविषयव्युत्तम् ।

निर्द्वन्द्व नित्यमत्यक्ष स्वादिष्ट स्वस्वभावजम् ॥ ८३ ॥

